भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन

वाचस्पति गैरोला

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रथम संस्करण : १९६२
द्वितीय संस्करण : १९६६
•

प्रकाशक	लोकभारती प्रकाशन १५--ए महात्मा गाधी मार्ग, इलाहाबाद
मुद्रक	कैक्सटन प्रेस, इलाहाबाद
मूल्य	१९·००

विषयानुक्रम

●

दर्शनशास्त्र

* * * *

व्युत्पत्ति : उपपत्ति

'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति, 'दृश्' धातु से करण अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाय' (**दृश्यते अनेन इति**)। देखने का स्थूल साधन आँखे है। इस आँख इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको 'चाक्षुसप्रत्यक्ष' कहते है। अतएव चाक्षुसप्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का अभिप्रेत 'देखा हुआ' ज्ञान है। यह मत स्थूल दर्शनो का है।

दूसरे सूक्ष्म दर्शनो का मत है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनका चाक्षुसप्रत्यक्ष नही हो सकता, अर्थात् जो आँखो से नही देखी जा सकती। उनके लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्त्विक बुद्धि) की आवश्यकता है। इस सूक्ष्म दृष्टि या तात्त्विक बुद्धि के दूसरे नाम 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु' या 'दिव्यदृष्टि' है। इस मत मे 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाय'। 'गीता' मे श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने से पहले अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' दिये थे।

'दर्शन' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ को दृष्टि मे रखकर यदि उसकी परम्परा के मूल उत्स का अनुसधान किया जाय तो उपनिषदो और दूसरे शास्त्रो मे उसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ मिलता है। उदाहरण के लिए शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' के इस श्लोक को लिया जा सकता है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

इस श्लोक का आशय है 'सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँपा है। हे पूषन् (सारे जगत् का पालन करने वाले परमात्मन्) उस ढक्कन को हटाइये, जिससे

सत्य का, अर्थात् ब्रह्म का या आप का और सनातन रूप ब्रह्म पर प्रतिष्ठित धर्म का (आत्मज्ञानानुकूल कर्तव्य का) हम को 'दर्शन' हो सके।'

इस श्लोक में 'दृष्टये' का 'दर्शन' अर्थ में प्रयोग आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार के लिए हुआ है। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'दृश्' का 'आत्मदर्शन' के अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा गया है '**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः**'। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में उपनिषदों के 'आत्मज्ञान' को 'सम्यग्दर्शन' तथा 'आत्मदर्शन' के अर्थ में लिया गया है। अपने सच्चे स्वरूप का दर्शन करना या अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना ही 'आत्मदर्शन' या 'सम्यग्दर्शन' है। बौद्ध न्याय में उसको 'सम्यग्दृष्टि' और जैन न्याय में 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।

इस 'सम्यग्दर्शन' या 'आत्मदर्शन' के लिये समदृष्टि का होना आवश्यक है। सब धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करके उनको एक ही रूप में देखने का नाम ही 'समदृष्टि' या 'समदर्शिता' है। सर्वत्र एक ही आशय को देखना और सब में एक ही परमेश्वर का दर्शन करना, यही यथार्थ 'दर्शन' है। यह संसार क्या है, ये जीवन-मृत्यु के बंधन क्या हैं, इस सुख-दुःख का सार क्या है, मैं क्या हूँ, इन सभी के मूल में अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है। ये अनन्त दृश्य जब एक ही द्रष्टा में दिखायी देने लगें, मैं ही जब सर्वत्र दिखायी देने लगे और यह दुःख जब परम शान्ति में बदला हुआ जान पड़े, उसी को वास्तविक 'देखना' (दर्शन) कहते हैं।

जीवन और दर्शन

दर्शनशास्त्र का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'जीवन' और 'दर्शन' एक ही उद्देश्य के दो परिणाम हैं। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है परम श्रेय (निःश्रेयस) की खोज करना। उसी का सैद्धान्तिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप जीवन। जीवन को सर्वांगीणता के निर्माणक जो सूत्र, तन्तु या तत्त्व है उन्हीं की व्याख्या करना दर्शन का अभिप्रेय है। दार्शनिक दृष्टि से जीवन पर विचार करने की एक निजी पद्धति है, अपने विशेष नियम हैं। इन नियमों और पद्धतियों के माध्यम से जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना ही दर्शन का ध्येय है।

इस विराट् ब्रह्माण्ड के असंख्य, अद्भुत पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति और सत्ता क्या है, एवं मनुष्य के इन रोना, हँसना, सोचना, विचारना, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, जन्म-मरण आदि विभिन्न रूपों का रहस्य क्या है, इन्हीं जिज्ञासाओं को लेकर दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ है और इन्हीं पर उसमें विचार किया गया है।

जिज्ञासा का अर्थ है ज्ञान की इच्छा (ज्ञातुं इच्छा)। यही ज्ञानेच्छा हमें जीवन के प्रति, जगत् के प्रति नये-नये अन्वेषणों, अनुसंधानों और आविष्कारों में प्रवृत्त करती है। इन नयी क्रियाओं एवं प्रवृत्तियों से हमें नया ज्ञान मिलता है; नया दर्शन उपलब्ध होता है।

क्योंकि जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य है, अतः जीवन से सम्बन्धित जितने भी आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थ है उनका तात्त्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य हो जाता है।

दर्शन और विज्ञान

तात्त्विक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है सचेतन और अचेतन। इन द्विविध पदार्थों के बाहरी स्वरूपों पर विचार करने वाले शास्त्र को विज्ञान और उनकी भीतरी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण-परीक्षण करने वाले शास्त्र को दर्शन कहते हैं। तात्पर्य भेद से दर्शन और विज्ञान की अनेक कोटियाँ है।

मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, समाजविज्ञान और अन्यान्य विज्ञान जीवन तथा उसकी जन्मस्थली एवं कर्मस्थली, इस सृष्टि को व्याख्या अपने अपने ढंग से एव अपनी-अपनी विधि से करते है। उन सबकी अलग-अलग उपलब्धि जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं या पक्षो का उद्घाटन करने तक सीमित है। दर्शन शास्त्र का एक उद्देश्य यह भी है कि उक्त विज्ञान-शाखाओं मे सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक सूत्र में ग्रथित किया जाय। इस दृष्टि से दर्शन भी एक विज्ञान है।

दर्शन समस्त शास्त्रों का संग्राहक

दर्शनशास्त्र समस्त शास्त्रों या विद्याओं का सार, मूल, तत्त्व या संग्राहक है। उसमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या या पराविद्या (मेटाफिजिक या फिलॉसोफी प्रापर), अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या या अन्त.करणशास्त्र (सायकॉलोजी या दि सायंस ऑफ माइंड), तर्क या न्याय (लाजिक या दि सायंस ऑफ रीजनिंग), आचारशास्त्र या धर्ममीमासा (एथिक्स या दि सायंस ऑफ काडक्ट), और सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र (ईस्थेटिक्स या दि सायंस ऑफ आर्ट) आदि सभी विषयों का परिपूर्ण शिक्षण-परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से भारतीय और यूरोपीय दर्शनों का परस्पर समन्वय भी देखने को मिलता है।

दर्शनशास्त्र के इसी सर्वसंग्रही स्वरूप को लक्ष्य करके प्रौढ़ दार्शनिक भारतरत्न

डॉ० भगवानदास जी ने लिखा "दर्शनशास्त्र, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का उपाय, दुष्कर्मों का अपाय और नैष्कर्म्य, अर्थात् अफलप्रेप्सु कर्म का साधक और इसी कारण से सब सद्धर्मों का आश्रय और अन्ततः समूल दुःख से मोक्ष देने वाला है; क्योंकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को, बताता है; और आत्मा का, जीवात्मा का तथा दोनों की एकता का, तौहीद का, दर्शन कराता है।"

दर्शन का प्रयोजन

दर्शनविद्या की उत्पत्ति का प्रयोजन है दुःखसामान्य (अशेष दुःख) की निवृत्ति और सुखसामान्य (उत्तम सुख) की प्राप्ति। इसी अभिलाषा से दर्शनशास्त्र (शास्त्रसामान्य) की आवश्यकता हुई।

विशेष-विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष-विशेष सुख की प्राप्ति के लिए विशेष-विशेष (पृथक्-पृथक्) शास्त्रों, शिल्पों एवं विद्याओं में उपाय बताये गये हैं, किन्तु दुःखसामान्य की निवृत्ति और सुखसामान्य की उपलब्धि के लिए दर्शनशास्त्र ही एकमात्र उपाय है। 'दर्शन' उसका अभिधान इसी लिए हुआ कि वह सब शास्त्रों का संग्राहक (शास्त्रसामान्य) है, अर्थात् उसमें सब शास्त्रों का सार या तत्त्व निहित है।

संसार की प्रायः प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित प्रयोजन होता है। इसी निश्चित प्रयोजन की खोज करते-करते जो विशेष ज्ञान प्राप्त होता है उसी को वस्तु का यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। इसी विशेष ज्ञान को जब क्रमबद्ध रूप में रखा जाता है तब उसको 'शास्त्र' कहा जाता है। शास्त्र अनेक हैं और वस्तुएँ भी विभिन्न हैं। ये नानाविध शास्त्र इन अनेकविध वस्तुओं के निश्चित प्रयोजनों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और विशेष-विशेष शास्त्रों के नाम से कहे जाते हैं। इन सभी शास्त्रों का संग्राहक दर्शनशास्त्र है। अशेष सुख की प्राप्ति और अशेष दुःख की निवृत्ति ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

दर्शनविद्या के प्रयोजन का विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्रद्धेय डॉ० भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'दर्शन का प्रयोजन' में लिखा है "सांसारिक और पारमार्थिक (दुनियावी और इलाही, रूहानी), दोनों सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावै, वही सच्चा दर्शन; यही दर्शन का प्रयोजन है":

ऐहिकं आभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥

दुःखसामान्य और सुखसामान्य

विश्व की प्रत्येक जाति का दर्शन उसके समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब है। देश-काल की दृष्टि से विश्व की किसी जाति के आचार-विचारों में परिवर्तन या भिन्नता भी दर्शित होती है, किन्तु तत्त्वतः सम्पूर्ण मानवता एक है और उसका लक्ष्य भी एक ही है। उसके विचारों का मूल उद्गम और पर्यवसान एक ही लक्ष्य में निहित है। इस दृष्टि से विश्व की समस्त जातियों की दार्शनिक विचारधारा में अनेकता होते हुए भी एकता है।

अनेकता में एकता के इसी तात्त्विक अभिप्राय को कालिदास ने 'रघुवंश' के इस श्लोक में प्रस्तुत किया है :

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

अर्थात् 'भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का परम लक्ष्य एक ही समुद्र है। वे सब वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिए अलग-अलग शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों; किन्तु उन सब का एक ही लक्ष्य आत्मप्राप्ति है।'

जहाँ तक भारतीय दर्शन का सम्बन्ध है, उसके अनेक सम्प्रदाय, मत, पंथ, सिद्धान्त और वाद एक ही आत्मप्राप्ति के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़े हैं। उपनिषदों का 'तत्त्वमसि' महावाक्य ही सब का केन्द्र रहा है। इसकी व्याख्या यद्यपि अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग दृष्टि से की गयी है, फिर भी उन सब का एक ही अन्तिम लक्ष्य में समन्वय हो जाता है। वह अन्तिम या परम लक्ष्य है दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और सुख की ऐकान्तिक प्राप्ति। एकान्त दुःख (दुःखसामान्य) और एकान्त सुख (सुखसामान्य) जिस जीव ने जान लिया वही तत्त्वज्ञानी या आत्मदर्शी है।

यदि दर्शन का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है तो इसका यह अर्थ हुआ कि दुःखमय संसार को देखकर मनुष्य के मन में दर्शन के लिए जिज्ञासा हुई। इसी दुःख की जिज्ञासा और सुख की लिप्सा ने दर्शन को जन्म दिया।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का मूल उत्स वेद है। वेदों के ऋषि दिव्यदृष्टि-सम्पन्न थे। उन्होंने सृष्टि और लय, दोनों के निसर्ग प्रवाह का ज्ञान प्राप्त किया। जीवधर्म के बन्धन में बँधे हुए इस विश्व की सद्गति के लिए वेदों के ऋषियों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उन्होंने पाया कि नाना नामरूप इस जगत् की तह में एक ही कारण प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। वह है दुःख। इस दुःख

से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है ज्ञान, आत्मज्ञान।

इसी आत्मप्राप्ति या आत्मज्ञान के लिए देवर्षि नारद, साधारण दुःखी मनुष्य की भाँति आत्मज्ञानी सनत्कुमार के पास गये और उनसे उस आत्मविद्या को जानने की प्रार्थना की, जिससे सब दुःखों का नाश होकर परमश्रेय की प्राप्ति होती है (**श्रेयसाधनप्राप्तये सनत्कुमारं उपससाद**)।

'कठोपनिषद्' की एक कथा में बालक नचिकेता मृत्युभय की जिज्ञासा के लिए ब्रह्मज्ञानी यमराज के पास गया और यमराज से वेदान्तविद्या, आत्मविद्या तथा मोक्षशास्त्र का उपदेश सुनकर उसने अमरता प्राप्त की।

ज्ञानी याज्ञवल्क्य ने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयी को उस पराविद्या (दर्शन) का ज्ञान दिया, जिससे अमरत्व प्राप्त होता है और ससार के समस्त दुःखो से छुटकारा मिल जाता है।

तथागत बुद्ध के अन्तःकरण मे जीवन-मृत्यु के इस अबाध चक्र ने वैराग्य को जगाया। घर छोडते हुए पहली बात उन्होने कही 'जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है—जब तक मैं इस रहस्य का पता न लगा लूंगा तब तक कपिलवस्तु को न लौटूंगा।' (**जन्ममरणयोः अदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्ट**')। बुद्ध ने दुःख की खोज निकाला और चार आर्य सत्यो मे उसकी उत्पत्ति तथा निवृत्ति का व्याख्यान किया।

महावीर स्वामी के वैराग्य और परार्थ का उद्देश्य, ससारी जीवो को जन्म-मरण तथा दुःख-बन्धन से छुटकारा दिलाकर मोक्ष का मार्ग बताना था। इसी मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए उन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्कर्मान्त और सम्यक्चारित्र्य का उपदेश किया।

न्याय दर्शन मे बताया गया है कि प्रमाण, प्रमेय, आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख और उसके कारणो की परम्परा का समूल क्षय हो जाता है। यह सर्वदुःखक्षय ही अपवर्ग, मोक्ष या निःश्रेयस है। निःश्रेयस, अर्थात् जिससे बढकर श्रेयान् (सुखकर) पदार्थ कोई है ही नही।

वैशेषिक दर्शन मे कहा गया है कि धर्म से सासारिक अभ्युदय (भोग) और पारमार्थिक निःश्रेयस (मोक्ष) दोनो मिलते है। इस धर्मविशेष का यथार्थज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञान और तब सर्वदुःखविनिर्मुक्त मोक्ष की प्राप्ति होती है।

साख्य मे त्रिविध दुःखो (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) की सर्वथा निवृत्ति को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। इन्ही दुःखो के उन्मूलन के लिए वहाँ सब से पहले जिज्ञासा की गयी है। उसमे बताया गया है कि इसो

यथार्थ ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

योग दर्शन मे साधक को अपनी मूलावस्था या बीजावस्था को खोजने के लिए उपाय बताये गये है। वहाँ बताया गया है कि जिसको संसारी मनुष्य सुख कहता है, विवेकी के लिये वह भी दुःख ही है। ये दुःख अनन्त हैं; और इनके होने का कारण है द्रष्टा-दृश्य या पुरुष-प्रकृति का संयोग। इस सयोग का कारण मिथ्या ज्ञान या अविद्या है, जिसको तत्त्वज्ञान से मिटाया जा सकता है।

पूर्व मीमासा का 'स्व' ज्ञान ही मोक्ष हैं। उसका स्वरूप निरतिशय सुखमय हैं, जो अपने को सब मे और सब को अपने मे देखता है और इस समदृष्टि से सदा आचरण करता है, उसको ही स्व, मोक्ष, अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

वेदान्त मे आत्मज्ञान या यथार्थज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति बतायी गयी है। यह अवस्था ऐसी है, जिसमें समस्त दुःखों का अन्त और परम शान्ति की उपलब्धि होती है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य परम सुख की प्राप्ति

भारतीय दर्शन के इस 'दुःखवाद' को 'निराशावाद' की संज्ञा देकर और भारतीय जीवन मे भी उसकी प्रतिक्रिया को आरोपित कर कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने इसकी आलोचना की है। किन्तु भारत मे, जीवन की इस गहन गवेषणा को, आध्यात्मिक चिन्ता का विषय माना गया है। भौतिक वस्तुओ की हर तरह से परीक्षा किये जाने के उपरान्त ही जीवन मे इस प्रकार के चिन्तन का उदय होता है। ये भोग, ये बन्धन, सभी दुःखमय है और जीवन के घातक शत्रु है। इनके प्रति असन्तोष, अनास्था, उदासीनता, निराशा और इनकी निवृत्ति के लिए इच्छा, चेष्टा करना ही भारतीय दर्शन के दुःखवाद का अभिप्राय है।

भारतीय दर्शन पर नैराश्यवाद का आक्षेप करना ही निरर्थक है, क्योकि जिस निराशा की उपपत्ति पर वहाँ विचार किया गया है उसका अन्त एक मंगलमय आशा मे किया गया है। इस सर्वान्ति सुख की उपलब्धि के लिए बुद्ध ने १-दुःख, २-दुःख का कारण, ३-दुःख का निरोध और ४-दुःख-निरोध का मार्ग, इन चार आर्य सत्यों पर भली भाँति विचार कर जीवो के लिए वह रास्ता बताया, जिस पर चलकर अज्ञानजन्य तृष्णाओ, उद्वेगो, विपाको, लिप्साओं पर विजय प्राप्त करके ऐसे श्रेय, कल्याण, हित, सत्य, तथ्य को पाया जा सकता है, जिसमे अनन्त आनन्द तथा अनन्त शान्ति का आवास है। यही अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति, भारतीय दर्शन के दुःखवाद अथवा निराशावाद का परिणाम है, अन्तिम लक्ष्य है।

निराशावाद वस्तुतः पलायनवाद नही है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन को

ओर बढने का एक यत्न है। वह आत्मसमर्पण भी नही; बल्कि आत्मसुख है। दु.ख, पाप तथा जन्म-मृत्यु, इन सांसारिक अवस्थाओ को पार कर उस मगलमय, आनन्दमय अवस्था मे पहुँचने के लिए निराशा, आशा का ही एक पहलू है। **'सर्वं दुःखम्'** इस भवचक्र को **'सर्वं सुखम्'** मे बदल देने का एक श्रेयस्कर आरम्भ है।

अतएव भारतीय दर्शन मे दुःखवाद तथा निराशावाद की जिज्ञासा, परम सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से की गयी है।

दर्शन का व्यावहारिक प्रयोजन

दर्शन का मुख्य प्रयोजन आत्मविद्या या आत्मदर्शन माना गया, जिसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय विचारधारा मे नयी-नयी उपलब्धियो का समावेश होता गया, वैसे-वैसे दर्शन के उक्त प्रयोजन के लिए आस्था कम होने लगी। विशेषरूप से बौद्ध नैयायिको ने केवल इतने ही से सतोष नही किया कि दर्शन का प्रयोजन केवल पारमार्थिक जीवन की उन्नति करना है। इन विचारको ने यह शका उपस्थित की कि आखिर इस आत्मविद्या, परमार्थ का व्यावहारिक दृष्टि से क्या उपयोग और क्या फल है। यह तर्क उपस्थित किया गया कि यदि व्यक्तिगत शांति के लिए ही ससार-त्याग सबध-त्याग और कर्म-त्याग करके आत्मदर्शी बनाना दर्शन का प्रयोजन है तो ऐसा आत्मदर्शन ही व्यर्थ है, क्योकि,वह तो नितान्त स्वार्थपरक है।

बौद्धो के बाद दशनामो सन्यासियो ने इस तर्क का बडे पैमाने पर समर्थन किया। रामानुजाचार्य का कर्म तथा ज्ञान के समन्वय से सृष्ट व्यवहार और नय का सिद्धान्त इसी प्रभाव का परिणाम था। इन विचारको ने दर्शन का एक प्रयोजन लोक-सेवा तथा लोक-सहायता (ईश्वरभक्ति, सत्सग, सदुपदेश) आदि के रूप मे भी प्रकाशित किया। इन्होंने बताया कि व्यावहारिक दृष्टि से दर्शन का यही प्रयोजन है।

दर्शन और धर्म

धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा, दोनो ही दर्शन के प्रतिपाद्य विषय है। कर्म और ज्ञान या मीमासा और वेदान्त, इसके अपर नाम है। वैशेषिक और मीमासा, दोनो दर्शनो का आरभ धर्म की जिज्ञासा से हुआ है। **'यतोऽभ्युदयनि.श्रेयससिद्धिः स धर्म.'** इस सूत्र का यह आशय है कि 'यह मानवधर्म, जिससे इहलोक और परलोक, दोनो अभ्युदय (धर्म-अर्थ-काम) और नि श्रेयस (मोक्ष) इन चारो पुरुषार्थों की सिद्धि (प्राप्ति) होती है, वही धर्म है।'

इस दृष्टि से धर्म के अन्तर्गत सारी आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या का स्वत. अभिनिवेश सिद्ध होता है। अत. धर्म और दर्शन—दोनो का एक ही प्रयोजन (नि:श्रेयस की प्राप्ति) होने के कारण दोनों एक ही हैं।

इसी प्रकार वेदान्त के धर्मनिष्ठित ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग दर्शन में 'धर्ममेघ समाधि' का विधान किया गया है। इस संसारचक्र के विधिरूप धर्म का ज्ञान जिस समाधि से होता है वही 'धर्ममेघ समाधि' है।

धर्म और दर्शन, दोनो, एक-दूसरे पर आधारित हैं। एक के बिना दूसरे की उपपत्ति, स्थिति संभव ही नही, यथा 'मनुस्मृति' में भी कहा गया है :

'न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते'

जो अध्यात्मविद् है वही धर्म के स्वरूप को जानता है। बिना अध्यात्मबोध के कर्मों का अनुष्ठान व्यर्थ है।

ज्ञान (दर्शन) और भक्ति (धर्म) से अनुस्यूत भारतीय जीवन के सर्वांगीण स्वरूप को जाने बिना ही कुछ पाश्चात्य विद्वानो को यह भ्रम हुआ कि भारत मे दर्शन और धर्म को ठीक तरह से नही पहचाना गया। वास्तव में इन दोनो के समन्वय मे ही भारतीय जीवन का आरंभ हुआ है। हमारे यहाँ धर्म को अध्यात्म पर और अध्यात्म को धर्म पर अधिष्ठित करके देखा गया। मनु ने कहा भी है 'एतत्' या 'इदम्' शब्द से कहे जाने वाले इस दृश्यमान वस्तु जगत् का निर्माण परमात्मा ने किया है। इसलिए जो पुरुष अध्यात्मशास्त्र या आत्मविद्या को नही जानता वह किसी भी कार्य को यथोचित ढंग से संपन्न नही कर सकता और उसके उचित फल को नही पा सकता। इसलिए सासारिक व्यवहारो का नियमन (धर्मव्यवस्था) उसी व्यक्ति को सौपा जाना चाहिए जो वेदान्त को जानता है, क्योंकि जो वेदान्त को जानता है वही पुरुष-प्रकृति के तत्व को, उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय को जानता है।'

इसीलिए ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय बताते हुए श्रीकृष्ण ने 'गीता' मे कहा है 'मेरा ज्ञान प्राप्त करो, सेवा-भाव (भक्ति) से मेरा अनुस्मरण करो, और पापकर्मो का विनाश करने के लिए कर्म मे प्रवृत्ति रखो (**मामनुस्मर युध्य च**)। 'गीता' मे आगे कहा गया है कि कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त पुरुष की पर्युपासना ही ज्ञान है, दिव्य उपाधि से उपहित ईश्वरत्व प्राप्त जीव को पाना ही भक्ति है, और सब प्राणियो का यथाशक्ति हित करना ही कर्म है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म की इस त्रिधारा मे अवगाहन करते रहना ही भारत की सनातन परम्परा है और यही वास्तविक भारतीय संस्कृति है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनो में भक्ति, अर्थात् धर्म के लिए मनुष्य का अधिक आकर्षण होता है। वह इसलिए कि उसको इस बात का विश्वास होता है कि इस लोक में जो कुछ भी उपलब्ध हो, परलोक मे तो सुख मिलेगा ही। धार्मिक होने तथा इस सुख के लिए एतदर्थ जिज्ञासा होती है कि दुःख से छुटकारा मिले। दुःख की चरम सीमा है मृत्यु। इसी मृत्युभय से मनुष्य धार्मिक बनता है। जिसने इस मृत्यु को जीत लिया उसको धार्मिक बनने की आवश्यकता नही और न धर्म-कर्म करने की लालसा। किन्तु इस दुःख-परिणति मृत्यु को जीतने के लिए एकमात्र उपाय भी धर्म ही है। दुःख को कैसे दूर किया जा सके, इसके लिए धर्म-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। दुःख से सर्वथा छुटकारा पाने के लिए एकमात्र उपाय है दर्शन। दुःख के आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायस्वरूप दर्शन तक पहुँचने के लिए धर्म का आश्रय पहली शर्त है।

आत्मदर्शन ही श्रेष्ठ धर्म है। संपूर्ण शास्त्र और समस्त विद्याएँ उस परम धर्म (आत्म-दर्शन) के बाद स्वत ही प्राप्त हो जाते है। तभी मृत्यु से अमृतत्व, दुःख से सुख प्राप्त होता है। धर्म का एकमात्र उद्देश्य है आत्मा का दर्शन कराना। जब आत्मदर्शन हो जाता है तब परमात्मा का ठीक-ठीक स्वरूप समझ मे आ जाता है। ऐसी अवस्था के प्राप्त हो जाने पर मन के सारे सशय, विकल्प छिन्न हो जाने है। हृदय की सारी कुण्ठाएँ मिट जाती है, सासारिक बंधनो की जननी भेदबुद्धि और मन को आसक्त करने वाली वासना का उन्मूलन हो जाता है।

धर्म को दर्शन पर अधिष्ठित करके आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) को दुःखनिवृत्ति तथा अमरत्व का कारण बताते हुए 'मनुस्मृति' मे कहा गया है:

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

अर्थात् जिसने सम्यग्दृष्टि (आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान) प्राप्त कर लिया है वह फिर इस कर्ममय जगत् के बधनो मे नही बंधता, किन्तु जिसको सम्यग्दृष्टि नही मिली है वह बार-बार इस संसार मे जन्म लेता और मृत्यु का कष्ट पाता है।

इस दृष्टि से जो व्यक्ति आत्मा और संसार के वास्तविक स्वरूप और प्रयोजन को नही जानता वह धर्म और कर्तव्य का निर्णय नही कर सकता।

अत. परमात्मदर्शन का मूल आत्मदर्शन, जिस धर्म के अनुसरण से होता है उसका दर्शनशास्त्र से घनिष्टतम संबध है।

दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय जीवन मे चिन्तन की पुराकालीन परम्परा का कोई आदि नहीं

है। किसी तिथिविशेष या कालविशेष की दृष्टि से उनकी सीमा को निश्चित नही किया जा सकता। हमारे अनुसंधानमति ऋषि-कुलो मे दीर्घकाल तक ज्ञान की उपासना करते हुए जो तथ्य तथा अनुभव अर्जित किये गये उन्ही का संग्रह दर्शनग्रंथो मे देखने को मिलता है।

ये ऋषि आत्मदर्शी थे, तत्त्वदर्शी थे और जीवन तथा जगत् की रहस्यमयता को भली-भाँति जानते थे। इन ऋषियो के विभिन्न कुलो का वर्णन वेदो से लेकर पुराणों तक फैले हुए बहुसंख्यक प्राचीन ग्रथो मे किया गया है। इन ऋषियो के मध्य दो संप्रदाय थे प्रवृत्तिधर्मानुयायी और निवृत्तिधर्मानुयायी। कर्मकाण्ड के प्रवर्त्तक तथा कर्मकाण्ड मे कहे गये मत्रो के द्रष्टा या रचयिता प्रवृत्तिधर्मानुयायी और मोक्ष के साक्षात्कर्ता या तद्विषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषि कहलाये। सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि के मोक्षविषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषियो मे वाक्, आम्भृणी, जनक विदेह, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य और कपिल प्रमुख थे।

निवृत्तिधर्मानुगामी ऋषियो के भी दो संप्रदाय हुए: आर्ष और अनार्ष। आर्ष के अन्तर्गत साख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमासा तथा वेदान्त की और अनार्ष के अन्तर्गत जैन-बौद्ध दर्शनो की गणना होती है। अपने मूलरूप मे एक ही नदी की दो धारायें होने के कारण आर्ष और अनार्ष, दोनो सप्रदायो का एक ही चरम उद्देश्य है : परम पद की उपलब्धि।

तात्पर्यभेद से भारतीय दर्शन दो प्रमुख सप्रदायो मे अपना विकास करता आया है। वे दो संप्रदाय है: नास्तिक और आस्तिक। छह नास्तिक दर्शन है और छह आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शनो के नाम है: चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और आर्हत। छह आस्तिक दर्शनो के नाम है: न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि परस्पर विरोधी नास्तिक और आस्तिक, दोनो सप्रदायो के मूल सिद्धान्त प्राचीनतम है। भारतीय साहित्य के प्रचीनतम अंग वेदो मे ही हम दोनो दर्शन-सम्प्रदायो के विचारो का उल्लेख पाते है। देव और असुर, दोनो ही क्रमश आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के प्रतिनिधि वैदिककाल से ही विरोधी विचारधाराओ को ले कर चले आ रहे थे।

वास्तविकतावादी आचार्य चार्वाक का नाम प्राचीनतम ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है 'महाभारत' मे उनकी चर्चा है। चार्वाक से भी पहले बृहस्पति हो

चुके थे, जिनको चार्वाक ने प्रमाण माना है और जिनके सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। आचार्य बृहस्पति महाभारत काल के पूर्व हुए। इन दोनो आचार्यों को ५०० ई० पूर्व से पहले रखने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

बौद्धो के चार दर्शन संप्रदाय और जैनो का आर्हत दर्शन अपने को अनादि बताते है। 'श्रीमद्भागवत' मे जिन भगवान् ऋषभदेव को एक अवतार के रूप मे स्मरण किया गया है, जैन उनको अपना प्रथम तीर्थंकर महात्मा मानते है। इसी प्रकार बौद्धो का कथन है कि त्रेतायुग के दाशरथी राम, बुद्ध के ही एक अवतार थे और सिद्धार्थ बुद्ध उन्ही बुद्ध के अन्तिम अवतार हुए।

इस दृष्टि से यह कहना कि कौन दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है, बहुत कठिन अथवा असंभव भी है। वस्तुत. इन बारह दर्शन संप्रदायो की सैद्धांतिक स्थापनाएँ परस्पर ऐसी गुंथी हुई है कि उनका मूल शोध कर उनकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद पर मूल रूप से जो सूत्रग्रन्थ लिखे गये थे, वे अति प्राचीन होने पर भी, भले ही आगे-पीछे रखे जा सकते है; किन्तु उनमे जिन विचारो को ग्रथित किया गया है, निश्चित ही उनको आगे-पीछे नही रखा जा सकता है।

दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध मे 'महाभारत' मे कुछ ऐतिहासिक सूत्र देखने को मिलते है। उसका समग्र शातिपर्व ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्व का है। इस पर्व मे भीष्म पितामह ने महाभारतकालीन पाँच संप्रदायो का उल्लेख किया है, जिनके नाम है. साख्य, योग, पाचरात्र, वेद और पाशुपत। 'महाभारत' के इस प्रसंग मे अनीश्वरवादी दर्शन साख्य और ईश्वरवादी दर्शन योग के विषय मे जो कुछ कहा गया है, प्रचलित दोनो दर्शनो से उसका मेल नही बैठता। वैष्णवों की सगुणभक्ति-भावना ने ही पाचरात्र मत को जन्म दिया। पाशुपत मत के प्रवर्तक शैव थे और वेदमत, उपनिषद्-ग्रन्थो के तत्त्वज्ञान पर आधारित था।

इससे स्पष्ट ही यह ज्ञान होता है कि साख्य और योग, इन दोनो संप्रदायों का उद्भव महाभारतकाल मे ही हो चुका था और पाचरात्र, वेद तथा पाशुपत आदि दूसरे प्राचीन धर्म-संप्रदायो के साथ उनका उल्लेख होने के कारण उनकी प्राचीनता मे भी सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती।

साख्यज्ञान की व्यापक भावना को लक्ष्य कर के (शातिपर्व) 'महाभारत' मे एक श्लोक है, जिसका आशय है 'हे नरेन्द्र, जो महत् ज्ञान महान् व्यक्तियों मे वेदो के भीतर तथा योगशास्त्रो मे देखा जाता है और पुराणो मे भी जिसका उल्लेख विभिन्न प्रकार से हुआ है, वह सभी साख्य से आया':

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
मच्चापि दृष्टं विविधे पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥

अक्षपाद गौतम और कणाद काश्यप द्वारा न्याय तथा वैशेषिक, दो दर्शन संप्रदायो का प्रवर्तन मौर्य युग (४०० ई० पू०) मे ही हो चुका था। कुछ दिन पूर्व याकोवी महोदय ने गौतम और कणाद के दर्शन को जो नागार्जुन के शून्यवाद से प्रभावित होने की बात कही थी वह असत्य साबित हो चुकी है और यह निश्चित हो चुका है कि शून्यवादी आचार्य नागार्जुन, नैयायिक गौतम तथा वैशेषिककार कणाद के बाद हुए। 'चरकसंहिता' पर अंकित न्याय-वैशेषिक प्रभावो से यह बात और भी पुष्ट हो चुकी है कि उक्त दोनो दर्शन ईसा की प्रथम शताब्दी से भी बहुत पहले के है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार विदित होता है कि आर्य रक्षित के गुरु जैनाचार्य वज्रस्वामी (७६ ई०) के शिष्य कणाद काश्यप संभवत. पहली शताब्दी ई० के आस-पास हुये, किन्तु यह बात वैशेषिक दर्शन के निर्माण के सम्बन्ध मे चरितार्थ नही होती। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम का समय ४०० ई० पूर्व के लगभग था। संभवत गौतम, कणाद से पहले हुए।

पूर्व मीमासा की रचना उत्तर मीमासा से पहले होते हुए भी जैमिनि और व्यास सैद्धान्तिक प्रतिपादन मे एक-दूसरे को उद्धृत करते पाये जाते है, जिससे विदित होता है कि उद्धृत करने की यह शैली बाद की है। उसको शिष्य-परम्परा ने चलाया। इसी शिष्य-परम्परा के द्वारा समय-समय पर उक्त दोनो दर्शनो का संशोधन, सपादन और परिवर्त्तन-परिवर्द्धन होता गया। पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा का जो स्वरूप आज हमारे सामने विद्यमान है उसके अन्तिम संस्करण बहुत पीछे, संभवत. मौर्य युग (४०० ई० पूर्व) से सातवाहन युग (२०० ई० पूर्व) तक निरन्तर होते रहे। जहाँ तक जैमिनि और व्यास का प्रश्न है वे महाभारत-कालीन ऋषि थे।

योगदर्शन के प्रवर्तक महामुनि पतंजलि हुए। पतंजलि नाम की नाना रूपात्मकता को देख कर यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमे से योगदर्शन के रचयिता पतंजलि कौन थे। विद्वानो ने योगसूत्रो को षड्दर्शनो मे प्राचीन बताया है और यह सिद्ध किया है कि उसकी रचना बौद्धयुग (५०० ई० पूर्व) से पहले हो चुकी थी। यदि यह सही है तो यह मानना आवश्यक है कि 'महाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि, जिनका स्थितिकाल ४०० ई० पूर्व मे निर्धारित है, 'योगसूत्र' के रचयिता पतंजलि से भिन्न थे। 'योगसूत्र'

पर जो भाष्य लिखा गया उसके रचयिता व्यास, कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से भिन्न थे और वे बौद्धकाल में हुए। कनिष्क के समय (प्रथम श० ई०) तक व्यासभाष्य प्रकाश में आ चुका था।

वैदिक युग के ब्राह्मणग्रन्थो के पुरोहित आचार्यों ने जिस स्थूल कर्मवाद को प्रचलित किया था उसका भरपूर विरोध उसी युग में उपनिषत्कार ऋषियो ने किया। तदनन्तर महावीर और बुद्ध, इन दो समाज-सुधारक महात्माओ एवं संतों, और विशेषत उनके अनुवर्ती आचार्यों ने अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं की प्रतिष्ठा के लिए एक ओर तो उपनिषद्ग्रन्थो के ऊँचे आदर्शों को लेकर अपनी स्थिति को अधिक सुदृढ किया और दूसरी ओर उन्होने वैदिक धर्म की बुराइयो का प्रचार कर समाज को अपने पक्ष में कर लिया।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने जिन आदर्शों को रखा था, अपने मूलरूप में वे किसी भी धर्म के विरोधी और किसी के भी सिद्धान्तो की आलोचना से सबद्ध नही थे। जैन और बौद्ध धर्मों में वैयक्तिक रूप में विरोधी सप्रदाय और आलोचनात्मक प्रक्रिया को उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया। भारत का यह युग बौद्धिक सघर्ष और विचार-संक्रान्ति का अपूर्व युग रहा है। जैनाचार्यो और बौद्धाचार्यों ने अपने सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा के लिए ज्यो ही खुले आम वैदिक धर्म की भर्त्सना की, कि एक साथ ही वैदिक धर्मानुयायी समाज जाग उठा। फलत जो हिन्दू दर्शन अब तक बडी ही मन्दगति से चले आ रहे थे वे विरोधियों के प्रतिकार के लिए द्विगुणित उत्साह के आगे बढे। यह द्वादश दर्शन सप्रदायो के चरमोत्कर्ष का युग था।

पहले संकेत किया गया है कि दर्शनो का उद्भव वैदिक युग में हो हो चुका था। श्रुतिकाल की प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक प्रवृत्तियाँ इसका प्रमाण हैं। वैदिककालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान से ही षड्दर्शनो की नीव पडी।

विषय की दृष्टि से भारतीय दर्शन की विकास-परम्परा को उद्भव, भाष्य और वृत्ति, इन तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग भाष्य-ग्रन्थो की रचना का रहा है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त हो जाने पर विदित होता है कि भारत में सहस्रों वर्षों पूर्व से चिन्तन की धारा अविरत रूप में आगे बढती गयी और उससे भारत की विचार-भूमि सदैव ही उर्वर बनी रही।

दर्शनों की संख्या

भारतीय दर्शन का जिन विभिन्न शाखाओं या संप्रदायों में विकास हुआ, यदि उनके आधार पर यह निश्चित किया जाय कि संख्या में वे कितने है, तो इसका एक निश्चित उत्तर नही मिलेगा। दर्शनो की वास्तविक संख्या के संबंध मे यह मत-मतान्तर प्राचीन ग्रंथकारो मे भी पाया जाता है। प्राय: 'षड्दर्शन' नाम के आधार पर दर्शनो की संख्या छह मानी जाती है। इस आधार पर यदि समस्त दर्शन-शाखाओं का वर्ग-विभाजन या क्रम-निर्धारण किया जाय तो कोई संतोषजनक निष्कर्ष नही निकल पाता। यह नाम न तो अधिक प्राचीन है और न उसके अन्तर्गत परिगणित होने वाले दर्शनो का क्रम ही प्रामाणिक है। वस्तुत: जिस ग्रंथकार को जब भी जो नाम सूझे उन्ही को षड्दर्शन के अन्तर्गत रखा गया। कुछ ग्रंथकारों ने दर्शनो की संख्या छह से कम और कुछ ने छह से अधिक मानी है।

दर्शनो के नाम-निर्धारण तथा वर्गीकरण करने वाले ऐसे अनेक प्राचीन ग्रंथो को उद्धृत किया जा सकता है, जिनके मत एक-दूसरे से भिन्न है। उनमे शंकराचार्य के 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का नाम मुख्य है। इस ग्रंथ मे लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, मीमांसा (भाट्ट, प्राभाकर), सांख्य, पातंजल, व्यास और वेदान्त—इन दस दर्शन संप्रदायों की चर्चा की गई है। इसके बाद लिखा हुआ जिनदत्त सूरि के ग्रंथ 'षड्दर्शन समुच्चय' में जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव, और नास्तिक इन छह दर्शनों का उल्लेख किया गया है। इसके बाद रचित माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' मे सोलह दर्शन-सम्प्रदायों के नाम गिनाये गये है, जिनका क्रम इस प्रकार है: चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुजीय, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा (कार्श्मीर शैव), रसेश्वर (आवधूतिक), औलूक्य (वैशेषिक), अक्षपाद (न्याय), जैमिनीय (पूर्वमीमांसा), पाणिनीय (वैयाकरण), सांख्य, पातंजल (योग), और शांकर (अद्वैत)। मधुसूदन सरस्वती की 'शिव महिम्न स्तोत्र-टीका' में छह आस्तिक और छह नास्तिक, बारह दर्शन संप्रदायों का उल्लेख किया गया है। छह आस्तिक दर्शनो के नाम है: न्याय, वैशेषिक, कर्म मीमांसा, शारीरिक मीमांसा (ब्रह्ममीमांसा), सांख्य और योग। छह नास्तिक दर्शनों के नाम है: सौगत (बौद्ध) के चार संप्रदाय : माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक तथा वैभाषिक और चार्वाक तथा दिगम्बर (जैन)।

इस प्रकार विदित होता है कि दर्शनो की संख्या तथा उनका क्रम और वर्ग-वभाजन किसी नियत सिद्धान्त पर नही किया गया। जहाँ तक 'षड्दर्शन' शब्द का संबंध है, उसका व्यवहार किसी वैज्ञानिक आधार पर नही हुआ। इसलिए दर्शनों की न तो कोई संख्या निश्चित की जा सकती है और न उनको किसी वैज्ञानिक क्रम तथा वर्ग के अनुसार ही अनुबद्ध किया जा सकता है।

जैसा कि भारत के प्राचीन और आधुनिक दार्शनिकों का मत है कि भारतीय दर्शन की विभिन्न ज्ञान-धाराओं का एक ही उद्गम और एक ही पार्यवसान है, उनकी अनेकता मे एकता और उनकी विभिन्न दृष्टियाँ एक ही लक्ष्य को अनुसधान करती है—यह उचित ही है। 'भागवत' के एक श्लोक मे, सब दर्शन-शाखाओं के इस परम भाव को, बडे सुन्दर ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है

सर्व सम्बादिनी स्थविरबुद्धिः
इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम्॥

अर्थात् बूढे लोगो की बुद्धि, विवाद करते हुए युवको मे मेल (सम्वाद) करने की चिन्ता मे रहती है। जगत् के मूल तत्त्वो की गिनती (व्याख्या, संख्या) बुद्धिमानो (कवियों) ने नाना प्रकार से की है, सभी प्रकार, अपनी-अपनी दृष्टि से न्याय-सगत है। सब के लिए विद्वान् लोग युक्तियाँ वताते है। उनमे कोई अपरिहार्य विरोध नही है।'

संप्रति मुख्यत छह आस्तिक दर्शनो (न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त) और तीन नास्तिक दर्शनो (चार्वाक, बौद्ध और जैन) को ही लिया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे इन्ही पर विचार करने का यत्न किया गया है। इसके अन्तिम अध्याय मे व्याख्यात 'रामानुज दर्शन' वेदान्त दर्शन की ही एक शाखा है। यद्यपि वेदान्त दर्शन का अनेक शाखाओं मे विकास हुआ है, किन्तु उन सबका विवेचन करना यहाँ अपेक्षित नही समझा गया।

आस्तिक और नास्तिक

आस्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास करना और नास्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास न करना नही है, क्योंकि साख्य और मीमासा मे ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है, जब कि वे आस्तिक दर्शनो की कोटि मे रखे गये हैं। इसी प्रकार आस्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को मानने और नास्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को न मानने से भी नही है; क्योकि पुनर्जन्म मे विश्वास करनेवाले

जैन और बौद्ध दर्शन इसके उदाहरण हैं, जिन्हे कि नास्तिक कहा गया है। इसी लिए आस्तिक दर्शन वे है, जो वेदों को और वेदो की प्रामाणिकता को मानते है और नास्तिक दर्शन वे हैं जो वेदो तथा उनकी प्रामाणिकता को नही मानते। सैद्धान्तिक दृष्टि से नास्तिक दर्शन को अनीश्वरवादी या प्रत्यक्षवादी कहा जाता है।

आस्तिक दर्शन विचारो की दृष्टि से दो तरह के है। एक तो वे, जो सीधे वेदो पर आधारित है और दूसरे वे, जो वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए भी नयी विचार-पद्धतियो को प्रस्तुत करते है। वेदो पर आधारित दर्शन हैं मीमासा और वेदान्त। मीमासा दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड पर और वेदान्त वैदिक ज्ञानकाण्ड पर आधारित है। नयी विचारधारा के दर्शन है साख्य, योग, न्याय और वैशेषिक।

इसी प्रकार नास्तिक दर्शन भी दो प्रकार का है। चार्वाक दर्शन, जो कि नास्तिक दर्शनो मे अग्रणी है, वेदो की और वैदिक मतानुयायियो की घोर निन्दा करता है। वेदो को उसमे झूठा, व्याघात और पुनरुक्ति आदि दोषो के कारण प्रमाण नही माना गया है (**तदप्रामाण्य अनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्यः**)। उसका कहना है कि वेद उन धूर्त पुरोहितो की रचनाएँ है, जिन्होने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों मे यह भ्रम फैलाया कि वे स्वर्ग का सुख देने वाले है (**धूर्तप्रलापत्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्**)। चार्वाक के अतिरिक्त जैन-बौद्धो ने भी वेदो के अंधविश्वासो की निन्दा की है, किन्तु संयत रूप से। जैन तो वेदवचनो के स्थानपर तीर्थंकरो की वाणियाँ प्रमाण मानते है। चार्वाक की भाँति जैन और बौद्ध घोर भौतिकवादी नही है और अनेक दृष्टियो से वे चार्वाक के सिद्धान्तो को अमान्य समझते है। यही दृष्टिकोण बौद्धो का भी है।

इस प्रकार उक्त आस्तिक और नास्तिक दर्शनो की जो विभिन्न शाखायें है उनमे भी स्पष्ट मतभेद है। निष्कर्ष यह है कि सभी दर्शनशाखाओ मे विचारो की स्वतंत्रता रही है। इस विचार-स्वतंत्रता के पहले उदाहरण वेद है। उन्ही की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव भावी परम्परा के विचारको पर पडा। अत अधिक उचित यही है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के सृजक वेदो के अनुसधान से ही दर्शन की जिज्ञासा का अध्ययन किया जाय।

●

वेदों में दर्शन

* * * *

वेद और वैदिक साहित्य

वेद

वैदिक युग मे 'वेद' से सम्पूर्ण वाङ्मय का बोध होता था। ब्राह्मणग्रन्थो को भी वेद कहा जाता था, किन्तु बाद मे वेद केवल चार मंत्र-सहिताओ का बोधक रह गया। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदो से सर्वथा अलग किये गये, जैसा कि 'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्य-भूमिका मे सायणाचार्य ने कहा है 'यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण, दोनो वेद कहे जाते रहे है, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ, मंत्रो के व्याख्यान रूप थे। अतः उनका स्थान मंत्रो के बाद आता है' (**यद्यपि मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्रव्याख्यानरूपत्वात् मंत्रा एवादौ समाम्नाताः**)।

यद्यपि वेद नाम से आज हम चार मंत्र-संहिताओ को ही लेते है, फिर भी इतना निश्चित है कि हमारी सारी क्रियाओ का मूल वेद ही है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि जितने भी विषय है उन सब की नीव वेदों पर टिकी है। इसलिए मनु ने वेदो को सर्वज्ञानमय कहा है और यही कारण है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा मैक्समूलर जैसे आधुनिक विद्वानों ने भी वेद के उक्त ज्ञानमय स्वरूप को स्वीकार किया है।

वेद हिन्दू जाति की सबसे पुरानी और सबसे पवित्र पुस्तक है। वह पुस्तक न तो 'कुरान' की तरह एकमात्र धर्म-पुस्तक है और न 'बाइबिल' की तरह अनेक महापुरुषो की वाणियो का संग्रह मात्र ही, बल्कि वह तो एक पूरा साहित्य है।

वेद चार हैं : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। उन चारों की चार संहितायें हैं : ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता। संहिता, संकलन या संग्रह के लिए कहते हैं। प्रत्येक संहिता मे अलग-अलग वेदो के मंत्र संकलित हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

वेद कहते हैं ज्ञान के लिए। 'ज्ञान' शब्द का व्यापक अर्थ है। इतिहास भी एक ज्ञान है, भूगोल भी एक ज्ञान है, गणित भी एक ज्ञान है। किन्तु वेद शब्द से हम उस ईश्वरीय ज्ञान को लेते हैं, हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार जिसको पहले-पहले ऋषि-महर्षियों ने खोजा था। इसलिए ऋषियो द्वारा दृष्ट ज्ञान ही वेद शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। इस ज्ञान को हिन्दू धर्म ने ईश्वरीय आदेशों के रूप मे शिरोधार्य माना है।

वेद नित्य और अपौरुषेय है

वेदो के बाद रचे गये ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि सभी मे एकमत से स्वीकार किया गया है कि वेद नित्य है, अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी वे विद्यमान थे, वेद अनादि हैं, अर्थात् उनकी कोई जन्मतिथि नही है, और वेद अपौरुषेय है, अर्थात् उनका रचने वाला कोई पुरुष नही है। इस दृष्टि से वेद स्वयंभूत, स्वयप्रकाश और स्वयंप्रमाण है।

वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के सम्बन्ध मे 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट का कथन है कि प्रलयकाल के बाद भी वह विनष्ट नही हुए थे, वे परमात्मा मे अवस्थित थे (**प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेदराशिः स्थितः**)। ईश्वर की सत्ता मे अविश्वास करने वाले साख्य दर्शन के निर्माताओ ने भी वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है।

ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे

'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि 'अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषि को 'मंत्रकृत्' कहते है। यहाँ '**करोति**' धातु का अर्थ देखना है, न कि करना। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के एक सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होने स्पष्ट किया है कि 'यद्यपि अपौरुषेय वेदो का कोई कर्ता नही है, तथापि सृष्टि के आरंभ मे ईश्वर की कृपा से मंत्रो को पाने वाले ऋषियो को ही '**मंत्रकृत्**' कहा गया। 'निरुक्त' के रचयिता यास्क (७०० ई० पूर्व) ने 'ऋषि' शब्द का निर्वचन मंत्रद्रष्टा के रूप मे किया है। यास्क ने मंत्रो का प्रथम दर्शन करने वाले प्रतिभावान् व्यक्तियों को 'ऋषि' कहा है।

वेदो का 'श्रुति' नाम पड़ने का एकमात्र कारण यही है कि उनकी परम्परा ऋषिवंशो से श्रुतजीवी होकर आगे बढी। श्रुति का अर्थ सुनना है। इस वेदविद्या को ऋषियो ने परमात्मा से सुना और लोककल्याण के लिए उसको संसार मे प्रचारित किया। वेद का अर्थ ज्ञान है। इस वेद-ज्ञान का दर्शन पहले-पहल जिन आप्त पुरुषो ने किया वे ऋषि कहलाये। मंत्रो के 'कण्ठाप्त' और 'कल्प्य', ये दो नाम इसीलिए पडे। जिन मत्रो का ऋषियो ने प्रत्यक्ष किया उन्हे 'कण्ठाप्त' और जिनका स्मृति से अनुमान किया वे 'कल्प्य' कहे गये। इस बात को पुराण बताते है।

'ऋष्' धातु के अर्थ है गति, श्रुति, सत्य एवं तप। पुराणो के अनुसार 'ऋष्' का यह अर्थ स्वयं ब्रह्म ने किया। रजस्तमरहित, तपोज्ञानयुक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहत, ज्ञानसंपन्न, आप्त, शिष्ट, परम ज्ञानी ही ऋषि कहलाये। उनका ज्ञान तथा उनके उपदेश निर्भ्रान्त थे। बुद्धि, हृदय और कृति, ये तीनो एक साथ जिस तथ्य की और सत्य की साक्षी दे, उस तथ्य और सत्य को पाया हुआ या पहुँचा हुआ जीव तथ्यंगत, सत्यंप्राप्त, आप्त, या ऋषि है। इन्ही महाभाग, प्रतिभावन्त, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो ने वेदमत्रो का ज्ञान प्राप्त कर दूसरे काल के असाक्षात्कृतधर्मा महर्षियो को उपदेश के द्वारा मत्रो का बोध कराया। उपदेश ग्रहण करने मे असमर्थ क्षीणशक्ति वाले दूसरे ज्ञानेच्छु लोगो के लिए विद्वानो ने 'निघण्टु' तथा वेदागो को ग्रन्थ-रूप मे निबद्ध किया।

इस प्रकार के ऋषियो की सात श्रेणियाँ थी, जिनके नाम थे १ ब्रह्मर्षि जैसे वशिष्ठ आदि, २ देवर्षि, जैसे कण्व आदि ३ महर्षि, जैसे व्यास आदि, ४. परमर्षि, जैसे भेल आदि, ५ काण्डर्षि, जैसे जैमिनि आदि, ६ श्रुतर्षि, जैसे सुश्रुत आदि, और ७ राजर्षि, जैसे ऋतुपर्ण आदि।

वैदिक साहित्य

वेद से चार संहितायें और वैदिक साहित्य से ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और छह वेदाग लिये जाते है।

ब्राह्मणग्रन्थ प्रधानत कर्मकाण्ड विषयक है, किन्तु उनमे प्राचीन ऋषिवंशो की कथाएँ और जगत्सम्बन्धी विचार भी वर्णित है। आरण्यक वस्तुत. ब्राह्मणग्रन्थो के ही अश है। ब्राह्मणग्रन्थों मे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कर्मो का प्रतिपादन और आरण्यको मे वानप्रस्थ जीवन के कर्मो का विधान है। आरण्यको मे दर्शन सम्बन्धी विचार भी है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ है। सूत्रग्रन्थो मे वैदिक यज्ञो का विधान वर्णित है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये छह वेदाग है।

वेदों में दार्शनिक विचार

वेदो का उद्देश्य वस्तुत. दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन करना नही था। वे धर्म के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं, किन्तु उनका उद्देश्य केवल धर्म का निरूपण करना भी नही था। वस्तुत वह एक सम्पूर्ण वाङ्मय है। परवर्ती विचारको ने अपनी रुचियों के अनुसार वेदो से मूल भावनाओ को लेकर उनका विकास किया। कर्म, उपासना और ज्ञान, वेदों मे निहित इन मूल भावनाओ का विकास हम क्रमश. ब्राह्मणग्रन्थो, आरण्यको और उपनिषदो मे पाते हैं। इन्ही तीन भावनाओं के व्यापक रूप षड्दर्शन है। षड्दर्शनो मे जिन विचारो की व्याख्या हुई है उनको दृष्टि मे रखकर हम वेदों मे दार्शनिक विचारो का अन्वेषण करें तो हमे लगता है कि वेदों के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्ट शक्ति का चिन्तन किया है वही दर्शनों की प्रेरणा उद्गम तथा केन्द्र है।

अदृष्ट शक्ति

वेदों के ऋषि विचारप्रधान थे। इस जगत् के मूल में उन्होंने एक अदृष्ट शक्ति को स्वीकार किया था, जिसको उन्होंने 'प्रकृति' नाम दिया। इस कारणरूप अदृष्ट प्रकृति के रहस्यो, शक्तियो को जानने के लिए उन्होने तप और योग का आश्रय लिया। इस अदृष्ट शक्ति के अस्तित्व पर विश्वास करने के लिए वैदिक ऋषियों के समुख कुछ मौलिक समस्याएँ थीं। उन्होने अनुभव किया कि यह समस्त जागतिक प्रपच वास्तव मे जैसा दिखायी दे रहा है, वैसा है नहीं। उसका अन्त अत्यन्त दु खमय है। इस दु खमय अन्त का कारण जानने के लिए उन्होने यत्न किया और अनुभव किया कि इस दु:ख को परम सुख में बदला जा सकता है। इस परम सुख को खोज निकालने के लिए उन्होंने देवताओ की प्रार्थना की और विशिष्ट उपासनाओ के द्वारा उन्हे प्रसन्न किया। उनके समक्ष देवता ही एकमात्र ऐसे कृपालु थे, जो प्रसन्न होने पर उपासक को अच्छे मार्ग का निर्देश कर सकते थे। इस प्रकार ऋषियो ने देवताओं के अनुग्रह से ज्ञान-अज्ञान, सुख-दु:ख, नित्य-अनित्य और लोक-परलोक के रहस्यो, कारणो और आधारो को खोज निकाला। उन्होने अन्तिम निष्कर्ष निकाला कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है। यह परम श्रेय ही वस्तुत अदृष्ट शक्ति थी, जो कि परमात्मा या विश्वात्मा का नित्य सहचर थी। प्रकृति के रहस्यो से आतंकित ऋषियो का उद्देश्य वस्तुत. इसी परम श्रेय की उपलब्धि के लिए था। चिन्तनप्रधान

ऋषियों के द्वारा प्राप्त यह परम श्रेय ही वेदों का ज्ञानकाण्ड और वेदान्त का अद्वैतवाद है।

देवता

विश्व प्रकृति जड़प्रवाह नहीं, बल्कि एक धर्मविधान है। जिस विधान के द्वारा प्राकृतिक नियम शासित होते है उसी का नाम धर्मविधान है। जहाँ यह धर्मविधान है वहाँ किसी चेतन नियामक को स्वीकार करना अनिवार्यतः सिद्ध है। इसी अनुशासन के अधीन होकर चलने मे नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि संभव है। इस जड़प्रवाह जगत् के व्यापारो का संचालन करनेवाला श्रेयबुद्धिसंपन्न कोई चेतन पुरुष है। वह विचारशील है और धर्मप्रवण है। उसके हाथों मे इस कर्ममय जगत् की बागडोर है। वह इस जगत् का नियन्ता, शास्ता और अधिष्ठाता है। वेद मे इस प्रकार की चेतन सत्ता का साक्षात्कार होना बताया गया है। उसी चेतन सत्ता का नाम 'देवता' है।

बहुदेवतावाद

वेदों मे एकेश्वरवाद और देवतावाद, दोनो प्रकार के विचार देखने को मिलते है। हमने ऊपर निर्देश किया है कि वेदो के ऋषि किसी एक कारणरूप अदृष्ट शक्ति के उपासक थे। वेदो के देवता इसी एकमेव अदृष्ट शक्ति के विभिन्न रूप थे (**महद्देवानां सुरत्वमेकम्**)। वे अलग और अनेक होते हुए भी निश्चित थे। उनके अलग-अलग अधिष्ठान थे।

कर्मफलो के प्रदाता

यह सृष्टि नाना नामरूप कर्मव्यापारो का घर है। इसलिए उसका संचालन करने वाले देवता भी अनेक है। इस जड जगत् के मूल मे समस्त कार्यव्यापारो की अधिष्ठानरूप शक्तियो का नाम ही देवता है। इन शक्तियो से मानव-शक्ति का सम्बन्ध जुडा हुआ है। मानव की शक्तियाँ है : कर्म, योग और ज्ञान। जगत् के अधिष्ठान रूप देवताओ की शक्तियाँ अनन्त है, असीम है; किन्तु मानव-शक्तियाँ ससीम एवं सान्त है। अपनी-अपनी शक्तियो के द्वारा मनुष्य जिस सामर्थ्य एव योग्यता से प्रवृत्त होता है, तदनुसार ही उसको सुख-दु:ख की फलोपलब्धि होती है। यद्यपि वेदो मे देवताओ की आराधना केवल इसलिए की जाती है कि उनके नाम से हवि दी जाती है और इससे अधिक उनका माहात्म्य नही माना गया है, किन्तु बाद के कर्मप्रतिपादक ग्रन्थो मे मनुष्य के कर्मानुकूल फल देना देवता के आधीन बताया गया है। इसका यह भी आशय हुआ कि भोग्य वस्तुओ, भोगायतन शरीर और इन भोगेन्द्रिय

शक्तियों का अधिष्ठाता देवता ही है। वही विश्व-नियन्ता है। अतः अपने श्रेय (कल्याण) और प्रेय (सुख) के लिए मनुष्यो के लिए देवताओ को प्रसन्न करना आवश्यक है। देवताओ को प्रसन्न तभी किया जा सकता है, जब कि निर्दिष्ट धर्ममार्ग का अनुसरण किया जाय। तभी मानव अनुकूल सुख को प्राप्तकर जीवन को सार्थक बना सकता है।

देवताओं के गुण

वेदमंत्रो मे देवताओ के गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। उनके इन्ही गुणो से उनके स्वरूप और स्वभाव के बारे में भी पता चलता है। देवताओ के गुण है

१. देवता, शुभकर्मों (यज्ञादि) के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करते है और परमेश्वर को अपना सहायक मानते है।
२ उसी परमेश्वर के आग्रह पर वे अन्त मे शरीर को छोडने के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त करते है।
३. वे कर्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय करने वाली बुद्धि से संपन्न है।
४. वे परोपकार मे तत्पर रहते हुए अपना और दूसरो का कल्याण करते है।
५. वे आत्मिक ज्योति प्राप्त करके आतरिक अंधकार को दूर करते है।
६ वे मातृभूमि के यश का विस्तार करते है।
७. वे स्वयबुद्धि और ज्योति से सपन्न होकर मनुष्यमात्र को उत्पन्न करने का यत्न करते है।
८ वे अहिंसात्मक व्यवहार का बोध कराते है।
९. वे सदा सत्य का पक्ष लेते है।
१०. वे स्वयं ज्ञानी है और दूसरो को ज्ञान देते है।

वेदमंत्रो के इन्ही आधारो पर श्रीकृष्ण ने 'गीता' के १६वे अध्याय में देवताओ के गुणो का वर्णन किया है।

अन्तिम सत्य

निर्दिष्ट धर्ममार्ग पर चलकर मनुष्य, मंगलमय देवताओ को प्रसन्न करके शुद्ध अन्त करण और सुखमय जीवन का निर्माण तो अवश्य कर सकता है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य वह भी नही है। मनुष्य धर्ममार्ग पर चलता हुआ यह अनुभव करने लगता है कि क्या ऐसी कोई भोग्य वस्तु है, जिसके प्राप्त हो जाने पर समस्त भोगवासनाओं की तृप्ति हो जाती है? क्या ऐसा भी कोई अन्तिम सत्य है, जिसको जान लेने के बाद कुछ जानना बाकी नही

रह जाता ? वेदो के ऋषियो के मन मे इस प्रकार की प्रेरणायें स्वतः ही उद्भूत हुई। मनुष्यो मे भी यही प्रवृत्ति है। मनुष्य इन समस्त कार्य-व्यापारो से उठकर उनके मूल मे अधिष्ठित तथा उनका संचालन करनेवाली किसी कारण भूत सत्ता की ओर अग्रसर होता है। इस समस्त महा प्रपंच का अधिष्ठाता कौन है, यह जानने के लिए उसकी तीव्र प्रवृत्ति होती है। इस जगत् के मूल मे कोई सद्वस्तु, अपनी ही सत्ता से सत्तावान् है, यह जानने के लिए धर्मनिष्ठ विवेकी पुरुष के मन में स्वतः जिज्ञासा होती है।

एकेश्वरवाद

वेदो की अनेक श्रुतियाँ इस अन्तिम सत्य अद्वैतवाद का निरूपण करती हैं। एक ही सत् को विप्रजन अनेक प्रकार से कहते हैं। (**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**); जो कुछ है, जो कुछ था और जो कुछ होगा वह एक ही पुरुष है (**पुरुष ऐवेद सर्वं य भूतमयभाव्यम्**); देवताओ का वास्तविक सार एक ही है। (**महद्देवानां सुरत्वमेकम्**); सभी देवता उस विश्वात्मा के अग स्वरूप है (**एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति**); ये सभी श्रुतियाँ बहुत्व का एकत्व मे समावेश करती है। वेदो मे उस अद्वैत तत्त्व को आत्मा, निष्काम, आत्मनिर्भर, अपर, स्वयंसिद्ध, आनन्दमय, अनिर्वचनीय सर्वश्रेय, सर्वव्यापक और शाश्वत आदि अनेक विभूतियो से युक्त कहा गया है। उसी अनिवर्चनीय परमेश्वर को इस सृष्टि का और इस सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपो का आधार बताया गया है।

ऋग्वेद मे अद्वैतवाद

ऋग्वेद की अनेक श्रुतियाँ अद्वैतवाद का बडे प्रभावशाली ढग से प्रतिपादन करती है। ऋग्वेद (२।३।२३।४६) मे एक स्थान पर कहा गया है कि 'मेधावी लोग उस सूर्य को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु, गरुड आदि अनेक नामो से पुकारते है। इस वेदमत्र को यदि अद्वैत की दृष्टि से न देखा जाय तो उसका वास्तविक अर्थ नही जाना जा सकता है। उसके अर्थ मे असंगति आ जायगी।

जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मे जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है, ठीक उसी का मूल रूप हमे ऋग्वेद (३।७।१४।५) मे देखने को मिलता है। वहाँ कहा गया है कि 'वह आत्मा सूर्यरूप होकर द्यु-लोक मे निवास करता है, सब प्राणियो का आधार वायुरूप होकर अन्तरिक्ष मे रहता है, होम निष्पादक अग्निरूप होकर पृथ्वी पर रहता है, वही मनुष्यो मे आत्मा के रूप

मे अवस्थित है, वही देवलोक मे निवास करता है, वही यज्ञस्वरूप है, वही जल-जन्तुओ, पृथ्वी के वृक्षादियो, मनुष्यो के शुभाशुभ कर्मों और पर्वत से प्रादुर्भूत नदियो मे निवास करता है । वह सर्वव्यापी है और त्रिकालाबाध्य ब्रह्मस्वरूप है ।'

अद्वैत दृष्टि से ब्रह्म मे माया की जो द्वैत कल्पना की जाती है उसका कितना सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद (४।७।३३।१८) की इस श्रुति मे देखने को मिलता है :

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशः ॥

अर्थात् 'सर्वव्यापक चिद्रूप परमात्मा प्रत्येक शरीर मे निहित बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है । घट मे रखे जल मे आकाश की छाया की भाँति शरीर मे अवस्थित बुद्धि मे जो चिदाभास है, वही जीव है । परमात्मा का वह प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मक विम्ब स्थानीय परमात्मा के यथार्थ बोध के लिए है । ऐश्वर्यशाली वह परमात्मा, माया और माया की अनन्त शक्तियो के द्वारा आकाशादि विविध रूपो मे परिणत होकर नानारूप इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है ।'

इस कारणभूत मूल सत्ता को, जिसकी ओर विवेकशील पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वेदान्त मे वृहत्, ब्रह्म, शिव, विष्णु, महाकाल आदि नामो से कहा गया है । इस परम तत्त्व के प्राप्त हो जाने पर ज्ञान, कर्म और भाव प्रवाहो का अन्त हो जाता है । उसी को सत्यं, ज्ञान, अनन्तं, एकमेवं, अद्वितीयं, शान्तिमयं, शिवं, आनन्दमय और अमृतम् कहा गया है ।

अनुशासन (ऋत्) का सिद्धांत

ऋषियो ने अपने अनुभूतिपूर्ण अन्तःकरणो मे जिन सनातन सत्यो का साक्षात्कार किया था उन्ही का वर्णन वेदो मे है । इसलिए ऋषियो को **'साक्षात्कृतधर्माः'** कहा गया । इन ऋषियो ने जिन सत्यो को खोजा उनमे 'अनुशासन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

वेदो मे 'ऋत्' का बडा ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है । ऋत् कहते है अनुशासन या व्यवस्था को । वेदो मे विशाल मानवता के कर्तव्यो और अनुशासनो का गभीरता से निरूपण किया गया है । किस के लिए क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञाव्य है, और क्या भोग्य है, क्या परिहार्य है, इन सभी बातो का निर्देश वेदो मे है । इसी को वेद का अनुशासन तथा 'ऋत् का सिद्धान्त' कहते है और वह किसी व्यक्ति, संप्रदाय, जाति के लिए न होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए है । इसीलिए वैदिक

धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है, कर्त्तव्य है, वैदिक दृष्टि यथार्थ मानव दृष्टि है। मनुष्य का मनुष्य के साथ और मनुष्य का समस्त वहिर्जगत् के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसका सम्यक् निरूपण वेदो का 'ऋत् सिद्धान्त' करता है। वेदो मे सब के लिए समान रूप से सत्य, मंगल और सुख का आदर्श बताया गया है।

वेदो का यह 'ऋत्' नित्य, शाश्वत और सब का पिता है। सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, सुबह, सायं, ऋतुएँ आदि का नियमित क्रम इसी ऋत् द्वारा अनुशासित है। वेदो का यह नैतिक नियम देवताओ और जीवो को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश करता है। जीवों के लिए उसका स्पष्ट निर्देश है कि वे पापो से बच कर पुण्य की ओर प्रवृत्त हो।

सृष्टि विचार

वेदो मे सृष्टि के सम्बन्ध मे भी अनेक प्रकार से विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि अग्नि से जगत् की उत्पत्ति हुई और तदनन्तर सोम से पृथ्वी, आकाश, दिन, रात तथा औषधियाँ उत्पन्न हुई। दूसरी ऋचा मे कहा गया है कि त्वष्टा से सारे जगत् की उत्पत्ति हुई। कही-कही इन्द्र के द्वारा भी सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है।

ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' सृष्टि-विकास का बड़ा ही वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। उसमे कहा गया है कि आरंभ मे न सत्, न अन्तरिक्ष और न व्योम था, चारो ओर अँधेरा था, जल था, किन्तु प्रकाश नही था; यदि उस समय कोई था तो एकमात्र अव्यक्त चेतन (तपस) था। उसी अव्यक्त चेतन से ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियो का प्रादुर्भाव होकर बाद मे व्यापक सृष्टि का निर्माण हुआ। उस अव्यक्त चेतन (तपस) को विश्वकर्मा, अद्वितीय, सर्वव्यापक, आत्मज्योति, परमव्योमन् और परम श्रेय कहा गया है।

कर्म विचार

वेदो का एक भाग कर्मकाण्डप्रधान है। ये कर्म भी अधिकारीभेद से अनेक है। सभी व्यक्तियो को सभी कर्म करने का अधिकार नही है, क्योंकि अधिकारीभेद से किये गये कर्म फलप्रद नही होते। वहाँ बताया गया है कि कर्म करने वाले के लिए तपस्या, स्मृति, पवित्र आचार, निश्छल व्यवहार और अन्त.करण की शुद्धि आवश्यक है। वेदो मे बताया गया है कि चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिसा, अभक्ष का भक्षण और प्रमाद आदि निषिद्ध कर्मों से दूर रह कर शुद्ध आचरण करने से कर्मो का अधिकारी बना जा सकता

है। निषिद्ध कर्मों को करने वाले नारकीय जीव कर्मों के अधिकारी नही बन सकते है।

प्रत्येक जीव अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही उनके फलोपभोग के लिए पुनः जन्म लेता है। बुरे कर्मात्मा को पापमय जीवन और अच्छे कर्मात्मा को सद्गति प्राप्त होती है। उत्तम कर्म करने वाले को ब्रह्मलोक, मध्यम कर्म करने वाले को चन्द्रलोक और नीच कर्म करने वाले को वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरो मे निवास करना पडता है।

श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ

अग्नि मे हवन-सामग्री तथा घी आदि डालने मात्र को यज्ञ नही कहा जाता है। वेदों मे यज्ञ को 'श्रेष्ठतम कर्म' कहा गया है।

'गीता' मे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और ज्ञानयज्ञ, ये चार प्रकार के यज्ञ बताये गये है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है 'हे अर्जुन, अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते है वे निश्चित ही मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर मे डालने वाले होते है। पर यज्ञ के लिए जो कार्य किया जाता है वह बंधन मे नही डालता। अत. तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।'

'गीता' का अभिमत है कि परोपकार के लिए निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते है उन सब का नाम 'यज्ञ' है।

●

उपनिषदों में दर्शन

* * * *

उपनिषद्

ब्राह्मणग्रंथों और उपनिषद्ग्रंथों की अनेकता

भारतीय विचार-परम्परा के क्षेत्र मे उनिषद्ग्रन्थो के निर्माण से वैदिक साहित्य मे सर्वथा नये युग का सूत्रपात हुआ। ब्राह्मणग्रन्थो से लेकर उपनिषद्ग्रन्थो तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मंत्रसंहिताओ का ही व्याख्यारूप है। मत्रसहिताओ की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद्ग्रन्थ वस्तुत एक-दूसरे से पूरब-पश्चिम जितनी असमानता रखते है। यद्यपि उपनिषद्ग्रन्थो का सीधा सम्बन्ध मंत्रसंहिताओ से है, किन्तु उन्हे ब्राह्मणग्रन्थो का आलोचनाग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न हागा।

उपनिषद्, वैदिक भावना के विकासरूप है। कर्म और ज्ञान, दोनो की उद्भावना वेदो मे है। उनकी कर्मभावना को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई और ज्ञानभावना को लेकर उपनिषद् रचे गये। कर्मप्रधान ब्राह्मणग्रन्थो का विधान जब पशुहिसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया था तब उस युग के विचारवन्त मनीषियो ने कर्मकाण्ड की इस अविचारित पद्धति का विरोध करना आरंभ किया। उन्होने पुरोहितो द्वारा बताये गये भोगवादी, नितान्त स्वार्थपूर्ण कार्यों को हेय कहकर आलोचना की। फलत कमकाण्ड के विरोध मे ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ कहलाये उपनिषद्। उपनिषदो का यह युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा। इस युग मे नये अन्वेषण नये चिन्तन होकर नयी मान्यताएँ स्थापित हुईं।

धर्म की जिस व्यापक भावना का स्वरूप मंत्रसंहिताओं में देखने को मिलता है, ब्राह्मणग्रन्थों ने उसको एकागी, संकुचित और नितान्त व्यक्तिगत रूप दे दिया। उसको जीविका का एक साधन बना दिया। धर्म-मीमासा के सम्बन्ध मे दोनो युगो का अलग-अलग दृष्टिकोण रहा। ब्राह्मणकाल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषत्काल वैदिक धर्म की अभ्युन्नति का समय रहा।

मंत्रसंहिताओं से उपनिषदों का पार्थक्य

यद्यपि उपनिषद् भी वेद-वचनो को संबल रखकर ही आगे बढे, तथापि वेदो और उपनिषदो मे जीवन की शाश्वत मान्यताओ के प्रति अपने-अपने ढंग से विचार किया गया। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग था। इसलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की विशेष चिन्तायें न तो वेदो मे हैं और न ही उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथकता का विचार वेदो मे अवश्य है, किन्तु आत्मा का आवागमन उनमे नही बताया गया है। यह विषय उपनिषद्ग्रन्थो की रचना के बाद प्रस्तुत किया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषदो मे ही डाला गया। इस दृष्टि से मंत्रसंहिताओ और उपनिषदो की भिन्नता स्पष्ट है। वेदो के आनन्दमय और प्रेममय जीवन मे निरानन्द और उदासी का वातावरण तथा वेदो मे निश्चिन्त एव स्वच्छन्द जीवन मे चिन्ता और भय का उदय उपनिषदो की रचना के बाद आरंभ हुआ। जन्म, मरण, सन्याम, वैराग्य क्या है, इसका विचार पहले-पहल उपनिषदो के द्वारा प्रकाश मे आया।

उपनिषदों का नामकरण

उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान हैं : उपनिषद्, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र'। उपनिषद् श्रवणात्मक, 'गीता' निदिध्यासनात्मक और 'ब्रह्मसूत्र' मननात्मक है। उपनिषद्ग्रन्थो मे आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान, और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उप + नि, इन दो उपसर्गो के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड देने के बाद 'उपनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) और अवसान (शिथिलता, समाप्ति) आदि उसके कई अर्थ है। इन सभी अर्थों की संगति 'उपनिषद्' शब्द के साथ बैठ

जाती है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हुआ : जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सासारिक क्रिया-कलापो का नाश करती है, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड जाते है या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वही उपनिषद्-विद्या उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय है।

अथवा उप (व्यवधानरहित), नि (सम्पूर्ण), षद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ग्रन्थ ही उपनिषद् है, अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञेय से अभिन्न, देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित, परिपूर्ण ब्रह्म ही उपनिषद् शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। शकराचार्य के मतानुसार आत्मविस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते है उनके गर्भवास, जन्म-मरण, बुढापा और रोग आदि अनर्थों का जो नाश करती है तथा ब्रह्म को प्राप्त कराती है वह (उप + नि + पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से) उपनिषद् है।

प्रमुख उपनिषद्

उपनिषदो की वास्तविक संख्या कितनी थी, इसका ठीक-ठीक पता नही चलता है। 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोष' मे २२३ उपनिषदो कि नामावली दी गयी है, किन्तु आज उनमे से कुछ ही उपनिषद् प्राप्त होते है। जिन उपनिषदो का प्रमुख स्थान है वे सख्या मे १२ है। उनके नाम है: ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्य, कौपीतकी और श्वेताश्वतर।

उपनिषदों का रचनाकाल

उपनिषद्ग्रन्थो मे जो विचार संकलित है वे अपने निर्माण-युग से भी प्राचीन है। आज के जीवन मे उपनिषदो की बहुत-सी बातें ठीक तरह से नही उतरती है। इसका कारण है युग की दूरी और विचारो की भिन्नता। कुछ योरोपीय विद्वानों ने उपनिषदो पर जो आक्षेप किये है, वस्तुत. उसका कारण यही है कि उन्होने उपनिषदो की मूल भावना को नही पहचाना।

उपनिषदो का विषय एक ही है; किन्तु उनकी रचना का क्रम एक नही है। लगभग वैदिक काल मे ही उनका अस्तित्व था। कुछ उपनिषदो पर बहुत बाद की परिस्थितियो का प्रभाव है। अतः निश्चित ही उनकी रचना बाद मे हुई।

उपनिषदो के रचनाकाल के सम्बन्ध मे एक निश्चित राय नहीं दी जा सकती है। अन्य अनेक देशी-विदेशी विद्वानो के अतिरिक्त श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित

और लोकमान्य तिलक ने इस सम्बन्ध मे पर्याप्त गवेषणा की है। 'मैत्र्युपनिषद्' मे वर्णित उदगयन स्थिति (मैत्र्यु० ६।१४) का, ज्योतिष-गणना के आधार पर उक्त दोनो विद्वानो ने पर्याप्त अनुसंधान किया है। लोकमान्य ने सामान्य रूप से ४५०० ई० पूर्व ऋग्वेद, २५०० ई० पूर्व ब्राह्मणग्रन्थ और १६०० ई० पूर्व उपनिषदो का युग माना है। आज जो उपनिषद् उपलब्ध हैं उनमें इतना प्राचीन कौन-कौन है, इसको सिद्ध करना संभव नही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद् बौद्धयुग से भी पहले के हैं। इस प्रकार के छठी शताब्दी ई० पूर्व से पहले रचे गये उपनिषदो मे छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी और कठ का नाम लिया जा सकता है। वैसे तो १४वी, १५वी शताब्दी ई० तक उपनिषदो की रचना होती रही।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

विषय की दृष्टि से वेदो के प्रमुख तीन भाग है . कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग मे हुआ है, उपासना का विषय संहिता तथा आरण्यक भाग मे वर्णित है, और तीसरे ज्ञान भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जो कि मोक्ष-साधन का मार्ग बताते हैं। मोक्ष के लिए पहला साधन ज्ञान अर्थात् विद्या है।

विद्या

विद्या दो प्रकार की बतायी गयी है परा और अपरा। चारों वेद और छह वेदाग अपरा विद्या और अक्षरब्रह्म का ज्ञान कराने वाली परा विद्या है (**तदक्षरमधिगम्यते**)। परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् है। अपरा विद्या कर्मप्रधान विद्या है, अतएव कर्मविद्या है। कर्मविद्या को फलोपलब्धि कालान्तर मे होती है, किन्तु ब्रह्मविद्या तत्काल फलदायिनी है। कर्मफल विनश्वर भी है; किन्तु ब्रह्मविद्या का फल अविनश्वर, अमर होता है। अपरा विद्या मुक्ति का कारण नही हो सकती, किन्तु परा विद्या मोक्ष को देने वाली है। फिर भी अपरा विद्या के द्वारा परा विद्या के मोक्ष फल को उपलब्ध किया जा सकता है, क्योकि वह हेतु है।

विद्या : अविद्या

अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्मा मे क्रमश नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि अविद्या है। प्रत्यक् से अभिन्न ब्रह्म का बोध कराने का साक्षात्साधन विद्या है। उसके विपरीत अविद्या है, जिसके कारण आत्मभिन्न देहादियो मे भ्रांतिवश

आत्मबुद्धि होने के कारण जीव संसारासक्त होकर परमार्थ से च्युत हो जाता है।

ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या कहते है, जिसके सम्बन्ध मे 'मुण्डकोपनिषद्' (१।२।८।६) मे कहा गया है कि अविद्या मे लिप्त अज्ञानी पुरुष अहंकारी, अभिमानी हो जाते हैं। रागासक्त होने के कारण वे विद्या (ज्ञान) को नही पहचान पाते, जिससे उनका उत्तम लोक क्षीण पड जाता है और पतन हो जाता है। अविद्या से घिरे हुए वे अपने-अपने को धीर तथा पण्डित समझते है। इसलिए वे मोहित होकर इधर-उधर डोलते है, जैसे अधे के द्वारा ले जाये जाते अन्धे (**अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः**)।

इसी प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्' (६।११) मे विद्या और अविद्या का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो पुरुष केवल अविद्या (अज्ञान) या कर्म, की उपासना करते हैं वे अदर्शनात्मक (सासारिक) अज्ञान मे प्रवेश करते है।

मुमुक्षु पुरुष के लिए बताया गया है कि वह वेदविहित कर्मो को करता हुआ साथ ही आत्मज्ञान (विद्या) के लिए यत्न करे। क्योकि केवल आत्मज्ञान या देवताओं की उपासना से दूसरा ही फल मिलता है, और केवल कर्मानुष्ठान से दूसरा ही फल मिलता है। श्रुति भी इसी बात को कहती है कि कर्म करने से पितृलोक और आत्मज्ञान से देवलोक प्राप्त होता है। इसलिए जो पुरुष विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्मानुष्ठान) दोनो को एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को दूर कर विद्या मे अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

प्रकृति या माया

प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का ज्ञान ही उपनिषद्विद्या का प्रतिपाद्य विषय है। मूल तत्त्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। यह प्रकृति ब्रह्म की उपादान भूत माया है। उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज चार देहधारी, वाक्, हस्त, पाद, वायु, उपस्थ, ये पाच कर्मेन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा त्वक्, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार, ये नौ ज्ञानेन्द्रिय और एक विषय—ये सभी प्रकृति तत्त्व के कार्य-व्यापार है।

आत्मा

उपनिषदो मे आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। वह जन्म-मृत्यु से रहित है। शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी उसकी स्थिति मे कोई विकार उत्पन्न नही होता। वह मेधावी है।

नचिकेता को उपदेश देते हुए 'कठोपनिषद्' में यमराज ने आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'हे नचिकेता ! यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है और न मरता है। न यह किसी दूसरे से उत्पन्न हुआ है और न कोई दूसरा ही उससे उत्पन्न हुआ है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नही मरता' (१।२।१२)। वह आत्मा सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और महान् से भी महत्तर है। वह जीव की गुफा मे छिपा है (१।२।१६)। वह समस्त अनित्य शरीरो मे रहता हुआ भी शरीर रहित है, समस्त अस्थिर पदार्थों मे व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। इस नित्य और महान् विभु आत्मा को जो धीर पुरुष जान लेता है वह शोक से तर जाता है (१।२।२२)। वह न तो वेद के प्रवचन से मिलता है, न विशाल बुद्धि से और न केवल जन्मभर शास्त्रो के श्रवण से ही, बल्कि वह उसको मिलता है, जो उसको पाने के लिए व्याकुल हो जाता है (१।२।२३)। यह शरीर रथ है, आत्मा रथ का स्वामी रथी नाम से कहलाता है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ उस के घोडे है, शब्दस्पर्शादि विषय उनके दौडने की भूमि है। इस शरीर-इन्द्रिय-मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते है (१।३।३-४)।

प्रज्ञात्मा

'कौषीतकी' उपनिषद् के चौथे अध्याय मे लिखा है कि प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। प्रज्ञात्मा शरीर मे उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे काष्ठ मे आग। सम्पूर्ण प्राण-चेष्टाये प्रज्ञात्मा के पीछे उसी प्रकार भागती है, जैसे धन के पीछे धन-लुब्धक। इस प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर सम्पूर्ण पाप एवं दुःख विनष्ट हो कर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी हेतु धर्मसूत्रो ने पापमुक्ति के लिए उपनिषद् विद्या के अध्ययन पर बल दिया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' के तीसरे अध्याय मे कहा गया है कि ब्रह्म आदि देवता, पंच महाभूत, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज, स्थावर, जंगम आदि जितनी भी जीवात्माये है, सब का आधार प्रज्ञान है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी मे आधारित है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है।

ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म सत् है

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत् है। वह सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त और शुद्ध चैतन्य है। वही सब का आत्मा है। उसी से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, उसी से यह स्थिर है और उसी मे विलय हो जाता है। यह प्रकृति

और ये प्राकृतिक शक्तियाँ उसी का अंश है। वह सत्य, और अनन्त है। वह शब्द, स्पर्श, रूप आदि से रहित, अव्यय, अरस, नित्य और गन्धरहित है। वह आदि-अन्त से हीन और ध्रुव है। इस नाना रूपात्मक जगत् के पहले सत् शब्द वाच्य, अव्याकृत, ब्रह्मरूप ही था। वह एकमात्र अद्वितीय था, अर्थात् सजातीय, स्वगत तथा विजातीय भेदों से रहित था। यह विश्व ब्रह्म ही है। यह सब कुछ आत्मा ही है। सब प्राणियो के भीतर वही छिपा है। वह ब्रह्म तू ही है।

वह ज्ञानमय है

ब्रह्म का स्वरूप विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसको विवेक के द्वारा जाना जा सकता है। वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय से परे है। वह अन्तस्थ, कूटस्थ, नित्य और विभु है। उस ब्रह्म का, जो घट-घट मे छिपा है, साक्षात्कार करने के लिए जितेन्द्रिय, शातचित्त, निरीह, सहिष्णु और आत्मनिष्ठ होने को आवश्यकता है। उसका दर्शन श्रवण, मनन और निदिध्यासन से हो सकता है। उसका साक्षात्कार करने के बाद मनुष्य अमर हो जाता है और उसके सभी बन्धन छूट जाते हैं (**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्**)।

वह अज्ञेय नहीं है

उपनिषदो मे ब्रह्म को ज्ञाता या विषयी कहा गया है। जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है उसको कैसे जाना जा सकता है ? (**येनेद सर्वं विजानाति तं केन बिजानीयात्**), अथवा जिसका वाणी वर्णन नही कर सकती और जहाँ तक मन की पहुँच नही है (**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**) इत्यादि श्रुतियाँ निषेधात्मक नहीं; बल्कि उस परम तत्त्व की अगम्यता को प्रकट करती है। वास्तव मे वह ज्ञाता का ज्ञान है। उसके द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है। यही उसकी अपरोक्षानुभूति का रहस्य है। 'मुण्डकोपनिषद्' मे कहा गया है कि 'प्रणव (ओ३म्) धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। एकान्त चित्त से निशाने को वेधते रहना चाहिए, जिससे तीर और निशान एक हो जाय; अर्थात् तीर ठीक निशाने पर जा लगे'।

पर अपर या निर्गुण सगुण

उपनिषदो मे ब्रह्म के दो रूप माने गये है : पर और अपर। पर ब्रह्म निरुपाधि, निःसीम, परात्पर और निर्गुण है। अपर ब्रह्म सोपाधि, ससीम, अन्तस्थ और सगुण है। पर ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है और अपर ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापी, जगत्स्रष्टा तथा कर्मों का अधिष्ठाता है। वही पालक

और संहारक भी है। पर ब्रह्म परा विद्या का विषय और अपर ब्रह्म अपरा विद्या का विषय है। पर ब्रह्म अवर्णनीय है और उसको 'नेति, नेति' से कहा गया है; किन्तु अपर ब्रह्म सोपाधि होने से वर्णनीय है और उसको 'इति, इति' से कहा गया है।

पर ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वैत, अमृत और सनातन है। अपर ब्रह्म जगत् का कारण, पाप-पुण्य के फलों को देने वाला, प्रकाशक और वह भी अनन्त, अक्षर सनातन तथा सर्वज्ञ है। वस्तुतः पर और अपर अर्थात् निर्गुण और सगुण, ब्रह्म के इन दोनो स्वरूपो की शक्तियों, विभूतियो और अनन्त, अखण्ड स्वरूपो मे कोई अन्तर नही है। उनमे अन्तर है तो इतना ही कि पर ब्रह्म की प्राप्ति वैराग्य त्याग, तपस्या और संन्यास से संभव है, किन्तु अपर ब्रह्म को भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और भावना से प्राप्त किया जा सकता है। पर पारलौकिक और अपर ऐहिक जगत् का विषय है। दोनों की शक्तियाँ अनन्त हैं। एक अगोचर है तो दूसरा सगोचर है। दोनों मे कोई बडा नही है। दोनों को प्राप्ति के समान फल तथा परिणाम है। दोनो एक रूप है।

ऐक्य का सिद्धान्त

उपनिषदो का ऐक्य-सिद्धान्त उनकी तात्त्विक जानकारी के लिए बडा उपयोगी है। यह ऐक्य ही वेदान्त का अद्वैत है, जिसके अनुसार सभी कुछ है, किन्तु उनका एक ही परम तत्त्व मे अधिवास है। उपनिषदो तथा वेदान्त का यह ऐक्य-सिद्धान्त वस्तुत दार्शनिक जगत् का साम्यवाद है। दर्शनो के इस साम्यवाद मे एक वस्तु या एक जीव, दूसरी वस्तु या दूसरे जीव से इतने समीप है कि उनको दो इकाइयाँ कहा ही नहीं जा सकता है। स्वरूप मे, विचार से, कर्म से और सभी तरह से कही भी, किसी भी अवस्था मे भिन्नता या अनेकता है ही नही।

जीव और आत्मा

उपनिषदो मे जीव को वैयक्तिक आत्मा और आत्मा को परम आत्मा कहा गया है और बताया गया है कि दोनो क्रमशः अंधकार तथा प्रकाश की भाँति एक ही गुफा मे निवास करते है। जीव अनुभूतियुक्त और कर्मफलो के बन्धनो से जकडा हुआ है, किन्तु आत्मा अज, अनादि और नित्य है तथा कर्मबन्धों से विमुक्त है। जीव का लक्ष्य होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और सारे बन्धनो तथा द्वैतभावनाओ को मिटा कर अद्वैत की

ओर उन्मुख होना। उपनिषदों का आत्मा वस्तुत. ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु जीव कर्मबन्धो के कारण जन्म-मृत्यु का ग्रास है। इस जन्म-मृत्यु रूपी महान् अभिशाप से आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए जीव से अर्थात् वैयक्तिक आत्मा से परम आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना पड़ता है।

जीव और ब्रह्म

उपनिषदो की अद्वैत विचारधारा के अनुसार संसार मे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे जीव को भी ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। उपनिषद् ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा ब्रह्मस्वरूप देहधारी जीव को इसलिए हुई कि वह अविद्या के प्रभाव से अपने वास्तविक अजन्मा, अविनश्वर, शुद्ध-बुद्ध-संयुक्त, सच्चिदानन्दमय, आत्मस्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को जन्म-मरण-धर्मा, कर्ता, भोक्ता तथा सुख-दु:ख से युक्त मान बैठा है और उनके कारण वह जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नही पा सकता। उपनिषद् वह ज्ञान है, जिसके प्राप्त हो जाने से जीव को दु खो से छुटकारा पाने, ब्रह्मस्वरूप हो जाने तथा अविद्या का कोहरा मिटा डालने का प्रकाश मिलता है। ऐसा ज्ञानी जीव, मोक्ष को प्राप्त हो कर अनन्त आनन्द का अधिकारी हो जाता है।

जीव की चार अवस्थाएँ

उपनिषदो का जीव-विज्ञान बडा ही सुव्यवस्थित है। उनमे जीव की चार अवस्थाएँ बतायी गयी है। जीव की इन चार अवस्थाओं को जानकर सहज ही मे आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उसकी चार अवस्थाओ के नाम है जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत् अवस्था मे जीव 'संसार' कहलाता है। स्वप्नावस्था मे जीव को 'तैजस' कहा जाता है, जब कि वह मनोमय बना रहता है। सुषुप्ति अवस्था मे जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है, जब कि वह अन्तर्बाह्य दृष्टियो का त्याग करके आनन्द मे एकरस होकर रहता है, और तुरीय अवस्था मे वह 'आत्मा' के नाम से कहा जाता है, जब वह न चेतन है न अचेतन ही, बल्कि एक, अद्वैत हो जाता है। जीव की यह आत्मावस्था ही ब्रह्म है। इसलिए उपनिषदो मे जीव को ही आत्मा कहा गया है और वेदान्त दर्शन मे वह जीवभाव की उपादानभूत अविद्या है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर उसको ब्रह्मस्वरूप माना गया है।

पाँच कोश

ये पाँच कोश जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर है। एक प्रकार से जीव की सुरक्षा के ये पाँच कवच है। उनके नाम है: अन्नमय, प्राणमय,

मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्नमय कोश अन्तस्थ जीव का पहला द्वार है, जिसमे शरीर तथा इन्द्रियाँ रहती है और जो अन्न के द्वारा जीवित रहती है। प्राणमय कोश दूसरा द्वार है, जो अन्नमय कोश के अन्दर है और जिसमे प्राणशक्तियो का निवास है और जिसके द्वारा शरीर मे गति उत्पन्न होती है। उसके भी भीतर मनोमय कोश है, जिसका अधिष्ठाता मन है और जो संकल्प-विकल्पो का घर है। मनोमय कोश के भी भीतर विज्ञानमय कोश है, जिसमे निवास करने वाली बुद्धि है और जो द्वैतभाव का कारण है। उसके भी भीतर अन्त में आनन्दमय कोश है, जिसमे जीवात्मा का अधिवास है, और जो आत्मा भी है तथा ब्रह्म भी। वह आनन्दमय है, निरपेक्ष है और सर्वज्ञ होने से द्रष्टा भी है। जीव का लक्ष्य इसी तक पहुँचने का होता है।

ब्रह्म और जगत्

उपनिषदो मे जगत् को ब्रह्म का ही दूसरा रूप माना गया है। ब्रह्म ही उसका पिता है, वही पालक है और वही संहारकर्ता। ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसका एक अश है। 'मुण्डकोपनिषद्' (१।१।७) मे अद्वैत-दृष्टि से जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध बताते हुए लिखा गया है

> यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च
> यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
> यथा सत: पुरुषात् केशलोमानि
> तथाक्षरात सम्भवन्तीह विश्वम्॥

अर्थात् जिस प्रकार मकडा अपने अन्दर से तन्तु बाहर निकाल कर जाल बनाता है और फिर उन तन्तुओ को अपने मे ही समेट लेता है; जिस प्रकार बिना यत्न पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और उसी मे लीन हो जाती है, और जिस प्रकार बिना चेष्टा किये पुरुष के केश तथा लोम उत्पन्न होते है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होती है।

इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है।

बन्धन तथा मोक्ष

जीवन दु खमूलक है। वह अनेक तरह के बन्धनो से बँधा है। वह निरन्तर ही जन्म-मृत्यु के चक्र मे घूम रहा है। इस बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली, परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली और परमार्थ का

यथार्थ स्वरूप बनाने वाला एकमात्र परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। तत्त्व-जिज्ञासुओ के लिए वह परमार्थ है और क्लेशयुक्त जीवो के लिए परम उपकारी। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय की बिना चिन्ता किये कर्मरत रहने के लिए 'गीता' मे जिस परम पुरुषार्थ का निर्देश किया गया है, उपनिषद् भी ठीक उसी निष्काम कर्म का प्रतिपादन करके 'कर्तव्यशास्त्र' को भी अपने अन्दर समाहित कर लेते है।

अनन्त कर्मबन्धो से जकडे हुए जीव को सर्वथा छुटकारा देने वाले मोक्षमार्ग का निरूपण भी उपनिषदो मे किया गया है। 'ईशावास्योपनिषद्' (१२-१४) मे कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् का प्रतिपादन करते हुए लिखा गया है कि कारणरूप ब्रह्म की उपासना से विशुद्ध मोक्ष और कार्यरूप जगत् की उपासना से मोक्षरूप फल (कर्मफल) मिलता है। जो पुरुष एक साथ इन दोनो को जानना है वह मृत्यु (असभृति) पर विजय प्राप्त करके मोक्ष (संभूति) को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' (१।३।८) मे यमराज और नचिकेता का सम्वाद तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बडा ही महत्त्वपूर्ण है। उसमे परमपद मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहा गया है कि जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है और जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपद को प्राप्त करता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म ग्रहण नही करना पडता।

वेदान्त दर्शन के आधार

वेदान्त दर्शन के मूल आधार उपनिषद् ही है। सदानन्द (१६०० ई०) ने 'वेदान्तसार' की प्रस्तावना मे कहा गया है कि उपनिषदो को प्रमाणस्वरूप मानने वाले दर्शन का नाम ही वेदान्त है **'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्'**। उपनिषदो की **'तत्त्वमसि'**; **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इन ऐक्य-अनैक्य-विधायक श्रुतियो के आधार पर ही वेदान्त दर्शन की भूमि तैयार हुई है और उसमे जिन भिन्न-भिन्न वादो का प्रवर्त्तन हुआ उनका विवरण इस प्रकार है :

मध्व का द्वैतवाद
शंकर का अद्वैतवाद
रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद
बल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद
निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद

निष्कर्ष

इस प्रकार तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से उपनिषद्विद्या का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता क्या है, जगत्-ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है, ब्रह्म-जीवात्मा का स्वरूप क्या है, ब्रह्म की उपलब्धि का मार्ग कौन-सा है, आत्मा, प्रज्ञात्मा तथा प्रज्ञान क्या वस्तु है, ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का क्या रहस्य है और ब्रह्म-साक्षात्कार का अर्थ तथा फल क्या है, ये सभी बातें उनमें वर्णित हैं। यही उपनिषदों की उपयोगिता है।

उपनिषद् भारतीय तत्त्वविद्या के स्रोत हैं। वे अनेकता में एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित होने का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों के विचारों की सर्वोच्च महानता इसमें है कि उनमें समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और हित का निदर्शन किया गया है।

●

गीता में दर्शन

* * * *

गीता का मुख्य उपदेश

'गीता' का मुख्य उपदेश क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं है। यह अनैक्य आज ही नहीं, बल्कि प्राचीनकाल से चला आ रहा है। 'गीता' पर अब तक अनेक भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गयी। उनमें 'गीता' का एक ही मुख्य उपदेश नहीं कहा गया है। इस प्रकार के प्रमुख भाष्यकारों में शंकर, मध्व, रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ और चैतन्य का नाम उल्लेखनीय है। इन धर्माचार्यों एवं दर्शनाचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि अनेक दृष्टियों से 'गीता' का विवेचन किया है और किसी ने उसको ज्ञानप्रधान, किसी ने कर्मप्रधान और किसी ने भक्तिप्रधान पुस्तक कहा है।

'भगवद्गीता' नाम से हमें विदित होता है कि वह भगवान् का गाया हुआ उपनिषद् है। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश सुरक्षित है। भागवतधर्म, और गीताधर्म, दोनों भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण एक ही वस्तु है। इसलिए भागवतधर्म, गीताधर्म जितना महनीय और प्राचीन है। 'गीता' के चौथे अध्याय (४।१-३) में स्पष्ट किया गया है कि यह उपदेश भगवान् ने सर्वप्रथम विवस्वान् को दिया था। विवस्वान् ने मनु को और उसका मर्म मनु ने इक्ष्वाकु को समझाया था। 'महाभारत' के शांतिपर्व (३४८।५१,५२) से हमें विदित होता है कि यह गीताधर्म विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से प्रवर्तित होकर त्रेतायुग में ब्रह्मदेव द्वारा लोकविश्रुत हुआ।

इसी भागवतधर्म या गीताधर्म के सम्बन्ध मे वैशम्पायन, जनमेजय से कहते हैं (महा०, शां० ३४६।१०) 'हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय, यही उत्तम भागवत धर्म विधियुक्त और सक्षिप्त ढंग से 'हरिगीता' (भगवद्गीता) मे पहले-पहल तुझे बतलाया गया है।'

'महाभारत' के अध्ययन से हमे स्पष्टतया यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण ने 'गीता' मे अर्जुन को जो ऊँचा उपदेश दिया था वह विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से चला आता प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म ही था। उसमें जो निवृत्तिप्रधान यतिधर्म का कही-कही समावेश हो गया है वह उसका गौण पक्ष था। 'भागवत' से हमे पृथु, प्रह्लाद, प्रियव्रत आदि भक्तो की कथाओ को पढकर मालूम होता है कि 'गीता' का प्रवृत्तिविषयक नारायणीय धर्म और 'भागवत' का भागवत धर्म, दोनो एक ही थे।

ब्रह्मबोध

'महाभारत' के अश्वमेध पर्व (१६।१०-१२) मे 'गीता' के उपदेश का मूलमंत्र बताया गया है। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था कि 'हे प्रभो, मैं तो आपके द्वारा किया गया 'गीता' का उपदेश, युद्ध मे व्यग्र होने के कारण, भूल गया हूँ। कृपया उसे मुझे फिर से बताये।' अर्जुन के उत्तर मे श्रीकृष्ण ने कहा 'हे अर्जुन, तू ने यह बडी भूल की, जो तू 'गीता' को भूल गया। उस 'गीता' के उपदेश को तो मैंने बडे ही योगयुक्त मन से तुझे दिया था। वह उपदेश ब्रह्म के स्वरूपबोध के लिए पर्याप्त था। अब तो 'गीता' का वह सारा उपदेश मेरी स्मृति मे नही रहा। इसलिए पुन मै 'गीता' का उपदेश नही कर सकता हूँ।'

इस प्रसग मे ऐसा ज्ञात होता है कि अर्जुन को श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपदेश ब्रह्मबोध के लिए दिया था। सारी गीता का यही निष्कर्ष है। 'महाभारत' (भीष्म ४३।५) मे कहा गया है कि 'महाभारत रूपी अमृत का मंथन करके उस सारभूत 'गीतामृत' को भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मुख मे होम (उपदेश) किया' :

> **भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।**
> **सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥**

'गीता' का वस्तुत यही सार है। यह ब्रह्मबोध कैसे होता है, इसके उपाय भी 'गीता' मे बताये गये है। उसके दो प्रमुख उपाय है : ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा।

ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा

'गीता' असख्य रत्नो का सागर है। उसके एक-एक रत्न को उसका एक-एक उपदेश कहा जा सकता है और उन सभी उपदेशो मे व्यापक मानवता का हित बताया गया है। इन सभी उपदेशो के संगम से एक महान् एवं व्यापक उपदेश की निष्पत्ति हुई है। वह उद्देश्य है अनादिकाल से अज्ञान मे पडे हुए जीव को परमेश्वर की प्राप्ति कराना। इस परमेश्वर प्राप्ति के लिए अनेक दर्शनो मे अनेक साधन बताये गये है। 'गीता' के अनुसार उसके दो साधन है : ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा।

ज्ञाननिष्ठा

ज्ञाननिष्ठा का दूसरा नाम साख्यनिष्ठा या कर्मसंन्यास भी है। अपने समस्त कार्यो, इच्छाओ और अपने-आप को, अभिमानरहित होकर, उस परमेश्वर मे मिला देना ही 'ज्ञाननिष्ठा' है, अर्थात् उस ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही 'गीता' का उद्देश्य है। ज्ञाननिष्ठा के सिद्धान्त मे बताया है कि (१) यह जो दृश्यमान चराचर जगत् है वह सब कुछ ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नही। इसलिए हम और हमारे द्वारा जो कुछ कर्म होते है वे सभी ब्रह्ममय है। (२) यह जो कुछ भी दिखायी दे रहा है वह मायामय है, क्षणिक है, नाशवान् है। उसमे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियो को लगाना व्यर्थ है। यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियो का कुछ उपयोग है तो वे ब्रह्म मे ही लगाकर सार्थक है। (३) यह जो प्रतीयमान है वह सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म 'मै' हूँ। इसलिए यह सब मेरा ही है, इस प्रकार आत्मा को अधिष्टाता मानना। (४) यह जो दृश्यमान है सब मायामय है, नाशवान् है। इसका अत्यन्ताभाव ही आत्मा है, जो भावमय है और मुझ मे निवास करता है। यही ज्ञाननिष्ठा है।

योगनिष्ठा

योगनिष्ठा के अपर नाम है समन्तपयोग, बुद्धियोग या सात्त्विक त्याग। यह जो दृश्यमान है उसके प्रति अनासक्ति, अनिच्छा, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और मन, वचन, कर्म से उसी प्रभु के अधीन हो जाना ही 'योगनिष्ठा' है। यह योगनिष्ठा ही 'कर्मयोग' है। इसके तीन भेद है। (१) केवल कर्मयोग, (२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग और (३) भक्तिप्रधान कर्मयोग। 'गीता' मे भगवान् ने कही तो केवल फलत्याग करने के लिए कहा है, कही केवल अनासक्तित्याग के लिए कहा है, किन्तु फल और अनासक्ति, दोनो का एक साथ त्याग होना ही 'केवल कर्मयोग' है। अपने-अपने वर्णाश्रम क्रम

के अनुसार परमेश्वर को पूजा-अर्चना करके उन्हे प्रसन्न करना ही 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' है। अनासक्ति, अनिच्छा और त्याग से सम्पन्न होकर सब कुछ उस विश्वात्मा का है, ऐसा समझना और भजन, ध्यान, उपासना, कर्म आदि सब कुछ को परमेश्वर के अर्पण कर देना, 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है।

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा के द्वारा मनुष्य सहज ही मे परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है, 'गीता' मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया था।

ग्रन्थ का तात्पर्यबोध: शरणागति

किसी ग्रन्थ के उद्देश्यबोध या तात्पर्यबोध के लिए शास्त्रकारो ने छह उपाय बताये है : (१) उपक्रमोपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।

उपक्रम

ग्रन्थ के उपक्रम से यह ज्ञात होता है कि उसका उद्देश्य कल्याणकारी कर्त्तव्य का उपदेश देना था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा (२।७) है 'मै अपने मन से अपने कर्त्तव्य का निर्णय नही कर सका हूँ। अत. आपकी शरण मे आया हूँ। कृपया मुझे मेरे कल्याणकारी कर्त्तव्य का उपदेश दे।'

उपसहार

श्रीकृष्ण का यह उपदेश था (१८।६६) 'सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण मे आ जाओ।' यह ग्रन्थ का उपसहार है। इस उपसंहार मे शरणागति का उपदेश है।

अभ्यास

इस शरणागति के लिए श्रीकृष्ण ने बार-बार 'गीता' में अर्जुन को सुझाया है।

अपूर्वता

अपूर्वता कहते हैं नवीनता को। वर्तमान समाज के लिए जिस कर्त्तव्य की अपेक्षा हो और जो शास्त्रसंमत और लोकहितकर हो वह 'अपूर्व' कहलाता है। 'गीता' से पहले लोकहित के लिए शास्त्रकारो ने केवल ज्ञान, केवल कर्म और केवल भक्ति का निर्देश किया था, किन्तु 'गीता' मे तीनो का समन्वय करके ज्ञानकर्मयुक्त कृष्णभक्ति का उपदेश दिया गया है।

फल

'गीता' के उपदेश का फल है भगवान् की आज्ञा का पालन करना। श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी और अर्जुन ने भगवदिच्छानुसार कर्म किया।

अर्थवाद

'गीता' में जनकादियो का उदाहरण देकर भगवान् को शरणागति के लिए उपदेश दिया गया है।

उपपत्ति

'गीता' के बारहवे अध्याय मे अर्जुन ने प्रश्न किया था कि 'हे भगवन्, जो लोग रूप-सेवा तथा नाम-सेवा मे दत्तचित है और जो लोग अगम्य, अक्षर ब्रह्म का चिन्तन करते रहते है, इन दोनो मे कौन-से साधक उचित मार्ग पर है ?' श्रीकृष्ण ने कहा था 'हे अर्जुन, जो लोग अपने मन को मुझ में लगा कर पूर्ण श्रद्धा से सर्वदा मेरी सेवा करते है, मुझे तो वे ही साधक उपयुक्त मार्ग पर दिखायी देते है,' यही ग्रन्थ की उपपत्ति है।

इसलिए गीता का मुख्य उपदेश ज्ञानकर्मयुक्त भगवद् शरणागति सिद्ध होता है।

गीता में सार्वभौम जीवन दर्शन

व्यापक विचार

'गीता' एक सार्वभौम जीवन दर्शन की पुस्तक है, जब हम ऐसा कहते हे तो इसका यह अर्थ होता है कि 'गीता' मे कुछ ऐसी असाधारण विशेषताये है, जो व्यापक विचारजगत् के लिए समानरूप से ग्राह्य है। वे विशेषताये है . सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, ज्ञान और उपासना की। वस्तुत ये विशेषताये 'गीता' को वेदों और उपनिषदो से मिली है, किन्तु उनको जिस व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया गया है वह 'गीता' की अपनी विशिष्टता है। वह विशिष्टता है समस्त मानवता को दृष्टि मे रखकर उसी के बीच का एक अश लेकर उसकी विभिन्न स्थितियों की ऐसी व्याख्या करना कि, जिसमे व्यक्ति-व्यक्ति की सवेदना मिली हो, समष्टि का हृदय मिला हो। 'गीता' की इसी सार्वभौम दृष्टि को देखकर श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कहा था 'गीता' का वह सगीत केवल अपनी ही जन्मभूमि तक सीमित न रहा, अपितु धरती के भिन्न-भिन्न भागों मे प्रवेश कर प्रत्येक देश के प्रत्येक भावुक हृदय व्यक्ति मे उसने वही प्रतिध्वनि जगायी।'

शान्ति

'गीता' एक महान् संग्राम का कारण होती हुई भी मानवता के लिए यह सन्देश देती है कि जीवन का वास्तविक ध्येय मार-काट एवं युद्धलिप्सा

न हो कर उस सद्गति को प्राप्त करना है, जहाँ अपने-पराये का भेद मिट जाता है।

कर्त्तव्य का निर्देश

'गीता' किसी एक वर्ग, संप्रदाय, देश या व्यक्ति के लिए न होकर सब के लिए समान रूप से ग्राह्य है। उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति, उन्नतिलाभ के दोनो मार्ग है। कर्म की दृष्टि से स्थूल बुद्धि वाले जगत् के लिए वह प्रवृत्तिपरक पुस्तक है। 'गीता' की कर्मदृष्टि व्यक्ति-व्यक्ति को उसके नियत कर्त्तव्यों के लिए प्रेरित करती है और साथ ही यह भी निर्धारित करती है कि एक का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। दूसरे की उपेक्षा करके किया गया कोई कार्य 'गीता' की दृष्टि से हेय है। वह ग्राह्य तभी हो सकता है, जब उसमे सर्वांगीण दृष्टि हो। स्वार्थ की छाया मे किये गये काम्य कर्तव्य 'गीता' को स्वीकार नहीं है। निष्काम कर्म ही उसकी दृष्टि से श्रेष्ठ है। यह निष्काम कर्म-भावना वस्तुत: एक सार्वभौमिक भावना है, जिसमे एक व्यक्ति की, यहाँ तक कि कर्मों के अधिष्ठाता परमेश्वर की भी एक जैसी स्थिति है। 'गीता' की एक व्यापक एवं उदार भावना यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचार से अपने-अपने श्रेय की स्वयं चिन्ता करे। प्रेम, भक्ति, भावना, दया और शरणागति, आदि ऐसे ही प्रवृत्तिपरक साधन है, जिनमे से किसी को भी चुनकर मनुष्य अपने कल्याण का स्वयं निर्माण कर सकता है।

परम आनन्द

उसका दूसरा पक्ष निवृत्तिप्रधान है। निवृत्ति, अर्थात् उदासीनता, वैराग्य तथा अनासक्ति के द्वारा आत्महित। इस संसार मे दो ही तरह के मनुष्य है। एक तो वे है, जो यहाँ रह कर यहाँ का आनन्द-ऐश्वर्य भी चाहते है और यह भी चाहते है कि यही आनन्द उन्हे पुन-पुनः प्राप्त होता रहे। इसके विपरीत कुछ मनुष्य ऐसे है, जो अनिच्छापूर्वक यहाँ रहते हुए एक ऐसी अदृष्ट शक्ति की खोज मे व्यग्र है, जो पृथ्वी के अणु-अणु मे व्याप्त है, किन्तु जिसको खोजने के लिए गभीर अनुसंधान करना पड़ता है। क्या वैज्ञानिक और क्या दार्शनिक, दोनो ही ऐसी शक्ति पर विश्वास करते है, जो असदिग्ध रूप से विद्यमान है और जिसको निरन्तर खोजने से ही पाया जा सकता है। वैज्ञानिक इस दृष्टि को नित्य भौतिक शक्ति कहते है और उसको पाकर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उसके द्वारा होने वाले विश्व के या मानवता के हित-अहित का स्वयं स्वामी बन बैठते है, किन्तु दार्शनिक उसको आध्यात्मिक,

पारमार्थिक शक्ति कहते है और उसको पाकर स्वयं को उस पर निछावर करके अपना अस्तित्व ही मिटा देते हैं। यही 'गीता' का निवृत्तिमार्ग है।

व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से यदि 'गीता' के उद्देश्यो पर विचार किया जाय तो जान पडता है कि उसमे राजा, रंक, संत, योद्धा, कपटी, विद्वान् आदि समाज के अनेक प्रकार के व्यक्तियो की रुचि देखने को मिलती है।

वेदान्त और भक्ति का समन्वय

उपनिषदो के अद्वैत वेदान्त के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके बडे-बडे कर्मवीरो के चरित्र और उनके जीवन की क्रमिक उपपत्ति बताना ही 'गीता' का प्रमुख उद्देश्य है। अर्थात् ज्ञानभक्ति-युक्त कर्मयोग जैसे ऊँचे विषय का प्रतिपादन करना ही 'गीता' का वास्तविक ध्येय है।

शास्त्रोक्त विधि से श्रोत-स्मार्त कर्मों को करते रहने के लिए मीमासकों का आग्रह यद्यपि कुछ बुरा नही, तथापि ज्ञानरहित कर्मों को करते रहने मे बुद्धिमान् लोगो का समाधान नही हो पाता। इसी प्रकार उपनिषदो का धर्म भले ही सुविचारित तत्त्वज्ञान पर आधारित है, फिर भी अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए उसकी कठिनाई अविदित नही है, और साथ ही उपनिषदो की संन्यास भावना लोकहित के लिए उपकारक नही मानी गयी है।

'गीता' मे न तो मीमासकों के तात्त्विक कर्मो का प्रतिपादन भर है, न ही उपनिषदो के लोक-असामान्य ज्ञान का वर्णन और न उसका एकमात्र उद्देश्य संन्यास जैसे कठिन जीवनमार्ग का प्रतिपादन करना है। 'गीता' का धर्म ऐसा धर्म है, जिसमे बुद्धि अर्थात् ज्ञान और प्रेम अर्थात् भक्ति दोनो का सामंजस्य करके लोकानुग्रही मोक्ष का प्रतिपादन बडी सरलता से वर्णित है।

गीता और दर्शनों का समन्वय

'गीता' और दर्शनो की विचारधारा का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उनकी कई बातो मे अत्यन्त समानता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त के अनेक सिद्धान्त 'गीता' के सिद्धान्तो से मिलते हैं। नीचे के उदाहरणो से सहज ही मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सभी दर्शनो पर 'गीता' की स्पष्ट छाप है, न केवल विचारो की बल्कि भाषा की भी।

गीता में न्याय

गीता (१०।३२): वादियो की कथा में मैं वादरूप कथा हूँ (**वादः प्रवदतामहम्**)।

न्यायदर्शन (१।२।१) . जिसमे प्रमाण तथा तर्क से ही स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन हो और जो सिद्धान्त के अनुकूल हो, तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यों से युक्त हो, ऐसी जो पक्ष-प्रतिपक्ष की सहमति है वह वाद है (**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः**)।

गीता (१५।१५) : सब वेदों का मैं ही वेद्य (ज्ञेय) हूँ। (**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**)

न्यायकुसुमाञ्जलि : **कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः** ।

गीता मे वैशेषिक

गीता (७।८) : मैं आकाश मे शब्द हूँ (**शब्दः खे**) ।

वैशेषिक दर्शन (२।१।२७) : शब्द अन्य का गुण नही हो सकता , आकाश का गुण होने से (**परिशेषात्**) वह आकाश का अनुमापक है (**परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य**) ।

गीता मे सांख्य

गीता (६।३५) हे अर्जुन, उसको अभ्यास और वैराग्य से जाना जाता है (**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**)

साख्यदर्शन ३।३६ **वैराग्यादभ्यासाच्च** ।

गीता मे योग

गीता (४।३९) : श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करता है (**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**) ।

योगभाष्य (१।२०) वह कल्याणकारिणी श्रद्धा, माता की भाँति योगी की रक्षा करती है (**सापि जननीव कल्याणी योगिनं पाति**) ।

गीता (५।२२) ' हे अर्जुन, विषयेन्द्रिय सम्बन्धजन्य सुखदुःखानुभवरूप भोग दु.खो के ही कारण है और उत्पत्ति-विनाश वाले है । बुद्धिमान् उन भोगो मे मन नही लगाते .

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

योगभाष्य (२।१६) . भोगों के भोगने से इन्द्रियो को निरीह (संतुष्ट) नही किया जा सकता (**न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्**) ।

गीता (६।३५) : **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते** ।

योगदर्शन (१।१२) . **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** ।

गीता में मीमांसा

गीता (१८।१८) ' ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान, ये तीन कर्म के प्रवर्तक है (**त्रिविधा कर्मचोदना**) ।

शाबरभाष्य (१।१।२।२): **चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।**

श्लोकवार्तिक (१।१।२।३): **तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवादिनः।**

गीता में वेदान्त

गीता (१५।६) . मेरा वह धाम (प्रकाशरूप) है, जहाँ जा कर फिर संसार मे नही आते, मुक्त हो जाते है (**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**)।

वेदान्तदर्शन **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।**

यह तुलना केवल शब्द-साम्य की दृष्टि से है। विचारो की दृष्टि से 'गीता' के साथ छहो दर्शनो की तुलना की जाय तो इससे भी अधिक समानता देखी जा सकती है।

गीता का पुरुषोत्तम

परा और अपरा प्रकृति

'गीता' का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से पृथक् है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम 'गीता' के तीन तत्त्व है। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसको अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप है। अक्षरतत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको कि अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है।

अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप मे प्रकाशित प्रकृति-पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ है। उसकी यह अपरा प्रकृति जड है और परा प्रकृति चेतन। इन दोनो जड़-चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

सांख्य और वेदान्त से भिन्न सृष्टि क्रिया

किन्तु 'गीता' की यह सृष्टिक्रिया सांख्य और वेदान्त की अपेक्षा भिन्न है। सांख्य मे प्रकृति-पुरुष को विपरीत धर्म वाले दो तत्त्व माना गया है। वेदान्त मे भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रकृति-पुरुष की यही सत्ता मानी गयी है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्त एक ही ब्रह्म को मानता है।

प्रकृति और पुरुष मूल तत्त्व के प्रकाशक मात्र

सांख्य और वेदान्त की अपेक्षा 'गीता' के प्रकृति-पुरुष मे भिन्नता है। यद्यपि 'गीता' के अनुसार भी प्रकृति-पुरुष के संयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है, किन्तु वे दोनो दो नही, एक ही है। 'गीता' के अनुसार प्रकृति और पुरुष परम-

तत्त्व नही है; बल्कि वे मूल तत्त्व के प्रकाशक मात्र है। 'गीता' में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत्, भगवान् का विवर्त्त तथा परिणाम न हो कर उसमे भगवान् ही व्याप्त है। यह जगत् भगवान् का नित्य लीलाक्षेत्र है। जगत् का नित्य अस्तित्व है, क्योंकि वह लीलामय भगवान् की अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं

किन्तु जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है। जगत् उसका एक अंशमात्र है। वह अनन्त, अखण्ड, असीम और अजेय है। 'गीता' के सातवे, आठवे दसवें और ग्यारहवे अध्यायो मे अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम की शक्तियों, स्वरूपो और लीलाओं का विशद चित्रण किया गया है। ये पुरुषोत्तम स्वयमेव श्रीकृष्ण ही है, क्योंकि 'गीता' मे उन्होंने स्थान-स्थान पर उत्तम पुरुष के रूप मे अपनी ही विभूतियों को अभिव्यक्त किया है।

निर्गुण और सगुण

'गीता' के पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ है। प्रकृतिजन्य गुणों का अभाव होने पर वे 'निर्गुण' हैं और लीलामय होने के कारण 'सगुण' है। गीता' का पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है; किन्तु अपनी लीलाशक्ति प्रकृति के द्वारा उन्होने बहुरूप धारण किये हैं। यही एकत्व और अनेकत्व है, एकत्व ब्रह्मरूप मे और अनेकत्व उनके प्रकृतिरूप मे।

क्षर लीलामय स्वरूप

यह विश्वलीला भगवान् की परमा प्रकृति है। अपने आनन्द के लिए उन्होंने प्रकृति के द्वारा अपने को नाना रूपों मे प्रकट किया है। यदि भगवान् की इस जीवलीला या विश्वलीला को देखा जाय तो ज्ञात होता है कि वे अनेक है, सुखी-दु.खी है, जन्म-मृत्यु के वश मे हैं और ससीम है। यह भी भगवान् की एक अवस्था है, जिसको भगवान् का 'क्षर' रूप कहा गया है और जिसे वे अपने भक्तो के लिए धारण करते है।

अक्षर

किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढकर है, जिसे 'अक्षर' कहते है। इस अवस्था मे भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते है। इस अवस्था मे भगवान्, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते है। यह सारी संसार-लीला उस समय बन्द हो जाती है। यह उनका निर्गुण रूप है।

दोनों रूप

भगवान् के उक्त दोनों रूपो को संक्षेप मे कहा जाय तो कहना चाहिए कि बद्धजीव की अवस्था का नाम 'क्षर' और शात, निर्गुण ब्रह्म की अवस्था का नाम 'अक्षर' है।

तीसरा रूप पुरुषोतम

'गीता' मे भगवान् के इन दोनो रूपो का भली-भाँति दिग्दर्शन हुआ है। किन्तु इन दोनो रूपो के अतिरिक्त भगवान् का एक तीसरा रूप भी है, जो कि उक्त दोनो रूपो से श्रेष्ठ और सर्वोच्च है। उसके अन्दर क्षर और अक्षर, दोनो समा जाते है। भगवान् के उस रूप का नाम है 'पुरुषोत्तम'। यह अवस्था भगवान् की निर्गुण और सगुण, दोनो से संयुक्त है। क्षर के रूप मे भगवान् विश्वलीला मे एकाकार है, अक्षर रूप मे वे अपना ही लीलारूप देख रहे है और पुरुषोत्तम रूप मे वे अपनी प्रकृति को परिचालित करके इस विश्वलीला को सार्थक, संमोहक भी बना रहे है। यह लीला कोई दूसरी नही, भगवान् के ही स्वरूप विकास की लीला है, माया नहीं, मिथ्या नही। इस सम्बन्ध मे भी 'गीता' का सांख्य और वेदान्त से मतभेद है।

तीनों रूप

अपने इन तीनो स्वरूपों को भगवान् ने 'गीता' (१५।१६-१८) मे स्वयं ही समझाया है। उन्होंने अर्जुन से कहा है 'हे गुडाकेश, मैं सम्पूर्ण भूतो के अन्त करण मे अन्तर्यामी रूप से अवस्थित आत्मा हूँ। इस संसार मे 'क्षर' (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष है। उनमे सम्पूर्ण भूत-समुदाय क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहलाता है। उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनो से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है।'

ब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर उनको 'परा भक्ति' प्राप्त होती है और उस परा-भक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है। भगवान् ने कहा है 'क्योकि मै क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूं। इसलिए लोक तथा वेद मे मै 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ':

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

यही 'गीता' का पुरुषोत्तम तत्त्व है।

कर्मयोग

'गीता' मे कहे गये कर्म, भक्ति और ज्ञान के विचारो को लेकर विभिन्न भाष्यकारो ने-अपने-अपने मत से 'गीता' की व्याख्या की है। ज्ञान-योग पर शंकराचार्य ने भक्तियोग पर रामानुजाचार्य ने और कर्मयोग पर मीमासको ने गम्भीर विवेचन किया है। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य या कर्मयोग शास्त्र' मे 'गीता' के कर्मप्रधान दृष्टिकोण का बड़ो ही सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया गया है। लोकमान्य ने 'गीता' को कर्मयोगप्रधान ग्रन्थ माना है।

चित्तशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान

विवेक से परम तत्त्व की उपलब्धि होती है, इस बात को वेद, उपनिषद्, छहो दर्शनो ने स्वीकार किया है। 'गीता' मे लिखा है कि इस विवेक की उपलब्धि चित्तशुद्धि के बिना संभव नही है और चित्तशुद्धि के लिए कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता है। इसलिए परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए सबसे बडा साधन कर्मानुष्ठान ही सिद्ध होता है। यही बात श्रीधर स्वामी ने भी कही है **'न च चित्तशुद्धि विना कृतात् सन्यासात् एवं ज्ञानशून्यात् सिद्धि मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति'**। 'गीता' मे चित्तशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान का जो विधि बतायी गयी है वह अन्य शास्त्रों की अपेक्षा भिन्न है।

कर्मयोगी को पाप पुण्य नहीं लगते

'गीता' के कर्मयोग से परिचय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन की उक्तियो को जानना आवश्यक है। 'गीता' (२।३८) मे एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है 'हे अर्जुन, युद्ध करने से गुरुजन, स्वजन आदि आत्मीयो की हिसा करनी पडेगी और उससे पाप होगा, इस भय से धर्मयुद्ध मे प्रवृत्त होने के लिए तुम्हें संकोच हो रहा है, यह उचित नही है, क्योकि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझ कर फिर युद्ध मे प्रवृत्त होने से तुम पाप के भागी न बनोगे :'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

कर्मों के अधिष्ठाता स्वयं श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह बात केवल आश्वासन देने मात्र के लिए नही कही थी; बल्कि सुख-दुःख, पाप-पुण्य के एकमात्र निर्णेता भी वे स्वयं थे। निष्ठावान् कर्मयोगी के लिए श्रीकृष्ण ने जो परमोच्च स्थान निर्धारित किया है

उसको जान कर सहज ही मे 'गीता' के कर्मरत मार्ग की फल-प्राप्ति का रहस्य समझ मे आ जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा है 'प्रतिसिद्ध, काम्य या विहित (नित्य) सभी कर्मों को जो भी व्यक्ति सर्वदा मुझ मे आश्रित होकर करता है वह मेरी कृपा से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त करता है' (१८।५६)। उन्होंने अन्यत्र (१२।६-७) कहा है 'सब कर्मों का फल मुझ मे संन्यस्त करके अनन्य योग से मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते है, हे पार्थ, मुझ मे आश्रित अपने उन भक्तो को मै शीघ्र ही इस मरणशील संसार सागर से पार कर देता हूँ।'

कर्मयोगी का कर्तव्य

यही 'गीता' के कर्मयोग की विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग 'गीता' का मुख्य विषय है, जिसको श्रीकृष्ण ने कहा है :

इमं विवस्वते योगप्रोक्तवानहमव्ययम् ।

उसी कर्मयोग को उन्होंने अर्जुन से कहा और अर्जुन को हिदायत दी कि वह प्रतिपल, प्रतिक्षण मेरा स्मरण कर धर्मयुद्ध मे प्रवृत्त हो जाय .

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

कर्मयोगी की अवस्था

'गीता' के कर्मयोग का नायक अर्जुन, श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि जो पहले सकीर्ण सुख-दु.ख के बन्धनो से जकडा था उसी के मुँह से अठारहवे अध्याय मे कहा गया यह श्लोक 'गीता' के कर्मवाद को कितने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है :

नष्टो मोह. स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत: ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्थात् 'मेरी विपरीत बुद्धि अब नष्ट हो चुकी है, पूर्व स्मृति जग चुकी है। हे अच्युत, तुम्हारे ही अनुग्रह से मुझे यह लाभ हुआ है। अब कर्तव्य के विषय मे मेरे सब सन्देह दूर हो चुके है, मै स्थिरचित्त हो गया हूँ। अब मे मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारे उपदेश के अनुसार ही कर्ममार्ग मे प्रवृत्त होऊँगा।'

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्यनिष्ठ रहने के लिए जो उपदेश दिया था उसको सुनकर अर्जुन के सब शोक, मोह नष्ट हो गये और स्थितप्रज्ञ होकर वह कर्तव्य का अनुसरण करने के लिए कटिबद्ध हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति कहा गया यह

सदुपदेश ही 'गीता' का मर्म है। श्रीकृष्ण का उद्देश्य था अर्जुन को कर्मपथ पर ला कर खडा कर देना।

भक्ति ज्ञान और कर्म

इस कर्म के महत्त्व को बताने के लिए 'गीता' मे बडी ही सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया गया है। 'गीता' ब्रह्मविद्या है, क्योंकि वह सब उपनिषदो का सार है। जिस साधन के द्वारा उस ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है उस योग का भी 'गीता' मे प्रतिपादन है। इसी हेतु 'गीता' को, प्रत्येक अध्याय के अन्त मे 'योगशास्त्र' से अभिहित किया गया है। 'गीता' का यह योग तीन तरह से कहा गया है : भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। योग के ये तीनों अंग ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार के लिए असाधारण एवं अभिन्न अंग है।

मार्गस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

एक ही तत्त्व के तीन खण्ड होने के कारण प्रकृत रूप से उनका पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की स्थिति नही है। ज्ञान तथा भक्ति से निरपेक्ष कर्म; कर्म तथा ज्ञान से निरपेक्ष भक्ति; और कर्म तथा भक्ति से निरपेक्ष ज्ञान फलप्रद नही होते। इसलिए 'गीता' को प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्ति-प्रधान शास्त्र कहा गया है।

प्रिय वस्तु का परित्याग

'गीता' का कर्मयोग बताता है कि जब तक मनुष्य मे जीवन है तब तक उसको संकल्प का परित्याग करके कर्म करने चाहिए। इसके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार के लिए कोई उत्तम साधन दूसरा नहीं है। 'गीता' की यह कर्मदृष्टि कितनी महान् और सर्वागीण है। 'गीता' का यह कर्मयोग जितना उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है। क्योंकि उसमे बताया गया है प्रत्येक कर्मयोगी को सब से पहले अपने प्रियजनो का संहार करना पडता है। अर्जुन ने केवल अपने बन्धु-बान्धवो एवं गुरुजनों को ही नष्ट नही किया, बल्कि स्वयं भी पुत्रहीन हो गया।

कर्म से मोक्षप्राप्ति

किन्तु 'गीता' के सम्बन्ध मे यह जान लेना आवश्यक है कि उसके अनुसार कर्ममार्ग पर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के मन से अपने-पराये की भावना मूल से नष्ट हो जाती है। 'गीता' के कर्मयोगी के लिए इस प्रकार के अवरोध तो महान् लक्ष्य की प्राप्ति मे संभव ही हैं। वह महान् तथा अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष का। 'गीता' मे यह मोक्ष-प्राप्ति दो तरह से बतायी गयी है : (१)

ज्ञान या कर्मसंन्यास से और :(२) कर्मयोग या निष्काम कर्म से । इन दोनो में भी दूसरा तरीका श्रेष्ठ बताया गया है । 'गीता' का कथन है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान करने से मोक्ष की उपलब्धि नही होती । वह तो ऐसे निष्काम कर्म करने से प्राप्त होती है, जिसमे अपने व्यक्तिगत लाभ या कल्याण का कोई स्वार्थ निहित न हो । इस निष्काम कर्म को 'गीता' (३।६) मे 'यज्ञ' कहा गया है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन. ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।

अर्थात् 'यज्ञ के निमित्त किये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों मे लगा हुआ मनुष्य ही कर्मों से बँधता है । अत हे अर्जुन, आसक्ति मे रहित हो कर तू यज्ञ (निष्काम कर्म) के लिए ही कर्म कर ।' इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है 'हे अर्जुन, तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्ययुक्त कर्मो को करता जा । अनासक्त हो कर कर्म करने वाला पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।

यह कर्मशृंखला इतनी व्यापक और दृढ है कि उसमे न केवल अर्जुन और उसकी भाँति असख्य जीव बँधे है , बल्कि उसका अनुशासन कर्मो के अधिष्ठाता पर भी है। अपने अधिष्ठाता के ऊपर भी उसका शासन है । 'गीता' की यह कर्तव्य महानता वस्तुत. बडी ही सार्वभौम है । 'गीता' का कर्म हमे यह नही. बताता है कि उपदेष्टा उसमे मुक्त रहे, बल्कि वह भी इस कर्मशृंखला मे आबद्ध है । 'गीता (३।२३-२४) मे श्रीकृष्ण ने स्वय कहा है . 'यदि कदाचित् असावधानीवश मै कर्म का अनुसरण न करूँ तो, हे अर्जुन, सब प्रकार के मनुष्य मेरे आचरण का अनुकरण करने लगेंगे और कर्मच्युत होने से मेरी गणना वर्णसकरो मे की जायगी और मै सारी प्रजा का विनाशक बन जाऊँगा ।'

गीता के कर्मयोग की श्रेष्ठता

'गीता' के उक्त कथन से कर्मयोग की महानता का सहज ही मे स्पष्टीकरण हो जाता है । उसकी महानता का दूसरा भी कारण है । 'गीता' का यह कर्माचरण अपने लिए तो मोक्षदायक है ही, दूसरे के लिए भी कल्याणकारी है । इससे लोककल्याण और लोकसंग्रह भी होता है । इसलिए 'गीता' के कर्मयोग का एक परार्थ दृष्टिकोण यह भी हुआ कि अपने लिए न सही, लोक-कल्याण के लिए

कर्म करने चाहिए। 'गीता' (३।२०) मे कहा गया है 'जनकादि ज्ञानीजन भी अनासक्त कर्माचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इस परमसिद्धि को प्राप्त करने तथा लोकसंग्रह को देखते हुए, हे अर्जुन, तुझे भी कर्म करना चाहिए :'

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

कर्मयोग का मनोविज्ञान

'गीता' (१८।४७-४८) मे स्वभावनियत अथवा सहज कर्मों को करते रहने के लिए जोर दिया गया है 'स्वभाव से नियत किये गये कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नही होता। स्वाभाविक कर्म को, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्यागना नही चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार धूम से अग्नि आच्छादित रहती है उसी प्रकार सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से ढके रहते है।' स्वाभाविक तथा सहज कर्मभावना के सम्बन्ध मे 'गीता' (५।८-१०) मे कहा गया है 'कर्मयोगपरायण तत्त्वविद् कर्ममार्ग मे प्रवृत्त हो कर, मैं कुछ भी नही करता हूँ, बल्कि परमेश्वर की इच्छानुसार ही सब होता है। इस प्रकार का विचार करे। देखना, सुनना आदि जितनी भी क्रियायें है उनके सम्बन्ध मे यही सोचे कि वे स्वाभाविक रूप से हो रही है। इस प्रकार परमेश्वर के ऊपर सब कर्मो को निर्भर करके कर्मफलो के प्राप्त होने की इच्छा का परित्याग करके जो मनुष्य कार्य करता है वह जल के साथ कमल की भाँति किसी भी पाप मे लिप्त नही होता।'

'गीता' का यह स्वभावनियत कर्म-सिद्धान्त वस्तुत. व्यक्ति के भीतरी गुणो से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति का गुण ही उसका स्वभाव है और उसी से व्यक्ति के कर्तव्य का निर्णय होता है। इसी स्वभाव या गुण के अनुसार 'गीता' (१८।४१) मे प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न कार्य निर्धारित है :

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

कर्म ही सिद्धि का कारण

'गीता' का यह कर्मयोग मनुष्यमात्र के लिए एक जैसा है। स्वाभाविक रूप से सभी अवस्थाओ मे सभी कार्यों का उक्त रीति से अनुष्ठान करना ही वास्तविक कर्मयोग है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कर्म के बिना जीवन-यापन असभव है। इसीलिए वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है और कहा गया है कि :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः ।

यद्यपि 'गीता' के कर्मयोग के विदेशी पंडितो ने सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमासा, कर्तव्यशास्त्र और समाजधारणशास्त्र आदि अनेक नाम दिये है, किन्तु उनकी सारी पद्धति पारलौकिक दृष्टि से शून्य है । 'गीता' का कर्मसिद्धान्त पारलौकिक दृष्टि पर आधारित है और उससे समस्त भारतीय धर्मपद्धति का मर्म समझ मे आ सकता है । 'गीता' के कर्मयोग की यही विशेषता है ।

गीता में तत्त्व विचार

ब्रह्म

'गीता' (४।२४) मे वेदान्त के '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म:**' के सम्बन्ध मे कहा गया है 'अग्नि में हवन कर समर्पण की क्रिया ब्रह्मरूप है, हवि ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्मरूप है, हवन करने वाले पुरुष ब्रह्मरूप है, हवनरूप कर्म ब्रह्मरूप है, अतः हवन करने वाला होता भी ब्रह्मरूप है ।' 'गीता' की यह उक्ति वेदान्त की अद्वैतभावना का मूल है । 'गीता' का ब्रह्म निर्गुण है तथा गुणो का उपभोक्ता भी है । वह सत् है, असत् भी है और सदसत् से परे भी है (११।३७) । उसको न तो सत् कहा जा सकता है और न असत् ही (१३।१२) । 'गीता' के ब्रह्म का विशुद्ध स्वरूप उसके पुरुषोत्तम तत्त्व मे है । उस तत्त्व के ज्ञान लेने से उसके स्वरूप की जो उलटबाँसियाँ है वे स्वतः स्पष्ट हो जाती है ।

ब्रह्म और माया

'गीता' के अनुसार त्रिगुणमयी माया भगवान् की अभिन्न शक्ति है । अतएव वह भगवान् की ही तरह अचिन्त्य है, अनादि है । वह न तो सत् है न असत् ही । वेदान्त की भाँति 'गीता' की मायाशक्ति अविद्यास्वरूपा नही है, बल्कि वह सर्वव्यापी पुरुषोत्तम का ही अंश है । वह इस अनेकविध दृश्यमान जगत् की अधिष्ठात्री है । इस लीलामय जगत् की स्वामिनी है । यह लीलामय जगत् प्रपंच नहीं है, बल्कि वह भी पुरुषोत्तम का ही अंश होने के कारण चिरन्तन और नित नवीन है । किन्तु पुरुषोत्तम जीव, जगत् और माया से व्यापक है । 'गीता' मे मायामय प्रभु के दो भाव बताये गये है : अपरभाव और परभाव । भगवान् का अपरभाव वह है, जिसके अनुसार वे योगमाया से युक्त होकर जगत् को अभिव्यक्त करते हैं । इस रूप मे वे विश्वात्मा कहलाते है । उनका दूसरा परभाव अनन्त, अचिन्त्य और अव्यय है ।

ब्रह्म और जीव

'गीता' दर्शन की पुस्तक नही है। उसमे जो दार्शनिक विचारधारा का समावेश देखने को मिलता है वह इधर-उधर बिखरा हुआ है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अनेक श्लोक 'गीता' मे हैं, किन्तु वे एक स्थान पर नही है, फिर भी इस सम्पूर्ण सामग्री को एक स्थान पर प्रस्तुत करके हम 'गीता' के ब्रह्म-जीव के दृष्टिकोण को जान सकते है।

'गीता' मे भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ ब्रह्म को अपरा प्रकृति कही गयी है। जीव उनको परा प्रकृति है और उसके द्वारा यह जगत् धारण होता है (गीता ७।४–५)। जीव, ब्रह्म का ही सनातन अंश है। मृत्यु के बाद भी वह उसी मे समा जाता है (१५।१७)। इस देह मे ब्रह्म भी है और जीव भी। जीव प्रकृतिजात गुणो का भोक्ता है और इसलिए सत् या असत् योनि मे जन्म लेता है। ब्रह्म उसका उपदेष्टा, अनुमन्ता, भर्ता तथा पालक है और परम आत्मा के रूप मे सभी देहो मे विद्यमान रहता है (१३।२१–२२)। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन मे कहा था 'हे अर्जुन, सब क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे जान' (१३।२७)। क्षर और अक्षर, पुरुष के ये दो भेद है। सब भूत क्षर है। जिनमे परिवर्त्तन नही होता, जो कूटस्थ है वह अक्षर है। इसके अतिरिक्त परमात्मा नाम एक तीसरा भी तत्त्व है। वह क्षर और अक्षर से अतीत तथा दोनो मे उत्तम है। इसलिए उसको 'पुरुषोत्तम' कहा गया है (१५।१६–१८)।

ब्रह्म और जगत्

ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। इसके परतर कोई तत्त्व नही है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप मे प्रकाशित प्रकृति और पुरुष उसी ब्रह्म की अपरा और परा प्रकृतियाँ है। उनकी यह अपरा प्रकृति जड है और परा प्रकृति चेतन। इन दोनो जड-चेतन के सयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है। सूत मे जिस प्रकार मणियाँ गूँथी होती है, यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म मे उसी प्रकार गुँथा हुआ है (७।६–७)। इस जगत् की सभी जड और चेतन वस्तुएँ उसी ब्रह्म का रूप है। वही इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है :

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'

सुख : दुःख

'गीता' (१५।५) मे कहा गया है कि सब द्वन्द्वो का प्रेरक या जनयिता सुख-दुःख है।

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः'

'गीता' (५।२२) का सिद्धान्त है कि सुख ही दुःख मे परिणत होता है और दुःख सुख मे। इस अद्भुत प्रतीत होने वाली प्रक्रिया का कारण भी सब को सहज ही मे ज्ञात है। उसका कारण है वाह्य या आभ्यन्तर उपाधि। इस वाह्याभ्यन्तर उपाधि को श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विस्तार से समझाया था और उसके बाद अर्जुन के हृदय से दुःख-सुख के अनुभव करने वाले संस्कार बुझ गये थे। श्रीकृष्ण ने कहा था 'हे अर्जुन, विषयेन्द्रिय सम्बन्धजन्य सुखदुःखानुभवरूप भोग दुःखो के ही कारण है और उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। बुद्धिमान् उन भोगो मे मन नही लगाते' :

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुध.॥

मोक्ष

गीता मे मोक्ष के लिए भक्ति, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार साधन बताये गये है। ये चार भगवान् की शरणागति के साधन है। क्योंकि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है 'हे अर्जुन, परम श्रद्धा से मुझ मे मन को लगाकर जो निरन्तर उपासना करते है, वे ही उत्तम साधक है।' जो भक्त अपने किये हुए सभी कर्मो को मेरे अर्पण करके एकाग्र मन होकर मेरी उपासना करते है, उन अपने भक्तो का मै इस मृत्युरूपी संसार से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।' इसलिए

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय.॥

'ओ मेरे भक्त, मन और बुद्धि को स्थिर रूप से मुझ मे लगा दे। तब तुझे असंशय अवगत होगा कि तू मुझ आनन्दसिन्धु मे ही निवास कर रहा है।'

*

चार्वाक दर्शन

* * * *

वैज्ञानिक भौतिकवाद

भौतिकवादी विचारधारा का उदय

भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की सामाजिक एवं वैचारिक मान्यताएँ दो भागो मे विभक्त थी। एक विचारधारा के प्रतिनिधि थे आर्य और दूसरी के अनार्य। ये दोनो जाति-समूह सम सामयिक थे। आर्य-समूह वैदिक धर्म का अनुयायी था और अनार्य-समूह भौतिक मान्यताओ पर विश्वास करता था। इसी लिए बहुसंख्यक वैदिक धर्मानुयायी समाज ने आर्यों को अवैदिक भी कहा। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषद् ग्रन्थो मे इन दोनो जाति-समहों के परस्पर विरोधी विचारो का व्यापक रूप से प्रतिपादन हुआ मिलता है।

इस दृष्टि से यदि हम अथर्ववेद मे निर्दिष्ट टोने-टोटके और तंत्र मंत्र आदि के मूल उद्देश्यो पर विचार करते है तो हमे लगता है वैदिक युग मे ही एक ऐसे समाज का जन्म हो चुका था, जो भारतीय विचारधारा मे नयी अभीप्साओ का निर्माण कर रहा था। ये विचार समाज के उस समूह के थे, जो परम्पराओ तथा रूढियो का विरोधी था और दृष्ट तथा अनुभूत सत्यो का समर्थक। प्रत्येक पदार्थ और वस्तु को वह सम्भव और असम्भव, इन दो दृष्टियो से परीक्षा करता था। ये विचारक आर्यों की वैदिक परम्परा से सम्बन्ध तोड कर जीवन तथा जगत् की पहेलियो को अपने निराले ढंग से हल करने के लिए उद्यत थे।

ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ कि उस युग मे दास और स्वामी का समाज मे जो वैषम्य चला आ रहा था उसको समाप्त किया जाय। आर्य-अनार्य तथा दास-स्वामी के बीच वर्ण-विभेद-सम्बन्धी जिन क्रान्तिकारी विचारों का उदय हुआ उनके मूल प्रतिनिधि थे बृहस्पति, चार्वाक, कपिल, महावीर और बुद्ध।

उपनिषदों में भौतिकवादी विचार

जिस युग मे उपनिषदो का निर्माण हुआ उसके बहुत समय बाद उपनिषदो का ज्ञान प्रकाश मे आया। उपनिषदों मे निहित तात्त्विक, तर्कपूर्ण आदि अनेक प्रकार के विचारो का सूत्र लेकर बाद मे बड़े-बड़े दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म हुआ। तथागत बुद्ध के समय तक लगभग ऐसे ६२ दार्शनिक सिद्धान्तो का आविर्भाव हो चुका था, जिनका इतिहास तथा प्रमाण 'ब्रह्मजालसुत्त' नामक बौद्धग्रंथ प्रस्तुत करता है।

उपनिषद्ग्रन्थो की विचारधारा को लेकर प्रमुख दो दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म हुआ : आस्तिक और नास्तिक। ये दोनो सम्प्रदाय समान रूप से आगे बढ़े। वैदिक युग मे इन्द्र, वरुण आदि देवताओ का एकाधिपत्य था, ब्राह्मण युग मे उनके स्थान पर प्रजापति आदि देवताओ की प्रतिष्ठा हुई। यही प्रजापति ब्रह्मा कहलाये। तदनन्तर महाभारत के युग मे ब्रह्मा के अतिरिक्त विष्णु और शिव की प्रधानता होकर, इस त्रिमूर्ति का अर्चन-पूजन हुआ। इसी समय भागवत धर्म का उदय हुआ, जिसका विकास वासुदेव कृष्ण की सेवा-भक्ति के रूप मे आगे बढा।

यद्यपि ब्राह्मण धर्म की पशुहिंसा के विरोध मे उपनिषदो के ऋषियो ने बहुत कुछ कहा, किन्तु उपनिषदों के दूसरे बहुसंख्यक ऋषियों ने निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने मे ही स्वयं को केन्द्रित रखा। फलतः उपनिषदो की विचारधारा सर्वसाधारण की समझ से बहुत दूर हट गयी। जैसा कि सम्भव और उचित भी था कि साधारण समाज ने उसका समर्थन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और ज्ञान की जो द्विधाये परम्परा से चली आ रही थी उनकी भिन्नताएँ अधिक स्पष्ट रूप मे सामने आयी।

'महाभारत' एवं 'गीता' मे कर्म तथा ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति को भी सर्व साधारण मानव के कल्याण का मार्ग बताया गया था। कर्म, ज्ञान और भक्ति, ये तीनो मार्ग यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न थे, किन्तु उनके मूल मे जो एक ही भावना कार्य कर रही थी वह थी किसी सार्वभौमिक अदृष्ट शक्ति की खोज के लिए निरन्तर चेष्टा करते रहना। इन तीनों मान्यताओ के योग या समन्वय मे एक चौथी विचारधारा का उदय हुआ। उसने यौगिक क्रियाओ द्वारा जीव

मुक्ति का नया मार्ग खोज निकाला। विचारको का एक वर्ग तात्त्विक विश्लेषण में लगा हुआ था और दूसरा वर्ग वस्तुओं की वास्तविकताओ को तर्क की दृष्टि से निश्चित कर रहा था।

चिन्तन की इन विभिन्न विचारधाराओ में कौन पहले की थी और कौन बाद की, यह प्रश्न अध्येता के दृष्टकोण पर निर्भर करता है। किन्तु इतना निश्चित है कि महाभारत के समय तक षड् आस्तिक दर्शनो का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। इन आस्तिक दर्शको की सम्पूर्ण मान्यताएँ श्रुति (वेद) पर आधारित थी। अत उनको वैदिक दर्शन भी कहा गया और उनके उत्तराधिकार को आर्य कहे जाने वाले समाज ने आगे बढाया।

किन्तु विचारकों का वह दूसरा वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व अनार्य वर्ग के मनस्वी करते आ रहे थे, निरन्तर प्रत्यक्ष परीक्षणो पर सफलता प्राप्त करता हुआ, अनेक विरोधो के बावजूद भी, आगे बढ रहा था। उसने श्रुतियो की मान्यताओ को किसी भी रूप मे स्वीकार नही किया। इस वर्ग की जो स्थापनाएँ थी वे आस्तक दर्शनो के विपरीत थी। अत. उनको नास्तिक कहा गया। ये नास्तिक विचारक भौतिकवादी थे। यह नास्तिक और आस्तिक श्रेणी-विभाजन याज्ञवल्क्य के बाद हुआ।

वैदिक युग से लेकर याज्ञवल्क्य के समय तक भारतीय विचारधारा अध्यात्म प्रधान रही। उपनिषदो के युग मे भौतिकवादी विचारधारा ने अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की। इस प्रकार के उपनिषत्कालीन भौतिकवादी विचारको मे प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि, याज्ञवल्क्य और सत्यकाम जाबाल का नाम प्रमुख है। तत्कालीन भारत मे इन भौतिकवादी विचारकों के अनेक केन्द्र स्थापित हो चुके थे, जिनमे कुरु-पाचाल, पंजाब, (कैकेय), काशी और मिथिला का नाम प्रमुख है।

इन विचारको मे याज्ञवल्क्य का मुख्य स्थान है। जहाँ तक याज्ञवल्क्य की ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है उसको देखकर ज्ञात होता है कि एक सम्पन्न और सुखी गृहस्थ का जीवन बिताने के बाद उन्होने घर छोडा। वे ब्रह्मज्ञानी थे।

याज्ञवल्क्य के समय ही बहुत-से लोगो का कर्मकाण्ड के प्रति विश्वास कम होने लगा था। तत्कालीन क्षत्रियो को यह आशंका होने लगी थी कि यज्ञो पर अथाह निधि खर्च कराने का एकमात्र कारण है पुरोहितो की सुख-सम्पन्नता। यही कारण था कि पुरोहितो और कर्माचरणो के प्रति क्षत्रियो मे उदासीनता व्याप्त होने लगी थी।

दूसरी ओर गृहत्यागी श्रमण और तापस सामान्य आचरणो एवं ब्रह्मसिद्धि के साधारण तथा लोकव्यवहारोपयोगी उपायो से तत्कालीन सम.ज को

अपनी ओर आकर्षित करने पर लगे थे। इन कारणों से समाज में पुरोहितों का प्रभाव कम होने लगा था। इन विरोधी विचारकों ने स्पष्ट रूप से कर्मकाण्ड और यज्ञों का विरोध कर यह आवाज लगायी कि अपनी दक्षिणा के लोभ से पुरोहित, समाज का परलोक का झूठा प्रलोभन देकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

ठीक इसी समय ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य और उनके गुरु आरुणि ने अपनी प्रभावशाली विचारधारा से लोगों में ब्राह्मणानुराग बनाये रखने के लिए बड़ा यत्न किया, किन्तु साथ ही उन्होंने कर्म को गौण और ज्ञान को श्रेष्ठ बताया। उन्होंने इस विचारधारा का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार किया कि ज्ञानरहित कर्म फलदायी हो ही नहीं सकता है।

इस प्रकार इन दोनों विचारकों ने पुरोहितों के स्वार्थों का हनन होते-होते बचा दिया और उनके प्रति समाज में जो दुर्भावना व्याप्त हो गयी थी उसको भी कम किया। इस प्रकार याज्ञवल्क्य के समय एक ओर तो पुरोहितों तथा उनके अनुयायी यज्ञविश्वासी समाज की परम्परा बनी हुई थी और दूसरी ओर ब्रह्मजिज्ञासु बुद्धिजीवियों का एक नया विचारक वर्ग प्रकाश में आ रहा था।

किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। इसी समय कुछ नये विचारक प्रकाश में आ गये थे, जो परम्परा की लीक को तोड कर जीवन तथा जगत् की पहेलियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार कर रहे थे। ये लोग व्रात्य थे। व्रात्य भी आर्यों की ही एक शाखा थी, जिनको इस नयी विचारधारा का प्रवर्त्तक होने के कारण अवैदिक आर्य कहा गया।

इन अवैदिक आर्यों (व्रात्यों) की विचारधारा सर्वथा भौतिक थी और उन्होंने सामाजिक जीवन की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की। समाज से जातिभेद और वर्णभेद की विषमताओं को दूर करने के लिए इन विचारकों ने बड़ा क्रान्तिकारी कार्य किया। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में आर्य-अनार्य संस्कृति के सम्बन्ध में जो मधुर मतभेद चला आ रहा था उसको उभारने में इन व्रात्यों ने बड़ा यत्न किया।

भौतिकवादी विचारधारा के भावी विकास की यह पृष्ठभूमि थी, जिसका प्रौढ एवं सुथरा रूप हमें सयुग्वा रैक्व के विचारों में देखने को मिलता है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सयुग्वा रैक्व ही ऐसे प्रथम दार्शनिक हुए, जिन्होंने इतनी निर्भीकता से पहले-पहल इस प्रकार की नयी विचार-पद्धति का प्रतिपादन किया। उनके दर्शन का केन्द्र वायु तत्त्व है। इसी विचारधारा का समर्थ प्रतिनिधित्व किया बृहस्पति, चार्वाक और कपिल ने तथा उनके बाद महावीर स्वामी एवं बुद्धदेव ने।

आचार्य कपिल, महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने क्रमश सांख्य दर्शन, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के रूप मे परम्परागत विचारधारा को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया।

चार्वाक दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

बृहस्पति

भारतीय दर्शन मे नास्तिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य बृहस्पति हुए। वे अर्थशास्त्रकार, आयुर्वेदकार और वैयाकरण बृहस्पति से भिन्न थे। उनका स्थितिकाल लगभग ६००–५०० ई० पूर्व था।

बृहस्पति का दर्शन

आचार्य बृहस्पति ने एक सूत्रग्रन्थ लिखा था, जो सम्प्रति उपलब्ध नही है, किन्तु अन्य ग्रन्थो मे उसके कुछ अश उद्धृत रूप मे मिलते है। ये उपलब्ध अश ही बृहस्पति के दर्शन की जीवित थाती है। उनके अध्ययन से बृहस्पति की भौतिकवादी विचारधारा का कुछ आभास मात्र मिलता है। संख्या मे ये सूत्र लगभग पन्द्रह है, जिनका अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

बृहस्पति दर्शन के उपलब्ध अंश

(१) अब हम इस मत के तत्त्वों का निरूपण करेंगे। (२) पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व है। (३) इन्ही भूतों के संघठन को शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया गया है। (४) इन्ही भूतो के संघठन से चैतन्य उत्पन्न हुआ है। (५) जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के सघठन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार इन भूतो के सगठन मे चैतन्य (विज्ञान) उत्पन्न होता है। (६) भूत ही चैतन्य को उत्पन्न करता है। (७) चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है। (८) जल के ऊपर जैसे बुलबुले दिखायी देते है और तत्काल ही अपने-आप मिट जाते है उसी प्रकार जीव की स्थिति है। (९) परलोक मे रहने वाला कोई नही है। अत. परलोक है ही नही। (१०) मरण ही मोक्ष है। (११) स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलापजन्य सुख से भिन्न नही है। इसलिए स्वर्ग या सुख को देने वाले तीनो वेद वस्तुत. धूर्तों का ही प्रलाप है। (१२) अर्थ और काम, ये दोनो ही पुरुषार्थ है। (१३) राजनीति ही एकमात्र विद्या है। इसी मे कृषिशास्त्र भी शामिल है। (१४) प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। (१५) साधारण लोगो के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

चार्वाक

भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे भौतिकवादी चार्वाक के दर्शन का, अपनी नवीनता एवं विचित्रता के कारण, अलग स्थान है। 'चार्वाक' शब्द को लेकर आधुनिक इतिहासकारो एवं दर्शन के विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वान् इस शब्द को अभिधानवाची न मानकर उस विचारधारा का अभिसूचक स्वीकार करते हैं, जिसको भौतिकवादी दर्शन कहा जाता है और जिसके अनुसार यह ससार खाने-पीने तथा मौज उड़ाने (चर्वण) के लिए है। इस दृष्टि से चार्वाक, किसी व्यक्तिविशेष का नाम न होकर उस सारे सम्प्रदाय के अनुयायियो के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो पुनर्जन्म और देवतावाद के विरोधी थे।

इस विचारधारा के अनुसार, जैसा कि आगे विस्तार से कहा जायगा, यह जीवन त्याग, तपस्या और कष्ट के लिए नही है, बल्कि मौज, आनन्द, तथा सुखभोग के लिए है। इस दर्शन का यह मंतव्य रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयमेव सत्य की खोज करनी चाहिए और स्वयमेव अपना मार्ग बनाना चाहिए। इस विचारधारा के विरोधी लोगो ने, 'चार्वाक' शब्द को इसके अनुयायियो के लिए 'गाली' तथा अपमान के अर्थ मे प्रयुक्त किया है।

कुछ विद्वानो का मत है कि 'महाभारत' मे वर्णित चार्वाक नामक ऋषि द्वारा प्रवर्तित होने के कारण उसके दर्शन का नाम 'चार्वाक दर्शन' पड़ा।

इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि चार्वाक (चारु + वाक्) उन लोगो के लिए कहा गया, जिनकी वाणी सबको मीठी लगती थी। इसी लिए उसको 'लोकायतिक दर्शन' भी कहा गया, क्योकि लोक, अर्थात् जन-सामान्य ने उसको बड़ी रुचि से अपनाया।

इस प्रकार 'चार्वाक' शब्द को लेकर विद्वानो मे जो विवाद रहा है उसको देखते हुए यह स्थिर करना यद्यपि कठिन है कि उनमे कौन-सा अभिमत ठीक है, तथापि चार्वाक के नाम से समस्त विचारधारा का नामकरण होना उसकी असामान्यता का परिचायक अवश्य है। इस सम्बन्ध मे ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य बृहस्पति के बाद भौतिकवाद को लेकर जो गम्भीर चिन्तन हुआ उसका सपूर्ण श्रेय आचार्य चार्वाक को ही उपलब्ध है। न्याय, साख्य और वैशेषिक आदि दर्शनो की जो स्थिति रही है, चार्वाक दर्शन, स्वरूप और विकासक्रम की दृष्टि से, उनकी अपेक्षा भिन्न है। उक्त दर्शनो की भाँति चार्वाक दर्शन दीर्घकालीन साधना के बाद अनेक आचार्यो की देन न होकर एकमात्र चार्वाक की देन है। इसलिए चार्वाक को एक समस्त दार्शनिक विचारधारा के रूप में अभिहित किया ही जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त निश्चित ही एक व्यक्तिविशेष के रूप मे भी उनका अस्तित्व था।

आचार्य बृहस्पति और चार्वाक 'महाभारत' (५०० ई० पूर्व) के पहले हुए।

परवर्ती विचारक

आचार्य बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित और आचार्य चार्वाक द्वारा पल्लवित जिस भौतिकवादी या नास्तिक विचारधारा का ऊपर उल्लेख किया गया है उसने ५०० ई० पूर्व तक जन-सामान्य के बीच अपनी स्वतत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और उसके कारण तत्कालीन समाज मे जो क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप सारा समाज दो विरोधी विचारो को लेकर दो दलो मे बँट गया।

आचार्य चार्वाक की विचारधारा को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और प्रख्यात विद्वानो एव तत्त्ववेत्ताओं ने उसकी मौलिकता का प्रतिपादन किया। इस मत के कुछ विचारकों के नाम राहुल जी की खोज के अनुसार इस प्रकार है

१ अजित केशकम्बल	:	भौतिकवादी
२ मक्खलि गोशाल	:	भौतिकवादी
३ प्रकुद्ध कात्यायन	·	नित्यतावादी
४ सजय बेलट्ठिपुत्त	.	अनिश्चिततावादी
५ पूर्ण काश्यप		नित्यतावादी
६ वर्धमान महावीर	:	अनिश्चिततावादी
७ गौतम बुद्ध	.	अनात्मवादी

भौतिकवाद, नित्यतावाद, अनिश्चिततावाद और अनात्मवाद, इन सभी सिद्धान्तो के मूल मे एक ही स्वर मुखरित है। वह है आस्तिकवाद के विरुद्ध नास्तिकवाद की प्रतिष्ठा करना। उक्त विचारको पर विरोधी लोगो ने यह आरोप लगाया कि उन्होंने पाप-पुण्य, झूठ-सच, चोरी-व्यभिचार आदि को कर्तव्यो की श्रेणी मे रखकर उनके उपभोग पर बल दिया। इस प्रकार उन्होने समाज मे अनैतिकता का प्रचार करके उसको वे पतन की ओर ले गये। इसके विरोध मे भौतिकवादी विचारको ने ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत की जिनमे झूठ को झूठ और सच को सच प्रमाणित किया गया। इसी को जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण की वास्तविकता स्वीकार किया गया।

यद्यपि बहुसंख्यक आस्तिक विचारको ने चार्वाक और उसके अनुयायी तत्त्वज्ञों का उचित तथा अनुचित, दोनों तरह से खण्डन किया और ईर्ष्यावश चार्वाक दर्शन का जड़ से उन्मूलन करने के लिए निरन्तर यत्न किया, तथापि रूढ़ियो और कुण्ठाओं से विमुक्त चार्वाक दर्शन का अस्तित्व आज भी बना हुआ है।

चार्वाक मत (लोकायतिक दर्शन)

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (१।२।६) मे लोक को उपकारक आन्वीक्षिकी विद्या के संबंध मे कहा गया है कि 'वह व्यसन मे, आपत्ति मे, क्षोभ तथा शोक उत्पन्न करने वाली दशा मे, अभ्युदय मे, अतिहर्ष तथा उद्धतता उत्पन्न करने वाली अवस्था मे मनुष्य की बुद्धि को स्थिर करती है, तथा प्रज्ञा को और वाणी को, शरद् ऋतु के जल की भाँति, निर्मल एवं उज्वल करती है।'

इस आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत कौटिल्य ने साख्य, योग और लोकायत, अर्थात् चार्वाक मत को रखा है। जिस मत मे लोक दृश्य ही, अर्थात् इन्द्रियगोचर विषय ही मुख्य या सब कुछ है उसको 'लोकायत' कहते है। चार्वाक मत से द्रष्टा (ईक्षिता, चेतन, आत्मा) ही मुख्य (सब कुछ) है, और दृश्यमान यह एन्द्रियलोक इसके अधीन या इसका रचा हुआ है।

यही चार्वाक मत या लोकायतिक दर्शन का सार है।

चार्वाक दर्शन की तत्त्व मीमांसा

चार तत्त्व

आचार्य चार्वाक मूलत. प्रत्यक्षवादी विचारक थे। उनके अनुसार सृष्टि के निर्माण मे चार प्रकार के तत्त्वों का हाथ रहा है, जिनके नाम है : पृथिवी, जल, तेज और वायु। पाँचवे आकाश तत्त्व की उन्होंने आवश्यकता ही नही समझी। इस तत्त्वचतुष्टय से ही देह की उत्पत्ति और उसमे चैतन्य का समावेश हुआ है। जब देह नष्ट हो जाता है तो चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इसलिए उनके मत से चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नही। यही उनको देहात्मवाद है

प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है

चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है (**प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्**)। पृथिवी, जल, तेज और वायु, इन चार तत्त्वों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रमाण से वस्तुओं की स्थिति को दो प्रकार से प्रत्यक्ष किया जा सकता है . (१) वाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष द्वारा और (२) आन्तरिक इन्द्रियों के प्रत्यक्ष द्वारा।

अनुमान प्रमाण नहीं है

चार्वाक दर्शन मे अनुमान प्रमाण के विरोध या खण्डन मे जो आपत्तियाँ प्रकट की गयी है उनका निरूपण इस प्रकार है।

१. व्याप्ति का अभाव : न्याय दर्शन का अनुमान प्रमाण व्याप्तिज्ञान पर निर्भर है। चार्वाक का कथन है कि जब तक किसी वस्तु को प्रत्यक्ष नही देखा जाता तब तक उसके संबंध मे कोई धारणा बनानी कल्पनामात्र है। कुछ अग्नियो को देखकर यह धारणा बना लेना कि 'जहाँ-जहाँ आग है वहाँ-वहाँ धुंआ है' उचित नही; क्योंकि जब तक संसार भर की अग्नियो को अपनी आँखो से नही देखा जाता तब तक अनुमान का सिद्धान्त बनता ही नही है। अनुमानज्ञान न तो आन्तरिक प्रत्यक्ष से संभव है और न बाह्य प्रत्यक्ष से ही।

२ कार्य-कारण का अभाव : चार्वाक का कहना है कि कार्य-कारण-भाव-संबंध से जो अनुमान की सार्थकता बतायी जाती है वह भी सार्वकालिक नही है, क्योंकि कही पर दो वस्तुओ को एक साथ देखकर उनमे कार्य-कारण-संबंध की स्थापना तब तक नही की जा सकती है, जब तक उन दोनो के साथ रहने वाली सभी अवस्थाओ का हमे प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो जाता। आग के साथ धुंआ देखकर उनमे कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने मे कभी-कभी गलती भी हो जाती है, क्योंकि गीली लकडी, जो उपाधि है और जिसके कारण धुँआ होता है, उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। इसलिए सभी वस्तुओ के कार्य-कारण-संबंध बनाने के लिए उनकी उपाधियो का ज्ञान होना भी आवश्यक है, और सभी उपाधियो का प्रत्यक्ष होना संभव नही है। इसलिए अनुमान के द्वारा दो वस्तुओ के कार्य-कारण संबंध को प्रामाणिक नही माना जा सकता है।

शब्द प्रमाण नहीं है

चार्वाक दर्शन मे शब्द को भी अप्रमाणिक माना गया है। वहाँ कहा गया है कि विश्वसनीय व्यक्तियो के द्वारा कहे गये वे ही शब्द प्रमाण है, जो प्रत्यक्ष देखे जा सकते है। वेदो को प्रमाण नही माना जा सकता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नही होता। ब्राह्मणग्रथो के धूर्त पुरोहितो ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वेदो को प्रमाण मानने की झूठी कल्पना केवल प्रलापमात्र है। एक विश्वस्त व्यक्ति के वाक्यो को प्रमाण मानने से अनुमान द्वारा सभी विश्वस्त व्यक्तियो के वाक्यो को प्रमाण मानने की बात भी युक्त नही है, क्योंकि जब अनुमान प्रमाण है ही नही तब उसके आधार पर शब्द को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? चार्वाक के मत से परलोक का भय मानकर यज्ञो का अनुष्ठान करना सब व्यर्थ है। जिन वेदो आदि मे ये बाते लिखी है वे उन धूर्तो एवं स्वार्थियो को

रचनाएँ है, जिन्होने लोगों से धनोपार्जन के लिए उनको अपना एक जरिया बनाया ।

सुखवाद

नैतिक दृष्टि से चार्वाक सुखवादी दार्शनिक थे। यद्यपि जीवन के साथ दु:ख का अटूट संबंध है, तथापि जीवन का लक्ष्य सुखोपभोग ही है। चार्वाक का कहना है कि दु ख की कल्पना करके तथा दु ख के आगे आ जाने से सुख को नही त्यागा जा सकता है। उदाहरण के लिए मछली को खाते समय काँटा भी साथ रहता है, किन्तु मछली खाते समय काँटे को निकाल दिया जाता है। इस आधार पर दु:ख को दूर किया जा सकता है, किन्तु उसके भय से सुख को त्यागा नही जा सकता है। यथा मृग के भय से किसी को खेती न करते हुए नही देखा गया, अथवा 'कल मोर मिलेगा' इस आशा से कोई भी हाथ आया कबूतर नही छोड देता (**वरमद्य कपोतो न श्वो मयूरः**)। हाथ आये धन को छोडना मूर्खता के सिवा कुछ नही। परलोक को सुख समझकर इस लोक के सुख को त्यागने वाले मनुष्य चार्वाक की दृष्टि मे गये-गुजरे और कल्पना के झूले मे झूलने वाले है। जिस धर्म से दु ख अधिक और सुख कम मिले उसको तिलाजली।

स्वर्ग : परलोक : मोक्ष

आचार्य चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं। स्त्री, पुत्र, धन-संपत्ति आदि से जो सुख होता है वही स्वर्ग है। लोक मे प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश हो जाना ही मोक्ष है। परलोक मे होने वाला न तो स्वर्ग है, न मोक्ष और न परलोक मे जाने वाला आत्मा ही है। वर्णाश्रम व्यवस्था अपने-अपने कर्मानुसार है। जन्मान्तर के लिए उनके फलाफल की कोई उपयोगिता नही है। यज्ञानुष्ठान और भस्मावलेपन पाखण्डी तथा पौरुषहीन लोगो की आजीविका के साधन हैं। उनमे कोई तत्त्व तथा सत्य नही है। यदि यज्ञ मे वध किया हुआ पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता या पुत्र-स्त्री आदि का क्यो नही बलिदान करता ?

जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है। परलोक और मोक्ष सब मन की कमजोरियाँ है। मरण ही मोक्ष है (**मरणमेव मोक्ष**)। आत्मा का शरीर से अलग होना संभव नही है। वह तो शरीर से तभी अलग होता है, जब शरीर नष्ट हो जाता है। आत्मा का धर्म चैतन्य है और वह चैतन्य शरीर मे ही है। शरीर के बिना चैतन्य अन्यत्र नही रह सकता। लोक मे स्थूलत्त्व, कृष्णत्त्व धर्म शरीर के ही माने जाते है। उसी को 'मै' कहा जाता है। वही शरीर 'आत्मा' है। इसी को 'शरीरात्मवाद' कहा गया है।

इसी प्रकार दुःख भी शरीर के साथ बँधा हुआ है। दुःख से छुटकारा तभी हो सकता है, जब शरीर नष्ट हो जाय। वही मोक्ष है। जीवित रहकर दुःख से मुक्त होना संभव ही नही है।

अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ है। अर्थ और कामप्रधान इस चार्वाक दर्शन का अपर नाम लोकायत है। लोक, अर्थात् जन-समुदाय, मे आयत, अर्थात् फैला हुआ। चार्वाक के अनुयायियो ने नास्तिक दर्शन को इसलिए लोकायत नाम दिया, क्योंकि उसका प्रचार-प्रसार समस्त समाज मे था।

चर्वाक दर्शन की जैन बौद्धों से भिन्नता

नास्तिक दर्शनो मे गिने जाने वाले बौद्धों के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक संप्रदायो तथा जैनो के आर्हत दर्शन पर यद्यपि बृहस्पति तथा चार्वाक की मान्यताओं की छाप अंकित है, तथापि उनका विकास कुछ दूसरे ही रूप मे हुआ। जैनो और बौद्धो के समय तक चार्वाक की स्थापनाएँ स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ चुकी थी और समाज तथा विचारक वर्ग पर उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव सुविदित हो चुका था। जैनो और बौद्धो को विश्वास हो गया था कि अपने-अपने धर्मो को यदि समाज मे प्रचारित करना है तो उनके प्रतिपादन एव प्रवचन की प्रणाली चार्वाक से भिन्न होनी चाहिए। यह तथ्य उनके सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान था कि चार्वाक के दर्शन को जितना स्थायी और व्यापक होना चाहिए था, वह न हो सका। यही कारण था कि अनेक स्थानो पर मूल तत्त्वो के सबध मे एकमत होने पर भी जैन-बौद्धो ने अपना विकास दूसरी ही दृष्टि से किया।

चार्वाक दर्शन की अन्तिम स्थिति

सभी नास्तिक विचारको का पहला एव प्रमुख उद्देश्य यह था कि दर्शनशास्त्र को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाया जाय। इस ध्येय से उनकी दृष्टि लोकानुरजन एव लोकविश्वासो पर केन्द्रित रही। किन्तु उसका प्रभाव अनुकूल सिद्ध न हुआ। भारत की धर्मप्रवण एव वेदविश्वासी जन भावनाओ को नास्तिक दर्शन की वे युक्तियाँ अधिक समय तक प्रभावित नही कर सकी।

फिर भी चार्वाक की यह अनूठी खोज भारतीय दर्शन के इतिहास मे अपनी विशेषता रखती है। आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक और प्रमाण की मीमासा के संबंध मे चार्वाक ने जो कुछ कहा, यद्यपि उसका व्यापक रूप से विरोध हुआ; फिर भी भारतीय तथा विश्व के विचारको के समक्ष उसने जो मान्यताएँ स्थिर की और जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओ का जिस मौलिक ढंग से विश्लेषण किया, वह अपनी

नवीनता के कारण आज भी समादरणीय है।

आचार्य बृहस्पति और आचार्य चार्वाक से लेकर अब तक भौतिकवादी विचारधारा का जो विकास हुआ उसका सार 'जडवाद' के सिद्धान्त पर आधारित है। जडवाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवादी दर्शन के दो विलक्षण सिद्धान्त है।

१. जड़वाद

उद्देश्य

जिसको यथार्थवादी और भौतिकवादी दृष्टि से 'जडवाद' कहा गया है उसको आधुनिक विद्वान् 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के नाम से कहना उपयुक्त समझते है।

चार्वाक के अनुसार 'देखना ही विश्वास करना है'। इस आधार पर जडवस्तु ही विश्वसनीय है, क्योंकि वह देखी जा सकती है। आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म, परलोक, भविष्य, स्वर्ग, नरक आदि आस्तिक दर्शनो के जितने भी तत्त्व है वे दिखायी नही देते। अतः वे विश्वासयोग्य नही है, और इसी लिए उनके प्रति जिज्ञासा का होना कपोलकल्पना, प्रलाप तथा मूर्खता के सिवा कुछ नही है। पृथिवी, जल, तेज और वायु, जडवस्तु के, ये ही चार निर्णायक तत्त्व है। इसी को जडवाद की मूल सामग्री कहा गया है।

पुरातन का सम्यक् विश्लेषण करके आधुनिक दृष्टि मे एक संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित पुस्तक श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने कई वर्ष पूर्व मराठी मे लिखी थी, जिसका हिन्दी अनुवाद भी संप्रति उपलब्ध है। श्री शास्त्री जी वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रकाण्ड विद्वान् है और उन्होने ही जडवाद तथा अनीश्वरवाद पर पहले-पहल इतना सहज एवं प्रत्युत्पन्न दृष्टि से विचार किया है।

सामान्यरूप से जडवाद वह तत्त्वज्ञान है, जिसमे जगत् और समाज, दोनो मे संबंधित तत्त्वो पर नयी दृष्टि से विचार किया गया है। तत्त्वज्ञान का आशय है जीवन और जगत् की वास्तविकता का निश्चय हो जाना। प्रमाणो के द्वारा भली भाँति परख करने के बाद जो वस्तु अबाधित रूप मे सिद्ध होती है वही तत्त्व है उसी को 'परमार्थ' कहा गया है। जड़वादी तत्त्ववेत्ताओ ने इसी 'परमार्थ' के सही स्वरूप को लोक के संमुख प्रकाशित किया है।

'जड़' का आशय

संवेदनारहित तथा ज्ञान-रूप-हीन पदार्थ ही 'जड' है। उसका प्रतियोगी शब्द है 'चेतन'; जिसमे संवेदन और काल निहित रहता है। शास्त्री जी के

शब्दो मे "उस पदार्थ को जड़वस्तु कहते है, जो (१) किसी ज्ञाता की अनुभूति में न रहता हुआ भी स्वतंत्र रूप से रहता है; (२) जिसे स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति नही होती, और (३) जो स्वयं ज्ञानरूप अथवा चैतन्यरूप नहीं होता।" उदाहरण के लिए अनन्तकाल से खान मे पड़ा हुआ वह हीरा, जिसको न तो स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति है, जो न किसी दूसरे की अनुभूति का विषय है और न स्वयं चैतन्यरूप है।

जड़ और चेतन का सम्बन्ध

जडवादी तत्त्ववेत्ताओ का मत है कि प्रत्येक वस्तु जब चेतनावस्था या जीवितावस्था मे आती है, उससे पूर्व वह अचेतनावस्था या अजीवावस्था मे रहती है। प्रत्येक पदार्थ की पहली स्थिति जड और दूसरी चेतन हुआ करती है। पदार्थ का यह चेतन रूप, उसके निसर्ग जडरूप का ही परिणाम है। इसलिए मूलतः जो पदार्थ जड होता है वही चेतन या जीव बनता है।

जो चेतन वस्तु है वह ज्ञानयुक्त, बुद्धियुक्त और अनुभूतियुक्त है। इस दृष्टि से, वर्तमान चेतनसृष्टि मे मनुष्य सब से बडा है, किन्तु न तो उसको शाश्वत कहा जा सकता है और न सर्वव्यापी ही। वह तो इस सीमित देश-काल से परिवेष्टित, नश्वर एवं एकदेशीय है, क्योकि उसका निर्माण ही ऐसे तत्त्वों से हुआ है।

पशु, पक्षी और मनुष्य आदि 'चेतन' सृष्टि मे आते है और वनस्पति तथा दुःख रूप वस्तुएँ 'जीव' सृष्टि के अन्तर्गत आती है। जीव उसको कहते है, जो गतिशील है, उत्सर्ग करने वाला है और अपनी जैसी दूसरी वस्तुओं को जन्म देने वाला है।

देह ही आत्मा है

किसी जीवपिण्ड या चेतनपिण्ड का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसका निर्माण विभिन्न जड द्रव्यो के मेल से हुआ है। इन जड द्रव्यो के मेल से ही अनेक प्रकार की 'सस्थाओं' का निर्माण हुआ है। इन कार्य करने वाली 'संस्थाओं' मे मन भी एक है। वही मन शरीर और आत्मा, दोनो है। शरीर और आत्मा वस्तुत दो नही है, क्योकि जिसे हम जीव शक्ति या आत्मा शक्ति कहते है वह शरीर से अलग नही है।

जडवादी विचारको का सिद्धान्त है कि शरीर के पैदा होने से पहिले और शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा भी नष्ट हो जाता है। इसलिए जब कि शरीर के नष्ट हो जाने पर प्राण तथा आत्मा भी विनष्ट हो जाते है तब पुनर्जन्म का सिद्धान्त बनता ही नही है। "मृत्यु के बाद, कर्म के अनुसार जीवात्मा, विविध

योनियों मे जन्म लेता है; अथवा धर्म-कर्म के कारण स्वर्ग मे जाता है और पापाचार के कारण नरक में जाता है, ये सब कल्पनायें मिथ्या है।"

ज्ञान और मस्तिष्क संबंधी विकास की जो बातें प्रत्यक्ष देखने में आती है वे सभी शरीर के विकास पर निर्भर है। शरीर का जितना ही कम विकास होगा, ज्ञान भी उतनी ही कम मात्रा मे विकसित होगा। सपूर्ण मनोवृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियो पर निर्भर है। इन ज्ञानेन्द्रियो के विकसित हुए बिना अन्तर्ज्ञान तथा आत्मा के विकास का मार्ग सीमित ही नही। इसलिए शरीर से भिन्न कोई आत्मा या मन नही।

देहात्मभाव के सबध मे आचार्य शंकर ने 'शाकरभाष्य' की प्रस्तावना मे और 'समन्वयसूत्र-भाष्य' के अंत मे कहा है कि 'देह ही आत्मा है' यह प्रतीति समस्त जीव-व्यापारों के मूल मे कार्य करती है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि आत्मा को देह से भिन्न मानने वाले तत्त्ववेत्ता भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वयं देहात्मवादी होते है।

किन्तु जैसा कि देखने मे आता है, आचार्य चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय तत्त्ववेत्ताओ ने यही स्वीकार एवं सिद्ध किया है कि आत्मा, देह से अलग है। किन्तु चार्वाक का कहना है कि देह, आत्मा से भिन्न नही है। जीवशास्त्र और मानसशास्त्र इस गभीर प्रश्न को बहुत कुछ हद तक हल भी कर चुके है और 'वह दिन दूर नही जब भारत मे भी भौतिकवादी तत्त्ववेत्ताओ की ओर से देहात्मभाव का पूर्णतया समर्थन एवं स्पष्टीकरण हो जायगा।'

द्रव्य का स्वरूप और स्वभाव

जिस एक वस्तु से दूसरी वस्तु बनती या उत्पन्न होती है और जिसके गुण-धर्म होते है उसी को 'द्रव्य' कहते है। यह समस्त जगत् द्रव्य और गुणों का ही पिण्ड है। ये भौतिक द्रव्य अनेक रूप-रग और गध के होते है। उनमे यह अनेकता किसी के द्वारा निर्मित न होकर, स्वाभाविक है। इसी को द्रव्यो का स्वरूप कहा गया है। संख्या, परिणाम और कार्य-कारण-भाव उसके अंग है। उनका निर्माण नही किया जा सकता तथा उनको थोपा नही जा सकता। बल्कि उनमे प्रकृत रूप से वर्तमान रहने के कारण उनको पहचाना जाता है, गिना जाता है तथा उनमे संबंध जोडा जा सकता है।

एक कुशल कृषक बीज के कार्य-कारण-भाव को पहचानता है। इसी प्रकार एक वैद्य रोगनाश के कार्य-कारण-भाव को जानता है। किन्तु कृषक और वैद्य दोनो बीज और रोगनाश के कार्य-कारण-भाव को उत्पन्न नही करते। 'इसलिए

यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यवस्थापक किसी वस्तु के स्वभाव मे प्रकृत रूप से विद्यमान व्यवस्था को पहचानकर उस वस्तु का उपयोग करता है। वह व्यवस्था (स्वभाव) को उत्पन्न नही करता है।'

विश्व परिवर्त्तनशील है

प्रत्येक मनुष्य के सामने वस्तुओ के परिवर्त्तन के स्वरूप नित्य ही प्रकट होते रहते है। इतिहास हमे बताता है कि इस पृथ्वी पर पहले न तो कोई प्राणी था और न वनस्पतियाँ ही। ये सब कुछ बाद मे पैदा हुए। मनुष्य के उत्पन्न हो जाने से इस विश्व मे अनेक परिवर्त्तन हुए। उसने न केवल वनस्पतियो और जानवरो की ही दिशा मे बल्कि समाज मे भी अनेक परिवर्त्तन उपस्थित किये। इसलिए विश्व परिवर्त्तनशील है और उसकी इस वास्तविकता का प्रमाण ज्योतिषशास्त्र प्रस्तुत करता है।

वस्तु की इसी परिवर्त्तनशीलता का ही परिणाम है कि न उसका सर्वथा विनाश होता है और न सर्वथा अभाव ही। हम देखते है कि प्रत्येक सद्वस्तु के स्थान पर दूसरी सद्वस्तु निर्मित होकर अपने अस्तित्व की कडी को जोडे रहती है। उदाहरण के लिए रुई से कपडा तैयार होता है और मिट्टी से घडा बनता है। यह कपडा और यह घडा परिवर्त्तन के परिणाम है।

इस परिवर्त्तन के ही कारण विश्व का चक्र चल रहा है। यंत्र का एक पहिया घुमा कि दूसरा स्वय ही घूमने लगता है। अणुरूप द्रव्यों से निर्मित इस जगत् के अणुओ के आपस मे मिलने और उनके एक-दूसरे से अलग हो जाने से ही गति का आरभ होता है। यही गति, अर्थात् परिवर्त्तन प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक धर्म है। इसी स्वाभाविक धर्म के कारण दूसरा पहिया स्वत. ही घूमने लगता है।

इस परिवर्त्तन का इतिहास कब से आरंभ हुआ, इसका कोई तर्कसंगत उत्तर किसी भी दर्शन मे नही है।

अज्ञान के कारण, अर्थात् घटनाओ के कार्य-कारण-भाव की गुरुता के कारण, देवताओ को गढा गया है, उनकी कल्पनाएँ की गयी। यह वर्षा, यह वायु, यह ग्रहण, यह प्रकाश और यह अंधकार वास्तव मे क्या है, इन सब का समुचित और प्रत्यक्षरूप से सही सिद्ध होने वाला उत्तर विज्ञान ने दिया है।

अत. इस सबध मे भौतिकवादी भारतीय विचारको के निष्कर्षों की अब सहसा अवहेलना नही की जा सकती है।

२. अनीश्वरवाद

वैज्ञानिक भौतिकवाद के 'जडवाद' को समझ लेने के बाद अनीश्वरवाद

का सिद्धान्त स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। जडवाद और अनीश्वरवाद, वस्तुतः एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। उनमे यदि भिन्नता है तो केवल इतनी ही कि जडवाद एक मण्डनात्मक पद्धति है और अनीश्वरवाद खण्डनात्मक। जड़वाद की बुद्धिसंमत विचारधारा को समझ लेने के बाद ईश्वर नाम की अतिरिक्त वस्तु को जानने के लिए कोई उत्कण्ठा ही नही रह जाती है।

कार्य-कारण-भाव से सृष्टि का संचालन

जैसा कि आस्तिक दर्शनों का अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय में ईश्वर का हाथ है, जडवाद इसको नही मानता है। जडवाद हमे यह बताता है कि सृष्टि के उक्त सारे कार्यव्यापारो मे ईश्वर का कोई हाथ नही है। वे तो स्वभावसिद्ध है और उनका संचालन कार्य-कारण-भाव से होता है।

भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार यह धारणा ही निरर्थक है कि ईश्वर इस जगत् का मूलभूत तत्त्व है। सारे धर्मग्रन्थ इस मतव्य को एकमत से स्वीकार करते है कि ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। वह अनन्त है, सर्वज्ञ है, चिन्मय है और नित्य है। इन सारी दृष्ट-अदृष्ट वस्तुओ का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व पर निर्भर है। ईश्वर के उक्त विशेषणों में यदि 'चिन्मय' (ज्ञानमय) विशेषण ही हटा दिया जाय तो आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद का कुछ अशो मे समझौता हो सकता है। ऐसा मानने से फिर जड और जगत् मे कोई अन्तर नही रह जाता।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उनका खण्डन

धर्मग्रन्थो और आस्तिक दर्शनो मे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के सबध मे अनेक प्रकार के तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये गये है। उन तर्कों और प्रमाणों के खण्डनार्थ अनीश्वरवादी विचारको ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की है उनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :

(१) कुछ तत्त्ववेत्ता ऐसे हुए है, जिनका कथन है कि इस जगत् की रचना जिस अत्यन्त बुद्धिमन्त शक्ति के द्वारा हुई है वही ईश्वर है। यदि वह ईश्वर न होता तो सृष्टि की जिस व्यवस्था को हम देख रहे है वह न दिखायी देती।

इस सिद्धान्त के उत्तर मे अनीश्वरवादी विचारकों का कहना है कि सृष्टि की समस्त प्रक्रिया के लिए बुद्धि की आवश्यकता है ही नही। उदाहरण के लिए जीवपिण्डो के भीतर न जाने कितने ऐसे व्यापार है, जो व्यवस्थित रूप से स्वयं ही चालित होते रहते है। उनको संचालित करने के लिए बुद्धि की कोई अपेक्षा नही है। यह जो व्यवस्था और नियमबद्धता दिखायी दे रही है वह स्वाभाविक

एवं प्रकृत है; किसी के द्वारा नही की गयी है ।

(२) कुछ तत्त्ववेत्ताम्रो ने ईश्वर के अस्तित्व के संबंध मे प्रमाण प्रस्तुत किया है कि यह जो विश्व के अणु-अणु मे गति दिखायी दे रही है उसको सबसे पहले जिसने संचालित किया वही ईश्वर है ।

इसके विरोध मे अनीश्वरवादियो का कहना है कि प्रत्येक वस्तु मे जो गति दिखायी दे रही है उसका कारण दूसरी वस्तु है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु मे गति पैदा करने की शक्ति प्रकृत या सनातन रूप मे विद्यमान है । अत: जगत् के लिए किसी संचालक तथा प्रेरक की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

(३) ईश्वरवादी विचारको का एक मन्तव्य यह भी है कि इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई हेतु अवश्य है । वह हेतु ईश्वर है । जगत् के इस संपूर्ण कार्य-व्यापार के मूल मे वही हेतु (ईश्वर) निहित है ।

किन्तु भौतिकवादियो की दृष्टि मे यह हेतु अन्त करण क एक धर्मविशेष है । हेतु का आशय है उद्देश्य या इच्छा । यदि ईश्वर की इच्छा है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह भी अपूर्ण है, अतएव अनीश्वरवाद का सिद्धान्त उचित है । क्योकि हमे यह मानना पड़ेगा कि जिस वस्तु के लिए ईश्वर की इच्छा है वह उसके पास या अधीन नही है । इस दृष्टि मे ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नही किया जा सकता है ।

(४) चौथा ईश्वरवादी मत है कि प्रत्येक ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता के अधीन है । "सारे जीव जिस समय विश्व का अनुभव नही करते उस समय जो विश्व का अनुभव करता है और जिसके अनुभव पर विश्व की स्थिति निर्भर रहती है, वही पुरुषोत्तम या परमेश्वर है ।"

इस संबंध मे अनीश्वरवादियो का कहना है कि ज्ञान तो वस्तु पर आश्रित है । वह वस्तु, सत्य है, जिसको कोई नही जानता, किन्तु वह फिर भी बनी रहती है । प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व दूसरे की जानकारी पर अवलंबित है । ऐसा कहने का यह निष्कर्ष निकलता है कि वह वस्तु सत्य नही, बल्कि केवल भासमात्र तथा काल्पनिक है । यह एक सर्वसंगत सिद्धान्त है कि किसी भी सत्य वस्तु के अस्तित्व के लिए जानकारी (ज्ञातृत्व) की आवश्यकता नही है । उदाहरण के लिए अग्नि के प्रमाणभूत धुंआ के न रहने पर यह नही देखा गया है कि अग्नि का अस्तित्व ही समाप्त हो गया । इसलिए ज्ञान का कारण वस्तु है; वस्तु का कारण ज्ञान नहीं ।

(५) इसी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ईश्वरसमर्थक विचारको की ओर से अनेक तर्क उपस्थित किये गये है । उदाहरण के लिए इस

जगत् मे अनादि काल से जो सर्वोपरि सत्ता, जो प्रमादरहित न्यायकर्ता है वही ईश्वर है। उसके बिना क्षुद्र-से-क्षुद्रतम और महान्-से-महतम कोई भी कार्य संपन्न नही हो सकता। ज्ञान, इच्छा और भावना से संपन्न आत्मा ही ईश्वर है।

इसके खण्डन मे भौतिकवादी विचारको का कहना है कि यदि ज्ञान, इच्छा और भावना से सपन्न आत्मा ही ईश्वर है तो हमे यह सिद्ध करना पडेगा कि आत्मा शरीर से कोई ऐसी भिन्न वस्तु है, जो स्वतंत्र, विराट् और अनन्त है। तभी हम कह सकते है कि विश्व के मूल मे परमात्मा का अस्तित्व विद्यमान है। साख्य मे जीवात्मा को तो माना गया है, किन्तु परमात्मा को नही। फिर भी साख्य का जीवात्मा कुछ दूसरा ही मार्ग बताता है।

यदि स्वतत्र रूप से विश्लेषण करने वाले जिज्ञासु को यह विश्वास हो जाय कि देह के भीतर ज्ञाता आत्मा की कल्पना सर्वथा मिथ्या है तो परमात्मा की कल्पना भी स्वयमेव मिथ्या जान पड़ेगी। इस देह मे आत्मा नाम की किसी स्वतंत्र वस्तु को प्रमाणित करने के लिए न तो कोई अनुभव ही अब तक विश्वसनीय सिद्ध हो सके है और न कोई तर्कपूर्ण प्रमाण की आशा की जा सकती है।

अत आत्मा तथा परमात्मा नाम की कोई वस्तु नही है। इसी प्रकार ईश्वर या किसी अदृष्ट शक्ति को स्वीकार करना ख-पुष्प की भांति निरर्थक है।

ईश्वर मोक्ष का प्रदाता नहीं है ?

ईश्वरवादी विचारकों ने ईश्वर मे जिन ज्ञान, इच्छा और भावनाओं का उल्लेख किया है, जड़वादियों की दृष्टि से वे अनित्य है। वहाँ उनको विषय कहा गया है। इन विषयों से आबद्ध ईश्वर, मनुष्य की आत्मा की भांति विषय से बँधा हुआ है। यदि ईश्वर भी विषयों से बँधा हुआ है तो यह कैसे संभव हो सकता है कि वह मोक्ष का प्रदाता या कारण है। जो स्वयं बँधा हुआ है वह दूसरे को किसी प्रकार मुक्त कर सकता है ?

इसलिए, आदर्श चरित्र और समस्त मानवता को सुमार्ग पर ले जाने वाले कणाद, कपिल, चर्वाक, बुद्ध और महावीर आदि तत्त्वज्ञ न तो ईश्वर की खोज मे व्यर्थ भरमे और न उन्होने मोक्ष के लिए ईश्वर की अपेक्षा समझी। उन्होंने शुद्ध आचरण और पवित्र कर्तव्यो पर बल दिया और जन-साधारण के बीच रहकर अपने अनुभवो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर और मोक्ष, मनुष्य के व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए बाधक है। अतः उनके पीछे जाना व्यर्थ है।

•

जैन दर्शन

★ ★ ★ ★

उद्भव

जैन दर्शन को समझने से पूर्व जैन धर्म की ऐतिहासिक परम्परा को समझना आवश्यक है। उसके बिना जैन दर्शन के तात्त्विक पक्ष को नही समझा जा सकता है। इतिहास-ग्रन्थो के अनुशीलन से विदित होता है कि जैनो और बौद्धो की वास्तविक स्थिति दर्शन के विवेचन भी दृष्टि से न होकर धर्म की अपूर्व प्रतिष्ठा के कारण है। इन दोनो धर्म-सम्प्रदायो मे यद्यपि आगे चलकर दार्शनिक पक्ष पर भी स्वतत्र रूप से विचार हुआ, फिर भी उनका मुख्य उद्देश्य एक स्वतंत्र धर्म की प्रतिष्ठा करना था।

ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी पूर्व वैदिक धर्म के विरोध मे एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, जिसके नेता थे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। इस क्रान्ति का मूल उद्देश्य धार्मिक विरोध था, किन्तु आगे चलकर उसके लक्षण साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रकट हुए। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन-बौद्धो की साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण महानतम कृतियो के निर्माण से भारतीय वाङ्मय की एक अधूरी दिशा प्रकाश मे आयी। भारतीय षड् दर्शनो के क्षेत्र मे जो अभ्युन्नति हुई वह इसी क्रांति का परिणाम था। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध, इन दोनो धर्मों का भारतीय इतिहास मे विशिष्ट स्थान है।

जैन धर्म के दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वह आस्तिक और नास्तिक दर्शनो के बीच की एक कडी है। इस सत्य को जैन दर्शन से आस्तिक दर्शनो और नास्तिक दर्शनो की तुलना के प्रसंग मे, यथास्थान स्पष्ट किया जायगा।

भारतीय विचारधारा हमें, आदि काल से ही, दो रूपो मे विभक्त हुई मिलती है। पहली विचारधारा परम्परामूलक, ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य के बृहत् स्वरूप मे प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमणप्रधान रही है, जिसमे आचरण को प्रमुखता दी गयी। ये दोनो विचारधारायें एक-दूसरी की प्रपूरक भी रही और विरोधी भी। इस राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने मे उन दोनो का समानत. महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा का जन्म पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे और दूसरी श्रमणप्रधान विचारधारा का उद्भव आसाम, बगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के व्यापक अंचल मे हुआ। श्रमणप्रधान विचारधारा के जनक थे जैन।

जैन धर्म के प्रमुख दो सम्प्रदाय

श्वेताम्बर और दिगम्बर

भगवान् तथागत के निर्वाण के बाद जैसे बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे अनेक मतमतान्तर और सम्प्रदायजन्य मतभेदों का प्रत्यक्ष रूप मे प्रकट होना आरभ हो गया था वैसे ही महावीर स्वामी के बाद जैन धर्म के क्षेत्र मे भी सैद्धान्तिक मतभेदो के कारण प्रमुख दो दल बन गये थे। जैन धर्म के इस दलगत विभेद का इतिहास बडा रोचक है।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, 'स्थविरावली' मे जिन्हे 'गण' कहा गया है। उनके मुखिया को 'गणधर' कहा गया है। इस प्रकार के नौ 'गणधर' थे, जिनके नाम थे . इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। इनके अतिरिक्त गोशाल और जमालि भी महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्यों मे-से थे। महावीर स्वामी की यह शिष्य-परम्परा ३१७ ई० पूर्व तक अटूट रूप मे बनी रही।

महवोर स्वामी की शिष्य-परम्परा मे जिन शिष्यों ने 'संघ' का कार्य सुचारु रूप से संचालित किया और अपने अच्छे कार्यों के कारण लोकप्रियता को अर्जित किया उनमे आर्य भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ३१७ ई० पूर्व मे संघ के संचालन का कार्य उन्होंने अपने हाथो मे लिया। संघ की स्थिति को दृढ़ करने के उपरान्त सात वर्ष बाद ३१० ई० पूर्व मे आचार्य भद्रबाहु सघ के संचालन का भावी कार्य अपने योग्य शिष्य स्थूलभद्र के ऊपर निर्भर कर स्वयं दक्षिण की ओर भ्रमण के लिए चले गये। किन्तु आचार्य भद्रबाहु के यात्रा-प्रवास के समय

स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन साधुओं की एक बृहत् सभा का आयोजन किया और उसमें जैनों के अंगग्रन्थों का नये सिरे से संग्रह करने के लिए योजनाएँ पारित की गयी।

कुछ दिन बाद आचार्य भद्रबाहु जब अपनी दक्षिण यात्रा से वापिस आये तो उनके समक्ष पाटलिपुत्र की उक्त विज्ञसभा द्वारा पारित प्रस्तावों को स्वीकृति के लिए रखा गया। आचार्य भद्रबाहु ने उन पर स्वीकृति देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में एक नयी बात और हुई। स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना आरंभ कर दिया था। भद्रबाहु को यह बात भी उचित प्रतीत न हुई। फलत. यह विवाद उग्र रूप धारण करने लगा। अन्तत आचार्य भद्रबाहु अपने विश्वासी कुछ शिष्यों को साथ लेकर अन्यत्र चले गये और वे अपने पुराने आचरण पर ही दृढ रहे।

इस प्रकार जैन साधुओं के बीच दो दल हो गये: एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। जैनियों के इन दो सप्रदायों का आरंभ ३०० ई० पूर्व में हो चुका था। इन दोनों संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्य भद्रबाहु का परलोकवास २९७ ई० पूर्व में हुआ और स्थूलभद्र का २५२ ई० पूर्व में।

किन्तु उक्त दोनों प्रवर्तक आचार्यो का परलोकवास होने के अनन्तर भी जैन मुनि-समाज में ३०० ई० पूर्व में रहन-सहन और सैद्धान्तिक मतभेद के कारण जो दो दल बन गये थे, आगे चलकर उनमें समझौता होने की अपेक्षा उग्र मतभेद बढ़ता ही गया।

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म का उदय भी यद्यपि एक ही महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था, किन्तु कुछ समय बाद ही वह इतनी शाखाओं में विभाजित हो गया, जिनके कारण अपने मूल उद्देश्यों को अधिक लोकप्रिय बनाने की अपेक्षा उनका विकास ही अवरुद्ध हो गया। ऊपर से देखने पर यही कहा जा सकता है कि अनेक शाखा-संप्रदायों में विभाजित होकर जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों ने अपनी-अपनी उन्नति की, कुछ अशों में, विशेषत. साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में, इनमें अच्छी परम्परा स्थापित हुई, किन्तु बारीक अध्ययन करने से यह स्पष्ट एव मन्य है कि इन शाखा-सप्रदायों के कारण दोनों धर्मों की गति क्षीण होती गयी। आज बौद्ध धर्म तो भारत में रहा ही नही, किन्तु जैन धर्म के वर्तमान पोषकों में भी वह निष्ठा एवं वैसा उत्साह शिथिल दिखायी देता है।

धर्मसंघ

जैन धर्म की जिन शाखा-उपशाखाओं का निर्देश ऊपर किया जा चुका

है उन सब की नामावली प्रस्तुत करना और उन सब के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालना यहाँ संभव नही है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे, विचारो के क्षेत्र मे और आचरण के क्षेत्र मे अब तक जो स्थिति रही है उनके परिचायक मूलसंघ, काष्ठासंघ, तेरापंथ, यापनीय संघ, गौडसंघ, मयूरसंघ, नन्दिसंघ, निर्ग्रन्थसंघ, कूर्चकसंघ, वीरसेणाचार्यसंघ, पुन्नाटसंघ, किन्नरसंघ, बलात्कारसंघ, सेनान्वय, तापगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वागडगच्छ और लाटबागडगच्छ आदि जैन धर्म की ऐसी शाखायें है, जिनके कारण जैन धर्म बहुमुखी धर्म के रूप मे किसी समय भारत की इस भूमि पर अपनी उच्च प्रगति पर रहा; किन्तु जिनमे अधिकांश विचारधारायें कच्ची आधाभूमि पर टिकी होने के कारण थोडे ही समय मे अपने अस्तित्व को गँवा बैठी।

संक्षेप मे जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर, इन दो प्रमुख विचारधाराओं और उनके अन्तर्गत की अनेक विचारधाराओ का यही इतिहास है।

जैन और बौद्ध दर्शन की एकता

परम्परा से प्रवर्तित वैदिक धर्म की महानताओ को जब पुरोहित कहे जाने वाले वर्ग ने सीमित, संकीर्ण एवं स्वार्थसाधन का माध्यम बना लिया था तब उसके विरुद्ध जिन प्रगतिशील लोगो ने आवाज लगायी वे ही जैन और बौद्ध कहे गये। इस दृष्टि से जैन-बौद्धो के धार्मिक दृष्टिकोण प्राय एक ही रहे है, किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे भी उनके सिद्धान्त कुछ समझौता एव समानता का उद्देश्य लेकर विकसित हुए। उन्ही का प्रतिपादन करना यहाँ अभीष्ट है।

कर्मफलवाद और पुरोहितवाद के प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों का जो विरोध उपनिषदो मे प्रकट हुआ था उसका प्रभाव ई० पूर्व छठी शताब्दी मे एक आलोचनात्मक भावना के रूप मे प्रकट हुआ। भारत मे यह युग बौद्धिक संघर्ष का युग था। वेदो और उपनिषदो की विचारधारा एक रूप मे नही रही। उनके भीतर से एक व्यक्ति या संप्रदाय की नही, अपितु एक बृहद् जन-मानस की चिन्ताधाराएँ समन्वित थी। ये चिन्ताधाराएँ कभी-कभी विरोधी भी रही। इन धाराओ मे तत्कालीन विचारको को जो अधिक रुचिकर प्रतीति हुई उसने उन्ही को लेकर अपने सिद्धान्तो का स्वतन्त्र विकास किया। इसी कारण जैन, बौद्ध तथा अन्य दर्शन संप्रदायो का जन्म हुआ। लेकिन एक ही स्रोत से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मो की, ब्राह्मण धर्म के साथ समानता बनी रही, और इन सभी धर्मो पर इस देश की रुचियो का भी प्रभाव पडता रहा।

यद्यपि उपनिषद् एक प्रकार से वेदविहित सिद्धान्तो के समर्थक रहे है, किन्तु

ब्राह्मणग्रन्थों की भोगवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी, या दूसरे शब्दों मे वेदोक्त धर्म के आलोचनाप्रधान, ग्रन्थ होने के कारण जैन-बौद्ध दर्शनो के वे अधिक निकट है, किन्तु वे वेदनिन्दक या वेद-अविश्वासी न होकर उनके प्रबल पक्षपाती है। वस्तुतः देखा जाय तो जैन-बौद्धो ने जिस आलोचना-पद्धति को अपनाया और नास्तिकवाद की श्रेणी मे अपने को प्रतिष्ठित किया उसके मूल हेतु आचार्य चार्वाक और आचार्य बृहस्पति के विचार थे।

किन्तु जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अधिष्ठाता महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने जिस नास्तिकवाद को अपनाया वह बृहस्पति तथा चार्वाक के सिद्धान्तो से प्रसूत एव उनका अविकल रूप न होकर उनका संस्कृत, परिष्कृत रूप था। बृहस्पति तथा चार्वाक के अहिंसावादी दृष्टिकोण को तो इन दोनो महापुरुषो ने ग्रहण किया, किन्तु उनमे जो भोगवादी पक्ष की प्रधानता थी उसको उन्होंने छोड दिया, बल्कि यह कहा जाय कि अन्त तक जैन और बौद्धो की विचारधाराये बृहस्पति एव चार्वाक के भोगवाद के सर्वथा विरुद्ध रही, तो अनुचित न होगा।

'गीता' ऐसा पहला ग्रन्थ है, जिसमे ज्ञानेच्छु आस्तिको के विचारो का समर्थन और भौतिकवादी नास्तिको के विचारो की विरोधी भावनाओं पर मौलिक तथा गंभीर ढग से विचार किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'गीता' मे एक नयी बात कही गयी है कर्मकाण्ड एव पुरोहितवाद के विरुद्ध। वैदिक यज्ञो की उपयोगिता के सबध मे यद्यपि गीताकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य नही प्रकट किया है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों की मान्यता का उसमे समर्थन नही किया गया है। 'गीता' के इस अस्पष्ट मतव्य की व्याख्या जैनो और बौद्धो ने की। जैन और बौद्ध दर्शनो की इस सम्बन्ध मे कुछ मौलिक मान्यतायें भी है। जैन दर्शन मे जहाँ आस्तिक दर्शनो के व्यावहारिक पक्ष का ही खण्डन किया गया है, बौद्ध दर्शन मे वहाँ आस्तिको के व्यावहारिक और तात्त्विक, दोनो मान्यताओ का सयुक्ति-युक्त खण्डन किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनो दर्शनो को नास्तिक श्रेणी मे रखा गया है, यद्यपि दोनो दर्शनो ने कही भी अपने को नास्तिक नही कहा है। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति और चार्वाक प्रभृति आचार्यों ने अपने सैद्धान्तिक विचारो की पुष्टि के लिए जिन युक्तियो को प्रस्तुत किया है, ठीक उन्ही का, उसी रूप मे समर्थन हम जैन बौद्ध दर्शनो मे नही पाते है। जैन और बौद्ध दर्शनो के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक का विरोधी, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य से विमुख है। परलोक,

धर्माचरण और कर्तव्यों के सम्बन्ध मे जो मान्यतायें आस्तिक दर्शनों में दृष्ट हैं, जैन और बौद्ध, दोनो दर्शनों मे उन्हीं का प्रतिपादन हुआ है।

जैन और बौद्ध दर्शनो का नास्तिक श्रेणी मे परिगणित होने का एकमात्र कारण उनका वेदनिन्दक होना है, क्योंकि 'मनुस्मृति' मे स्पष्ट कहा गया है कि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'**। आस्तिक दर्शन वेदवाक्यो को अन्तिम प्रमाण मानते हैं और जैन बौद्ध वेदो की सत्ता को बृहस्पति तथा चार्वाक के मतानुसार कल्पित मानते हैं। इसी लिए उनको नास्तिक कहा गया है। इसके साथ ही वे आस्तिकवादी विचारों के उतने ही विरोधी हैं, जितने जड़वाद के। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध दर्शन-सम्प्रदाय आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओ के बीच के दर्शन है। जैन दर्शन मे तो ब्राह्मण दर्शन की बहुत-सी बातो को उसी रूप मे स्वीकार किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनो दर्शन एक स्थिर चैतन्य की सत्ता पर विश्वास करते है। दोनो ही अहिंसा पर बल देते हैं और दोनो ही वेद की प्रामाणिकता पर अविश्वास करते है। व्यवहार और नीति की दृष्टि मे जैन दर्शन मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है। जैन योग से उपनिषदो के योग और बौद्धो के योग को पर्याप्त समानता है। जैन दर्शन मे शून्यागारो मे ध्यान करने का विधान, हिंसा, असत्य और चोरी आदि से विरति, सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य पर निष्ठा, कर्मो का विभाजन और कर्मपथ पर चलकर मोक्ष की परमावस्था को प्राप्त करना आदि बातें बौद्ध दर्शन से समानता रखती है। बौद्धो के मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा संबंधी विचारो को जैन दर्शन मे भी स्वीकार किया गया है।

जैन और बौद्ध दर्शनो की इस विचार-समानता को लक्ष्य करके डॉ० हरदयाल ने विस्तार से, प्रमाणो को प्रस्तुत करके, बौद्ध धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन की रूपरेखा

जैन दर्शन का सामान्य अभिमत है कि संसार की समस्त वस्तुओ मे स्थिरता और विनाश, इन दोनो का आवास रहता है। कोई भी वस्तु न तो सर्वथा नित्य कही जा सकती है और न सर्वथा अनित्य ही। सभी मे नित्य और अनित्य दोनो की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन मे परमाणुओ के संघात से ही ससार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस परमाणुपुंज को ही वहाँ 'स्कन्ध' कहा गया है। ये परमाणु अनादि, अनन्त, नित्य और अमूर्त है।

ये पृथ्वी, तेज, जल आदि उन्ही परमाणुओ के रूपान्तर हैं। मुमुक्षु जीव इन्ही परमाणुओं को अपने जीवन मे प्रत्यक्ष करके देखता है।

इस दृष्टि से जैन दर्शन परमाणुवादी तथा जीववादी दर्शन सिद्ध होता है। ईश्वर के कर्तृत्ववाद के सम्बन्ध मे जैनो और बौद्धों का लगभग मतैक्य है।

जैन दर्शन के अनुसार संयम (संवर) का अभ्यास करते-करते जीव जब कर्म-परमाणुओ से मुक्ति पा जाता है तब वह 'निर्जरा' की अवस्था मे पहुँचता है। इस संयमसाध्य निर्जरा को प्राप्तकर ही जीव मुक्तिलाभ कर सकता है और उस अवस्था को प्राप्तकर वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शांति को अर्जित कर लेता है।

एक श्लोक मे जैन दर्शन के सार को निहित करके कहा गया है कि 'बंघन का हेतु तृष्णा (आस्रव) है। उसके निरोध (संवर) से मोक्ष की उपलब्धि होती है। आर्हत दर्शन का यही सार है। इसी को अन्य दर्शनो मे विस्तार (प्रपंचन) से कहा गया है.'

आस्रवो वन्धहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीय आर्हती मुष्टिः अन्यद् अस्याः प्रपंचनम् ॥

जैनियो के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पाँच श्रेणियाँ हैं : मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मन, इन्द्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क से मतिज्ञान, शब्द एवं सकेतो से श्रुतिज्ञान, त्रिकालजन्य वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण अवधिज्ञान, दूसरों के मन का ज्ञान मन पर्ययज्ञान, और जीवमुक्त का ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।

न्याय, मीमासा, वैशेषिक और साख्य की भाँति जैन दर्शन भी जीववादी दर्शन है, किन्तु उसका यह जीववाद अन्य दर्शनो की अपेक्षा कुछ भिन्न है। वह बौद्ध दर्शन की भाँति अनीश्वरवादी तथा अहिंसावादी है, किन्तु उपनिषदो की पुनर्जन्म भावना का समर्थक भी है।

अनीश्वरवाद और स्याद्वाद के सम्बन्ध मे जैन दर्शन की मान्यतायें बडी ही मौलिक हैं। जैन दर्शन मे ईश्वर को जगत् का कर्ता नही माना गया है। उसमे ईश्वर की सर्वव्यापक, स्वतत्र और नित्य सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया गया है। जैनो की दृष्टि मे सृष्टि का निर्माण प्राकृतिक तत्त्वो के निश्चित नियमो के अनुसार होता है। इस सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण एवं मान्यतायें बड़ी ही वैज्ञानिक एवं विचारपूर्ण है।

जैनो का स्याद्वाद दृष्टिकोण अत्यन्त ही उदार है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद को

कहते है, जिसके अनुसार एक ही वस्तु मे नित्य और अनित्य, दोनों प्रकार के धर्म विद्यमान रहते हैं । स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मक है । स्याद्वाद का स्वरूप, जैन दर्शन मे वर्णित 'सप्तभंगी' वाक्यो के अध्ययन के बाद समझा जा सकता है । संक्षेप मे कहना चाहिए कि एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणो से देखने के सिद्धान्त को 'स्याद्वाद' कहा जाता है । उदाहरणार्थ एक ही पदार्थ घटस्वरूप से सत् है और पटस्वरूप से असत् है । इसी दृष्टि से ससार की सभी वस्तुएँ सदसदात्मक है ।

जैनी लोग जीव की अनंत सत्ता मे विश्वास करते हैं । जल, वायु, इन्द्रिय, खनिज आदि पदार्थ और सभी धातुओ को वे जीववंत मानते है । उनके मतानुसार कुछ जीव पृथ्वीकाय, कुछ अप:कार्य, कुछ वायुकाय और कुछ वनस्पतिकाय है । इन समस्त जीवो की दो श्रेणियाँ है . बद्ध और मुक्त । बद्ध जीवो मे भी कुछ सिद्ध होते है और कुछ असिद्ध । सिद्ध जीव ही जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ है ।

जैन दर्शन के अनुसार कुछ वस्तुये, जो चेतन्य नही है और जिनका अन्तर्भाव 'जीव' मे नही हो सकता है, अजीव, अथ च जड है । इन जड वस्तुओ की भी पाँच श्रेणियाँ है, जिनके नाम है · काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल । काल के अतिरिक्त शेष चतुर्विध जड पदार्थ ही 'अस्तिकाय' कहलाते है । काल 'सत्' होने पर भी अस्तिकाय इसलिए नही है, क्योकि वह निरवयव है । उत्पत्ति, क्रम और स्थिर स्वभाव वाले पदार्थ ही 'सत्' है ।

जैन दर्शन की उक्त रूपरेखा का अध्ययन करने के बाद हमे यह विदित होता है कि उसके प्रमुख सिद्धान्त क्या है । किन सिद्धान्तो को लेकर जैनियो ने अपने दर्शन को स्वतत्र प्रतिष्ठा की । उन प्रमुख सिद्धान्तो मे से कुछ की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की जायगी, जिनके अध्ययन से जैन दर्शन के अध्ययन की उपयोगिता के साथ-साथ उसके स्वतंत्र निर्माण के उद्देश्यो का भी स्पष्टीकरण हो जाता है ।

जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष

आस्तिक दर्शनो के सिद्धान्तो की भाँति जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है । वहाँ इस मोक्षप्राप्ति को त्याग और संन्यास के बिना दुर्लभ बताया गया है । 'तत्त्वार्थसूत्र' मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र ही मोक्षसाधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताये गये है (**सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:**) ।

दान, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और त्याग, जैन धर्म के व्यावहारिक उद्देश्य है । कर्मों का नाश करने पर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है । कर्मों की वहाँ कई

श्रेणियाँ गिनायी गयी है, जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय। ये चतुर्विध कर्म ही जैन दर्शन मे 'घातीय कर्म' कहे गये हैं।

जैन धर्म की लोकप्रिय आचारपद्धति इन्ही घातीय कर्मों पर आधारित है। प्रत्येक 'जिन' के लिए उनको जीवन मे चरितार्थ करना परम आवश्यक बताया गया है।

जैन दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

श्रमण सस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है, बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन। 'भागवत' मे वर्णित जैन धर्म संबंधी विवरणो का अनुशीलन करने पर विद्वानो ने जैनियो के इस मन्तव्य का समर्थन किया है कि जैन धर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद मे हुआ। मोहनजोदारो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियो की मूर्तियो की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग मे व्रात्यो और श्रमण ज्ञानियो की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास मे जैन धर्म का विशेष योग रहा है।

जैन धर्म के जन्मदाता तीर्थंकर

जैन विद्वानो ने 'जैन' शब्द का विशेष अर्थ बताया है। उनके कथनानुसार 'जिन्होने काम, क्रोध आदि अठारह प्रकार के दोषो को जीत लिया है, जिन्होने ज्ञान तथा दर्शन को ढक देने वाले और पापो को उभारने वाले दुर्भावो या कर्म-शत्रुओ को जीत लिया है उन्हे 'जिन' कहा जाता है। जो उन पवित्र 'जिनो' के इच्छुक (उपासक) हैं उन्हे ही 'जैन' कहा गया (**रागद्वेषादि दोषान् वा कर्मशत्रुञ्जयतीति जिनः, तस्यानुयायिनो जैनाः**)।

तीर्थंकर

इस प्रकार के 'जिन' अब तक २४ हो चुके है। जैन धर्म के जन्मदाता इन्ही महात्माओ को 'तीर्थंकर' कहा जाता है। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करने वाले वीतराग तथा तत्त्वज्ञानी मुनिजन ही 'तीर्थंकर' कहलाये (**तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तं न तत्तीर्थमिति**)। उनमे सब से पहले ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी थे। २४ तीर्थंकरो के नाम इस प्रकार है:

१ आदिनाथ (ऋषभदेव), २ अजितनाथ, ३ सभवनाथ, ४ अभिनन्दन, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधिनाथ, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयासनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनंतनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शातिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरनाथ, १९ मल्लिनाथ,

(मल्लीदेवी), २० मुनि सुव्रत, २१ नमिनाथ, २२ नेमिनाथ, २३ पार्श्वनाथ और २४ वर्धमान महावीर।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, 'गोपथ ब्राह्मण' और 'भागवत' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थो मे जैनो के आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव की चर्चायें देखने को मिलती है, जिनसे उनकी प्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महनीयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में निर्दिष्ट भगवान् अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष थे।

महाभारतकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयासनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है। इन चौबीस तीर्थंकरो मे अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे है, जिनकी प्रामाणिक ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है। शेष तीर्थकर महात्माओ के संबध मे जैन पुराणो के अनुवंश्य प्रसगो मे जो चर्चायें देखने को मिलती है, ब्राह्मण पुराणो की ही भाँति उनकी अतिरंजित बाते पर्याप्त भ्रमोत्पादक, अतएव विश्वासयोग्य नही जान पडती है। किन्तु उनके पुनीत एव प्राचीन व्यक्तित्व के सबध मे किसी प्रकार का संदेह नही किया जा सकता है।

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ बडे ही प्रतिभाशाली महापुरुष हुए। उनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व (८०० ई० पूर्व) वाराणसी के एक राज परिवार मे हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमश वामा और आश्वपति था। तीस वर्ष की युवावस्था मे ही ये राज-पाट त्यागकर वनवासी हुए और अथक, घोर तपस्या के ८३वे दिन बाद इन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। लगभग ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करने के उपरात पार्श्वनाथ नामक पर्वत पर शरीर त्यागकर उन्होने मोक्ष प्राप्त किया। इन्ही तीर्थकर द्वारा श्रमण-संप्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। अद्भुत इन्द्रिय निग्रही और जगद्विजयी होने के कारण भगवान् पार्श्वनाथ 'जिन' के नाम से लोक में विश्रुत हुए और तभी से उनके अनुयायीजन जैन कहलाने लगे।

महावीर स्वामी

महावीर स्वामी की जीवनी, जैन धर्म के अनेक पुराणो मे मिलती है। 'महावीर पुराण' उन्ही पर लिखा गया है। तदनुसार उनकी जीवनी इस प्रकार है।

तीर्थकर महावीर स्वामी के माता-पिता का नाम क्रमश त्रिशलादेवी और सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ एक पराक्रमी क्षत्रिय राजा हुए, जो महाज्ञानी, जैन धर्म के परम भक्त और बडे दानी थे। हरिवंश या नाथवश मे उनका जन्म हुआ।

त्रिशलादेवी उनकी पटरानी का नाम था। वह वृज्जिगणराज्य के सभापति एवं लिच्छवीवंशीय क्षत्रिय राजा चेटक की पुत्री थीं। महारानी त्रिशला अत्यन्त गुणवती, रूपवती, जैन धर्म की भक्त और पतिव्रता स्त्री थी। त्रिशला का एक नाम प्रियकारिणी भी था। अपने पूर्वजन्म के सचित पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही उनको, महावीर जैसा महान् संत पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

एक पवित्र रात्रि को, जब देवी त्रिशला सो रही थी, उन्होंने स्वप्न मे सोलह शुभ लक्षणों को देखा। ये शुभ लक्षण, भगवान् महावीर के गर्भ मे आने की सूचना थी। आषाढ शुक्ला ६, उत्तराषाढ नक्षत्र मे वे माता त्रिशला के गर्भ मे आये। जब तक वे माता के गर्भ मे रहे तब तक स्वर्ग की अप्सराये आकर माता त्रिशला को नाना प्रकार की मनोरम कथाओ को सुनाकर उनका मन बहलाती रही।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ५३६ वि० पूर्व मे महावीर स्वामी का जन्म हुआ। सुवर्ण के समान शरीर का रंग, दीप्तिमान मुखमण्डल और सुदृढ शरीर महावीर के जन्म लेते ही देवताओ ने उन्हे क्षीरसागर मे स्नान कराया। उनका नाम रखा गया वर्द्धमान।

अपने पूर्व सस्कारों के कारण वर्द्धमान सब शास्त्रो मे पारगत होकर पैदा हुए थे। अतः उनको किसी भी गुरु के पास अध्ययन के लिए न जाना पडा। जब वे आठ वर्ष के हुए तो उन्होने गृहस्थो के बारह व्रतों को ग्रहण किया।

वर्द्धमान जब कुमार थे तभी से उनमे अद्भुत साहस और वीरता दिखायी देने लगी थी। एक समय सौधर्म इन्द्र ने अपनी भरी सभा में कुमार की वीरता की प्रशसा की। इस पर सगम नामक एक देवता को विश्वास न हुआ। वह काले नाग का रूप धारणकर उस पेड पर आकर लिपट गया, जिसमे वर्द्धमान चढे हुए थे। वहाँ अन्य राजकुमार भी खेल रहे थे। उन्होंने सर्प को देखते ही रोना-पीटना शुरू किया। किन्तु कुमार जरा भी न घबराये। वे उस सर्प को पकडकर उसके साथ खेलने लगे। कुमार के इस साहस एवं निर्भीकता को देखकर सर्परूपधारी देवता बडा प्रसन्न हुआ और कुमार की वंदना करके वह स्वर्ग लौट आया।

क्योकि कुमार को मति, श्रुति और अवधि तीनो प्रकार का ज्ञान पूर्वजन्म से ही प्राप्त था। अत मनुष्य जन्म मे आकर ससार के आकर्षणों ने उनके मन को अपनी ओर न खीच पाया। वे जल मे कमल की भाँति संसार से निर्लिप्त रहने लगे। इसी उदासीन एवं विरक्त दशा मे वे ३० वर्षो तक राज्य का भार

सँभाले रहे। विवाह की ओर उनका बिल्कुल भी ध्यान न था। उन्होंने बाल-ब्रह्मचारी रहकर ही पवित्र जीवन बिताया।

एक दिन सहसा उनके मन मे तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। उन्होने सोचा 'मैने इस जगत् मे भील, मारीचराजपुत्र और पशु आदि योनियो मे जन्म लेकर व्यर्थ ही इतने कष्ट झेले। मुझे कही भी आनन्द न मिला। मैने इतने दिन इस जाल मे पड़कर वृथा खो दिये। पाप के समान इस गृहबंधन को मुझे छोड़ देना चाहिए।' ऐसा विचार कर स्वामी जी ने निश्चय किया कि इस गृहवास के कैदखाने को छोडकर तपोवन मे जाना चाहिए।

उनके मन की उदासी बढती ही गयी। कुटुम्बियो के प्रति उनकी ममता कम होने लगी। उन्होंने चिन्तन करना आरंभ किया। गृहत्याग के संबंध मे उन्होने विचार किया 'यदि इस अपवित्र शरीर मे पवित्र गुणो के समूह केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन आदि प्राप्त हो सकते है तो गृहत्याग मे देर करने की आवश्यकता ही क्या है?' देवताओ ने आकर स्वामीजी के इन विचारो का समर्थन किया। भगवान् उसी समय राजपाट, माता-पिता, कुटुम्ब और सर्वस्व को त्यागकर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से वन की ओर चल दिये।

पिता पूर्ण ज्ञानी थे। उन्हे सन्तोष हुआ। किन्तु माता मे मोह था। वे अपनी सखियो के साथ रोती-कलपती अपने पुत्र के पीछे-पीछे चल दी। लोगो ने देवी त्रिशला को समझाया। उन्हे संसार का ज्ञान बताया। तब वे किसी प्रकार आश्वस्त होकर सखियो सहित घर की ओर लौटी।

तदनन्तर भगवान् महावीर ने अपने हाथो अपने समस्त मूछ तथा दाढी के बाल उखाड फेके और मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को बच्चो की तरह नग्न होकर मुनि बन गये।

इधर-उधर आत्मचिंतन मे भटकने के बाद वे उज्जयिनी के श्मशान मे पहुँचे और वही बैठकर तप मे लीन हो गये। उन दिनो उज्जयिनी मे ११वे रुद्रस्थाणु (शिव) विराजमान थे। उनकी स्त्री का नाम पार्वती था। पहले उन्होंने बड़ा तप किया था। तप मे लीन महावीर स्वामी को देखकर उन्होने उनकी परीक्षा लेने की सोची।

रुद्र ने सर्प, बिच्छू, धूल, मिट्टी, पानी, स्त्री, पिशाच आदि अनेको रूप धारणकर महावीर स्वामी को विचलित करना चाहा, किन्तु महावीर उसी प्रकार अडिग बने रहे। उन्होने अपनी आत्मा को जान लिया था और शरीर

को सर्वथा अलग करके उसके कष्टो को जीत लिया था। रुद्र परीक्षा मे हार गये। उन्होंने महावीर से क्षमा याचना की।

उज्जयिनी से वे कौशाम्बो गये। वहाँ उन्होंने वृषभसेन नामक एक धर्मात्मा सेठ के यहाँ आहार किया। उसके बाद वे घूमते-घूमते 'जंभिका' नामक गाँव के बाहर 'ऋजुकूला' नामक नदी के किनारे पहुँचे। वही 'शालमू' वृक्ष के नीचे उपयुक्त स्थान जानकर वे ध्यान मे खो गये। उस वृक्ष के नीचे रहकर स्वामीजी ने 'घातिया' कर्मों को नष्टकर 'केवल ज्ञान' प्राप्त किया।

भगवान् के पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर एक बार इन्द्रादि देवताओ ने उत्सव आयोजित किया और भगवान् को सिहासन पर बैठाया। उनके दर्शनार्थ विदेह देश के इन्द्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति नामक उस समय के दिग्गज विद्वान् वहाँ आये और उनके शिष्य बन गये।

प्रभ के शिष्यो में २८,००० मुनि, ३६,००० अर्जिकाये, १,००,००० श्रावक और ३,००,००० श्राविकाये थी। सब मे मुख्य इन्द्रभूति थे, जिनका नया नाम गौतम स्वामी हुआ, सुधर्मा, वायभूति तथा अग्निभूति आदि ११ गणधर हुए। अर्जिकाओ मे मुख्य सती चदना थी।

जीवो के लाभ के लिए भगवान् दिन-रात मे चार बार उपदेश किया करते थे। उस उपदेश को देव, देवी, मनुष्य, पशु आदि समस्त जीव बैठकर अपनी अपनी भाषाओ मे सुना करते थे। श्रोताओ मे मुख्य श्रोता राजगृह नगर के अधिपति राजा श्रेणिक थे।

निरन्तर ३० वर्ष तक भगवान् ने देश के विभिन्न अंचलो का पैदल भ्रमण कर अपने उपदेशो द्वारा धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशो को बाद मे गौतम स्वामी ने 'आचारांग' आदि बारह वृहद् ग्रंथो मे निबद्ध किया।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रात.काल भगवान् ४६७ वि० पूर्व मे बिहार के पावापुरी वन मे मुक्तिधाम को सिधारे। यह स्थान बिहार स्टेशन से छह मील की दूरी पर है। जैन धर्म का वह पवित्र तीर्थ है। गॉव के बाहर सरोवर के बीच मे एक जैन मंदिर है। उसमे भगवान् की चरणपादुकाये शोभित है। प्रति वर्ष वहाँ भगवान् के निर्वाण दिवस (कार्तिक कृष्णा अमावस्या) को मेला लगता है।

इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु भोगने के बाद ४६७ वि० पूर्व में महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया।

जैन धर्म के मुख्य ग्रन्थ

पहले भी संकेत किया जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण यात्रा पर चले जाने के बाद आचार्य स्थूलभद्र ने पटना मे विद्वानो की एक सभा बुलायी थी। इस पण्डितसभा मे जैनो के अंगग्रंथों का संग्रह और संपादन हुआ। जब आचार्य भद्रबाहु वापिस आये तो उनके सामने पण्डितसभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावो को रखा गया। आचार्य ने उनको मानने मे इन्कार कर दिया। यह बात ३०० ई० पूर्व की है, आज से लगभग २२-२३ सौ वर्ष पहले की।

इस सभा के लगभग साढे सात सौ वर्ष बाद ४५४ ई० को भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नामक स्थान पर आचार्य देवधर्मा की अध्यक्षता मे जैन मुनि-समाज ने दूसरी परिषद् का आयोजन किया। इस परिषद् या सभा मे, ३०० ई० पूर्व की पहली परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावो पर फिर से विचार किया गया। बडे वाद-विवाद के बाद भी जैनो के दोनो दलो मे एकता न हो सकी। किन्तु इस परिषद् के आयोजन का उद्देश्य निरर्थक न हुआ। श्वेताम्बर संप्रदाय से आचार्यो ने इसी परिषद् मे १२ आगम या अंगग्रंथो का सग्रह किया और उनको अतिम रूप म प्रामाणिक माना।

श्वेताम्बर संप्रदाय के बाहर अंग ग्रंथ

भावनगर की सभा मे श्वेताम्बर सप्रदाय के आचार्यो के १२ अगग्रथा या आगमग्रंथो का संकलन किया। वे ही आज भी माने जाने जाते है। उनके नाम है: १ आचारांगसुत्त (आचारागसूत्र), २ सूयगडग (सूत्रकृताग), ३ थाणंक (स्थानाग), ४ समवायाग, ५ भगवतीसूत्र, ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथा), ७ उबासगदसाओ (उपासकदशा), ८. अंतगडदसाओ (अंतकृद्दशा), ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपादिकदशा), १०. पण्हावागरणिआइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुत), और १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। इनमे से कुछ ही ग्रंथ आज मिलते है।

बारह उपाग ग्रंथ

इन १२ अंगग्रंथो के उतने ही उपागग्रंथ भी है, जिनके नाम है: १ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापणा, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति, ६. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७ चद्रप्रज्ञप्ति, ८. निर्यावलिका, ९ कल्पावतंसिका १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूलिका और १२ वृष्णिदशा।

दश प्रकीर्ण ग्रन्थ

श्वेताम्बरो के अंग-उपांग ग्रंथों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त श्वेताम्बरो के प्रकीर्ण ग्रंथ भी है। जैनो के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य मे इनका बड़ा सम्मान है। ये प्रकीर्ण ग्रंथ सख्या मे १० है। उनके नाम है : १. चतु शरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तिपरिज्ञा, ४. सस्तार, ५. तण्डुलवैतालिका, ६. चंद्रवेध्यक, ७ देवेन्द्रस्तव, ८. गणित-विद्या, ९. महाप्रत्याख्यान और १०. वीरस्तव ।

तीन सूत्र

इनके अतिरिक्त छेदमूत्र, मूलमूत्र और चूलिकमूत्र भी उनके प्राचीन ग्रंथ है।

चार वेद

जैनो के चार वेदो के नाम है : १. प्रथमानुयोग, २ चरणानुयोग, ३ करणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग।

चौबीस पुराण

वैदिक धर्म के अठारह पुराण बताये गये है। उसी प्रकार जैन धर्म के भी चौबीस पुराण है। इन चौबीस पुराणों मे चौबीस तीर्थंकर महात्माओं की कथाये है। उन्ही के नाम से इन पुराणो का नामकरण किया गया है। इन चौबीस पुराणो मे प्रसिद्ध पुराणो के नाम है : आदिपुराण, पद्मपुराण, अरिष्टनेमिपुराण (जिसे हरिवंशपुराण भी कहते है) और उत्तरपुराण। इनमे भी आदिपुराण और उत्तरपुराण का विशेष महत्त्व है।

आदिपुराण

इस पुराण मे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर महात्मा ऋषभदेव की कथाये है। महात्मा ऋषभदेवजी के सम्बन्ध मे जैन-परम्परा है कि उनका जन्म सर्वार्द्धसिद्धि योग, उत्तराषाढ नक्षत्र, धन राशि और चैत्रमास की कृष्णाष्टमी को विनीता नामक नगरी मे हुआ था। वे इक्ष्वाकुवंश के थे। उनके पिता का नाम राजा नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। 'भागवत' पुराण मे भी इनके माता-पिता के यही नाम बताये गये है। कहा जाता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव चौरासी लाख वर्ष (चतुर्युगी) तक जीवित रहकर मोक्ष को प्राप्त हुए थे। इस पुराण की रचना आचार्य जिनसेन ने आठवी शताब्दि ई० में की थी।

उत्तर पुराण

यह पुराण 'आदिपुराण' का ही उत्तरार्द्ध भाग है। आचार्य जिनसेन

४४ सर्ग लिखने के बाद ही परलोकवासी हो गये थे। अन्त के तीन सर्गों को जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने लिखा था।

उत्तरपुराण वस्तुतः जैनो के २४ पुराणों की सूची है। उसमे सभी पुराणो का सार सकलित है। इस पुराण मे दूसरे तीर्थकर अजितनाथ जी से लेकर चौबीसवे तीर्थकर महावीर स्वामी तक के सक्षिप्त आख्यान है।

सम्पूर्ण जैन दर्शन और धर्म मे श्वेताम्बरीयों के उक्त ग्रथो का बडा सम्मान किया जाता है। श्वेताम्बरीयों को यह ग्रथसंपत्ति जैन-साहित्य की प्राचीनतम निधि है।

प्रमुख जैन दार्शनिक

आचार्य कुन्दकुन्द

दिगम्बर सप्रदाय की आचार्य परम्परा मे भगवद् भूतवलि, पुष्पदन्त और गुणधराचार्य के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का नाम आता है। वे जैन धर्म के प्राचीन आचार्यो मे थे। मल्लिषेण प्रशस्ति मे जिन पुरातन आचार्यों की नामावली अंकित है उनमे आचार्य कुन्दकुन्द का नाम पहले है। इस दृष्टि से इनका स्थितिकाल विक्रम की पहली शताब्दी ज्ञात होता है। उनके द्वारा रचित मुख्य ग्रंथो मे 'समयसार', 'पञ्चास्तिकाय', 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' का विद्वानों ने उल्लेख किया है। ये सभी ग्रथ प्राकृत मे है। इनके ग्रन्थो के टीकाकार अमृतचन्द्र हुए। इन्होंने अनेक पहाड़ो की भी रचना की थी, जिनमे 'चरित्रपाहुड' भी एक है। इस ग्रथ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक धर्म का वर्णन किया है।

उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति का जैन-साहित्य एवं जैन दर्शन के इतिहास मे वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य मे आचार्य वसुबन्धु का। जैसे पालि त्रिपिटकों और दूसरे प्राचीन ग्रन्थो मे बिखरे हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान को वसुबन्धु ने सँवार-सुधार कर अपने 'अभिधर्मकोश' मे वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया और तदनन्तर स्वयं ही उस पर भाष्य लिखा, ठीक वैसे ही उमास्वाति ने भी प्राकृत भाषा के आगमग्रन्थों मे अस्तव्यस्त तत्त्वज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' नामक ग्रन्थ मे व्यवस्थित करके एक रूप दिया और बाद मे उस पर भाष्य भी लिखा। उमास्वाति पहले विद्वान् हुए, जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक और न्याय आदि आस्तिक दर्शनो की भाँति वैज्ञानिक ढंग मे व्यवस्थित किया।

इन दोनो विद्वानो की एकता के कुछ और भी कारण हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि वसुबन्धु के पहले भी कुछ बौद्धाचार्य पालि का मोह छोडकर संस्कृत की ओर अग्रसर हो चुके थे, तथापि उनमें वसुबन्धु ही पहले विद्वान् थे, जिन्होने संस्कृत भाषा को अपनाकर बौद्धाचार्यों की संस्कृत-विरोधी भावनाओं को दूर किया। ठीक यही स्थिति जैन-साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रकट हुई। उमास्वाति के पूर्व का सपूर्ण जैन-साहित्य अर्ध मागधी प्राकृत मे था। उमास्वाति ने ही सर्व प्रथम यह अनुभव किया कि संस्कृत अन्तरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी है और किसी भी धर्म तथा दर्शन का साहित्य तभी समादरणीय हो सकता है तथा प्रकाश मे आ सकता है, जब कि उसका निर्माण सस्कृत मे हो। उमास्वाति का यह सस्कृतानुराग सभवत ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो, किन्तु कारण जो कुछ भी हो, जैन दर्शन की सस्कृत भाषा मे रचना करने वाला पहला विद्वान् वही था।

उमास्वाति के ग्रन्थ का नाम है 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'। उस पर उन्होंने स्वयं ही पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है। जैन दर्शन के क्षेत्र मे यह ग्रन्थ इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि उसको श्वेताम्बरियो और दिगम्बरियो ने समान रूप मे अपनाया तथा उस पर दोनो सप्रदायो के विद्वानो ने टीकायें लिखी।

ग्रन्थ की पुष्पिका से विदित होता है कि उमास्वाति, मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाकाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति तथा माता का नाम वात्मी था। उनका जन्म न्यग्रोधिका (मगध) मे हुआ और कुछ दिन वे कुसुमपुर मे भी रहे।

उनका स्थितिकाल कुछ विद्वानो ने विक्रम की पहली शताब्दी मे निश्चित किया है, किन्तु आधुनिक खोजो के अनुसार उनको विक्रम की चौथी शताब्दी मे रखा गया है।

स्वामी समन्तभद्र

स्वामी समन्तभद्र का 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ श्रावकाचार का बहुत ही लब्धप्रतिष्ठित ग्रन्थ है। यह ग्रथ 'कार्तिकेयानुपेक्षा', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'पाहुड' और 'षड्खण्डागम' इन चार ग्रन्थो पर आधारित है। किन्तु उसमे मौलिकता भी है। इस ग्रन्थ मे धर्म की परिभाषा, देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, आठ अंगो तथा तीन मूढ़ताओ के लक्षण, मदो के निराकरण का उपदेश, सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लक्षण, अनुयोगो का स्वरूप, संयुक्तिकचरित्र की

आवश्यकता और श्रावक के बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओं का ऐसा विशद् तथा सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो दूसरे ग्रन्थों मे देखने को नही मिलता है।

स्वामी समन्तभद्र, 'पार्श्वनाथ चरित' (समाप्त, १०८२ वि०) के कर्ता वादिराज सूरि से पहले हुए। 'रत्नकरण्ड' के अतिरिक्त उन्होंने 'आप्तमीमासा', 'स्वयंभुस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' प्रभृति ग्रन्थो को रचना की।

वादिराज

इनका वास्तनिक नाम विदित नही है। 'वादिराज' इनको ख्यात या पदवी थी। मल्लिषेणप्रशस्ति मे इन्हे महान् वादी, विजेता और कवि आदि विशेषणों से स्मरण किया गया है। समस्त वैयाकरणों, तार्किकों और भव्यसहायों मे उन्हे अग्रणी तथा धर्मकीर्ति, बृहस्पति, गोतम जैसे प्रख्यात दार्शनिको आदि के समकक्ष माना गया है।

वादिराज, श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसार के शिष्य और 'रूपसिद्धि' (शाकटायन-व्याकरण की टीका) के रचयिता दयापाल मुनि के सहपाठी विद्वान् थे। चालुक्यनरेश सिहचक्रेश्वर जयसिंहदेव (६३८-६४५ ई०) की राज सभा के संमानित विद्वान् होने के कारण उन्हे १०वी शताब्दी मे रखा गया हैं।

उनकी लिखी हुई पाँच कृतियाँ उपलब्ध है. 'पार्श्वनाथचरित', 'यशोधराचरित', 'एकीभावस्तोत्र', 'न्यायविनिश्चयविवरण' और 'प्रमाणनिर्णय'। उनके दो अन्तिम ग्रंथ उनकी दर्शनिक प्रतिभा के उज्ज्वल रत्न हैं।

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति ने श्रावकधर्म पर एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है 'उपासकाचार' (अमितगतिशावकाचार)। इसके १४ परिच्छेदों मे श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ मे समन्तभद्र, उमास्वाति, जिनसेन, सोमदेव, और देवसेन प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के श्रावकधर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तो पर स्वतंत्र रूप से विचार एवं परीक्षण किया गया है।

अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे। जैनाचार्य के अतिरिक्त वृहद् संस्कृत वाङ्मय में उनको विशिष्ट व्यक्ति माना गया है। अमितगति माथुरसंघ के अनुयायी थे। उनकी गुरु-परम्परा मे वीरसेन, देवसेन, अमितगति (प्रथम), नेमिषेण, माधवसेन, अमितगति और शिष्य-परम्परा मे शातिषेण, अमरषेण, श्रीषेण, चन्दकीर्ति, अमरकीर्ति आदि महानुभाव विद्वानो का नाम लिया जाता है।

अमितगति, मालव के परमारवंशीय धारानरेश मुज और सिन्धुल के समकालीन थे। मुज का अपर नाम वाक्पतिराज था, जो स्वयं भी विद्वान् और विद्वानो का अतिशय प्रेमी था। अमितगति का स्थितिकाल ११वी शताब्दी वि० के पूर्वार्द्ध मे निर्धारित ।

अमितगति की रचनाओ के नाम हैं : 'सुभाषितरत्नसन्दोह', 'धर्मपरीक्षा', 'पंचसंग्रह', 'उपासकाचार', 'आराधना', 'सामयिकपाठ', 'भावनाद्वात्रिंशतिका' और 'योगसारप्राभृत'। हस्तलिखित ग्रन्थो के सूचीपत्रो में उनके नाम से लगभग चार अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु संप्रति उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता है।

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण सस्कृत और प्राकृत, दोनो भाषाओ के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके संबध मे कहा गया है कि सस्कृत या प्राकृत का कोई भी कवि ऐसा नही था, जिसको उन्होने चुनौती न दी हो। वे अजितसेन की शिष्य-परम्परा में हुए। उस परम्परा का क्रम था . अजितसेन, कनकसेन, जिनसेन और मल्लिषेण। मल्लिषेण ने अपने ग्रन्थ 'महापुराण' की समाप्ति ज्येष्ठ सुदी ५, श० स० ६६६ (११०४ वि०) मे की थी। अत इनका स्थितिकाल ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे निश्चित है।

इनके छह ग्रन्थ उपलब्ध है, जो सस्कृत मे है। उनके नाम है 'महापुराण', 'नागकुमारकाव्य', 'भैरवपद्मावतीकल्प', 'सरस्वतीमत्रकल्प', 'ज्वालिनीकल्प' और 'कामचाण्डालिनीकल्प'। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ग्रन्थ मिले है, जिनके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि वे इन्ही मल्लिषेण के है।

ज्ञानभूषण

मूलसंग के अनुयायी भट्टारक ज्ञानभूषण की गुरु-परम्परा का क्रम है : पद्मनन्दी, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। इसी परम्परा मे आगे विजयकीर्ति, सुमतिकीर्ति, शुभचन्द्र, गुणकीर्ति, वादिभूषण, समकीर्ति, यश.कीर्ति आदि विद्वान् हुए। इसी क्रम से इन्हे गद्दी का उत्तराधिकार भी प्राप्त हुआ।

ज्ञानभूषण गुजरात के निवासी और सागबाड़े (बागड) की गद्दी के भट्टारक थे। अनेक राजाओ ने उनकी चरणवन्दना की और अनेक तीर्थस्थानो का उन्होने पर्यटन किया। व्याकरण, छन्द, अलकार, तर्क, आगम और अध्यात्म आदि कई विषयो के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे १५३४-१५५६ वि० तक भट्टारक पद पर बने रहे और इस पद को छोडने के बाद भी वे बहुत समय तक जीवित रहे।

१५६० वि० मे उन्होने 'तत्वज्ञानतरंगिणी' लिखी।

उनके जैन आगम-विषयक दो प्रौढ ग्रन्थ 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' और 'सिद्धान्त-सारभाष्य' प्रकाशित हो चुके है। 'परमार्थोपदेश' नामक एक तीसरा ग्रन्थ भी उनका उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त 'नेमिनिर्वाणपंजिका', 'पंचास्तिकायटीका', 'दसलक्षणोद्यापन', 'आदीश्वरफाग', 'भक्तामरोद्यापन' और 'सरस्वतीपूजा' नामक अनेक ग्रन्थ ज्ञानभूषण के नाम से मिले हैं, किन्तु अधिकृत विद्वानो द्वारा उन पर कुछ न लिखे जाने तक उनके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता है।

प्रमाण विचार

ज्ञान और उसके भेद

स्वभाव और विभाव

जैन दर्शन मे ज्ञान-विचारणा की अपनी निजी प्रणाली है। जैन विचारको की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के दो रूप हैं स्वभावन और विभावन। वस्तु का वह रूप, जो दूसरी वस्तु की अपेक्षा नही रखता, 'स्वभाव' कहलाता है। जैसे आत्मा का चैतन्य तथा पुद्गल की जडता। इसी प्रकार वस्तु का वह रूप, जो दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता है, 'विभाव' कहलाता है। जैसे आत्मा का मनुष्यत्व तथा पुद्गल का शरीररूप परिणाम। इस दृष्टि से आत्मा को न तो हम केवल चैतन्य ही कह सकते हैं और न मनुष्य ही। इसी प्रकार पुद्गल न तो केवल जड ही है और न केवल शरीर ही। इसलिए जैन दृष्टि से वस्तु के स्वभाव और विभाव, दोनो रूप सत्य हैं। दोनो का साक्षात्कार किया जा सकता है।

ज्ञान के पाँच प्रभेद

जैनो के आगमग्रन्थो मे ज्ञान के सम्बन्ध मे बडी ही मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। 'नन्दीसूत्र' मे ज्ञान के पाँच प्रभेद माने गये हैं: आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल। पुन इन पाँचो को प्रत्यक्ष और परोक्ष, इन दो भेदो मे विभक्त किया गया है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भी अन्य अवान्तर भेद हैं।

ज्ञान का तात्पर्य

'ज्ञान से अर्थ की जानकारी होती है' इस सम्बन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार' मे विस्तार से विवेचन किया है। उनका आशय है कि 'या तो ज्ञान अर्थ मे उत्पन्न होता है, या अर्थ ज्ञान मे प्रविष्ट होता है' यह प्रश्न

वस्तुतः बड़ा सरल है। ज्ञानी, ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव है। इसलिए दोनो भिन्न-भिन्न हैं; एक की दूसरे में वृत्ति नही है। दोनो में विषय-विषयी-भाव सम्बन्ध है । जैसे दूध के बर्तन मे रखा हुआ इन्द्र नीलमणि अपनी आभा से दूध के रूप को प्रकाशित करके उसमें रहता है वैसे ही ज्ञान भी अर्थों मे है। जैसे दूध के बर्तन मे रखी हुई मणि दूध मे व्याप्त नही है, किन्तु अपनी दीप्ति से दूध को नीलवर्ण मे प्रकाशित करती है, इसी प्रकार ज्ञान, द्रव्यतः सम्पूर्ण अर्थ मे व्याप्त नही होता, किन्तु अपनी विचित्र शक्ति के कारण अर्थ को जान लेता है। अत 'अर्थ मे ज्ञान है', ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यदि अर्थ मे ज्ञान है तो ज्ञान मे भी अर्थ होना चाहिए, क्योकि यदि ज्ञान मे अर्थ नही है तो ज्ञान किसका होगा ? इसलिए 'ज्ञान मे अर्थ है' और 'अर्थ मे ज्ञान है' इस दृष्टि से ज्ञान और अर्थ का विषय-विषयी-भाव सम्बन्ध है।

प्रमाण

प्रमाण के दो भेद

वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' मे बडे वैज्ञानिक एव गंभीर ढग से प्रमाणों पर, जैन दृष्टि से, विचार किया है। उन्होने आगमग्रन्थो मे कहे गये (१) अभिनिबोधित, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन.पर्यय और (५) केवल इन पाँच प्रकार के ज्ञानों से संगति बैठाने के लिए प्रमाण के भी पाँच भेद किये है और उनको परोक्ष तथा प्रत्यक्ष, इन दो श्रेणियो मे विभाजित किया है .

लक्षण : प्रमाण का लक्षण निर्धारित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि 'सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है'। प्रशस्त, अव्यभिचारी या संगत को 'सम्यक्' कहते है।

परोक्ष और प्रत्यक्ष

परोक्ष और प्रत्यक्ष मे केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष है। इन्द्रियजन्य बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों

का मतिज्ञान अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष और पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष हैं। सम्पूर्ण कर्मबन्धो के नष्ट हो जाने पर ज्ञान के ये विकल्प भी नष्ट हो जाते हैं। जैन दर्शन मे प्रमाण के तीन भेद माने गये है : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

१. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं : मति और श्रुत। प्रत्यक्ष होने से इनको लौकिक ज्ञान कहा गया है। दृश्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान ही मतिज्ञान है और आगमो के द्वारा आप्तवचनो से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है। मतिज्ञान के ही बाद श्रुतज्ञान होता है।

मतिज्ञान : मतिज्ञान का प्रत्यक्ष चार प्रकार से होता है · अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। जिस ज्ञान मे केवल विषय का ग्रहण होता है उसे 'अवग्रह', अवग्रह-ज्ञान के बाद मन मे जब विषय के प्रति जिज्ञासा होती है उसको 'ईहा', ईहा के बाद जब विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तो उसे 'अवाय' और निश्चयात्मक ज्ञान (अवाय) के बाद विषय के लिए मन मे जो विचार बनता है उसको 'धारणा' कहते है।

श्रुतज्ञान : दूसरा लौकिक ज्ञान श्रुत है। 'श्रुत' अर्थात् सुना हुआ। आप्तवचनो से सुनकर प्राप्त हुआ ज्ञान तथा प्रामणिक ग्रन्थों से अध्ययन किया हुआ ज्ञान श्रुत ज्ञान कहलाता है। इसके लिए इन्द्रियज्ञान की भी आवश्यकता है।

दोनों का अन्तर

(१) मतिज्ञान केवल प्रत्यक्ष (वर्तमान) का विषय होता है, जब कि श्रुतज्ञान मे भूत, वर्तमान, भविष्य, सभी काल के विषय हो सकते है। (२) जैनागमों मे मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान को श्रेष्ठ माना गया है। (३) मतिज्ञान मे परिणाम संबद्ध रहता है, किन्तु श्रुतज्ञान मे आप्तवचन होने के कारण परिणाम नही होता।

२. परोक्ष प्रमाण

परोक्ष प्रमाण के तीन भेद है : अवधि, मन:पर्यय और केवल।

अवधि ज्ञान : कर्मों के आंशिक नाश हो जाने पर मनुष्य जब ऐसी अवस्था मे पहुँचता है कि वह दूरस्थ, सूक्ष्म और अस्पष्ट का अन्तर मिटा देने वाली अज्ञानता को नष्ट कर डालता है, ऐसा 'सम्यक् दर्शन' ही 'अवधिज्ञान' कहलाता है, और क्योंकि वह ज्ञान सीमित वस्तुओ का होता है, अत. उसे अवधिसापेक्ष कहते हैं।

मन:पर्यय ज्ञान : रागद्वेषादि मानसिक बाधाओ पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद जब साधक अन्य व्यक्तियो के हृदय के त्रैकालिक विचारो को जान लेता

है तो ऐसे ज्ञान को 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान को 'मनःपर्यय' इसलिये कहा जाता है कि वह दूसरे के मन के आशयों की जानकारी कराता है।

केवल ज्ञान : *जब मनुष्य आत्मगत ज्ञान-बाधक कर्मों को विनष्ट कर डालता* है तब उसको दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। यह दिव्यदृष्टि आन्तरिक होती है। इस दिव्यदृष्टि से वह अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार कर लेता है। यह ज्ञान जीवन्मुक्त अर्हतों को होता है।

३. अनुमान प्रमाण

हेतु के द्वारा साध्यवस्तु का ज्ञान ही 'अनुमान' है। उसके दो भेद हैं : स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान . बाह्य दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में, मन को समझाने के लिए किये गये अनुमान को 'स्वार्थानुमान' कहते हैं। उदाहरण के लिए आग और धुवाँ। अग्नि को देखने के बाद मनुष्य को अपने मन में यह निश्चय होता है आग और धुवाँ एक साथ रहते हैं। इस एक साथ रहने वाले आग-धुवाँ के संबध को 'व्याप्ति' कहते हैं। यह व्याप्ति उसके हृदय में रहती है और बाद में कहीं जाते हुए उसने ऊँचे पर्वत पर उठता हुआ धुवाँ देखकर यह निश्चय किया कि 'पर्वत पर आग है'। इसमें बाह्य दृष्टान्त हुआ आग और धुवाँ का नित्य सहचरत्व। उसके आधार पर देखने वाले ने अपने आप में यह जान लिया कि 'जहाँ धुवाँ रहता है वहाँ आग भी रहती है।'

परार्थानुमान : यही प्रक्रिया जब दूसरे के मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए होती है तो उस ज्ञान को 'परार्थानुमान' कहते हैं। इस के भी दो भेद हैं : पञ्चावयव परार्थानुमान और दशावयव परार्थानुमान। ये पञ्चावयव हैं प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। इसी प्रकार दशावयव हैं : प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्षप्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध और निगमन।

४. हेत्वाभास

अनुमान प्रमाण के पक्ष (पर्वत), साध्य (अग्नि) और हेतु (जैसे रसोईघर), इन तीनों के सम्बन्ध में यदि विघटन हो जाय या इनमें से कोई प्रतिकूल हो जाये तो अनुमान प्रमाण में दोष आ जाते हैं। इसी अनुमान दोष को 'हेत्वाभास' कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है : (१) असिद्ध (यह सुन्दर है, क्योंकि बध्या-पुत्र है), (२) विरुद्ध (अग्नि शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है), (३) अनैकान्तिक (सभी वस्तुएँ क्षणिक है, क्योंकि वे सत् हैं)।

४. शब्द प्रमाण

आगमो (शब्दों) के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको 'शब्द प्रमाण' कहते है। यह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। पिता और विश्वसनीय वृद्ध व्यक्तियो के द्वारा कहा गया उपदेश लौकिक शब्द प्रमाण और आगमो मे तीर्थंकर महात्माओ की वाणियो की प्रामाणिकता अलौकिक ज्ञान है।

नय विचार

नय और प्रमाण का अन्तर

जैन दर्शन मे तत्त्वज्ञान के लिए नय, निक्षेप और प्रमाण को आधार माना गया है। नय और प्रमाण यद्यपि तत्त्वत अभिन्न है, क्योकि इन दोनो के द्वारा ही किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ प्रमाण से किसी अखण्ड वस्तु का ज्ञान होता है, वहाँ नय से केवल वस्तु का आशिक ज्ञान होता है। यही दोनो मे अन्दर है। जो जीवादि पदार्थों का बोध कराये उसे 'नय' कहते है।

नय के भेद

नय के प्रमुख दो भेद है अर्थ और शब्द। अर्थनय के चार भेद है नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजु। इसी प्रकार शब्दनय के भी दो भेद है समाभिरूढनय और एवम्भूतनय।

सप्तभगी नय

जैन दर्शन मे जो प्रमाण गिनाये गये है उनमे 'नय' का भी एक स्थान है। न्याय दर्शन मे इस 'नय' को 'परामर्श' कहा गया है, जिसको कि 'अन्वयी' तथा 'व्यतिरेकी' अथवा 'अस्तिवाचक' तथा 'नास्तिवाचक', इन दो भेदो मे विभाजित किया गया है। किन्तु जैन दर्शन मे परामर्श (नय) के सात भेद या प्रकार बताये गये है, जिनके अन्तर्गत तर्कशास्त्र के उक्त दोनो भेद समाविष्ट हो जाते है।

सारे संसार के चेतन और अचेतन, दोनो प्रकार की वस्तुओ का सम्यक् निर्णय 'नय' द्वारा ही स्वीकार किया गया है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष आदि नव तत्त्वो का ज्ञान, प्रमाण तथा नय द्वारा होता है। प्रमाण वह है, जिसके द्वारा तत्त्वो का सपूर्ण रूप से ज्ञान हो, और नय वह है जिसके द्वारा तत्त्वो के एक देश का ही ज्ञान हो। विधि और निषेध के कारण सप्तभंगी के ये दो भेद किये गये है।

सप्तभंगी नय वह नय है, जिसमे सात भंग (वाक्य) हों **'सप्तानां भंगानां वाक्यानां समाहारः सप्तभंगी'**। जैन दर्शन मे वस्तु को अनेक धर्मात्मक कहा गया है। ये धर्म अविरुद्ध होते हैं और इन अविरुद्ध धर्मों का निश्चय करना ही सप्तभंगी नय के सात वाक्यों का कार्य है। इसलिए सप्तभंगी वह नय है, जिसके द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है।

जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की आधारभित्ति इसी सप्तभंगी नय पर आधारित है। वे सात भग या वाक्य है -

१. स्यादस्ति घट (शायद घट है)
२ स्यान्नास्ति घट (शायद घट नही है)
३ स्यादस्ति नास्ति च घट (शायद घट है भी और नही भी है)
४. स्यादवक्तव्यो घट (शायद घट वर्णनातीत है)
५ स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट (शायद घट है भी और अवक्तव्य भी है)
६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट (शायद घट नही है और अवक्तव्य भी है)
७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घट (शायद घट है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है)।

इस सप्तवाक्य का आशय समझने से पूर्व उनमे प्रयुक्त 'स्यात्', 'अस्ति' और 'घट', इन तीन शब्दो का अभिप्राय समझना आवश्यक है।

स्यात् इस 'स्यात्' शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है कि कोई वाक्य किसी एक निश्चयात्मक अर्थ का बोधक नही है, बल्कि उसमे दूसरे अर्थ भी समन्वित है। उनको समझना भी आवश्यक है।

अस्ति 'अस्ति' शब्द वस्तु मे धर्मो की स्थिति का सूचक है। वस्तु मे धर्मों की यह स्थिति आठ प्रकार से हो सकती है काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द। इन आठ प्रकार के वस्तुधर्मों का स्पष्टीकरण सप्तभगी नय के विवेचन मे किया जायगा।

घट जिस प्रकार किसी वस्तु के धर्मों की स्थिति आठ प्रकार से विद्यमान रहती है वैसे ही वस्तु की वास्तविक स्थिति चार प्रकार की मानी गयी है नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उदाहरण के लिए मिट्टी से अनेक वस्तुएँ बनती हैं, किन्तु 'घट' नाम एक ही वस्तु का है। 'स्थापना' का आशय उस स्थान से है, जिसमे वह घट रखा गया है। घट मे जो मृत्तिका है वही 'द्रव्य' है। घट जिस काल मे वर्तमान है वह उसका 'भाव' कहलाता है। वह काल वर्तमान ही हो सकता है, भूत, भविष्यत् नहीं। आशय यह है कि किसी

वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए उक्त चार बातों का होना आवश्यक है।

सात वाक्यों का प्रतिपादन

१. स्यादस्ति घटः

जैन तार्किकों ने प्रत्येक 'नय' के साथ 'स्यात्' शब्द की योजना साभिप्राय की है। उनका यह अभिप्राय है कि कोई भी 'नय' निरपेक्ष या एकान्त रूप से सत्य नहीं है, बल्कि आपेक्षिक है।

'शायद घट है' इसका पहला आशय यह है कि घडा अपने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से विद्यमान है; किन्तु 'शायद' उसके साथ इसलिए जोड दिया गया है कि यह न समझा जाय कि घडे मे ये ही बाते सतत विद्यमान रहती है। उसमे जो लाल रंग है वह किसी विशेष परिस्थिति मे है, बल्कि सर्वदा सब परिस्थितियो मे नहीं है।

२. स्यान्नास्ति घटः

'शायद घट नही है' इसका यह आशय हुआ कि परनाम, पररूप, परद्रव्य और परकाल ये घट नही है। किन्तु इस वाक्य मे घट के निषेध की अभिव्यक्ति नही होती है। 'नही' कहने से उसका सर्वथा अभाव नही हो गया, बल्कि उसका अस्तित्व गौण हो गया। यह वाक्य प्रथम वाक्य के विरुद्ध नही है।

'स्यात्' शब्द से यह आशय निकलता है कि जिस घडे के सम्बन्ध मे परामर्श हुआ है वह विशेष समय मे नही है। अर्थात् इस समय वह उस स्थान पर नही है, जहाँ के लिए उसके सम्बन्ध मे परामर्श दिया गया था।

३. स्यादस्ति नास्ति च घटः

'शायद घडा है, और नही भी है' इस संयुक्त परामर्श की इसलिए आवश्यकता हुई कि घडा कभी लाल हो सकता है, कभी दूसरे ही रग का भी हो सकता है। इस तीसरे तार्किक परामर्श से किसी वस्तु के होने और न होने, इन दोनो बातो का एक साथ बोध होता है।

'अस्ति' से घट की निजरूप सत्ता का होना बताया गया है और 'नास्ति' से, परसत्ताप्रधान होने के कारण उसका नही होना बताया गया है। जब घट के अस्तित्व की ओर देखो तो उसका होना पाया जाता है, किन्तु उसके पररूप की ओर देखो तो उसका नही होना भी पाया जाता है।

४. स्यादवक्तव्यो घटः

'शायद घट ऐसा है, जिसके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता है' इसका आशय यह है कि एक समय मे घट के निजरूप की सत्ता और उसके पररूप की सत्ता प्रधान होने से वह अव्यक्त हो जाता है। अर्थात् ऐसी वस्तु, जो एक ही समय मे अपने निजरूप तथा पररूप, दोनो की प्रधानता रखती हो, उसके सम्बन्ध मे इसके अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है कि वह अवर्णनीय (अव्यक्त) है।

इस परामर्श मे एक वस्तु के परस्पर विरोधी गुणो पर एक साथ विचार किया गया है। ऐसी दशा मे उसको **'स्यादव्यक्तम्'** ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि यह पूछा जाय कि प्रत्येक समय और सभी अवस्थाओ मे घडे का क्या रग होता है तो इस स्थिति मे घडे के रग के बाबत कुछ कहा ही नही जा सकता है।

५. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट है, और अव्यक्त भी है' इस वाक्य का अर्थ यह है कि यदि घट के द्रव्य रूप (मृत्तिका) को देखे तो घट है, किन्तु उसके द्रव्य रूप (मृत्तिका) और उसके परिवर्तनशील रूप, दोनो को एक समय मे देखे तो उसका अस्तित्व स्वीकार करने पर भी यह कहना पडेगा कि वह अव्यक्त है।

उदाहरण के लिए किसी विशेष परिस्थिति मे हम घट को लाल कह सकते है किन्तु जब दृष्टि का निश्चितीकरण न हो तो उस दशा मे घडे के रंग का वर्णन करना असगत हो जाता है। उस हालत मे यह कहना पडता है कि वह लाल है तो, किन्तु अव्यक्त है।

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट नही है और अव्यक्त भी है' इस परामर्श का यह तात्पर्य हुआ कि घट अपने पर्याय रूप को अपेक्षा नही रखता, क्योकि वे रूप क्षण-क्षण मे परिवर्तित होते रहते है। इसमे असत्तारहित अव्यक्त की भावना की प्रधानता है। इसका यह आशय है कि 'स्यात्' नही है और वह अव्यक्त भी है।

७. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः

'शायद घट है, नही भी है और वह अव्यक्त भी है' इस वाक्य मे द्रव्यपर्यायों के एक साथ होने और अलग-अलग होने के कारण घट का अस्तित्त्व, अनस्तित्त्व तथा अवक्तव्यत्त्व सूचित किया गया है। उदाहरण के लिए मृत्तिका की दृष्टि से वह 'है', उसके क्षण-क्षण मे रूप बदलते रहते है, अतः वह 'नही है'

और इन दोनो पर्यायों का एक साथ समन्वय होने के कारण वह 'अव्यक्त' है।

इस प्रकार जैन दर्शन मे सप्तभंगी नय का विवेचन किया गया । नय की इन सात विधाओं को देखकर कहा जा सकता है कि किसी एक वस्तु का निर्णय करने के लिए उसको अनेक दृष्टि से देखना पड़ता है, क्योकि जब तक हम, प्रत्येक वस्तु मे अवस्थित अनेक धर्मों का परिचय न प्राप्त कर लेंगे तब तक उस वस्तु के प्रति हमारा ज्ञान अधूरा और हमारी व्यवस्था अपूर्ण कही जायगी।

जैन-दर्शन के मुख्य नौ तत्त्व

जैन दर्शन मे नौ प्रकार के मुख्य तत्त्व माने गये है, जिनके नाम है १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बंध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ पुण्य, ८ पाप और ९ मोक्ष।

जीव : अजीव : जिन पदार्थों मे चेतना है वे 'जीव' कहलाते है। यह जड शरीर तथा इसी की तरह दूसरे जड पदार्थ 'अजीव' है। जीव और अजीव दोनो के संबंध मे आगे अलग से भी विचार किया गया है।

आस्रव : अच्छे तथा बुरे कर्मों के द्वार को 'आस्रव' कहते है। 'स्रव' नाम 'बहने' का है। आत्मा की ओर कर्मों का बहना ही 'आस्रव' है। जिस प्रकार नाले का गंदा पानी तालाब मे गिरकर तालाब को गदा कर देता है उसी प्रकार संसार के विषय इन्द्रियो के नाले से बहकर आत्मा मे प्रवेश करते है और उसको मलिन कर देते है।

बंध : आत्मा का कर्मो मे और कर्मो का आत्मा मे मिल जाना ही 'कर्मबध' है। जिस प्रकार पुरानी लकडी को अग्नि जल्दी ही जला तो देती है उसी प्रकार राग से रहित होकर और क्रोध का परित्याग करके जीव अपने कर्मो को जल्दी ही नष्ट कर देता है।

संवर : आत्मा मे कर्मों का प्रवेश न होने देना ही 'सवर' कहलाता है। 'संवर' का अर्थ है 'रोकना'। भले, बुरे कर्मो के आस्रव (धारा) को आत्मा मे जाने से जो रोक देता है वही 'संवर' है।

निर्जरा : कर्मों के प्रभाव को तप आदि साधनो के द्वारा निर्जरण कर डालना, अर्थात् ऐसे उपाय करना, जिनसे कर्म क्षय हो जायें, 'निर्जरा' है।

पाप : हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, उद्दण्डता का व्यवहार करना और माँगना, ये सभी पाप है।

पुण्य : इनके विपरीत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह, ये पुण्य हैं।

मोक्ष : जीव से लेकर पाप तक के आठ कर्म जीवो के गुणों को ढाँप लेते है। उनका नाश कर देना ही मोक्ष है।

कर्मों के नाश करने के तीन साधन

इन आठ प्रकार के कर्मों को तीन तरह के साधनो या उपायो द्वारा नष्ट किया जा सकता है। ये तीन साधन है : १. सम्यक् दर्शन, २. सम्यक् ज्ञान और ३. सम्यक् चारित्र। इन तीनो का एक ही नाम 'रत्नत्रयी' (तीन रत्न) है।

जीव से लेकर पाप तक मे आठ कर्मों मे किसी प्रकार की रुचि न करना सम्यक् दर्शन' है। धर्म का ऐसा ज्ञान, जिसमे सदेह तथा भ्रम न हो ऐसा यथार्थ ज्ञान ही 'सम्यक् ज्ञान' है। निर्दोष तथा पवित्र आचरण ही 'सम्यक् चारित्र' है।

द्रव्य सिद्धान्त

द्रव्य का स्वरूप

जैन दर्शन का द्रव्य-सिद्धान्त बडा ही जटिल है। द्रव्य की परिभाषा करते हुए वहाँ कहा गया है कि जिसमे गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'**। गुण उसका स्वरूप धर्म है और पर्याय आगन्तुक धर्म। स्वरूप धर्म नित्य है और आगन्तुक धर्म परिवर्तनशील। स्वरूप धर्म द्रव्य मे सतत विद्यमान रहता है और आगन्तुक धर्म बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आत्मा का स्वरूप धर्म है चैतन्य, जो कि उसमें सर्वदा विद्यमान रहता है और आत्मा के आगन्तुक धर्म है सकल्प, इच्छा, क्रिया आदि। जिनमे नित्य परिवर्तन होता रहता है।

यह ससार द्रव्यो से निर्मित है। अत द्रव्यो के स्वरूप के अनुसार ससार भी नित्य-अनित्य, दोनो है। सत् होने से द्रव्य उत्पत्ति, क्षय और स्थिरता से युक्त है।

द्रव्य के भेद

द्रव्य के दो भेद है अस्तिकाय और अनस्तिकाय। काययुक्त द्रव्य अस्तिकाय और काल को अनिस्तकाय द्रव्य कहते है। उनमे भी अस्तिकाय द्रव्यो के दो भेद है जीव और अजीव।

जीव

चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते है। ससार की दशा मे आत्मा,

जीव कहलाता है। उसमे प्राण तथा शारीरिक, मानसिक एवं इन्द्रियजन्य शक्ति विद्यमान होती है। जीव मे शुद्ध ज्ञान तथा दर्शन अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान रहता है। व्यावहारिक रूप मे कर्म की गति से जीव मे औपशयिक, क्षणिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच भावप्राण रहते है, जिनके कारण उसका विशुद्ध रूप ढँक जाता है।

द्रव्य के रूप मे परिणत होकर वही भावदशापन्न प्राण 'पुद्गल' कहलाता है और वही पुद्गलयुक्त जीव 'ससारी' कहलाता है। प्रत्येक वस्तु की दो अवस्थायें होती है : भाव और द्रव्य। अव्यक्त अवस्था को भाव और व्यक्त अवस्था को द्रव्य कहते है। जैन दर्शन परिणामवादी है। प्रत्येक वस्तु एक स्वरूप को छोडकर दूसरा स्वरूप धारण करती है, अर्थात् भाव द्रव्य मे और द्रव्य भाव मे परिणत होते रहते है।

जीव के गुण

विशुद्ध दशा मे जीव ज्ञान और दर्शन से सयुक्त है। वह नित्य, अमूर्त, कर्ता, स्थूल कर्मफलो का उपभोक्ता, सिद्ध और ऊर्ध्वगामी है। जीव मे अविद्या होती है, जिसके कारण वह 'कर्म' मे प्रवेश करता है और वन्धन मे बँध जाता है। बद्ध जीव चैतन्य और नित्य परिणामी है। उसमे 'सकोच' और 'विकास' दो गुण वर्तमान रहते है, जिनके कारण वह हाथी के शरीर मे प्रवेश कर हाथी जितना बडा हो जाता है और चीटी के शरीर मे प्रवेश कर चीटी जितना छोटा हो जाता है। जिस भी शरीर मे वह प्रवेश करता है उसी का रूप ले लेता है। वह अमूर्त है। अतएव देखा नही जा सकता, किन्तु उसकी उपस्थिति अनुभव से जानी जाती है। बन्धन से मुक्त होने पर जीव मे 'सम्यक् ज्ञान' की अभिव्यक्ति होती है और उसी के कारण वह मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। जीव मे 'प्रदेश' होते है। अत वह पर्याययुक्त या अस्तिकाय कहा जाता है। उसमे अवयव होते है। अत वह अवयवो कहा जाता है।

परिणामी

जीव प्रति क्षण परिणामी होता है। उसका एक क्षण मे जो स्वरूप है, दूसरे क्षण वह बदल जाता है। उसमे उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (स्थिरता) ये तीनो विद्यमान रहते है। यह 'काल' के प्रभाव मे है। स्वभाव से जीव मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सामर्थ्य आदि गुण वर्तमान रहते है, किन्तु कर्मों से बद्ध होने के कारण उसके ये गुण प्रकट नही हो पाते। चेतना, (अनुभूति) तथा उपयोग (चेतना फल), ये दो प्रमुख गुण जीव

के हैं। उपयोग के दो भेद हैं : ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, जिनको क्रमशः सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल और तीन विपर्यय—कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि, ये आठ सविकल्प ज्ञान है। इनमें केवल ज्ञान कर्मों के नाश हो जाने के बाद नष्ट हो जाता है।

पर्याय

परिणाम ही पर्याय कहलाता है। दिव्य, मानुष, नारकीय और तिर्यक्, ये जीव के चार पर्याय हैं। पर्याय के प्रमुख दो भेद हैं : द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। भिन्न-भिन्न द्रव्यों में एकता का अनुभव जिससे होता है वह 'द्रव्यपर्याय' है। परिणाम के कारण द्रव्यों के गुणो मे जो परिवर्तन होता है उसे 'गुणपर्याय' कहते है।

जीव के भेद

जीव के दो प्रमुख भेद है बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव संसारी है। उसके त्रस (जंगम) और स्थावर दो भेद होते है। स्थावर जीवो मे केवल त्वगिन्द्रिय होती है। क्षिति, जल, तेज, वायु तथा वनस्पतियाँ 'स्थावर' जीव है। जिन जीवो मे एकाधिक इन्द्रियाँ होती हैं वे 'त्रस' कहलाते है। मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, नारकीय, ये सभी 'त्रस' जीव है। इनमे पाँचो इन्द्रियाँ होती है। ये त्रस जीव अलग-अलग शरीरो के धारण करने से अलग-अलग होते है, जैसे पृथ्वीकाय, अपकाय, वस्नुकाय और तेजकाय। मुक्त जीव इन सबसे परे है। उसमे ज्ञान, दर्शन आदि होते है।

अजीव

अजीव द्रव्य वे है, जिनका शरीर अजीवो मे होता है। अजीव के पाँच भेद है : धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। इनमे पूर्व के चार 'अस्तिकाय' और काल को 'अनस्तिकाय' कहते है।

अजीव के गुण

अजीव द्रव्य मूलत अविनश्वर है। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य अजीव द्रव्यो मे रूप, रस, गंध, स्पर्श नही होते। पुद्गल मे चारो रहते है। धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है; किन्तु पुद्गल अनेक है। प्रथम तीनो क्रियाहीन है; किन्तु पुद्गल सक्रिय है। इन पाँचो अजीव द्रव्यो का स्वरूप इस प्रकार है।

पाँच अजीव द्रव्य

१. **धर्मास्तिकाय** : यह न तो क्रियाशील है न क्रिया का उत्पादक है, किन्तु

अन्य क्रियाशील पुद्गलों की क्रिया मे सहायक होता है। इसमे रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते। यह लोकाकाश मे व्याप्त है। परिणामी होने पर भी वह मूलतः नित्य है।

२. **अधर्मास्तिकाय** : वह लोकाकाश मे व्याप्त है। स्वभावतः वह अमूर्त है। नित्य है, गतिहीन है। जब जीव तथा पुद्गल विश्रामावस्था मे होते हैं तब अधर्मास्तिकाय उन्हे सहायता देता है। इसमे भी रूप, रस, गंध, स्पर्श नही होते।

३ **आकाशास्तिकाय** : बिना आकाश के अस्तिकाय द्रव्यो का ठिकाना नही है। जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गल को उनके उपयुक्त स्थानो का आशय देनेवाला 'आकाश' ही है। इसी को 'लोकाकाश' कहते है।

४. **पुद्गलास्तिकाय** : जो सघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करे वह 'पुद्गल' नाम का अजीव द्रव्य है। उसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श चारो होते है। वह सीमित और मूर्त होता है। उसमे मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष ये आठ प्रकार के 'स्पर्श' होते है। उसमे तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर, तथा कषाय ये पॉच प्रकार के 'रस' होते है। उसमें सुरभि और असुरभि दो प्रकार की 'गन्ध' है। उसमे कृष्ण, नील, लोहित, पीत तथा शक्ल, ये पाँच प्रकार के 'रूप' होते है।

पुद्गल के स्वरूप का अलग से विवेचन किया गया है।

५. **काल** : काल सतत विद्यमान रहता है। इसी लिए पुद्गल मे सतत गति रहती है। अन्य द्रव्यो के परिणामो का कारण 'काल' ही है। उसी का अपर नाम 'समय' है, जिसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाये है घंटा, मिनट, दिन, रात आदि। समय 'परिणामभव' और 'क्षणिक' है। काल का वह अणु कहलाता है। 'काल अणु' (समय) अलग-अलग प्रदेशो मे रहकर परस्पर नही मिलते। वे अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय तथा असंख्य है। 'निश्चय काल' नित्य है और वह द्रव्यो के परिणाम मे सहायक होता है। वह समय का आधार है। व्यावहारिक दृष्टि से 'समय' को 'काल' भी कहते है।

काल के भेद

काल के दो भेद है : पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक काल नित्य एव निराकार है और व्यावहारिक काल सादि तथा सान्त है। अखण्ड

द्रव्य होने के कारण तथा उसके विश्व भर मे व्याप्त होने के कारण उसको 'अनस्तिकाय' कहा जाता है।
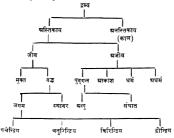
स्याद्वाद

'स्याद्वाद' का सिद्धान्त जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है। 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दो के योग से 'स्याद्वाद' शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'स्यात्' का अर्थ है कथचित्, किसी प्रकार से या किसी अपेक्षा से। 'वाद' कहते है सिद्धान्त या मन्तव्य को। अत. उसकी परिभाषा हुई 'वस्तु के तत्व-निर्णय मे जो वाद अपेक्षा की प्रधानता पर निर्भर हैं वह 'स्याद्वाद' हैं।'

स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है (**अनन्त धर्मात्मकं सत्**)। इसका यह आशय हुआ कि वस्तु अनेक गुणो या विशेषताओ से युक्त है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध मे कुछ कहते है तो उसके एक धर्म को प्रमुख और अन्य धर्म को गौण बताते है। अनेक धर्मात्मक वस्तु का जो स्वरूप हमारे सामने मूर्तरूप मे प्रत्यक्ष है उसके अतिरिक्त भी उसका एक अप्रत्यक्ष रूप है। वैज्ञानिक आविष्कारो के द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि प्रत्येक वस्तु का एक रूप अव्यक्त एवं अप्रकट भी रहता है।

वस्तु के व्यक्त और अव्यक्त सभी धर्मों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही हम वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते है। इसके विपरीत वस्तु के एकागी

स्वरूप या गुण को लेकर उसी मे वस्तु की परिपूर्णता मान लेना वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझने के ही बराबर है । वस्तु या पदार्थ के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणो से परीक्षण करने, समझने और व्यक्त करने की विधा को ही जैन तत्त्वज्ञो ने 'स्याद्वाद', 'अनेकान्तवाद' या 'अपेक्षावाद' का नाम दिया है ।

वस्तु के व्यक्त रूप पर आधारित हमारा वस्तुज्ञान आपेक्षिक सिद्ध होता है । आपेक्षिक, अर्थात् एक वस्तु, एक अपेक्षा से जैसी है, अन्य अपेक्षाओ से वह दूसरी प्रकार की भी हो सकती है । उदाहरण के लिए नीबू और नारंगी को एक साथ रखकर उनमे नारंगी को ही बडा मानना पडेगा, किन्तु नारंगी से जब नारियल की तुलना की जायगी तो उसी को हमे छोटा कहना पडेगा । इसलिए जैन तत्त्वज्ञो को कहना पडा कि यह जो गुरुत्व या लघुत्व हमारे व्यावहारिक जीवन मे देखने को मिलता है वह आपेक्षिक है ।

ससार के सभी धर्म और दर्शन सत्य है, किन्तु उनके जब आशिक सत्य को लेकर शेष रूप की अवहेलना की जाती है तो वह गृहीत सत्य भी एक प्रकार से संकुचित एवं असत्य-सा जान पडता है । 'स्याद्वाद्' के सिद्धान्त के अनुसार एक बहुत बडी बात यह है कि उसमे जन-समान्य के लिए स्पष्टरूप से कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को सही समझे; किन्तु दूसरे का विरोधी लगने वाले दृष्टिकोण को भी समझे । दूसरे के दृष्टिकोण को असत्य समझने का अर्थ होता है अपने ही दृष्टिकोण को मिथ्या साबित करना । इस सम्बन्ध मे जैन विद्वानो ने व्यावहारिक दृष्टि से अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके अपने 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त की अन्वर्थता सिद्ध की है । जैसे लोक मे देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भानजा आदि सब कुछ है । ये अनेक धर्म लोकदृष्टि से एक ही व्यक्ति मे सिद्ध है । जैसे ये अनेक धर्म एक ही व्यक्ति मे रह सकते है; जैसे पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा आदि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही व्यक्ति मे रहते है उसी प्रकार एक ही पदार्थ मे नित्य और अनित्य, दोनो प्रकार के धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहते है । यह सापेक्ष सिद्धान्त हमे बताता है कि जो व्यक्ति अपने पुत्र का पिता है वह अपने पुत्र का पुत्र नही हो सकता, किन्तु एक अपेक्षा से वह भी अपने पिता का पुत्र है । इसी दृष्टि से पदार्थ, द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, किन्तु पर्याय को अपेक्षा से अनित्य है ।

पूर्ण सत्य ही सापेक्ष सत्य है

कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद को लोकव्यवहार तक ही सीमित रखा है और कहा है कि वह आपेक्षिक सत्यो को पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा तो देता है; किन्तु

निरपेक्ष या संपूर्ण सत्य की कल्पना किये बिना जैनो का स्याद्वाद तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है । इस मन्तव्य के विपरीत जैन दर्शन के स्याद्वादी आचार्यों का कथन है कि 'सापेक्ष सत्य के विषय में जो सन्देहशीलता प्रतीत होती है उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य या वास्तविक सत्य से परे की वस्तु सोच लिया जाता है । किन्तु वास्तव में सापेक्ष सत्य उससे भिन्न नही है । ऊपर के उदाहरण से प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि नारंगी छोटी है या बडी ? वहाँ वास्तविक एवं पूर्ण सत्य यही है कि अपने से छोटे-बडे पदार्थों की अपेक्षा वह छोटी भी है और बडी भी ।' अत सापेक्ष सत्य ही पूर्ण सत्य है ।

स्याद्वाद को लोकव्यवहार तक ही सीमित रखने की वात भी उपयुक्त नही जान पडती है । 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' मे कहा गया है कि एक क्षुद्र दीपक से लेकर महत् व्योम तक की सारी वस्तुओ पर स्याद्वाद की मुहर अंकित है (**आदीपव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु**) । इसलिए काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य सब कुछ है । और काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य सब कुछ नही भी है, यह जो सप्तभंगी तत्त्व है उसका आशय यही है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त केवल लोक-व्यवहार तक ही सीमित नही है ।

शकराचार्य और स्याद्वाद

आचार्य शकर ने जैनो के स्याद्वाद को सशयवाद तथा अनिश्चिततावाद की सज्ञा दी है । उसका कारण यह है कि उन्होंने 'स्यादस्ति' का आशय 'शायद' के रूप मे ग्रहण किया है । किन्तु आचार्य शकर के इस मन्तव्य को जैन दार्शनिक स्वीकार नही करते है । वे वस्तु को अनेक धर्म (गुण) वाली कहते है और 'स्यादस्ति' के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग करते है । इसलिए स्याद्वादी सिद्धान्त का समर्थक विद्वान् किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा होता है ।

शकराचार्य ने जो यह शका व्यक्त की है कि एक ही पदार्थ मे नित्य और अनित्य धर्म नही रह सकते है उसका उत्तर ऊपर के उदाहरण मे दिया जा चुका है । अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ मे दो विरोधी धर्म अपेक्षाभेद से रहते है । उदाहरण के लिए केन्द्र मे बैठा हुआ व्यक्ति उसके चारो ओर खडे हुए व्यक्तियो के अपेक्षाभेद से भिन्न-भिन्न दिशाओ मे बैठा हुआ सिद्ध होता है । उसी प्रकार पदार्थ के नित्यानित्य धर्मों मे कोई विरोध नही आने पाता । छोटी और बडी वस्तुओ का छोटापन और बडापन अपेक्षाभेद से है ।

निष्कर्ष

स्याद्वाद का सिद्धान्त किसी अनाधारित कल्पना पर नही टिका हुआ है। वह बुद्धि-सम्मत और जीवन के लिए व्यवस्थित सिद्धान्त है। शंकर आदि वेदान्तियो ने 'है', और 'नही भी है' इसके मूल स्वरूप को यथार्थ रूप मे नही ग्रहण किया है, और इसी लिए उसको संदेहवाद तथा संशयवाद की कोटि मे रखा है। किन्तु उस पर गंभीर विचार करने पर वह इतना ही सच्चा लगता है जैसे, दो और दो को मिलाकर चार होता है।

इसलिए स्याद्वाद का सिद्धान्त न तो संशयवाद है और न अपूर्ण सत्य या असत्य ही है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

स्याद्वाद के प्रसग मे 'सापेक्ष' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है। कुछ लोगो का कथन है कि स्याद्वाद की आधार भूमि आध्यात्मिक है और सापेक्षवाद की भौतिक । किन्तु इन दोनो सिद्धान्तो के प्रतिपादक एवं अध्येता विद्वानो का कहना है कि स्याद्वाद का जितना सम्बन्ध आत्मा मे है उतना ही पुद्गल (भूत) से भी। इन दोनो के सबध मे उनके जो निष्कर्ष है उनसे स्पष्टतया यह सिद्ध हो जाता है कि स्याद्वाद का जितना सम्बन्ध अध्यात्म से है उतना ही भौतिक वस्तु से भी।

सापेक्ष्य और स्याद्वाद के जो मूल उद्देश्य है उनका सम्बन्ध परमाणु मे ब्रह्माण्ड तक के भौतिक (पुद्गल) पदार्थो मे समान रूप से है। इसी दृष्टि से इन दोनो वादो का अटूट सम्बन्ध है। इन दोनो वादो के विकास मे एक महान् लाभ यह है कि दर्शन और विज्ञान के बीच जो खाई बन गयी है वह पट जायगी। साथ ही स्याद्वाद को जो सशय की कोटि मे रखा जा रहा है उसको भी सापेक्षवाद दूर करेगा। तब 'प्रत्येक निष्पक्ष विचारक को लगेगा कि स्याद्वाद ने दर्शन के क्षेत्र मे विजय प्राप्त कर अब वैज्ञानिक जगत् मे विजय पाने के लिए सापेक्षवाद के रूप मे जन्म लिया है।'

पुद्गल

परमाणुवाद को समझने के लिए पुद्गल का समझना आवश्यक है। जैन दर्शन मे समस्त द्रव्यो को छह भागो मे विभक्त किया गया है, जिनके नाम है धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और कालास्तिकाय। इन छहो द्रव्यो मे पुद्गलास्तिकाय द्रव्य का भी एक स्थान है।

जैन दर्शन में इस 'पुद्गल' शब्द को नितान्त पारिभाषिक रूप मे प्रयुक्त किया गया है। सामान्यतः उसकी निरुक्ति इस प्रकार हो सकती है कि 'जो पूर्ण रूप से गल जाय' (पूरणात् पुत्, गलयतीति गलः) वह 'पुद्गल' है। जैन आगमो मे उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श हैं; वह रूपी है, अजीव है, नित्य है, अवस्थित है और लोकद्रव्य है। इस दृष्टि से अवगत होता है कि जिस द्रव्य का स्वभाव वर्ण, रस, गध और स्पर्श से युक्त हो वह पुद्गल द्रव्य है। इसका यह आशय हुआ कि जो आँखो से देखा जा सके, कानो से सुना जा सके, जिसका जिह्वा से स्वाद लिया जा सके, जिसको सूँघा जा सके और जिसको स्पर्श करने से जिसके स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणो का पता लग सके वह द्रव्य 'पुद्गल' है।

पुद्गल के भेद प्रभेद

जैन ग्रन्थो मे इस लोकद्रव्य पुद्गल पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है। उसको अनेक दृष्टियो से अनेक भागो मे वर्गीकृत किया गया है। सामान्यतः उसको चार प्रमुख भागो मे विभक्त किया गया है. स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु। मूर्त द्रव्यो की एक इकाई का नाम ही 'स्कन्ध' है। उस एक इकाई मे बुद्धिकल्पित एक भाग को 'स्कन्ध देश' कहा जाता है। वस्तु का वह अविभागी अश, जो इतना सूक्ष्मतम है कि जिसके फिर अंश नही बन सकते 'स्कन्ध प्रदेश' कहलाता है। स्कन्ध का जो अन्तिम भाग किसी भी प्रकार विभाजित नही हो सकता है 'परमाणु' कहलाता है।

इन चार भेदो के अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने 'नियमसार' ग्रन्थ मे पुद्गल के छह भेद किये हैं. अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। श्री मुनि नागराज जी ने अपनी पुस्तिका मे, आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निर्धारित पुद्गल के उक्त छहो प्रभेदो को हिन्दी मे इस प्रकार समझाया है: "जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन हो सके वह 'अतिस्थूल'; जैसे भूमि, पर्वत आदि, जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन तो न हो सके किन्तु जो अन्यत्र वहन हो सके उसको 'स्थूल'; जैसे घी, तेल, जल, जिस पुद्गल स्कन्ध का न तो छेदन भेदन हो सके और जिसको न तो अन्यत्र वहन किया जा सके उसको 'स्थूल-सूक्ष्म'; जैसे छाया, ताप, नेत्र को छोडकर अन्य चार इन्द्रियो का विषयभूत पुद्गल स्कन्ध 'सूक्ष्म-स्थूल', जैसे वायु तथा अन्य प्रकार की गैसे, जो अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध है उन्हे सूक्ष्म; जैसे मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, वायुवर्गणा आदि; और जो

पुद्गल स्कन्ध अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्कन्धों से भी सूक्ष्म हों उन्हे 'अतिसूक्ष्म' कहते है; जैसे द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि।"

इनके अतिरिक्त 'भगवतीशतक' मे जीव और पुद्गल के पारस्परिक सम्बन्ध को दृष्टि मे रखकर उसके तीन भेद किये गये हैं : प्रयोग, मिश्र और विस्रसा। ऐसे पुद्गल, जो जीव द्वारा गृहीत हैं 'प्रयोग परिणत'; जैसे इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, माँस आदि। ऐसे पुद्गल, जो जीव द्वारा परिणत होकर फिर मुक्त हो चुके है, 'मिश्र परिणत'; जैसे कटे हुए केश, नाखून, तथा मल-मूत्र आदि। ऐसे पुद्गल, जिनमे जीव का सम्बन्ध नहीं तथा स्वयं परिणत हैं उन्हे 'विस्रसा परिणत' कहा जाता है, जैसे बादल, इन्द्र धनुष आदि।

अनेकान्तवाद या विभज्यवाद

जैन दर्शन के क्षेत्र में 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त भगवान महावीर की नयी देन है। यद्यपि महावीर स्वामी ने तत्कालीन विचारको द्वारा उठाये गये प्रश्नो का यथोचित समाधान भी किया, किन्तु वे सभी प्रश्न गौण थे। उस युग के दार्शनिको की सब से बडी समस्या यह थी कि जीव और परमाणु का अवस्थाभेद की दृष्टि से पारस्परिक संबन्ध क्या है। सक्षेप मे यही अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का मूल कारण है और उसका पहले-पहले सर्वसंमत समाधान महावीर स्वामी ने किया।

बुद्ध के समक्ष तत्कालीन विचारको के तीन प्रश्न रखे. (१) संसार नित्य है या अनित्य, वह सान्त है या अनन्त ? (२) आत्मा तथा शरीर मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? और (३) मृत्यु के बाद जीव की क्या स्थिति है ? बुद्ध के समक्ष ये तीन प्रश्न थे, जिनका उत्तर उन्होने नही दिया, क्योकि उन्होने जो मार्ग चुना था उसकी दृष्टि से इन प्रश्नो का कोई सम्बन्ध नही था। इन प्रश्नो का उत्तर देने मे भगवान तथागत की सैद्धान्तिक मान्यताओ का खण्डन होता था। यदि वे संसार को नित्य बताते है तो उन्हे उपनिषदो का 'शाश्वतवाद' स्वीकार करना पडता और यदि वे उसको अनित्य बताते है तो उन्हे चार्वाक का 'उच्छेदवाद' स्वीकार करना पडता। इसी प्रकार के अन्य प्रश्न भी थे। बुद्ध न तो शाश्वतवाद के पक्षपाती थे और न उच्छेदवाद के ही। इसलिए उन्होने उक्त प्रश्नो पर अपना कोई अभिमत न देकर उन्हे 'अव्याकृत', 'स्थापित' तथा 'प्रतिक्षिप्त' कहकर टाल दिया। उन्होने कहा 'जगत नित्य हो या अनित्य, जन्म और मरण तो है ही। यही जन्म-मरण मेरी दृष्टि का विषय है। यही मेरा 'अव्याकृत' है, और इसी से तुम्हारा कल्याण होने वाला है।'

महावीर स्वामी के समक्ष भी वे ही प्रश्न थे। उनको वे तथागत की भाँति

टाल नहीं सकते थे। उन प्रश्नों पर विभिन्न विचारक जो अलग-अलग राय दे चुके थे, उनकी परीक्षा करके महावीर ने उनके स्वीकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षो का समन्वय किया। यह समन्वय क्या था ? यह समन्वय था, पहले सभी वादो पर जड-मूल से गंभीरतापूर्वक विचार करना और उनके सम्बन्ध मे अपने द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को जैनागमों के आधार पर प्रस्तुत करना।

भगवान् तथागत ने 'अव्याकृत' कहकर जिन प्रश्नों को टाल दिया था, भगवान् महावीर ने उनका उत्तर इस प्रकार दिया :

१ जगत् सान्त भी है और अनन्त भी। अपेक्षाभेद से लोक सान्त है, क्योंकि सख्या मे एक है, किन्तु पर्यायो (भावो) की दृष्टि से वह अनन्त भी है, क्योंकि लोक द्रव्य के पर्याय अनन्त है। लोक अनन्त है, इसलिए वह शाश्वत (नित्य) है, क्योकि तीनो कालो मे उसका अस्तित्व है। लोक सान्त होने से अनित्य है, क्योकि उसकी भी एक परिधि है और वह आकाश मे नही है।

२. इसी प्रकार महावीर स्वामी के मत से आत्मा, शरीर से अभिन्न भी है और भिन्न भी। जिस अवस्था मे शरीर, आत्मा से भिन्न है उस अवस्था मे शरीर रूपि और अचेतन है, किन्तु जिस अवस्था मे शरीर, आत्मा से अभिन्न है उस अवस्था मे शरीर अरूपि और सचेतन है।

३. जीव की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध मे महावीर स्वामी ने कहा है जीव (अर्हत) की दो अवस्थाये है. एक तो शुद्धावस्था और दूसरी अशुद्धावस्था। शुद्धावस्था को प्राप्त जीव अशुद्धावस्था को नही लौटता। इसलिए जीव का मरणोत्तर अवस्था मे भी अस्तित्त्व बना रहता है, क्योकि जीव द्रव्य नष्ट ही नही होता। किन्तु मनुष्य का रूप धारण करने वाला जो कर्मकृत जीव है वह नष्ट हो जाता है। अतः जीव शुद्धावस्था या सिद्धावस्था मे तो अमर (सत्य) है और संसारावस्था या कर्मावस्था मे मरणशील। इसी प्रकार द्रव्य तथा क्षेत्र की अपेक्षा से जीव सान्त है, किन्तु काल तथा भाव (पर्याय) की अपेक्षा से अनन्त है।

भगवान् महावीर ने अपेक्षाभेद से द्रव्य के एकत्व और अनेकत्व के सम्बन्ध मे जो समन्वयवादी विचार व्यक्त किये है, जैनागमो मे उनका उल्लेख इसी प्रकार किया गया है। महावीर स्वामी के बाद आचार्य उमास्वाति तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि ने भी 'अनेकान्तवाद' पर बडी गम्भीरता से विचार किया है। जैनो के परवर्ती साहित्य मे अनेकान्तवाद पर जो विश्लेषण हुआ है वह बडे महत्त्व का है।

इस दृष्टि से अनेकान्तवाद की सम्यक् जानकारी के लिए उसका प्रतियोगी शब्द 'एकान्त' का आशय जान लेना आवश्यक है। जैन दर्शन की दृष्टि से पदार्थ मे अनेक धर्मों को स्वीकार किया गया है। उसका 'स्याद्वाद' और 'नयवाद' यही बताता है। इसी पर 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त टिका हुआ है।

जैन विचारकों ने एकान्त और अनेकान्त को दो प्रकार से माना है : सम्यक् और मिथ्या। एक पदार्थ मे विद्यमान अनेक धर्मो मे से किसी एक धर्म को प्रधान मानकर दूसरे धर्मों का जब निषेध नही किया जाता तब उसको 'सम्यक् एकान्त' कहते हैं। इसी प्रकार किसी पदार्थ के एक धर्म को स्वीकार कर जब उसके अन्य धर्मों का निषेध किया जाता है तब वह 'मिथ्या एकान्त' कहलाता है।

एकान्त के उक्त दो प्रकारो की ही भाँति अनेकान्त के भी दो प्रकार हैं। उनमे 'सम्यक् अनेकान्त' उसको कहते हैं, जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणो को अस्वीकार किये बिना ही एक वस्तु मे अनेक धर्मों का निरूपण किया जाय। इसके विपरीत प्रत्यक्षादि प्रमाणो से असमत होकर एक वस्तु मे अनेक धर्मों की कल्पना करना 'मिथ्या एकान्त' कहलाता है।

ऊपर एकान्त और अनेकान्त के प्रकारो को जो परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार 'सम्यक् एकान्त' को 'नय' और 'मिथ्या एकान्त' को 'नयाभास' कहा जाता है। इसी प्रकार 'सम्यक् अनेकान्त' को 'प्रमाण' तथा 'मिथ्या अनेकान्त' को 'प्रमाणाभास' कहा जाता है। जैन दर्शन मे 'सम्यक् एकान्त' और 'सम्यक् अनेकान्त' को माना गया है 'मिथ्या एकान्त' और 'मिथ्या अनेकान्त' को नही।

जैनो के 'अनेकान्त' को कुछ आस्तिक दार्शनिको मे छल की संज्ञा दी गयी है, किन्तु यह ठीक नही है। छल के सिद्धान्त मे एक ही शब्द के दो अर्थ माने जाते है, जो अनेकान्तवाद की दृष्टि से उपयुक्त नही है। एक पदार्थ को एक दृष्टि से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार करना और उसी को दूसरी दृष्टि (अपेक्षा) से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार न करना—एक शब्द के दो अर्थ नही है, जैसा कि छल मे होता है। वह तो व्यापक सिद्धान्तो एवं विचारो पर आधारित है। अतः अनेकान्तवाद को छल नही कहा जा सकता है।

अनेकान्तवाद, संशय का हेतु भी नही है, क्योकि सप्तभंगी नय मे समझाया गया है, कि प्रत्येक पदार्थ मे स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषो की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद मे संशय की कोई गुंजाइश नही है।

इसके अतिरिक्त यदि हम चार्वाक्, बौद्ध, सांख्य, न्याय, और मीमासा आदि दर्शनो के तात्त्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को देखते है तो हमे विश्वास

होता है कि जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढा हुआ सिद्धान्त नही है, जिसमें जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।

परमाणुवाद

आज से सैकडों वर्ष पूर्व जैन विचारक 'परमाणुवाद' पर गंभीरता से विचार कर चुके थे। आज समस्त विश्व को परमाणुवाद के द्वारा जो सर्वथा नयी दिशा मिली है उससे व्यक्ति-व्यक्ति परिचित है। विज्ञान की दिशा मे परमाणुवाद की प्रगति ने आज असंभव बातो को भी संभव बना करके रख दिया है। इस दृष्टि से आज के वैज्ञानिको ने परमाणुओ के सम्बन्ध मे कुछ कहने के लिए शेष नही रखा है, फिर भी यहाँ हम परमाणुवाद पर उस दृष्टि से विचार करेंगे, जो जैन विचारको ने किया था।

पुद्गल के विवेचन मे हम सकेत कर चुके है कि उसके प्रमुख भेदो मे 'परमाणु' भी एक है। परमाणु अविभाज्य है (**अविभाज्यः परमाणुः**)। स्कन्ध (द्रव्य की इकाई) का जो अन्तिम भाग विभाजित नही हो सकता है वही 'परमाणु' कहा जाता है।

उसकी परिभाषा करते हुए 'भगवतीशतक' मे लिखा है कि वह वस्तुमात्र का अन्तिम कारण है। वह सूक्ष्मतम है। वह भूत मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगा। उसमे रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श है। वह किसी पार्थिव साधन (कार्यलिंग) से नही देखा जा सकता है। उसके स्वरूप को तो केवल ज्ञानी ही देख सकते है

कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एको रस गन्धं वर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥

परमाणु अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। उसको आग से नही जलाया जा सकता और नहीं पानी से गलाया जा सकता है। उसकी न तो कोई लम्बाई है, न चोडाई और न गहराई ही। वह इतना सूक्ष्म है, जिसका आदि, मध्य और अन्त नही है। चक्षु, घ्राण, रसना और त्वचा आदि विषयो के रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि चार गुण उसमे विद्यमान रहते है। किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द गुण उसमे नही मिलता; क्योंकि शब्द तो स्कन्धों का ध्वनिरूप परिणाम है। ये ही उसके मूलभूत गुण हैं।

परमाणु के भेद प्रभेद

परमाणु के प्रमुख चार भेद बताये गये हैं: **द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।**

इनमे भी भाव परमाणु के चार प्रकार कहे गये है। भाव का अर्थ है गुण। वे चार भाव है : वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। इनके अतिरिक्त परमाणु के १६ अवान्तर भेद बताये गये है, जिनके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नही है।

जीवात्मत्वाद

जैन दर्शन मे शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतन्त्र माना गया है। भगवान् महावीर की वाणी मे धर्माचरण, अर्थात् संयम, तप, जाप, स्मरण, स्वाध्याय और चिन्तन आदि का अन्तिम प्रयोजन आत्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता मे स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन के इस शरीर भिन्न आत्मतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व, आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्त्व मे विश्वास न करने वाले भौतिकवादी विचारको का मन्तव्य जान लेना आवश्यक है।

भौतिकवादियो की युक्तियाँ

भौतिकवादी विचारक चार्वाक का कथन है कि आत्मा, शरीर भिन्न, कोई अलग तत्त्व नही है। उसकी गणना चार महाभूतो के अन्तर्गत हो जाती है। वे चार महाभूत या महतत्त्व हैं. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। इस सम्पूर्ण जगत् के सचालन के लिए चार महाभूतो को एकमात्र कारण चार्वाक आदि जडवादियो ने स्वीकार किया है। उनको दृष्टि मे पाँच महाभूतो के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतंत्र वस्तु नही है।

भौतिकवादियो की युक्तियों का खण्डन

भौतिकवादियो ने ऊपर जिन चार पदार्थों या महाभूतो के अन्तर्गत ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है, जैन दर्शन की दृष्टि से वह उचित नही है। क्योकि उन महाभूतो मे चेतनतत्त्व का अभाव है। इसलिए स्पष्ट है कि चेतनहीन महाभूतो से सचेतन आत्मा का न तो अन्तर्भाव हो सकता है और न उत्पत्ति ही।

यदि शरीर की ही भाँति आत्मा भी महाभूतो से उत्पन्न है तो इसका उत्तर क्या हो सकता है कि जब मनुष्य निद्रा मे होता है या उसकी मृत्यु हो जाती है उस समय महाभूतो के वर्तमान रहने पर भी उसमे सुनने-बोलने की शक्ति नही रहती है। इस दृष्टि से स्पष्ट होता है कि आत्मा, शरीर से अलग है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि आत्मा एक निर्णेता है और वह शरीर से भिन्न है।

इन युक्तियो के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाता है कि 'यह मेरी आँख है', 'यह मेरा शरीर है'। इससे यह प्रमाणित होता है कि 'मै', 'मेरा' कहने वाली कोई स्वतंत्र सत्ता शरीर मे विद्यमान है। अत सिद्ध है कि महाभूतो से आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, क्योकि उनके रहने पर भी चेतना नही दिखायी देती है।

मति और चेतना मे अन्तर है। जैसे वाष्प में धक्का देने की शक्ति तो है; किन्तु एक इंजिनीयर या ड्राइवर के बिना उस धक्का देने वाली शक्ति का कोई अस्तित्व नही। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कि इंजिनीयर मे रहने वाली चेतना-शक्ति ही आत्मशक्ति है, न कि इंजिन में रहने वाली भाप की गति को आत्मशक्ति कहा जायगा। इन सब का यह निष्कर्ष है कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्त्व है और उसी के माध्यम से जन्मान्तर की कल्पना तर्कसगत प्रतीत होती है।

जीवात्मवाद की सिद्धि

वैज्ञानिक प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि ससार मे अनेक प्रकार के ऐसे पदार्थ है, जो न तो इन्द्रियो से दृष्टिगोचर होते है और जिनको न तो स्पर्श किया जा सकता है, किन्तु वे है, इसमे कोई सन्देश नही है। आत्मा ऐसा ही पदार्थ है। उसको न तो देखा जा सकता है और न छुआ ही जा सकता है, किन्तु उसका अस्तित्व है, इसमे किसी प्रकार का सदेश नही। वह चेतन है और उसका अस्तित्व जीव के द्वारा 'मैं' तथा 'हूँ' के रूप मे अहर्निश प्रमाणित होता है।

कर्मो की दृष्टि से आत्मा और शरीर की पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है। अनादि काल मे आत्मा के साथ कर्म बंधे हुए है और इसलिए पुनर्जन्म तथा परलोक का सिद्धान्त अभ्रान्त तथा अव्यर्थ सिद्ध होता है। प्रत्येक प्राणी के शुभ और अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़कर प्राणी के जन्म-जन्मान्तरो तक चलते है। जहाँ तक कर्मफल भोगने शेष रहते है वहाँ तक आत्मा का उनसे सम्बन्ध बना रहता है और जीव उनका अनुभव करता रहता है। कर्मफलो की अवधि समाप्त हो जाने पर आत्मा स्वतत्र हो जाता है। जीव की यह अवस्था जीवन्मुक्त कही जाती है।

जीव और आत्मा की अनन्तता

जैन दर्शन मे जीवो की दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं : संसारी और मुक्त। संसारी जीव को अपरावस्था ही मुक्त जीव है। यह संसारी जीव भी दो प्रकार का होता है : त्रस और स्थावर। जिनमे सुख प्राप्त करने और दु.ख से विमुक्त होने की प्रवृत्ति है वे 'त्रस' और जिनमे यह प्रवृत्ति नही है वे 'स्थावर' कहलाते है।

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्यरूप मे जीव अनन्त है, किन्तु ज्ञानरूप मे एक है। इसलिए द्रव्यरूप से प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मा भिन्न-भिन्न है और ज्ञानरूप से एक है।

आत्मा का स्वरूप

'जैन मत से जो आत्मा है, वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने के सामर्थ्य के द्वारा ही आत्मा की प्रतीति सिद्ध होती है। उसके स्वरूप को बताया नही जा सकता है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने कहा है कि आत्मा मुक्त है। वह न बड़ा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है। न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न श्वेत है, न सुगंधिवाला है, न दुर्गंधिवाला है। न कड़वा है, खट्टा है, न कषैला है, न मीठा है। न कठोर है, न कोमल है। न भारी है, न हल्का है। न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है, न रूखा है।

उसका न तो शरीर है न पुनर्जन्म होता है। वह न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुसक ही। उसके लिए कोई शब्द नही, उसका कोई रूप नही और उसके लिए कोई उपमा नही।

वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है।

परमात्मा या ईश्वर

जैनियो का परमात्मा (परम + आत्मा) या जिनेश्वर ही ईश्वर है। तीर्थंकर भी उसके लिए परमात्मा के ही रूप है। इसी दृष्टि से वे उनकी पूजा करते है।

उस परमात्मा मे मुख्य चार गुण माने गये है १. अनन्त ज्ञान, २. अनन्त दर्शन, ३. अनन्त वीर्य और ४. अनन्त सुख।

वह परमात्मा अपने ही अनन्त गुणो मे विराजमान है। उसको इस ससार की किसी भी वस्तु से कोई प्रयोजन नही है। वह इस जगत् के नियमो तथा कार्यो से ऊपर है। पाप और पुण्य से वह अछूता है। वह न तो कर्मो का फल भोगता है और न लोगो को उनके कर्मो का फल देता है।

वह संसार का भाग्यविधाता भी नही है। वह क्रोध, अपमान, लोभ, हानि भय तथा विस्मय आदि विकारो से रहित है। वह सर्वज्ञ है, अजर, अमर है। विश्व के उत्पत्ति, विनाश आदि कार्यो से उनका कोई वास्ता नही है।

उसी को जैन धर्म मे परम आत्मा या ईश्वर माना गया है।

पुनर्जन्म और मोक्ष

कर्म की श्रेष्ठता पर जैन धर्म मे बारीकी से विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है कि अच्छे कर्म करने चाहिएँ और बुरे कर्मों से अलग रहना चाहिए। अच्छे कर्मो से पुण्य और बुरे कर्मों से पाप होता है। पुण्य के संचय से सुख और पाप के संचय से दुःख होता है। जैन धर्म का यह विश्वास है कि अच्छे कर्मो के करने से अच्छे वंश मे जन्म मिलता है।

जैनो यह मानते है कि जीव, एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाता है। अपने

द्वारा कमाये गये कर्मों के अनुसार ही उसको दूसरा जन्म मिलता है। जैसा कि वैदिक दर्शनो में भी माना गया है कि पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक मिलता है। जैनी लोग भी यही मानते हैं। उनका कहना है कि जब पुण्य और पाप समान हाते है या पाप से पुण्य अधिक होता है तब जीव को अच्छी गति मिलती है। ब्राह्मण तथा गाय की योनि में जन्म लेना अच्छा माना गया है।

पुण्य कर्मों के निरन्तर करते जाने से 'सम्यक् दृष्टि' प्राप्त होती है। उसके बाद मनुष्य पाप-पुण्य दोनों पर विजय प्राप्त करके जिन (देवता) हो जाता है। जिन होने के बाद शेष जीवन धर्म का प्रचार करते रहने से वह तीर्थंकर कहलाता है। तीर्थंकर महात्माओ की सभी इच्छाये अपने वश में होती है। वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं।

मोक्ष का मूल कारण ज्ञान है। 'जो एक को जानता है वह सब को जानता है; और जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥

यही मोक्ष का मूल कारण 'सम्यक्' ज्ञान है।

आचार दर्शन

चार कषाय

ये कषाय मनुष्य को बुराई की ओर ले जाने वाले, सुख मे दुःख बन कर आने वाले और तपस्या मे रोग का रूप धारण करने वाले सबसे बडे पाप है। इनको दूर करना परम आवश्यक है। कहा भी है

'जिस प्रकार नील चढे कपडे पर कसूबे का रंग नही चढता उसी प्रकार जिसकी आत्मा कषायो से कलुषित हो चुकी है उसके अन्त करण मे धर्म की बात नहीं उतरती।'

जैसे दावानल से वन के तमाम वृक्ष राख हो जाते है उसी प्रकार कषायो के वश मे हुआ जीव अपने जन्मान्तर के कार्यों को नष्ट कर देता है। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए कषायो का उन्मूलन आवश्यक बताया गया है।

ये कषाय संख्या मे चार है १ क्रोध, २ मान, ३. माया और ४ लोभ। इनका स्वरूप, इनसे होने वाला अनिष्ट और इन पर विजय पाने के लिए संयम की आवश्यकता है। यह संयम, सदाचार से प्राप्त होता है। अतः जैन धर्म मे आचार शास्त्र या आचार दर्शन का मुख्य स्थान है।

सदाचार

शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए राग, द्वेष, मोह, कोध, मान, माया और लोभ आदि दुर्व्यसनो का परित्याग करने के लिए जो आचरण किया जाता है उसी को 'सदाचार', 'संयम' या 'सम्यक् चारित्र' कहा जाता है। पापकर्मों का परित्याग और पुण्यकर्मो का आचरण ही सदाचार है।

हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, उद्दण्डता (क्रोध) का व्यवहार करना और माँगना—ये सभी पापकर्म है। इनसे दूर रहना चाहिए। इनके विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह—ये पुण्यकर्म हैं। ये सदाचार हैं। इन से चरित्र का निर्माण होता है।

अहिंसा : राग, द्वेष आदि विकारो या व्यसनों की उत्पत्ति को हिंसा और उनके दमन को अहिंसा कहा गया है। स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर, किसी भी जीव की मन, वाणी तथा शरीर से हिंसा न करना, न कराना तथा करते हुए का समर्थन न करना ही अहिसा का परिपालन करना है।

सत्य : असत्य (झूठ) न बोलना ही 'सत्य' है। मन, वाणी और शरीर से क्रोध, लोभ, मोह या भय से अथवा मजाक मे कभी झूठ का आचरण न करना, न कराना और न करते हुए का समर्थन करना सत्य का आचरण है।

अस्तेय : दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई या बिना दी हुई वस्तु को ले लेना, दूसरे को ले लेने की राय देना या उसका समर्थन करना, सब चोरी है। इससे विमुख रहना 'अस्तेय' है।

अक्रोध : क्रोध न करना ही 'अक्रोध' है। मन, वाणी तथा शरीर से किसी जीव पर क्रोध न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना 'अक्रोध' है।

अपरिग्रह : किसी से कोई वस्तु ग्रहण न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संग्रह न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना 'अपरिग्रह' है।

सदाचार का आधार दया

सदाचार का आधार दया है। दया के चार रूप है : १. बदले की भावना न करके भलाई करना; २ दूसरे की उन्नति पर खुश होना, ३. दुखियों के लिए सहानुभूति और उनके दु.ख दूर करने के लिए यत्न करना, ४. पापकर्म करने वालों के प्रति करुणा।

बारह प्रकार की भावना

जैन धर्म के आदेशानुसार प्रत्येक जैनी को इस बारह प्रकार की 'भावना' या 'अनुपेक्षा' का पालन करना चाहिए।

१. **असत्य भावना** : इस संसार में कोई अमर नही है। सब कुछ क्षणभंगुर है।
२. **अशरण भावना** : इस संसार में जीव का कोई सहारा नही है। जो जैसा कर्म करेगा उसको वैसा ही फल मिलेगा।
३. **संसृति भावना** : पूर्व जन्म मे हमने अनेक तरह के दुःख भोगे हैं। अब हमे उन दुखों से छुटकारा पाने के लिए यत्न करना चाहिए।
४. **एकत्व भावना** : मैं इस संसार मे अकेला ही हूँ। पुत्र-पिता आदि के ये सारे संबंध व्यर्थ है।
५. **अन्यत्व भावना** : संसार की सभी वस्तुएँ मुझ से भिन्न है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है।
६. **अशुचि भावना** : यह शरीर बडा अपवित्र है। इसका अभिमान करना व्यर्थ है।
७. **आस्रव भावना** : जिनके कारण नये सत्कर्म उत्पन्न हो, ऐसी बातों को सोचते रहना चाहिए।
८. **संवर भावना** : नये कर्मों से आत्मा न बँध जाय, ऐसे उपायो को सोचते रहना चाहिए।
९. **निर्जरा भावना** : कर्मों के बंधन को क्षीण करने के उपायो को सोचते रहना चाहिए।
१०. **लोक भावना** : यह संसार किन-किन द्रव्यो से बना है तथा इसके तत्त्व क्या-क्या है, इसका चिन्तन करते रहना चाहिए।
११. **बोधि-दुर्लभ भावना** : सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, ये तीन रत्न दुर्लभ है। इनके अतिरिक्त संसार को सभी वस्तुएँ सुलभ हो सकती हैं, ऐसा सोचते रहना चाहिए।
१२. **धर्म भावना** : ये तीन रत्न ही संसार के सभी प्रकार के सुखों को देने वाले धर्म है, ऐसा विचार करते रहना चाहिए।

कर्मों का परित्याग

जीव को अपने किये हुए भले-बुरे कर्म स्वयं भोगने पडते हैं। चाहे अपना

कुटुम्ब ही क्यो न हो, उनको भोगने के लिए हाथ नहीं बँटाता । सब प्रकार के जीव कर्म के अधीन है । कर्म किसी को भी क्षमा नही करता ।

अपने इस जीवन के लिए, यश, मान, सत्कार के लिए; जन्म, मृत्यु; दु ख से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अनेक प्रकार की क्रियाओ मे प्रवृत्त होना पडता है ।

मैंने किया, मैने करवाया, करते हुए दूसरे का अनुमोदन किया, मैं करता हूँ, करवाता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मै करूँगा, मैं करवाऊँगा, करते हुए का अनुमोदन करूँगा — ससार मे समस्त कार्यों के इतने ही रूप होते हैं। इनसे अधिक नही ।

यह दिखायी देने वाली सारी लीला कर्म को है । प्रत्येक जीव मोह के नशे मे माता, पिता आदि के संबंधो को सच्चा मान कर अनन्तकाल से दु खो के सागर मे गोता लगाता आ रहा है, और आगे के लिए उसी नरककुण्ड मे जाने के लिये कर्म कर रहा है । जीव की यह सबसे बडी भ्रांति है, और इसी भ्रांति के कारण वह अपने वास्तविक कल्याण को नही पहचान पा रहा है ।

जैनो की दृष्टि से कर्म ही भ्रांति है । अन्य दर्शनो मे जिसको माया, प्रपच, प्रारब्ध, संचित तथा अदृश्य आदि भिन्न-भिन्न नामों के कहा गया है वह कर्म ही है । इसी के कारण धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने की भ्रांति होती है ।

इस भ्राति का नाश करने के लिए भगवान् ने कहा है 'हे मनुष्यो, तुम पापकर्मों से मुक्त हो जाओ (**पुरिसो रम पावकम्मरणा**)।' यह जीव कर्मों के वश मे है । इसलिए प्रतिक्षण वह दु खो है । कभी-कभी जीव दु.खो को दु ख नही समझता, क्योंकि दु.खो को सहने का उसे अभ्यास हो जाता है । ये दु ख यदि ज्ञानपूर्वक वैराग्य से सहे जायँ तो कल्याण हो सकता है ।

कर्मों की भट्टी मे चढा हुआ जीव सुख-दु ख को उल्टा करके देखना है । उदाहरण के लिए माँगना एक सामाजिक बुराई है; किन्तु साधुओं के लिए वही उचित बताया गया है । इसी प्रकार भूमि पर सोना दरिद्रता का लक्षण है । साधु के लिए भूमिशयन ही उचित बताया गया है । ससार में जिनको सुख कहा जाता है, वैराग्य मे वे ही दु ख हैं। वास्तविक सुख वह है, जिसका अन्त भी सुख ही हो । इसी प्रकार दु ख वही है, जिसका अन्त भी दु ख ही हो । जिस दु.ख का अन्त सुख मे है वही वास्तविक सुख है । इसी प्रकार जिस सुख का अंत दु.ख मे हो वही वास्तविक दु ख है ।

यह जानते हुए भी कि मनुष्य निराधार है, वह प्रशंसा, सम्मान, सत्कार

आदि के लिए नित्य प्रति पृथ्वी मे रहनेवाले (पृथ्वीकाय) अनन्त जीवो की हिंसा करता है; दूसरो से करवाता है और करने वालो का समर्थन करता है।

कर्म के स्वरूप को जानकर, कर्म की जड हिंसा को मानकर और सब उपायों द्वारा राग-द्वेष से दूर हटकर 'संयम' का अभ्यास करना चाहिए।

'मैने आसक्त होकर बड़े पापकर्म किये है' ऐसा सोचकर सत्य मे दृढ़ विश्वास करना चाहिए। सत्य मे जिसका अडिग विश्वास है वह सभी प्रकार के पापकर्मों का विनाश कर डालता है। इसलिए महावीर स्वामी ने कहा है 'हे आय, संसार के जन्म और वार्धक्य को देख। विचार कर जान कि सब प्राणियो को सुख अधिक प्रिय है। जो जानकार (तत्त्वज्ञ) लोग हैं वे सत्य मे आस्था रखते हुए पापकर्मों को नही करते।' जो सत्यवादी पुरुष है वह अपना कल्याण स्वयं देख लेता है।

साँप की केंचुली से कर्मों की तुलना करते हुए एक गाथा मे कहा गया है कि 'हे भव्य जीवो, केंचुली त्याग देने योग्य होती है। इसलिए सर्प उसका त्याग कर देते है। यदि वे ऐसा नही करते तो उनकी दुर्दशा होती है।'

इसी तरह कर्म भी त्याग देने योग्य है। जितने भी क्रोध, मद, माया और लोभ आदि कषाय (नशे) हैं, मुनि लोग उनको कर्म का कारण समझ कर त्याग देते हैं। कर्म और कषाय का अन्वय-व्यतिरेक संबध है। अर्थात् कषायो के होने पर कर्म होते है और कषायों के नष्ट होने पर कर्म भी नष्ट हो जाते है। 'कारण नही होन से कार्य नही होता' ऐसा विचार कर मुनि लोग गोत्र, जाति, कुल और रूप आदि के मद मे उन्मत्त नही होते।

विषय वासनाओं का परित्याग

एक गाथा मे कहा गया है 'हे भव्य जीवो, यदि तुम इस संसार की पीडाओ से घबरा गये हो, यदि जन्म, वार्धक्य तथा मृत्यु के दु ख से तुम्हारा मन उद्विग्न हो गया है, और यदि तुम्हारी इच्छा इस संसार रूपी वन को छोड कर मुक्तिमंदिर मे जाने की है, तो तुम्हे चाहिए कि विषयरूपी विषवृक्ष के नीचे एक क्षण भी न रुको।'

इन्द्रियो का विषयो मे रमण करना ही इस ससार का मूल कारण है। विषयो की इच्छा करनेवाला व्यक्ति प्रमादी हो जाता है और माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, संपत्ति आदि के लोभ, मोह मे पडा हुआ वह चिन्ता के झूले मे झूलता रहता है। ऐसा व्यक्ति समय-असमय का ध्यान रखे बिना लूट-खसोट करता रहता है।

यह शरीर नाशवान् है। फिर भी मनुष्य प्रमादवश 'जो किसी ने नहीं किया' ऐसा करने का दंभ भरता रहता है। किन्तु जो बुद्धिमान् होते हैं वे विषयों से विमुख होकर धर्म मे मन लगाते है। जो व्यक्ति बिना किसी प्रकार का लोभ किये साधु का जीवन धारण कर संयम का पालन करता है वही वास्तव मे सब कुछ देखता और जानता है।

मनुष्य हिसा इसलिए करता है कि वह अपने को सब में सब प्रकार से बड़ा बनाये रखे। या वह भय से, या पाप से अथवा किसी आशा से हिंसा करता है। ये सभी व्यसन हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को इनसे दूर रहना चाहिए।

ये रंग-विरंगे कपडे, ये मणि-कुण्डल और सुवर्ण के आभूषण, ये स्त्री, पुत्र आदि सभी तो विषय है। मनुष्य को उलझा देने वाले है। इनमे आसक्त रहने वाले व्यक्ति को तप, दम, नियम आदि कुछ नही दिखायी देते।

जिस पुरुष को शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन विषयों को जानकारी हो गयी है वही आत्मज्ञानी, वेदज्ञ, धर्मज्ञ और ब्रह्मज्ञ है।

जो पुरुष शब्दादि विषयो की इच्छा से उत्पन्न होने वाली हिंसा को जानता है यह सयम को भी जानता है, और जो संयम को जानता है वह शब्दादि विषयो से उत्पन्न होने वाली हिमा को भी जानता है।

अहिंसा का स्वरूप

जैन धर्म का अहिंसाव्रत जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है। प्रत्येक संसारी व्यक्ति और यतिधर्म मे दीक्षित विरक्त के लिए अहिंसा का परिपालन करना पहला आवश्यक कर्त्तव्य है।

यद्यपि अन्य धर्मों में भी अहिंसा के परिपालन पर बडा बल दिया गया है, किन्तु जैन धर्म मे अहिंसा का विचार कुछ नये ढग का है। बल्कि महावीर स्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि अन्य धर्मों तथा शास्त्रो मे हिंसा के पक्ष पर जो विचार किया गया है वह भ्रामक है।

जैन धर्म में अपकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय आदि छह प्रकार के जीव बताये गये हैं। चीटी से लेकर हाथी तक जितने भी चेतन प्राणी हैं और राई से लेकर पर्वत तक जितने भी जड़ या अचेतन प्राणी है, सब को जैन धर्म मे जीव माना गया है। इन अचेतन प्राणियों का स्वरूप वैसा ही है, जैसा मनुष्य आदि चेतन प्राणियो का है।

उदाहरण के तौर पर जैसे मनुष्य पैदा होता है वैसे ही वनस्पति (पेड़-पौधे)

की भी पैदाइश होती है। जैसे मनुष्य का शरीर बढता है वैसे ही वनस्पतियाँ भी बढती हैं। जैसे मनुष्य का शरीर काट देने से वह सूख जाता है वैसे ही वनस्पतियो को काट देने से वे कुम्हला जाती हैं। जैसे मनुष्य खाता है वैसे ही वनस्पतियाँ भी खाती है। जैसे मनुष्य अनित्य है वैसे ही वनस्पतियाँ भी अनित्य है।

इसी भाँति पाँच प्रकार के अन्य जीवो का भी संबंध है। जब कि संसार की प्रत्येक वस्तु मे प्राण है तो निश्चित ही जाने या अनजाने मे निरन्तर हमारे द्वारा हिंसा होती रहती है। उन्ही से बचे रहने के लिए महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरो ने कुछ उपाय बताये हैं।

इन अनेक प्रकार की हिंसाओ से बचने के लिए पहली आवश्यकता है इन्द्रियो को वश मे करने की। जिसकी इन्द्रियाँ वश मे नही है, ऐसा विषयो मे फँसा हुआ पुरुष हर जगह हर किसी को कष्ट पहुँचाता है। वे विषय केवल भोग वासना के ही नही है, बल्कि पूजा-अर्चना के लेकर मांस खाने तक अनन्त हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि ये हिसायें हमसे अनजाने मे ही हो जाती है। उसका कारण यह कि है जीव इतने सूक्ष्म भी है, जो पलक मारने से ही मर जाते हैं। इन जीवो को हम अर्थ के लिए भी मारते हैं और बिना अर्थ के लिए भी। इन सूक्ष्म जीवो की हम अनेक उद्देश्यो से हिसा करते हैं,

१. इसने मुझे पहले कभी मारा था, अत. इसको भी मारना चाहिए, इस भावना से।

२. यह मुझे मारता है, अत. इसको भी मै मारता हूँ, इस भावना से।

३. यह मुझे आगे चल कर मारेगा, अत इसको भी अभी मारना चाहिए, इस भावना से।

ये अनेक तरह की भावनाये ही हमे अनेक प्रकार की हिंसाओ को करने के लिए विवश करती है।

महावीर स्वामी ने जीवो की हिंसा को चोरी (**अदत्तादान**) कहा है (**अदुवा अदिन्नादाणम्**)। जो व्यक्ति अपने सुख की तरह दूसरो के सुख का ध्यान रखता है वह हिंसा के कुकर्म से बच जाता है।

इन हिंसाओ से बचने के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उक्त सभी प्रकार के हिसाओं का परित्याग कर दे। उसका प्रचार भी करे और उसके प्रचार करने वालो की हामी भरे।

इस लोक मे जो व्यक्ति प्रयोजन के लिए या बिना प्रयोजन के लिए

षट्काय (छह तरह के) जीवो की हिंसा करता है वह इन्ही जीव-योनियो मे बार-बार जन्म लेकर फिर-फिर मारा जाता है।

अहिंसा का एकमात्र रास्ता है, जिस पर चलकर सभी रास्तो का अपने आप पता लग जाता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि वह किसी जीव की हिंसा न करे, न कराये और न हिंसा करने वाले का साथ दे।

यह संसार (नर-भव) एक अवसर है। ऐसे अवसर को पा जाने के बाद प्रमाद नही करना चाहिए। दूसरे प्राणियो को अपने ही समान देखना चाहिए। किसी भी प्राणी की सब तरह की हिंसा से दूर रहना चाहिए।

मुनि धर्म या यति धर्म

मुनि

संसार सागर को तरने वाला ही 'मुनि' या 'यति' कहलाता है। उसी को 'तीर्ण', 'मुक्त' या 'विरक्त' कहा गया है (**एस ओहन्तरे मुणी, तिण्णे मुत्ते बिरए वियाहिए त्तिबेमि**)। जो प्रज्ञा (बुद्धि या ज्ञान) की आँखो मे लोक के स्वरूप को अच्छी तरह देखता या जानता है वही 'मुनि' या 'यति' है।

मुनि होने के लिए ममता का परित्याग

जो जीव मुनि होना चाहता है उसको चाहिए कि पहले वह अपने कुटुम्ब के लोगो से अपना पीछा छुडा ले। छुडाने की रीति इस प्रकार है। वह कहे :

'हे इस जन के भाई-बन्धुओ, मेरा आत्मा, तुम्हारा आत्मा नही है—ऐसा तुम निश्चय कर जान लो। मेरे आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश हुआ है। इसलिए मेरा आत्मा अपने असली भाई-बन्धुओ से मिलने जा रहा है। हे माता-पिता, तुमने मुझे पैदा किया, मेरे आत्मा को पैदा नही किया। इसलिए इसकी ममता छोडो। हे इस जन की स्त्री, तू इस आत्मा को प्रसन्न नही करती, इस जन को प्रसन्न करती है। अत. इस आत्मा से ममताभाव को छोड दे। हे इस जन के पुत्र, तू इस जन से पैदा हुआ है, इस जन के आत्मा से तेरा कोई नाता नही है। इसलिए इस आत्मा से ममता छोडे दे।'

इसी प्रकार भाई, माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि से पीछा छुडाना चाहिए।

वैराग्य से ही मोहबंधन को काटा जा सकता है

एक गाथा मे कहा गया है : 'हे भव्य जीवों, समझो समझते क्यो नही ? परलोक मे धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। गया समय फिर वापिस नही आता।

बार-बार मनुष्य-जीवन मिलना कठिन है। कई बालकपन मे, कई वृद्धावस्था मे और कई जन्मते ही मर जाते हैं। आयु समाप्त होने पर जीवन किसी तरह नही टिकता। जिस प्रकार श्येन पक्षी छोटी-छोटी चिड़ियो को खा जाता है उसी प्रकार काल भी जीवों का संहार कर लेता है।'

'जो जीव माता-पिता आदि के मोह मे पडा है, उसको अच्छी गति नहीं मिलती। वह दुर्गति को जाता है। . . . . . . लोहे की जंजीरो को शरीर के बल से तोड़ा जा सकता है; किन्तु माता, पिता, पुत्र, स्त्री, और बंधु रूपी पदार्थ मे बनी हुई, मोह-जंजीर शरीर के बल से भी नही टूट पाती। उसको तोडने के लिए परम वैराग्य रूपी तेज कुठार की आवश्यकता है।'

इसलिए 'हे भव्य जीवो, सन्तोष को अपनाओ और मोह, ममता को छोड दो। थोडे समय के सुखाभास के लिए सागर के समान दु ख को किस लिए अपने शिर लेते हो ?'

'जिस कुटुम्ब के लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो वह तुम्हारे साथ चलने वाला नही है। जो कुटुम्बी तुम्हारे साथ चलने वाले है उनको अपनाने के लिए यदि थोड़ा सा भी प्रयत्न करोगे तो हमेशा के लिए सुखी बन जाओगे !'

ससार दुःखमय है

१ 'हे भव्य जीवो, यह ससार, समुद्र की तरह अपार है, और प्राणियो को चौरासी लाख योनियों मे भटकाने वाला है।'

२ इस ससाररूपी नाटकशाला मे जीव, कभी तो ब्राह्मण का रूप धारण करता हैं, कभी चाण्डाल का, कभी सेवक का और कभी स्वामी का। कभी तो वह ब्रह्मा का पार्ट अदा करता है और कभी छोटा-सा कीड़ा बन जाता है।

३ यह संसारी जीव, किराये की कोठरी की तरह किस योनि मे नही जाता और किस को छोडता है ? वह सब मे जाता हैं और सब को छोड़कर लौट भी जाता है।

४. नाना प्रकार के रूप रचकर यह जीव, कर्म के योग से समस्त लोकाकाश मे फिरता है। बाल भर भी स्थान नही बचा, जहाँ जीव न गया हो। अर्थात् वह इस लोक मे आकर अनन्त बार जन्म-मरण कर चुका है।

५. यह संसारी जीव चार प्रकार की योनियो मे विभक्त हैं : १. नरक, २. तिर्यंच (पृथ्वीकाय), ३. मनुष्य और ४. देव। इन चारो गतियो मे जीव कर्मपीड़ित और दुःखी है।

दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय

इन नाना प्रकार के सासारिक दु खों से छुटकारा पाने के लिए पुरुष को 'शीतोष्णत्यागी' और 'निर्ग्रंथ अरतिरति' होने की आवश्यकता है। सर्दी-गर्मी मे एक समान बने रहने वाले पुरुष को 'शीतोष्णत्यागी' और धर्म मे अरुचि तथा अर्धम मे रुचि पैदा करने वाले प्रसगो को जो सहन करता है उसको 'निर्ग्रंथ अरतिरति' कहते है। कितने ही कठोर, भयप्रद एवं कष्टकर परिस्थितियाँ क्यो न आ जायँ उनसे जो विचलित नही होता वही दु.खो को जीतने वाला है। 'गीता' मे ऐसे पुरुष को 'स्थितधी' (स्थिर बुद्धि) कहा गया है। इसी को यतिव्रत कहा गया हैं।

यतिव्रत को धारण करने से मनुष्य समस्त सासारिक क्लेशो से छुटकारा पा सकता है।

यति धर्म के आवश्यक कर्तव्य तथा नियम

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने कहा है

जो भिक्षु १ भिक्षा के समय को जानने वाला (कालज्ञ), २ भिक्षा देने वाले की शक्ति को जानने वाला (कालज्ञ), ३. भिक्षा की मात्रा को जानने वाला (मात्रज्ञ), ४. भिक्षा के अवसर को जानने वाला (क्षणज्ञ), ५. भिक्षा के नियमो को जानने वाला (विनयज्ञ), ६. अपने सिद्धान्त और दूसरे के सिद्धान्त को जानने वाला (स्व-समयज्ञ पर-समयज्ञ), ७. दूसरे के अभिप्राय को जानने वाला (भावज्ञ), ८ भोगोपभोग की सामग्री (परिग्रह) मे ममता न करने वाला, ९. समय से अनुष्ठान करने वाला और १० प्रतिज्ञा को जानने वाला होता है वह राग-द्वेष का छेदन कर मोक्ष के मार्ग मे आगे बढता है।

भिक्षुक को चाहिए कि वह वस्त्र, पात्र (प्रतिग्रह), कम्बल, रजोहरण (पादपुच्छनक), स्थान (अवग्रह), शय्या (कटासन) और आसन आदि सामग्री को गृहस्थो से माँग ले।

भोजन मिल जाने पर उसमे से कितना लेना चाहिए, इसका ध्यान रखे।

भिक्षुक को चाहिए कि भिक्षा मिल जाने पर वह गर्व न करे। न मिलने पर शोक न करे। अधिक मिलने पर उसका संग्रह न करे। भोगो से अपने को दूर रखे।

इस मोक्ष मार्ग को आर्य तीर्थंकरो ने बताया है। ऐसा आचरण करने से बुद्धिमान् पुरुष कभी भी कर्मो के फंदे मे नही जकड़े जाते।

संयम या आत्मनिग्रह का पालन

इन्द्रियो का निग्रह हो आत्मनिग्रह है। यह संयम से ही संभव है। साधक पुरुष अपने ही भीतर चुपचाप अपने मित्र को खोज लेता है। इसी को महावीर स्वामी ने 'अपनी आत्मा का निग्रह' कहा है।

यदि संयमी पुरुष किसी कारण कामवासना (ग्राम धर्म) से पीडित हो जाय तो वह ऐसा आहार करे, जिसमे कोई तत्त्व न हो। वह आहार की मात्रा कम कर दे। निरन्तर ध्यान मे लगा रहे। एक गाँव से दूसरे गाँव चला जाय। आहार को बिल्कुल छोड दे।

वह स्त्रियो से बातें न करे। स्त्रियो की ओर न ताके। उनके साथ एकान्तवास न करे। ऐसी वेश-भूषा न बनाये, जिस पर स्त्रियाँ रीझती हों। वह ब्रह्मचर्य का पालन करे।

'हे दुःखी एव प्रमादी मनुष्यो, मै तुम्हे सच्ची बात बताता हूँ। मृत्यु के मुँह मे पडे प्राणी को मृत्यु न आये, ऐसा हो नही सकता। जो वासनाओ के वश मे है, असयमी ह, समय की लपेटो मे है और जो रात-दिन संग्रह करने मे लगा है, निश्चित ही वह अनेक प्रकार के जीवो मे जन्म लेकर दुःखो की भट्टी मे तपता रहता है।'

शरीर को क्षीण करना

मुनि को चाहिए कि वह शरीर को धुने (कृश करे)। वह रूखे आहारो का भक्षण करे। जो बुद्धिमान् मनुष्य शरीर मे आत्मा को अलग करके देखता है वह बिना मोह किये शरीर को तप से क्षीण करता है।

तप से शरीर और कर्म क्षीण हो जाते है

त्यागी यतियो के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तप एक आवश्यक विधान है। तप से होने वाले लाभ के सबंध मे एक गाथा मे कहा गया है कि :

'जिस प्रकार भीत (दीवाल) पर लगाये गये चूने या मिट्टी-गोबर के गिर जाने से भीत पतली या कमजोर हो जाती है उसी प्रकार अनशन (उपवास) आदि छह प्रकार के वाह्य तप का अनुष्ठान करने पर शरीर के कृश होने के साथ ही कर्म भी कृश हो जाते है। उसके बाद सर्वज्ञ, वीतराग एव अहिसा प्रधान सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति होती है।'

तप से उपसर्गों पर विजय

उपसर्ग दो प्रकार के है. अनुकूल और प्रतिकूल। ये दोनो आपस मे

एक-दूसरे के विरोधी हैं। इनका जब परस्पर संघर्ष होता है तब अनुकूल उपसर्गों की ही विजय होती है। इसको तप या संयम द्वारा ही जीता जा सकता है। कहा गया है कि संसारत्यागी, यति धर्म के पालन मे तत्पर, निर्दोष आहार करने वाले और अनेक प्रकार के तप करने वाले अनगार (गृहत्यागी) को 'अनुकूल उपसर्ग' संयम के ऊँचे स्थान से लेशमात्र भी नही गिरा पाते।'

माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि के करुणाजनक वचन एव रुदन, शोक ही 'अनुकूल उपसर्ग' है। जो साधु इनकी ओर ध्यान नही देता वही अपने चरित्र को भ्रष्ट नही होने देता। वही मुक्ति को प्राप्त करता है।

मोक्ष के पाँच रत्न

मोक्ष के पाँच उपायो को जैन धर्म मे 'पाँच रत्न' कहा गया है। उनके नाम हैं: १. संसार, २. मोक्ष, ३. मोक्ष के साधक, ४ मोक्षसाधन के मनोरथ और ५ शिष्यों का शास्त्रपठन लाभ।

१. **ससार** : जिन जीवो मे मिथ्याबुद्धि है, वे ही जीव संसार हैं। यह मिथ्याबुद्धि ज्ञान से मिटायी जा सकती है। ज्ञान ही मोक्ष का दाता है।

२. **मोक्ष** : जो प्रत्येक दृव्य से मुक्त अपने ही स्वरूप मे लीन है वे ही जीव मुक्त हैं।

३. **मोक्ष के साधक** : संसार के कर्मरूप किवाडो के उद्घाटन मे जिन्होंने अपनी शक्ति दिखायी है और जो बडे प्रभावशाली है, एसे शुद्ध जीव मोक्ष के साधक है।

४. **मोक्ष साधन के मनोरथ** : महामुनि का जीवन ही सब प्रकार के कर्मों का साधन है। इसी दशा मे होने पर सब मनोरथ पूर्ण होते हैं।

५. **शिष्यों का शास्त्रपठन लाभ** : जो श्रावक और मुनि इस भगवान् प्रणीत उपदेश को समझता है वह थोडे ही समय मे परमात्मभाव को समझ लेता है।

यति जीवन के अन्य आवश्यक कर्तव्य

१. मूर्च्छा (मित्रता या आसक्ति) का त्याग
२. एकाकी जीवन मे रहना
३. स्त्री आदि के संसर्ग का त्याग
४. वचन-शुद्धि
५. अज्ञानजन्य प्रवृत्ति का त्याग
६. विषयो का त्याग

७. निष्कपट भाव मे रुचि
८. विषयो की इच्छा का त्याग
९. मानसिक बल
१०. कषायो का त्याग
११. मोह का त्याग
१२. स्वार्थपरता का त्याग

इस प्रकार जैन धर्मानुयायी समाज मे आचार के नियमों का परिपालन करना आवश्यक बताया गया है। ऐहिक जीवन के अभ्युदय और पारलौकिक जीवन की नि श्रेयस सिद्धि के लिए आचार दर्शन को जैन मुनि-समाज मे श्रेष्ठ माना गया है। किसी भी धर्मप्रवण जैनी के लिए, शास्त्रनिर्दिष्ट नियमो का समुचित निर्वाह करना अनिवार्य बताया गया है।

जैन दर्शन मे आचार की श्रेष्ठता को जिस रूप मे स्वीकार किया गया है उसकी तुलना मीमासा दर्शन से की जा सकती है। मीमांसा के धर्म-विधान और कर्म-विधान का लक्ष्य परमपद की उपलब्धि है। जैन दर्शन मे तीर्थंकर महात्माओ को उसी परम पद का अधिकारी बताया गया है। जैनो के आचार दर्शन मे एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि उसके आधार व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं से परीक्षित है।

*

बौद्ध दर्शन

* * * *

बौद्ध धर्म

तथागत बुद्ध की जो शिक्षाये और उपदेश है उनमे दो बातो को प्रधानता है। बुद्ध ने दो तरह से कहा है। उनके विचारों का एक पक्ष तो व्यष्टिमय है और दूसरा समष्टिमय। व्यक्तिगत जीवन की सद्गति के लिए उन्होने जो बातें कही हैं वे व्यष्टिमय और लोकहित के लिए उन्होने जो बाते कही है वे समष्टिमय कहलाती है। उनके व्यष्टिमय विचारो मे त्याग तथा योग को बड़ा माना गया है। इस दृष्टि से बुद्ध मनुष्य पहले है और देवता बाद को। उनके समष्टिमय विचारो मे 'बहुजनहिताय' (सब के लिए कल्याण-कामना) की भावना है।

बुद्ध के पहली कोटि के विचारो के अनुसार श्रीलका, वर्मा तथा थायी देशो मे बौद्ध धर्म का विकास हुआ। उनकी दूसरी विचारधारा को मौर्यों, कुषाणो तथा गुप्त राजाओ ने अपनाया। मौर्यों के बाद यही परम्परा चीन, नेपाल, तिब्बत, कोरिया और जापान आदि देशो मे फैली।

बौद्ध धर्म को राज धर्म का संमान

बौद्धो से पहले के भारत मे वैदिक धर्म ही राज धर्म का स्थान पाता रहा। बौद्ध धर्म के बाद भी भारत के कुछ अंचलो मे यद्यपि वैदिक धर्म की कुछ शाखाये, जैसे वैष्णव, शैव आदि धर्म, राज धर्म का स्थान ले रही थी। फिर भी केन्द्र का स्थान बौद्ध धर्म को ही प्राप्त था।

अशोक

अशोक का नाम उन यशस्वी सम्राटो मे है, जिनके कारण इस देश का नाम

एशिया अनेक देशो में फैला। स्वयं उस पर बौद्ध धर्म का इतना प्रभाव पड़ा कि वह राजा से 'प्रियदर्शी' बन गया। अपने देश मे स्थान-स्थान पर उसने बुद्ध के उपदेशों को पत्थरो पर खुदवाकर लोगों तक पहुँचाया। उसने अपनी प्रजा के आराम के लिए स्थान-स्थान पर पेड लगवाये, कुएँ खुदवाये और चिकित्सालय बनवाये। अपना सारा जीवन और अपने विशाल साम्राज्य की शक्ति को उसने बुद्ध के आदर्शों को चमकाने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार करने मे लगाया।

यही नही, मानवमात्र का कल्याण करने वाली इन उपकारी बातो को अशोक ने समस्त राष्ट्र और समस्त एशिया मे फैलाया। उसने अपने राजदूतो को तथा धर्मसंघो को बाहरी देशो मे भेजा। अशोक ने २९७-२७२ ई० पूर्व के बीच, आज से लगभग २२-२३ सौ वर्ष पहले, २५ वर्षो तक विपत्तियो का सामना करते हुए मगध की गद्दी पर शासन किया।

कनिष्क

अशोक के लगभग ढाई तीन-सौ वर्ष बाद कनिष्क महान् हुआ। वह ७८ ई० मे गद्दी पर बैठा। उत्तर भारत मे जिस शक सवत् का आज भी प्रचलन है और जिसको आज हमारा राष्ट्रीय सवत् माना जाता है। उसको कनिष्क ने ही आरभ किया था। पेशावर (पुरुषपुर) उसकी राजधानी था।

सम्राट् कनिष्क बौद्ध धर्म का सरक्षक था। कनिष्क के समय बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे एक सुधार यह हुआ कि उसमें जो धार्मिक संकीर्णतायें घर बना गयी थी वे दूर हो गयी।

कनिष्क ने यद्यपि बौद्ध धर्म का समर्थन किया, किन्तु स्वयं उसका कोई धर्म नही था। उसके सिक्को पर ग्रीक, ईरानी, हिन्दू और बौद्ध सभी धर्मो के देवताओ एवं महापुरुषो की आकृतियाँ उत्कीर्णित है। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रति उसमे गहरी आस्था थी। इसलिए बौद्ध समाज उसको बौद्ध ही मानता है। उसने बौद्ध-साहित्य तथा बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए बौद्ध विद्वानो की एक विराट् सभा (सगीति) का आयाजन किया था। उसी के समय बौद्ध धर्म संपूर्ण एशिया मे फैला।

गुप्त राजा

गुप्त राजा भागवत धर्म के मानने वाले थे। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रति उनका बडा प्रेम था। बौद्ध धर्म की उन्नति तथा वृद्धि के लिए उनसे जो कुछ हो

सकता था, उन्होंने किया। बौद्ध धर्म के अनुयायी लोगों के लिए गुप्तयुग में पूरी सुविधायें थी।

गुप्तयुग में बौद्ध धर्म की अपेक्षा बौद्धकला और बौद्ध-साहित्य की उन्नति हुई। मथुरा, नालंदा, अजंता, बाघ आदि कला-तीर्थों मे जो कला-कृतियाँ पायी गयी हैं उनको देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में बौद्धकला की कितनी उन्नति हुई!

इसी प्रकार गुप्तयुग मे स्थापित नालंदा महाबिहार, काश्मीर, वाराणसी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी तथा विक्रमपुरी मे बौद्ध-साहित्य का निरन्तर निर्माण होता रहा। नालंदा जैसे उस समय के विश्वविख्यात विद्यापीठ की स्थापना गुप्तयुग मे ही हुई।

गुप्त राजवंश का समय २७५-५१० ई० के बीच निश्चित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे बौद्ध धर्म राज धर्म के रूप मे सम्मान पाता रहा।

बौद्धकालीन भारत की चार संगीतियाँ

बौद्धयुग मे धर्म और साहित्य की उन्नति के लिए तत्कालीन विद्वानो एवं भिक्षुओ ने एक साथ बैठकर जो विचार-विनिमय किया उसी को 'संगीति' के नाम से कहा गया है। इस प्रकार की चार सगीतियाँ आयोजित हुई। इन संगीतियो का उद्देश्य था कि समाज के भीतर, ज्ञान के क्षेत्र मे और अधिकारो के क्षेत्र मे जो बुराइयाँ आ गयी थी उनको किस प्रकार दूर किया जाय।

पहली संगीति

बुद्ध निर्वाण के लगभग चौथे मास बाद प्रथम संगीति का आयोजन हुआ। यह संगीति राजगृह के कुशीनगर मे हुई। इसको अजातशत्रु ने बुलाया था। महाकश्यप उसके सभापति थे। उसमे पाँच सौ भिक्षुओ ने भाग लिया। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य बुद्ध के उपदेशो का संग्रह तथा प्रचार करना था।

दूसरी संगीति

दूसरी सगीति बुद्ध निर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली मे हुई, जो पूरे आठ मास तक चलती रही। भिक्षु अजित उसके प्रधान और आचार्य सब्बकामी सभापति थे। उसमे ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया।

इस संगीति मे 'विनय' और 'धम्म' पर नये रूप मे विचार किया गया। बौद्ध

धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए बुद्ध-वचनो को तीन पिटकों (पिटारियो), पाँच निकायों, नौ अंगों और ४८,००० धर्मस्कन्धो मे अलग किया गया।

तीसरी संगीति

तीसरी संगीति सम्राट् अशोक ने मगध मे बुलायी थी। अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलिपुत्त इस अधिवेशन के सभापति थे। निरन्तर नौ महीने तक वह चलती रही। उसमे १०००-भिक्षुग्रो ने भाग लिया।

इस सगीति मे अन्य अनेक सुधारो के अतिरिक्त त्रिपिटको का अंतिम रूप से संकलन किया गया। आज के त्रिपिटको का पाठ-व्यवस्था उसी सगीति के अनुसार मानी जाती है। इस सगीति की सबसे बडी विशेषता यह थी कि अशोक ने बृहद् भारत और एशिया के अनेक देशो मे अपने धर्म-प्रचारक भिक्षुओ के शिष्ट मडलो को भेजा था।

चौथी सगीति

चौथी सगीति का आयोजन सम्राट् कनिष्क ने १०० ई० मे किया था। यह परिषद् काश्मीर के कुण्डलवन महाविहार मे हुई। आचार्य पार्श्व इसके सभापति थे। इसमे ५०० भिक्षु शामिल हुए।

इस परिषद् मे पिटको पर भाष्य लिखने का प्रस्ताव पारित किया गया। इसकी सब से बडी विशेषता यह थी कि इसी समय सर्वप्रथम संस्कृत भाषा को मान्यता मिली और संस्कृत मे ही आगे का कार्य किये जाने का निश्चय हुआ। इससे पहले प्राय: सारा कार्य और बौद्ध धर्म के सभी ग्रथ पालि मे थे।

बौद्ध धर्म के पंथ

बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे जो विभिन्न मत-मतान्तर एवं वाद-विवाद प्रचलित हुए वे तथागत की सभावना एवं दृष्टि से ओझल थे। यद्यपि वे खुले रूप मे बुद्ध-निर्वाण के बाद ही प्रकाश मे आये; तथापि उनकी भूमिका बुद्ध के जीवनकाल मे ही तैयार हो चुकी थी। बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त बुद्ध के सिद्धान्तो का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके अतिरिक्त उपनन्द, चन्न, भेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्गीय भिक्षु बुद्ध के जीवनकाल मे ही विनय के नियमो की कटु आलोचना करने लग गये थे। सुभद्र जैसे उद्दण्ड मति के बौद्ध को जीवन की स्वच्छन्दता मे नियमो की हथकडी पसन्द नही थी। इसलिए बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होने चैन की साँस ली।

बुद्ध-विरोधी इस गुट ने, बुद्ध परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद ही, उनके विचारो के विरुद्ध आवाज लगायी। वैशालि के बज्जियो ने इस दिशा मे खूब उत्सुकता प्रकट की।

महाकश्यप के राजगृह मे ५०० भिक्षुओं का जो अधिवेशन आयोजित किया गया था उसमे सम्मिलित होने वाले पुराणपंथी या गवापति बौद्धो ने संगीति में निर्णीत नियमो को स्वीकार करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उनमे बुद्ध के नाम से जो साहित्य संकलित किया गया है वह वास्तविक एवं प्रमाणित नही है। इस संघ (संगीति) के प्रधान महादेव नामक विद्वान् द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों को अविकल रूप से स्वीकार करने मे मतभेद हो गया । इसलिए वैशाली मे दूसरी संगीति को आयोजित करने की माँग को गयी । कुछ भिक्षुओ ने स्वीकृत अति कठोर नियमो के विरुद्ध भी आवाज उठायी । इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओ की दो शाखायें हो गयी : एक तो कट्टर पुराणपंथी और दूसरी उदार मतावलम्बी । पुराणपंथी भिक्षुओ के गुट को थेरवादिन् (स्थविरवादी) और उदार मतावलम्बी भिक्षुओ के समूह को महासंघिक (महासांघिक) कहा गया ।

वैशाली मे आयोजित उक्त संगीति मे जो निर्णय किये गये वे पुराणपंथी भिक्षुओ के अनुरूप थे । अत महासांघिकों ने दस-हजार भिक्षुओ की तीसरी संगीति का आयोजन करके उसमे अपने नये सिद्धान्तो को स्वीकार किये जाने की घोषणा की ।

आगे चलकर इन दोनो दलो का विरोध बढता ही गया । फलत बुद्ध-निर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी बाद ही थेरवाद की ग्यारह और महासांघिक की सात उपशाखायें प्रकाश मे आयी ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन मे बडा अन्तर है । इस अन्तर के परिचायक है हीनयान और महायान ।

महायान की लोकप्रियता

बौद्ध धर्म नैतिक नियमो पर आधारित धर्म है, जिसमे ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है; न ही उसमे ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का एकमात्र कर्ता-धर्ता माना गया है । बुद्ध के विचारो से यह सुविदित है कि उनमे कर्म के द्वारा मुक्तिलाभ का सहज उपाय बताया गया था, किन्तु बुद्ध के निर्वाण के तीन-चार सौ वर्ष बाद महायान बौद्धो ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और नियन्ता स्वीकार किया । इसलिए बौद्ध धर्म मे उस समय महान् परिवर्तन हुआ । बौद्ध धर्म अब भक्तिप्रधान धर्म बन गया । बुद्ध के विचारो के सर्वथा विपरीत बौद्ध धर्म के मुक्ति का सिद्धान्त भक्ति एवं भावनामय प्रार्थना के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ । महायान के इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण को हिन्दू धर्म ने

प्रभावित किया। महायान की लोकप्रियता का यह सब से बडा कारण था। महायान के अनुयायी बोधिसत्त्वो ने वासुदेव भक्ति के सिद्धान्तो को अपनाया। इस उदारता के कारण भी महायान को अधिक लोकप्रियता एवं पर्याप्त लोकसंमान प्राप्त हुआ। चीन, जापान, लंका और तिब्बत मे महायान की इस विशेषता को बडे पैमाने पर आदर के साथ अपनाया गया।

हीनयान और महायान

बौद्ध धर्म एवं बौद्ध दर्शन की हीनयान तथा महायान, ये दो प्रमुख शाखायें हैं। दर्शन के क्षेत्र मे हीनयान ने स्थविरवाद तथा वैभाषिक को और महायान ने माध्यमिक तथा योगाचार को जन्म दिया। इनकी भी आगे चलकर अनेक शाखायें प्रकाश मे आयी।

बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन का इतिहास तथा उनके मौलिक तथ्यो को जानने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी विभिन्न शाखाओ का अध्ययन किया जाय।

स्थविरवाद

वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिको की चौथी बौद्ध संगीति मे भारतीय बौद्धसघ स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और महासाघिक, इन तीन शाखाओ मे विभाजित हुआ। इन महासाघिको ने ही आगे चलकर महायान सप्रदाय के सिद्धान्तो का विकास किया।

स्थविरवाद संप्रदाय बौद्ध धर्म का अति प्राचीन संप्रदाय है। इस संप्रदाय के सिद्धान्तो के प्रवचनकार स्वयं बुद्ध थे। इस संप्रदाय का सारा साहित्य पालि भाषा मे है। स्थविरवादी संप्रदाय के पालि-ग्रन्थो के प्रामाणिक टीकाकार गुप्त युग मे हुए। ये टीका-ग्रन्थ दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से जितने उपयोगी है, साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य कुछ कम नही है।

स्थविरवादी विचारधारा भी दो कूलो मे विभाजित है सौत्रान्तिक और वैभाषिक। दोनो के दार्शनिक सिद्धान्त सर्वास्तिवादी है।

स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरो, अर्थात् ज्ञानी पुरुषो और तत्त्वदर्शियो का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यो के लिए 'स्थविर' कहा गया है। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' और 'स्थविरवाद' एक ही सिद्धान्त के द्योतक है। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे-बुरे अंश को अलग कर देना।

'अर्हत' अवस्था प्राप्त करना इस सिद्धान्त के अनुयायियो का चरम लक्ष्य है। 'अर्हत' जीवन की वह अवस्था है, जिसको प्राप्तकर जीव सासारिक

क्रिया-कलापो की ओर नहीं मुडता । इस अवस्था तक पहुँचने का मार्ग बुद्ध ने बताया है ।

सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवादो, स्थविरवादियो के अधिक निकट है। स्थविरवाद जब ह्रास की स्थिति पर था तब महायान संप्रदाय का प्रबल विरोध सर्वास्तिवादियों ने ही किया । जिन बौद्धवादो के सिद्धान्त संस्कृत भाषा मे निबद्ध हैं उनमें सर्वास्तिवाद का प्रमुख स्थान है । सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी) इस संप्रदाय के आश्रयदाता थे । उनके द्वारा आमन्त्रित संगीति मे इस संप्रदाय के सिद्धान्तो पर गंभीरता से विचार हुआ । आचार्य वसुबन्धु का 'अभिधम्मकोश' सर्वास्तिवाद का पहला एवं प्रामाणिक ग्रंथ है ।

सर्वास्तिवाद के अनुसार वस्तुओ का अस्तित्व त्रिकालजीवी है । उसमे ७५ तत्त्व या धर्म माने गये है, जिनमे ७२ सस्कृत और ३ असंस्कृत है ।११ रूप, ४६ चित्त-सप्रयुक्त, १४० चित्तविप्रयुक्त और १ मानसिक-भौतिक-सप्रयुक्त—ये ७२ संस्कृत तत्त्व है, और १ आकाश, १ प्रतिसंख्यानिरोध तथा १ अप्रतिसंख्या निरोध—ये ३ असंस्कृत तत्त्व है ।

महासाघिक

महासाघिक ही महायान सप्रदाय के निर्याणक हुए । महासाघिको ने विनय के नियमो को अपने सैद्धान्तिक स्वरूपो मे ढालकर एक ओर तो अपने नये सप्रदाय की प्रतिष्ठा की और दूसरे मे उसकी लोकप्रियता को बढाया । महासाघिको का तात्त्विक सिद्धान्त 'आचारिकवाद' के नाम से कहा जाता है ।

महासाघिक और स्थविरवादी सैद्धान्तिक दृष्टि से मिलते-जुलते है । । चार आर्य सत्य, आठ मार्ग, आत्मा का अनस्तित्व, कर्मसिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त, ३० बोधिसंबंधी धर्म और आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से उक्त दोनो सप्रदायो मे एकता है । इन विचारधाराओ के अनुसार बुद्ध और बोधिसत्त्वो में देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी । महासाघिको की विचारधारा को योगाचार संप्रदाय के आदर्शवादी दर्शन की पूर्व पीठिका कहा जा सकता है ।

बाद मे महासाघिक संप्रदाय एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, कुक्कुटिक (गोकुलिक), बहुश्रुतीय और प्रज्ञप्तिवाद आदि अनेक विचारधाराओ मे विभाजित हुआ ।

वैभाषिक

हीनयान शाखा का वैभाषिक संप्रदाय, विचारों की दृष्टि से सर्वास्तिवादी है। वैभाषिक अभिधर्म के प्रायः सारे ग्रन्थ अपने मूल रूप पालि तथा संस्कृत मे न होकर चीनी-तिब्बती अनुवादो के रूप मे उपलब्ध होते हैं। मनोरथ और संघभद्र नामक इसके दो आचार्यों का पता चलता है। सम्राट् अशोक के संरक्षण और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता मे आयोजित पाँच-सौ भिक्षुओं की बौद्ध संगीति मे, आर्य कात्यायनी पुत्र द्वारा विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर लिखी गयी 'विभाषा' नामक टीका के आधार पर इस संप्रदाय का 'वैभाषिक' नामकरण हुआ।

माध्यमिक

समस्त बौद्धधर्मानुयायी सर्वप्रथम दो गुटो मे विभाजित थे : श्रावकयान और महायान। बाद मे महायान सम्प्रदाय भी दो विचारधाराओ मे विभक्त हुआ . माध्यमिक और योगाचार।

भगवान् तथागत ने वाराणसी मे जो पहला उपदेश दिया था वह माध्यमिक मार्ग से सम्बन्धित था, जिसके आधारो को लेकर आगे माध्यमिक मत की प्रतिष्ठा हुई। दार्शनिक दृष्टि से माध्यमिक मत का 'शून्यवादी' सिद्धान्त बौद्धन्याय का सर्वाधिक तर्कपूर्ण, व्यवस्थित और सूक्ष्म सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की स्थापना यद्यपि आचार्य नागार्जुन से पहले ही हो चुकी थी, किन्तु उसको वैज्ञानिक दृष्टि मे व्यवस्थित करने का कार्य आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) ने ही किया। नागार्जुन के बाद आर्यदेव (३०० ई०), बुद्धपालित (५०० ई०), भावविवेक (५०० ई०), चन्द्रकीर्ति (६०० ई०) और शांतिदेव (७०० ई०) आदि अनेक आचार्यों ने माध्यमिक विचारधारा को धार्मिक एव दार्शनिक दृष्टि से संवर्द्धित किया।

ईसा की पाँचवी शताब्दी मे माध्यमिक मत का दो उपशाखाओ मे विकास हुआ, जिनके नाम थे : प्रासंगिक और स्वातंत्र्य और जिसके प्रवर्तक थे क्रमशः बुद्धिपालित तथा भावविवेक।

योगाचार

महायान संप्रदाय से उद्भूत एक शाखा 'योगाचार' नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसके प्रतिष्ठाता आचार्य मैत्रेयनाथ (३०० ई०) थे। असग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मपाल, धर्मशील, शातरक्षित और कमलशील प्रभृति विख्यात विद्वान् इस संप्रदाय के अनुयायी हुए। असंग ने उसको 'योगाचार' नाम दिया और वसुबन्धु ने 'विज्ञानवाद' के नाम से उसकी दार्शनिक व्याख्या की।

'योग' या 'बोधि' प्राप्त करने के कारण इस संप्रदाय का ऐसा नामकरण हुआ। वही विज्ञानवाद है। किन्तु जहाँ 'योगाचार' ने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को ग्रहण किया वहाँ 'विज्ञानवाद' ने उसके तात्त्विक पक्ष की मीमासा की।

योगाचार के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियाँ है : परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। परिकल्पित ज्ञान कल्पनाश्रित, परतंत्र ज्ञान सापेक्ष्य और परिनिष्पन्न ज्ञान सत्याश्रित है।

महीशासक

स्थविरवादियो से पृथक् हुए पुत्तको ने इस पंथ का प्रवर्तन किया। पौराणिक पंथी सर्वप्रथम इस सप्रदाय के अनुयायी थे, जिन्होने राजगृह की प्रथम सगीति मे निर्धारित नियमो को मानने से इन्कार कर दिया। इस शाखा का विकास श्रीलका मे हुआ।

महीशासक तीन असस्कृत धर्मो को मानते है। सर्वास्तिवादियो की भाँति वे भी गत, आगत और अन्तराभाव मे विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार स्कन्ध, आयतन और यातु-बीजो के रूप मे विद्यमान रहते हैं।

हेमवत

आचार्य वसुमित्र के कथानुसार हैमवत, स्थविरवादियो की ही एक शाखा थी, किन्तु भव्य और विनीतिदेव उसको महासाघिको के ही अन्तर्गत मानते है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय प्रदेश के किसी छोर मे इस पथ का आविर्भाव हुआ था। इस पथ के अनुसार बोधिसत्त्वो का कोई स्थान नही है, देवता ब्रह्मचर्य का पवित्र जीवन नही बिता सकते और अश्रद्धालु जनो मे चामत्कारिक शक्ति नही होती।

इन सिद्धान्तो को देखकर यह प्रतीत होता कि 'हेमवत' सप्रदाय व्यावहारिक दृष्टि से ठोस और सैद्धान्तिक दृष्टि से ऊँचे आचारो पर व्यवस्थित है।

वात्सीपुत्रीय तथा सम्मितीय

ये दोनो पथ पुद्गल के अस्तित्व पर विश्वास करते है। उनके मतानुसार पुद्गल एक स्थायी तत्त्व है और उसके साक्षात्कार के बिना पूर्वजन्म का परिचय प्राप्त करना सभव नही है। वे लोग दिव्यपथ के पाँच तत्त्वो पर विश्वास करते है। कहते है कि राजा हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री ने इन दोनो पंथो को राज्याश्रय दिया था। 'अभिधम्मकोश' के अन्त मे एक अध्याय जोड कर वसुबन्धु ने इस पथ की कटु आलोचना की है।

धर्मगुप्तिक

महीशासको मे जब फूट हुई तो इस पथ का जन्म हुआ। इस पंथ के

अनुयायी बौद्ध, बुद्ध को भेंट चढ़ाना और स्तूपों पर श्रद्धा करना अपना प्रधान कार्य समझते थे, जो कि महीशासकों के विरुद्ध था। इनका अर्हत पर विश्वास था। यह मत मध्य एशिया और चीन में फैला।

काश्यपीय

यह पंथ स्थविरवादी विचारधारा के अधिक समीप है। इसी कारण काश्यपीय लोगो को स्थविरवादी भी कहा जाता है। विगत के प्रति उदासीनता और आगत के प्रति आशा, इस मत के अनुयायियो का सिद्धान्त है। इन काश्यपीय बौद्धों ने सर्वास्तिवादियो और विभज्यवादियों के बीच के विरोध को कम करने मे बडी सहायता की। तिब्बत मे इस पंथ का अधिक प्रचार रहा।

बहुश्रुतीय

बौद्ध धर्म के एक बहुश्रुत नामक आचार्य द्वारा प्रवर्तित बहुश्रुतीय पंथ का उल्लेख अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा के शिलालेखों मे मिला है। यह पथ महासांघिक शाखा से जन्मा है। शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, ज्ञान-दर्शन आदि तत्त्वो से निर्मित धर्मकाय मे बहुश्रुतियों का विश्वास है। तथागत के अनित्यता, दुःख, शून्य, अनात्मन् और निर्वाण सबधी उपदेशों को वे सवमान्य समझते थे। बौद्ध धर्म की दो-प्रमुख शाखाओं (श्रावकयान और महायान) को विरोधी भावनाओं मे सामजस्य स्थापित करने मे बहुश्रुतीय बौद्धों ने उल्लेखनीय कार्य किया।

चैत्यक

महादेव नामक एक भिक्षु ने बुद्ध-निर्वाण के लगभग दो-सौ वर्षों बाद इस पथ को प्रतिष्ठित किया था। मथुरा के महादेव से यह भिक्षु भिन्न था। इस भिक्षु ने महासांघिको के पाँच सिद्धान्तों के आधार पर अपना नया ही पंथ प्रचलित किया।

चैत्ययुक्त पर्वत के निवासी होने के कारण ही वे लोग चैत्यक कहलाये, जिसका इतिहास अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा के शिलालेखों मे सुरक्षित है।

ये लोग चैत्यो के निर्माण, उनकी अर्चना-सज्जा, बुद्ध-आसक्ति, सम्यक् दृष्टि और निर्वाण मे विश्वास करते थे। बौद्ध धर्म का यह पहला पथ था, जिसने बुद्ध और बोधिसत्त्वों को दैवी रूप मे प्रतिष्ठित कर बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को बढाया।

बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे जो मत-मतान्तर प्रकाश मे आये उनकी प्रमुख शाखाओं का परिचय प्रस्तुत किया जा चुका है। इतिहासकारो की दृष्टि मे सम्राट् अशोक

के समय (२६६ ई० पूर्व) तक बौद्ध धर्म जितने सम्प्रदायों में बँट चुका था उसका अन्दाजा इस चार्ट से लगाया जा सकता है :
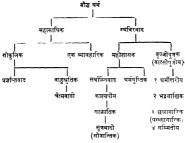
बौद्ध धर्म का वैदिक धर्म पर प्रभाव

यद्यपि वैदिक धर्म पर ब्राह्मण धर्म की संकीर्णताओं के विरोध में बौद्ध धर्म का जन्म हुआ था, फिर भी मूलतः वह वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म का ही अंश था। बौद्ध धर्म में जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सब प्राणियों पर दया करना आदि नीति धर्म हैं वे वैदिक धर्मग्रंथों से ही लिये गये हैं। बौद्धों के 'धम्मपद' में हमें 'मनुस्मृति' के ही आचारों का स्वरूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय को अपने देश और एशिया के अनेक देशों में इतने विस्तार से अपनाये जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसमें वासुदेव भक्ति का अनुकरण किया जाने लगा था।

एक समय ऐसा आया, जब वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म के रूप में एक सम्प्रदाय या गुट का धर्म बन गया था। ऐसी ही स्थिति में उसके विरोधी जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इन दोनों धर्मों के कारण वैदिक धर्म की अनेक बुराइयाँ दूर हुईं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ता।

उपनिषदों के वैराग्य और निराशा की भावना को जैन धर्म ने अपनाया। किन्तु

उसको व्यवहार मे उतारने तथा लोक मे फैलाने का कार्य किया बौद्ध धर्म ने। जीवन मे अनेक प्रकार के कष्टो तथा दु खों से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने बडे सरल ढंग से समाज मे वैराग्य को एकमात्र उपाय बताया। उन्होंने बताया कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक सुख जीवित रहने मे नही है। वह तो तब प्राप्त होता है, जब मरने के बाद फिर जन्म लेने की स्थिति न आने पावे। जगत् के रूप मे जो अंधकार हमे दिखायी दे रहा है उसको दूर करने के बाद ही सच्चा सुख मिलता है।

बुद्ध के इस नये विचार को वैदिक धर्म मे ज्यो-का-त्यो अपनाया गया।

इसके प्रभाव से वैदिक धर्म के मानने वाले समाज मे आचार-विचार, खान-पान और सबसे अधिक छुआ-छूत तथा जात-पाँत की कुप्रथाओं मे कुछ ढिलाई आयी। अहिंसा, जीवदया और दु.खियो के लिए करुणा—ये बातें समाज मे बडे जोरो से फैली। समाज मे धर्म के नाम पर जो छोटे-छोटे वर्ग बन गये थे वे भी श्रावकों के समानता के उपदेशो से टूट गये।

बौद्ध धर्म का मानव धर्म के रूप मे सम्मान

बौद्ध धर्म की इन अच्छाइयो के कारण उसकी लोकप्रियता बढती ही गयी। सारा राष्ट्र एकमत होकर उसका अनुयायी बन गया। बाहरी देशो मे भी जहाँ-जहाँ उसका संदेश पहुँचा वहीं-वहीं उसको अपनाया गया।

किन्तु यहाँ हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि भले ही बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म का विरोध किया, किन्तु इसी एक कारण से बौद्ध धर्म को इतनी लोकप्रियता नही मिली। यदि वेदो का विरोध करना ही बौद्ध धर्म का एकमात्र उद्देश्य होता तो वह आगे बढने की जगह कभी का मिट गया होता। बौद्ध धर्म के भीतर सबसे बडी विशेषता यह थी कि उसमे वे बातें कही गयी थी, जो सारी मानवता पर लागू होती थी। यही कारण था कि उसको 'मानव धर्म' के रूप मे संमान मिला।

तथागत बुद्ध ने अपने वर्षों के चिन्तन के बाद एक ऐसा कारण खोज निकाला, जिससे सारा संसार पीडित था। वह कारण था 'दु ख'। बुद्ध ने इस दु.ख की ऐसे ढंग से व्याख्या की, कि वह साधारण लोगो की समझ मे सरलता से आ जाय। उन्होंने बताया कि सारे ससार की अशांति का एकमात्र कारण यही दु:ख है। दु ख को खोज निकालने और उसको दूर करने के लिए उन्होने जिन उपायो को बताया वे 'चार आर्य सत्यो' के नाम से विख्यात है। बुद्ध के चार आर्य सत्य है :

१. दुःख ही जन्म, जरा (बुढ़ापा), व्याधि और अभाव का कारण है।
२. दुःख ही सारी लोभ, मोह आदि तृष्णाओ का कारण है।
४ दुःख का उन्मूलन ही सुख-शांति का कारण है।
४. दुःख से छुटकारा पाने के लिए आठ बातो का पालन करना आवश्यक है। वे आठ बातें है : (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्ति, (५) सम्यक् आजीव, (.) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) मम्यक् समाधि।

बुद्ध के उपदेश लोकभाषा पालि में थे

बुद्ध के उपदेशो और उनकी शिक्षाओ का समाज मे इतना आदर मिलने का कारण यह भी था कि वे संस्कृत मे न होकर लोक भाषा पालि मे थे। बुद्ध की इस दूरदर्शिता के कारण एक ओर तो उनके उपदेशो को समझने मे लोगो को कोई कठिनाई नही हुई और दूसरी ओर पालि भाषा को आगे बढने का सुयोग मिला।

बुद्ध ने कर्म और सदाचार पर सबसे अधिक बल दिया। उन्होने ज्ञान और भक्ति को कर्मों के ही भीतर माना और मनुष्य को कर्म करने के लिए कहा। उनका यह कर्म-सिद्धान्त 'गीता' से प्रभावित था।

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया उसमे आचार की श्रेष्ठता थी। उन्होने बताया कि मनुष्य इसलिए इतनी वेदनाओ, दु खो और पीडाओ से सतप्त है कि वह आचारों का पालन नही करता। कर्मों के द्वारा आचारो का पाठ आता है और उससे जीवन मे निर्मलता एवं शांति का आवास होता है। सत्कर्म करते रहना ही मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए।

बुद्ध का ब्राह्मणों से कोई द्वेष नहीं था

वैदिक युग से सारी वर्णाश्रम-व्यवस्था कर्मों पर नही जाति पर आधारित थी। उसकी आलोचना बुद्ध ने इसलिए करना आवश्यक समझा कि उसमे व्यक्तिगत हितो की रक्षा थी, सारे समाज की नही। आध्यात्मिक उन्नति का एकमात्र अधिकार ब्राह्मणो या पुरोहितो ने अपने अधीन कर लिया था। इससे देश की सारी बौद्धिक प्रगति भी रुक गयी थी।

बुद्ध के धर्म मे व्यक्ति-व्यक्ति को स्वतंत्रता थी। समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर कोई भी किसी धर्म का पालन कर सकने मे स्वतंत्र था। बुद्ध का धर्म, दूसरे धर्मों का विरोधी न होकर, दूसरे धर्मों की अच्छाइयो को ग्रहण करने वाला लोकप्रिय धर्म था।

वेदो का यज्ञवाद और ब्राह्मण-ग्रंथों की कर्म-पद्धतियाँ निश्चित ही बुद्ध को मान्य नहीं थी। यह नयी बात भी नहीं थी, क्योंकि उपनिषदो मे भी यही कहा गया था। साख्य दर्शन के पिता महर्षि कपिल ने वैदिक यज्ञो की सबसे बडी बुराई यह बतायी कि वे पशुहिसा के कारण अपवित्र है; दूसरे मे वे विनाशयुक्त है; और तीसरे मे उनमे ऊँच-नीच की भावना है।

वस्तुत. देखा जाय तो तथागत का ब्राह्मणो के प्रति कोई व्यक्तिगत द्वेष-भाव नही था; बल्कि ब्राह्मणों मे उनके संबंध बडे मैत्रीपूर्ण थे। यही कारण था कि जिन ब्राह्मणो ने बुद्ध के उपदेशो को सुना वे उन्ही के उपासक या भक्त हो गये। यही कारण था कि जिस हिन्दू धर्म ने तथागत को नास्तिक कहकर बदनाम किया, बाद मे उसी ने बुद्ध को अपने दस अवतारो मे रखकर संपूज्य समझा।

बुद्ध के उपदेश ब्राह्मण धर्म के आदर्शों के अनुरूप ही थे। बुद्ध के ब्रह्मज्ञान की व्याख्या वर्णों और आश्रमो की सीमाओ से बँधी न होकर सबके लिए थी।

बुद्ध के पुण्य-सबंधी सिद्धान्त 'गीता' मे प्रभावित थे। उन्होने वैदिक यज्ञो मे कही गयी पुण्य-सबधी परिभाषाओ मे दान को श्रेष्ठ यज्ञ कहा है। धम तथा संघ की शरण मे आ जाना और संयमपूर्वक शिक्षाप्रदो का पालन करना ही बुद्ध की दृष्टि मे श्रेठ यज्ञ है। दान करने से आनन्द लोक मिलता है। वह दान ऐसा होना चाहिए जिसमे बुराई न हो और जो प्रसन्न होकर दिया जाया।

बुद्ध के बाद बौद्धो और ब्राह्मणो मे जो द्वेष और विरोध बढता गया उसका एक कारण यह भी था कि दोनो ने बुद्ध की बातो को उतनी गहरी दृष्टि से नही देखा।

बौद्ध धर्म का अन्त

जिस पवित्र बौद्ध धर्म ने एक समय भारत और संसार के अन्य अनेक देशो को अतिशय रूप से प्रभावित किया था और जसने समाज की कुरीतियो तथा बुराइयो को दूर करके मानवता की बडी सेवा की थी, एक समय आया कि वह अपनी जन्मभूमि मे ही क्षीण हो गया। उसके क्षीण होने के कारण कुछ इस प्रकार थे :

१. स्त्रियो के भिक्षुणी होने के कारण व्यभिचार बढा।
२. आत्मा को अनित्य कहने के कारण समाज के विश्वास को खो दिया।
३. श्रमण संतो ने सादे जीवन की जगह राजसी जीवन को अपना लिया।
४. पौराणिक कथाओ के द्वारा बुद्ध के उपदेशो का हलकापन प्रकट किया।

५. मंत्र और योगाचार जैसे स्थूल आचारो का प्रचलन किया गया।
६. मंत्रयान और बज्रयान जैसे नये संप्रदायो को जन्म देकर सुख-ही-सुख की खोज मे रहना।
७. इस्लाम धर्म के बढते हुए प्रभाव के कारण।
८. भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्रावकी और कापालिक-कापालिकी के गुप्त व्यभिचारो का प्रचलन।
९. मद्य-मैथुन की छूट। सहजिया बज्रयानियो ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय को संज्ञा देकर दोनो के बीच नर-नारी के सबन्धो की नयी बात रखी। उपाय का प्रतीक तो साधक हो गया और प्रज्ञा का प्रतीक नारी बन गयी।

ये सभी कारण थे, जिन्होने मिलकर इस महान् मानव धर्म की जड़ें खोखलो कर दी।

आज के भारत में बौद्ध धर्म

जहाँ तक बौद्ध धर्म की वर्तमान स्थिति का सबध है, वह चीन, जापान, तिब्बत, बरमा, श्रीलंका, कोरिया आदि देशो मे पहले की तरह लोकप्रिय है। भारत मे कई सौ वर्षो बाद आज फिर उसको अपनाया जाने लगा है। उसके अच्छे आदर्शों को आज राष्ट्रीय आदर्शों के रूप मे स्वीकार किया गया है। उसके पंचशील के सिद्धान्तो को लेकर संसार मे शाति और सद्भाव को बढावा देने के लिए मदद मिल रही है।

बौद्ध दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

बौद्ध दर्शन के आचार्यो और उनकी कृतियो का अध्ययन करने के लिए पालि और संस्कृत, दोनो भाषाओं का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस प्रकार संस्कृत ने विद्वत्समाज की वाणी के रूप में सम्मान पाकर इस देश की गौरवशाली ज्ञान-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा उसी प्रकार प्राकृत तथा पालि ने भी जन समान्य की आँचलिक बोलियो के रूप मे अपना विकास किया। जहाँ तक प्राकृत और पालि का प्रश्न है, प्राकृत की अपेक्षा पालि ने भारतीय भाषाओ के निर्माण मे ही महत्वपूर्ण योग नही दिया, बल्कि भारत के पडोसी देशो सिहल, बरमा और स्याम आदि द्वीपसमूहो के भाषासम्बन्धी सुधारो को भी प्रभावित किया।

भारतीय विचार-परपरा मे जो विकार या जडत्व आ गया था उसी की प्रतिक्रियास्वरूप हमे बुद्ध मिले, किन्तु बुद्ध के पहिले और बुद्ध के समय मे भी

ऐसे विचारक ज्ञान के क्षेत्र में आ चुके थे, जिनके विचारों से बुद्ध भी स्वयं प्रभावित हुए। इस प्रकार के विचारको मे जिनका विशेष महत्व रहा है उनके नाम है :—

१. भौतिकवादी : अजित केशकम्बल, मक्खलि गोशाल

२. नित्यतावादी : पूर्णकश्यप, प्रकुध कात्यायन

३. अनिश्चिततावादी : संजय वेलट्ठिपुत्त, निगंठ नातपुत्त

४ अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी : गौतम बुद्ध

अजित केशकम्बल

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के केशों का कम्बल धारण करने के कारण इनका ऐसा नामकरण हुआ, क्योंकि रैक्व ने भी सगुग्वा (बैलगाडी) को अपना बाना बनाया था। अजित केशकम्बल भौतिकवादी दार्शनिक थे। वे ५२३ ई० पूर्व मे हुए। उनके सबंध मे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना अवश्य विदित होता है कि बुद्ध के समय उनको एक संप्रदाय प्रवर्तक (तीर्थकर) के रूप मे सम्मानित किया जाने लगा था और जनसमाज मे उनकी बडी लोकप्रतिष्ठा थी। वे बुद्ध से उम्र मे और विचारो मे भी कुछ बडे थे, क्योंकि 'सयुत्तनिकाय' (३।१।१—बुद्धचर्या) मे कोसलराज प्रसेनजित् ने एक बार बुद्ध से कहा था 'हे गौतम, वह जो श्रमण, ब्राह्मणसंघ के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनो के द्वारा सुसंमत है— जैसे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नातपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रकुध कात्यायन और अजित केशकम्बल के यह पूंछने पर कि अन्य लोगो ने अनुपम सच्ची सम्बोधि (परम ज्ञान) प्राप्त कर लिया है, यह दावा नही करते, फिर जन्म मे अल्पवयस्क और प्रव्रज्या (संन्यास) मे नये आप सुविदित गौतम के लिए तो क्या कहना है।'

ये छहो व्यक्ति बुद्ध से बडे थे, किन्तु थे बुद्ध के समकालीन ही, क्योंकि 'मज्झिमनिकाय' (२।३।७—बुद्धचर्या) मे लिखा हुआ है कि एक बार इन छहो व्यक्तियो का राजगृह मे (५२३ ई० पूर्व) वर्षावास हुआ था।

मक्खलि गोशाल

मक्खलि गोशाल अकर्मण्यावादी दार्शनिक था। उसका निर्देश जैन और बौद्ध, दोनो के साहित्य मे देखने को मिलता है। जैनो के पिटक से विदित होता है कि उसको जैन संप्रदाय से बहिष्कृत कर दिया गया था। उक्त पिटकग्रंथ में उसकी प्रकृति एवं उसके व्यक्तित्व को हीनता से दर्शाया गया है। राहुल जी

ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है कि उसको महावीर स्वामो का प्राणघातक तथा ब्राह्मणो के देवताओ पर पेशाब करने वाला विचित्र व्यक्ति कहा गया है। किन्तु बौद्धो के पिटको मे उसे बुद्धकालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों में गिना गया है। वैयाकरण पाणिनि ने 'मस्करि' (मक्खलि) शब्द को गृहत्यागी अर्थ मे प्रयुक्त किया है। मक्खलि गोशाल का स्थितिकाल ५२३ ई० पूर्व था।

पूर्ण काश्यप

पूर्ण काश्यप के सम्बन्ध मे केवल इतना ही विदित होता है कि वह बुद्ध का समकालीन तथा मक्खलि गोशाल के समय (५२३ ई० पूर्व) मे हुआ। वह अक्रियावादी दार्शनिक था।

प्रकुद्ध कात्यायन

प्रकुद्ध कात्यायन नित्यपदार्थवादी दार्शनिक था। वह भी मक्खलि गोशाल तथा पूर्ण काश्यप के समय (५२३ ई० पूर्व) मे हुआ, और उसी की भाँति समाज मे उसका भी बडा सम्मान था। इससे अधिक उसके सबध मे कुछ भी ज्ञात नहीं है।

संजय वेलट्ठिपुत्त

सजय वेलट्ठिपुत्त का समय भी ५२३ ई० पूर्व मे था और वह अनेकान्तवादी दार्शनिको मे अपना निराला स्थान रखता था।

इन प्राचीन बौद्ध विचारको को यद्यपि आज स्मरण तक नही किया जाता है, किन्तु बुद्धवाणी की जिस समर्थ विचारधारा का आज हम अध्ययन करते हैं उसको अपनाने एव प्रचारित करने मे उनका बडा हाथ रहा है। इन विचारको की सैद्धान्तिक मान्यताओ के लिए बौद्ध त्रिपिटको का अध्ययन करना चाहिए।

महात्मा बुद्ध से बौद्ध धर्म का उदय माना जाता है। उस मे उनसे श्रेष्ठ विचारको ने भी बुद्ध को ही मान्य समझा। बुद्ध के बाद बौद्धधर्म की अपेक्षा बौद्ध दर्शन का अधिक विकास हुआ, क्योंकि वह युग ही ऐसा था कि दर्शन के बिना धर्म की रक्षा नही हो सकती थी।

भगवान बुद्ध

बौद्ध धर्म के प्राचीन तथा मध्यकालीन अनेक ग्रथो मे तथागत बुद्ध का जीवनचरित लिखा हुआ मिलता है। ऐसा कहा गया है कि जन्म लेने से पूर्व बुद्ध ने यह विचार कर लिया था कि उन्हे किस देश मे किस माता-पिता के घर पैदा होना है। उन्होने पहले ही यह निश्चित कर लिया था कि मध्यदेश के कपिलवस्तु नामक नगर मे क्षत्रिय राजा शुद्धोदन की सदाचरणशीला पत्नी

माया देवी की कोख से जन्म लेना है। शुद्धोदन शाक्य प्रजातंत्र का राजा था।

उस समय कपिलवस्तु मे लोग आषाढ का उत्सव मना रहे थे। उत्सव की अंतिम रात्रि आषाढी पूर्णिमा को मायादेवी ने यह स्वप्न देखा कि कोई दिव्य ज्योति उसकी कोख (कुक्षि) मे प्रविष्ट हुई है।

दूसरे दिन रानी ने अपना स्वप्न राजा को सुनाया। राजा ने ब्राह्मणो को बुलाकर उनसे स्वप्न का फल पूछा। ब्राह्मणो ने बताया 'महाराज, आप चिन्ता न करें। आपकी देवी की कोख मे गर्भ धारण हुआ है। यह बालक है। आपको पुत्र होगा। वह यदि घर मे रहेगा तो चक्रवर्ती राजा होगा और घर छोड़कर साधु बन गया तो महाज्ञानी (बुद्ध) होगा।'

गर्भ के दसवें मास मायादेवी ने, महाराज शुद्धोदन से, अपने नैहर जाने की इच्छा प्रकट की। राजा ने सहर्ष स्वीकृति दे दी और रानी के मार्ग का पूरा प्रबध कर दिया। रानी के नैहर का नाम था देवदह नगर।

कपिलवस्तु और देवदह नगर के बीच लुम्बिनी नामक एक सुन्दर वन था। वहाँ पहुँचकर रानी ने कुछ समय वन-बिहार की इच्छा प्रकट की। आज्ञा पाते ही परिचारको ने देवी को वन मे पहुँचाया। वहाँ भ्रमण करते हुए देवी ने एक शाल (साखू) की शाखा पकडने के लिए ज्यो ही हाथ उठाया कि उनको प्रसव वेदना आरभ हो गयी। सभी लोग इधर-उधर हट गये। उसी शालवृक्ष के नीचे खड़े-खड़े महारानी ने एक बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म लेते ही चारो महाब्रह्मा वहाँ उपस्थित हुए और बालक को सोने की थाल पर रखकर वे माता के पास ले गये। उन्होने कहा 'देवी, खुशी मनाइये। तुम्हे महाप्रतापी पुत्र पैदा हुआ है।' यह घटना ५०५ वि० पूर्व (५६३ ई० पूर्व) की है। 'मज्झिमनिकाय' (अट्ठकथा १।२।८) की एक कथा मे बुद्धजन्म का यह सारा वृत्तान्त लिखा हुआ है।

लुम्बिनी नामक वन मे जिस स्थान पर बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पर सम्राट् अशोक ने, इस पवित्र स्मृति मे पाषाण स्तभ का निर्माण करवाया था।

जिस समय लुम्बिनी मे बालक का जन्म हुआ उसी समय यशोधरा (राहुल माता), छन्दक, काल उदायी, उत्तम गज, कथक अश्वराज, महाबोधि वृक्ष और सपत्ति से भरे चार घड़े भी पैदा हुए। ये सब एक-दूसरे से कुछ ही दूरी पर उत्पन्न हुए।

बालक के जन्म की शुभ सूचना पाकर दोनों नगरों के लोग लुम्बिनी पहुँचे और बालक को लेकर कपिलवस्तु लौट आये। बालक राजमहल में पहुँचा ही था कि कालदेवल नामक एक तपस्वी देवलोक से उतर कर महल में आये और उन्होंने राजा से कहा 'महाराज, मैं आपके पुत्र को देखना चाहता हूँ।'

पुत्र को मँगाया गया। तपस्वी ने बालक की वंदना की। फिर कुछ सोचने के बाद एकाएक उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। लोगों ने आशंका से पूछा 'क्यों भन्ते, हमारे आर्यपुत्र पर कोई संकट आने वाला तो नहीं है ?'

'नहीं' तपस्वी ने कहा 'यह तो निश्चय बुद्ध होंगे, किन्तु मैं इसलिए रो रहा हूँ कि इस प्रकार के पुरुष को मैं बुद्ध (ज्ञानी) हुए न देख पाऊँगा।'

जन्म के पाँचवें दिन वेद पारगत एवं भविष्य-फल को बताने वाले दैवज्ञों (ज्योतिषियों) को बुलाकर जब सगुन विचारा गया तो उनमें से सात ने कहा 'ऐसे शुभ लक्षणों वाला गृहस्थ चक्रवर्ती राजा होता है, और साधु होने पर बुद्ध।' उनमें कम उम्र वाले कौण्डिन्य नामक तरुण ब्राह्मण ने कहा 'इसके घर में रहने का कोई कारण नहीं है, अवश्य ही यह महाज्ञानी होगा।' सिद्धार्थ के पैदा होने के कुछ दिन बाद उनकी माता का निधन हो गया। उसके बाद उनकी सौतेली माता प्रजापति गौतमी ने उनका पालन-पोषण किया।

राजा ने रूपवती एवं निर्दोष धाइयों को बालक की परिचर्या के लिए नियुक्त कर दिया। बालक दिन-ब-दिन शोभा तथा श्री के साथ बढ़ता गया। जब सिद्धार्थ बालक से १६ वर्ष का युवा हुआ तो राजा ने उसके लिए तीन ऋतुओं के अनुकूल तीन महल बनवा दिये। उन महलों में संगीत और शृंगार की समुचित व्यवस्था कर दी गयी। सिद्धार्थ उन भोगों में रम गया। किन्तु बाहरी जाति-बिरादरी वालों में यह अफवाह फैल गयी कि युवराज सिद्धार्थ भोगों में लिप्त हो रहे हैं। किसी कला को नहीं सीख रहे हैं। युद्ध करना पड़ेगा तो उस समय क्या होगा ?

महारानी ने सिद्धार्थ को बुलाकर यही बात उनसे कह दी। सिद्धार्थ ने राजा से, सारी प्रजा में यह प्रचारित करने के लिए कह दिया कि सातवें दिन कुमार अपनी कला (करतब) का प्रदर्शन करेगा। ऐसा ही ढिंढोरा पिटवाया गया। निश्चित दिन पर सिद्धार्थ ने अपने कौशलों को दिखाकर प्रजा को दंग कर दिया।

एक दिन सिद्धार्थ रथ पर सवार होकर उपवन-भ्रमण के लिए बाहर निकले। इसी समय सिद्धार्थ के लिए बुद्धत्व प्राप्ति का ठीक मौका देखकर देवताओं ने रास्ते

मे एक ऐसे बूढ़े पुरुष को खड़ा कर दिया, जिसके दाँत टूट गये थे, जिसके बाल पक गये थे, जिसका शरीर झुक गया था और जो हाथ में लकडी लिए थर-थर काँप रहा था। सिद्धार्थ ने अपने सारथी से उस वृद्ध पुरुष के संबंध मे पूछा। सारथी का उत्तर सुनकर सिद्धार्थ ने उदास हो रथ को घर की ओर मोड़ देने का आदेश दिया।

दूसरी बार सिद्धार्थ ने एक रोगी को देखा। तीसरे दिन एक मृतक को देखा। चौथे दिन उन्होने देखा कि एक सन्यासी जा रहे है। सिद्धार्थ ने सारथी से सन्यासी का सारा वृतान्त जाना। ये सभी बाते देवताओ की ओर से हो रही थी और उन से सिद्धार्थ का मन वैराग्य की ओर खिच रहा था।

सिद्धार्थ जब युवक हुए। युवकोचित उल्लास के विपरीत उनकी गम्भीर एव चिंतित मानसिक स्थिति से आशकित होकर महाराज शुद्धोदन ने उनका विवाह कोलिय प्रजातत्र की कन्या यशोधरा (कापिलायनी) से सपन्न कर दिया। इस विवाह की रोचक चर्चा 'ललितविस्तर' नामक बौद्धग्रथ मे विस्तार से वर्णित है।

ठीक समय पर यशोधरा मे राहुल का जन्म हुआ। सारे घर मे, राज्य मे खुशियाँ मनायी गयी, किन्तु सिद्धार्थ उदास बने देखते रहे। उनके मन मे जो वैराग्य घर कर चुका था वह विवाह करने और पुत्र पैदा होने से भी दूर न हुआ।

एकाएक एक रात को सिद्धार्थ ने छन्दक को जगाकर कहा 'छन्दक, आज ही मै महाभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) करना चाहता हूँ। मेरे लिए एक घोडा तैयार करो।' छन्दक ने अश्वराज कन्थक को सजाया। कन्थक ने अपने सौभाग्य मनाये। उधर सिद्धार्थ राहुल और राहुलमाता को देखने के लिए शयनागार की ओर गये। वहाँ उन्होने माता-पुत्र को आनन्द मे सोते देखकर एक भी शब्द नही किया। महल से उतरकर वे घोडे की पीठ पर चढे। कथक हर्ष के मारे हिनहिना उठा। छन्दक भी घोडे की पूँछ पकडे साथ ही चल दिया। एक ही रात मे सिद्धार्थ तीन राज्यो की सीमा पार करके अनोमा (औमी) नदी (जिला गोरखपुर) के तट पर जा पहुँचे। घोडे ने एक ही टाप मे नदी को भी पार कर दिया। नदी पार जाकर सिद्धार्थ ने कहा 'सौम्य छन्दक, तू मेरे आभूषणो तथा कथक को लेकर लौट जा मै सन्यास लूंगा। माता-पिता को मेरा आरोग्य कहना।' छन्दक बेचारा कथक को साथ ले रोता हुआ नगर को लौट आया।

वहाँ एक सप्ताह रहने के बाद सिद्धार्थ पैदल चलकर राजगृह पहुँचे। वहाँ

उन्होंने भिक्षा की। लोगों ने भिक्षुक को देखकर करुणा से आँसू बहाये। भिक्षा से उस अन्न को सिद्धार्थ ने जैसे-तैसे खा लिया। वहाँ से वे, उस समय के प्रसिद्ध योगी आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र के पास गये। वहाँ भी उनका मन न लगा। वे उरुबेला के रमणीय प्रदेश में जा पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने छह वर्ष तक सेवा-तपस्या की। उनके मन को संतोष न हुआ।

एक दिन प्रातःकाल ही बुद्ध शौच-स्नान से निवृत्त होकर बरगद के पेड़ के नीचे आसन बाँधकर ध्यान में बैठ गये। कुछ समय बाद सुजाता नाम की एक तरुणी ने आकर सिद्धार्थ के आगे खीर की थाली रखी और कहा 'जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ वैसे ही तुम्हारा भी पूर्ण हो।' वह वहाँ से लौट आयी। बोधगया में निराहार रहते हुए सिद्धार्थ को सात सप्ताह (४६ दिन) हो रहे थे। उन्होंने थाल में रखी खीर को खाया। सायंकाल वे बोधिवृक्ष (बोधगया की प्रसिद्ध पीपल का पेड़) के पास गये। सिद्धार्थ बोधिवृक्ष की प्रदक्षिणा की और यह प्रतिज्ञा कर बोधिवृक्ष के नीचे आसन मार कर बैठ गये कि 'चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डी ही क्यों न बाकी रह जाँय; चाहे शरीर मांस, रक्त क्यों न सूख जाय, लेकिन मैं 'सम्यक् संबोधि' को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।' भगवान् उस बोधिवृक्ष के नीचे मोक्ष का आनन्द लेते हुए एक सप्ताह तक ध्यान लगाये बैठे रहे। सातवीं रात के पहले याम में उन्हें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने जाना कि अज्ञान, वेदना, तृष्णा, उपादान, जन्म, जरा, मरण, शोक, दुःख आदि का रहस्य क्या है।

दूसरे दिन उस समाधि से उठकर वे बरगद के वृक्ष के नीचे गये। वहाँ भी एक सप्ताह तक चिन्तन में बैठे रहे। इस समाधि के बाद जब उन्होंने आँखें खोलीं तो वे पूर्णतः 'बुद्ध' हो गये थे। उन्होंने करुणाभरी दृष्टि से प्राणियों की ओर तो देखा। प्राणियों पर दया करके वे धर्मोपदेश के लिए उद्यत हुए। इस समय उनकी आयु ३६ वर्ष (५२८ ई० पूर्व) की थी।

वे बोधगया से वाराणसी आये और वहाँ उन्होंने अपना पहला उपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को किया। भगवान् बुद्ध ने कहा :

'हे भिक्षुओ, इन दो अन्तों (अतियों) का प्रव्रजितों (भिक्षुओं) को सेवन नहीं करना चाहिए : एक तो कामवासनाओं में काम-सुख-लिप्त होना और दूसरा अनर्थों से युक्त पीड़ा से आत्मा का संतप्त करना। भिक्षुओ, इन दोनों का परित्याग कर मैंने मध्यम मार्ग को खोज निकाला है। यह मध्यम मार्ग, आँख देने वाले, ज्ञान कराने वाले निर्वाण का है।'

उसके बाद तथागत ने 'निर्वाण' के कल्याणकारी परिणामों को विस्तार से समझाया ।

आगे भगवान् ने भिक्षुओं से कहा 'भिक्षुओं, जितने भी दिव्य और मानुष बंधन है, मै उन सब से परे हूँ । तुम भी दिव्य और मानुष बंधनो से मुक्त हो सकते हो । हे भिक्षुओं, बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो । एक साथ दो मत जाओ । हे भिक्षुओ, आदि मे कल्याण, मध्य मे कल्याण, अन्त मे कल्याण—ऐसे धर्म का उपदेश करो । भिक्षुओ, मैं भी धर्मदेशना के लिए जाऊँगा ।'

उसके बाद बुद्ध उरुबेला, उत्तर कुरु (मेरु पर्वत की उत्तर दिशा) और अनवतप्त सरोवर (मानसरोवर झील) तक उपदेश करने के लिए गये ।

अन्त मे वि० पूर्व ४२७-२६ (४८४-८५ ई० पूर्व) में तथागत यह कहते हुए महा परिनिर्वाण को प्राप्त हुए 'आश्चर्य भन्ते, अद्भुत भन्ते, मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु संघ की भी । भन्ते, मुझे भगवान् के पास से प्रव्रज्या मिले, उपसपदा मिले ।'

त्रिपिटक और अनुपिटक

बौद्ध-साहित्य की ग्रंथ-सामग्री दो भाषाओ मे लिखी गयी . पालि और संस्कृत मे । बौद्धो के धर्मविषयक प्रायः सभी ग्रंथ पालि भाषा मे लिखे गये है । इसी प्रकार बौद्धो के दर्शनविषयक जितने ग्रथ है वे सस्कृत भाषा मे लिखे गये ।

त्रिपिटक

भगवान् तथागत के बुद्धत्व (ज्ञान) प्राप्त करने से लेकर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने तक, उन्होंने जो कुछ भी कहा उसी का सग्रह या सकलन 'त्रिपिटक' मे है । 'त्रिपिटक' अर्थात् तीन पिटारियाँ, जिनके नाम है .

१. विनयपिटक (अनुशासनविषयक)
२ सुत्तपिटक (उपदेशात्मक)
३ अभिधम्मपिटक (मनोवैज्ञानिक)

'विनयपिटक' मे बुद्ध की उन वाणियो का सकलन है, जिनमे उपदेश की बातें कही गयी है, दूसरे 'सुत्तपिटक' मे अनुशासन (संघविषयक नियम) संदंधी वाणियो का संकलन है; और तीसरे 'अभिधम्मपिटक' मे अध्यात्म तथा नीति की बातें संकलित है ।

त्रिपिटकों को अनुश्रुति ग्रंथ कहा गया है, अर्थात् जो मौखिक रूप में रचित पठन-पाठन के द्वारा वर्षों तक जीवित रहते आये । मगध में उनका संकलन ३०० ई० पूर्व, अशोक द्वारा आयोजित तीसरी बौद्ध संगीति में हुआ ।

इन त्रिपिटकों में लगभग ३४ ग्रंथों का संग्रह है, जिनकी जानकारी इस चार्ट से की जा सकती है :
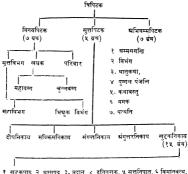
१ खुद्दकपाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४ इतिवुत्तक, ५ सुत्तनिपात, ६ विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८ थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निदेस, १२ पतिसंविधा, १३ अपादनि, १४. बुद्धवंश, और १५ धम्मपिटक या चरीय पिटक ।

विनयपिटक

'विनयपिटक' में भगवान् तथागत के सदेश संगृहीत हैं, जिनमें संघ के लिए अनेक प्रकार के नियम बताये गये हैं । साथ ही उन परिस्थितियों का भी इस पिटक में उल्लेख है, जिनके कारण ये नियम बनाये गये । सघ में सामिल होने के लिए, उसके व्रतों का पालन करने के लिए और उनका प्रचार करने के लिए क्या क्या करना चाहिए, इसका भी उल्लेख 'विनयपिटक' में है ।

सुत्तपिटक

'सुत्तपिटक' सब से बड़ा और महत्त्वपूर्ण पिटक है। इसमे भी भगवान् बुद्ध की वाणियाँ संगृहीत हैं। इसके 'धम्मपद' खण्ड मे बुद्ध के ४२३ उपदेशो को २६ अध्यायो मे विभक्त किया गया है। इसके 'खुद्दकनिकाय' को बहुत पसन्द किया जाता है। उसमे धर्मविषय की छोटी-छोटी कथाएँ बड़े सुन्दर ढंग से कही गयी हैं। 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' मे भिक्षु-भिक्षुणियो की कवितायें हैं। जातको मे भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं।

अभिधम्मपिटक

आदि के दो पिटकों को छोडकर, विषय की दृष्टि से, इस तीसरे पिटक के सम्बन्ध मे ही कुछ परिचय दे देना उपयुक्त समझा गया है। अन्य दो पिटको की अपेक्षा इसमे जो विशेषता है वह है अध्यात्म-सम्बन्धी। उसके जिन सात ग्रंथो को गिनाया गया है वे सभी बहुत बाद की रचनाएँ हैं।

ऐसी अनुश्रुति है कि जब बुद्ध भगवान् अपने विचारो का प्रचार करने के लिए देवलोक मे गये तो उन्होने उस समय 'अभिधम्म' का पाठ किया था। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के इतिहास मे इस पिटकग्रन्थ को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। कहा जाता है कि इसकी रचना सम्राट् अशोक के शासनकाल २५० ई० पूर्व के आस-पास हुई थी।

अनुपिटक

पिटकों के बाद लिखे गये पालि भाषा के समस्त ग्रथो को अनुपिटक कहा जाता है। इन अनुपिटको के अन्तर्गत 'नेतिप्रकरण', 'पेटकोपदेश', 'सुत्तसंग्रह', 'मिलिन्दपञ्ह', 'विसुद्धिमग्ग', 'अट्ठकथाएँ', 'अभिधम्मत्थसग्रह' आदि ग्रंथो की गणना की गयी है।

इनके अतिरिक्त बौद्धो के १२ वंशग्रंथो का नाम आता है। ये वंशग्रंथ वैदिक धर्म के पुराणो जैसे है, जिनमे अनेक प्रकार की ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाएँ संगृहीत है। इस प्रकार के ग्रथो की रचना बड़े पैमाने पर होती रही।

मिलिन्दप्रश्न

अनुपिटक साहित्य मे 'मिलिन्दप्रश्न' का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। उसको आचार्य नागसेन ने संकलित किया था। उसके वास्तविक रचनाकार और रचनाकाल के सबंध मे विवाद है; किन्तु जिस रूप मे आज वह उपलब्ध है वही उसका मूल रूप था। उसमे सात अध्याय है। बौद्ध न्याय की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशिष्ट स्थान है।

उसमें नागसेन की जीवनी पर भी प्रकाश डाला गया है। ऐसा विदित होता है कि नागसेन ब्राह्मण था और पंजाब उसका घर था। ब्राह्मण पुत्र होने के कारण उसने वेदशास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। जब वह युवक था तो उसकी भेंट बौद्ध भिक्षु रोहषेण से हुई और उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह बौद्ध हो गया। जब आचार्य रोहषेण ने नागसेन को पारंगत बना दिया तो एक दिन गुरु की आज्ञा प्राप्तकर वह उस समय के सुपात्र विद्वान् अश्वगुप्त के पास गया। अश्वगुप्त को नागसेन की प्रतिभा का भेद उस समय विदित हुआ जब उसने एक दिन किसी गृहस्थ के यहाँ बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित अपने विचारों को प्रस्तुत किया। आचार्य अश्वगुप्त ने अपने इस योग्य शिष्य को उस युग के प्रतिभाशाली आचार्य धर्मरक्षित के सानिध्य मे पटना भेज दिया। पाटलिपुत्र के अशोकाराम मे आचार्य धर्मरक्षित के निकट रहकर नागसेन ने बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। उसके बाद वे पंजाब लौट आये।

जब नागसेन की यह स्थिति थी ठीक उसी समय राजा मिनान्दर (मिलिन्द) ने अपने शास्त्राभिमान मे कई बौद्ध विद्वानों को पराभूतकर दिया था। विद्वान् नागसेन को भी यह कुसमाचार मिला। नागसेन तत्काल स्यालकोट पहुँचा, जहाँ मिनान्दर था। राजा मिनान्दर ने नागसेन का सत्कारपूर्वक स्वागत किया। राजा को नागसेन के व्यक्तित्व को जानने मे देर न लगी। उसने अपनी आदत के अनुसार नागसेन से भी अनेक प्रश्न पूछे। नागसेन ने राजा को जो उत्तर दिए वे असाधारण थे। बाद मे राजा ने नागसेन को महल में बुलाया और संमानित तथा शिष्ट ढग मे उसके संमुख अपनी जिज्ञासाओं को रखा।

राजा मिनान्दर और आचार्य नागसेन के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए थे उन्ही का संकलन 'मिलिन्दप्रश्न' मे है।

बौद्धज्ञान, बौद्धनीति और बौद्धमनोविज्ञान की विशेषताओं के अतिरिक्त 'मिलिन्दप्रश्न' का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। एक प्रकार से वह उस युग के बौद्ध धर्म का विश्वकोश है। इसी लिए उसको त्रिपिटकों के बाद स्थान मिला।

बुद्धदत्त

पालि भाषा की कृतियों मे 'मिलिन्दप्रश्न' के बाद आचार्य बुद्धदत्त की कृतियों का स्थान आता है। उन्होने 'अभिधर्मपिटक' की 'अट्ठकथाओं' का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' नाम से और 'विनयपिटक' की 'अट्ठकथाओं' का संक्षेप 'विनयविनिच्छय' के नाम से किया।

बुद्धदत्त, चेलिराज्य के उरईपुर के निवासी थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा अनुराधापुर के महाबिहार से संपन्न हुई। वे बुद्ध की वाणियों के अध्ययनार्थ सिंहल भी गये थे और वहाँ से लौटकर उन्होंने एक बिहार मे रहकर अपनी कृतियो का निर्माण किया।

बुद्धघोष

बौद्ध-साहित्य मे आचार्य बुद्धघोष का ऊँचा स्थान माना जाता है। आचार्य बुद्धदत्त से उनका साक्षात्कार उस समय हुआ, जब वे उसी कार्य के लिए सिंहल जा रहे थे। 'विसुद्धिमग्ग' को उन्होने सिंहल मे ही लिखा था।

बुद्धघोष के समय तक, बौद्ध विद्वानों मे संस्कृत भाषा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। जिन बौद्ध विद्वानों ने अपनी कृतियों के लिए संस्कृत को अपनाया उनमे अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग प्रमुख है। इन विद्वानो का परिचय आगे प्रस्तुत किया जायगा।

वंशग्रंथ

किन्तु पालि ग्रन्थो की परम्परा मे आचार्य बुद्धघोष की कृतियों के बाद वंशग्रन्थों का क्रम आता है। पालि साहित्य मे वंशग्रन्थों की वही स्थिति है, जो संस्कृत-साहित्य मे अष्टादश महापुराणो, 'महाभारत' तथा 'राजतरंगिणी' आदि ग्रन्थो की है। इस प्रकार के प्रमुख वंशग्रन्थो के नाम हैं 'दीपवंश', 'महावंश', 'चूलवंश', 'बुद्धघोसुप्पति', 'सद्धम्मसंगह', 'महाबोधिवंश', 'थूपवंश', 'अत्तनलुगविहारवंश', 'दाठावंश', 'छकेसधातुवंश', 'ग्रंथवंश' और 'शासनवंश'। इस प्रकार के पालि साहित्य मे काव्यो और व्याकरणविषयक ग्रन्थो का भी महत्त्व है, किन्तु दर्शन विषय के लिए इनकी कोई उपयोगिता नही है।

संस्कृत के ग्रन्थकार

जिस प्रकार बौद्ध धर्म की स्थविरवादी शाखा के प्रायः संपूर्ण ग्रंथ पालि भाषा मे उल्लिखित है उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा के प्रवर्तक एवं अनुवर्तक विद्वानो की प्रायः समस्त कृतियाँ संस्कृत भाषा मे लिखी हुई मिलती हैं। इन बौद्ध विद्वानो ने संस्कृत मे ग्रन्थ-रचना करके संस्कृत भाषा को ही समृद्ध नही किया, अपितु संस्कृत के प्रति बौद्धो मे जो संकीर्णता चली आ रही थी उसको भी दूर किया।

अश्वघोष

इस कोटि के विद्वानो मे अश्वघोष का पहला नाम आता है। वे अयोध्या के निवासी थे और ब्राह्मण से बौद्ध हुए। वे संगीतज्ञ, कवि और दार्शनिक थे। वे सम्राट् कनिष्क के समकालीन (७८ ई०) और बौद्धन्याय को शून्यवादी

शाखा के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन से पहले, प्रथम शताब्दी ई० में हुए। तिब्बत तथा चीन की अनुश्रुतियों में उन्हें कनिष्क की विद्वत्सभा का विद्वान, गुरु और निकट का व्यक्ति माना गया है। सम्राट् कनिष्क द्वारा काश्मीर में आयोजित चौथी बौद्ध संगीति (१०० ई०) के वे ही अध्यक्ष थे।

अश्वघोष की जिन कृतियों के संबंध में सभी विद्वान् एकमत हैं उनके नाम हैं 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र प्रकरण'। आदि के दो महाकाव्य और अन्त का तीसरा नाटक है। इनके अतिरिक्त जिन कृतियों को अश्वघोषकृत कहने में विद्वानों का मतभेद रहा है, किन्तु तिब्बत और चीन की परम्परा जिन्हें अश्वघोष की बताती है उनके नाम हैं : 'सूत्रालंकार', 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह', 'वज्रसूचिकोपनिषद्' और 'गाण्डीस्तोत्रगाथा'।

नागार्जुन

आचार्य नागार्जुन के कारण भारतीय साहित्य में, और विशेषतः बौद्ध-न्याय में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवादक कुमारजीव ने ४०१-४०९ ई० के भीतर आचार्य नागार्जुन और आचार्य वसुबन्धु की जीवनी पर दो ग्रन्थ लिखे। इस जीवनी ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि उनका जन्म दक्षिण भारत विदर्भ (बरार) में हुआ और वह ब्राह्मण से बौद्ध हुआ। वह आन्ध्रराजा गौतमपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०) का समकालीन था। उसका स्थितिकाल १७५ ई० के लगभग है।

उसको बौद्ध-साहित्य का जितना गंभीर ज्ञान प्राप्त था, ब्राह्मण-साहित्य में भी उसकी उसी रूप में असाधारण गति थी। जिस दार्शनिक नागर्जुन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह वैद्य एवं रासायनिक नागार्जुन से भिन्न था। बौद्ध हो जाने पर नागार्जुन ने अपना स्थायी निवास श्रीपर्वत (नागार्जुनी कोंडा) को बनाया।

विद्वत्समाज में नागार्जुन की जिन कृतियों को आज स्वीकार किया गया है उनकी संख्या १२ है और उनके नाम हैं : १ 'माध्यमिक कारिका' या 'माध्यमिक शास्त्र', २. 'दशभूमि विभाषाशास्त्र', ३ 'महाप्रज्ञा पारमितासूत्रकारिका' ४ 'उपायकौशल', ५ 'प्रमाणविध्वसन', ६ विग्रहव्यावर्तिनी', ७ 'चतुःस्तव', ८ 'युक्तिषष्ठिका', ९ 'शून्यतासप्तति', १० 'प्रतीत्यसमुत्पादहृदय', ११ 'महायानविंशक' और १२ 'सुहृल्लेख'। इन बारह ग्रन्थों में 'विग्रहव्यावर्तिनी', और 'माध्यमिक कारिका' ही मूल संस्कृत में उपलब्ध है। शेष कृतियाँ चीनी तथा तिब्बती अनुवादों के रूप में मिलती हैं।

असंग

असंग और वसुबन्धु, दोनो सहोदर थे। पुरुषपुर (पेशावर) में उनका जन्म हुआ। दोनो भाइयो की शिक्षा काश्मीर मे संपन्न हुई। वे पठान ब्राह्मण थे। असंग को योगाचार दर्शन का पहला आचार्य माना जाता है। उन्ही के प्रभाव से वसुबन्धु ने सर्वास्तिवाद को त्यागकर योगाचार को अपनाया। मैत्रेयनाथ, असंग के गुरु थे। असंग का स्थितिकाल ३५० ई० के लगभग था।

महापडित राहुल जी ने असंग द्वारा विरचित जिन पाँच ग्रन्थो की सूचना दी है उनके नाम है 'महायानोत्तरतंत्र', 'महायानसूत्रालंकार', 'योगाचारभूमिशास्त्र', 'वस्तुसंग्रहणी' और 'बोधित्वपिसिटकापवाद'। असंग के ये ग्रंथ राहुल जी को तिब्बता, चीनी तथा जापानी अनुवादो और वहाँ के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों मे प्राप्त हुए है। 'योगाचारभूमिशास्त्र' और 'महायानोत्तरतंत्र', ये दोनो ग्रथ राहुल जी को तिब्बत मे मूल सस्कृत मे भी मिले। 'महायानसूत्रालंकार' असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की सयुक्त रचना है, जिसकी कारिकाये मैत्रेयनाथ की और व्याख्या असंग की है। बौद्ध दर्शन के क्षेत्र मे असंग की 'योगाचारभूमि' को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि तब से 'विज्ञानवाद' को योगाचार-दर्शन के नाम से कहा गया।

वसुबन्धु

असग के प्रसग मे वसुबन्धु का कुछ उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी असग की अपेक्षा वसुबन्धु का व्यक्तित्व कई दृष्टियो से बढकर है। वसुबन्धु की जानकारी के लिए उन पर लिखे गये दो जीवनीग्रंथ उनके सम्बन्ध मे पर्याप्त सूचनाये प्रस्तुत करते है। उनकी एक जीवनी तो कुमारजीव ने ४०१-४०६ ई० के बीच लिखी थी और दूसरी परमार्थ ने ४९६-५६० ई० के बीच। कुमारजीव की पुस्तक संप्रति उपलब्ध नही है, किन्तु परमार्थ की पुस्तक आज भी चीनी भाषा मे उपलब्ध है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् ताकाकुसु ने किया है।

इस जीवनीग्रन्थ से ज्ञात होता है कि वसुबन्धु युवावस्था मे ही अपनी जन्म-भूमि को छोडकर ज्ञान की तृषा को पूरा करने के लिए अयोध्या चले गये थे। वही उन्होंने स्थविर बुद्धमित्र से हीनयान संप्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। वही गुरुमठ मे रहकर उन्होंने बौद्ध दर्शन का गभीर अध्ययन किया। अस्सी वर्ष तक अयोध्या मे रहकर उन्होंने अनेक महान् ग्रन्थो की रचना की। स्थिरमति, दिङ्नाग, विमुक्तसेन और गुणभद्र जैस पारंगत नैयायिक वसुबन्धु के ही शिष्य थे।

वे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रेमपात्र और उनके पुत्र चन्द्रगुप्त या चंद्रप्रकाश के अध्यापक रहे। अतः वे चौथी शताब्दी मे हुए।

जीवन के अन्तिम दस वर्षों अपने अग्रज असंग की प्रेरणा एवं संसर्ग के कारण वसुबन्धु ने वैभाषिक मत का परित्याग करके महायान संप्रदाय के योगाचार मत को स्वीकार किया। असंग ने ही उन्हें योगाचार मे दीक्षित किया। ७० वर्ष तक उन्होने हीनयान संप्रदाय के और तदुपरान्त १० वर्ष तक महायान संप्रदाय के ग्रंथ लिखे। उनके अनेक ग्रन्थ तो विनष्ट हो चुके है, किन्तु तिब्बत, चीन आदि बौद्ध देशों मे जो ग्रन्थ सुरक्षित रह सके है उनके नाम इस प्रकार हैं।

हीनयान की कृतियाँ : 'परमार्थसप्तति', 'तर्कशास्त्र', 'वादविधि', 'गाथासंग्रह' और 'अभिधर्मकोश'।

महायान की कृतियाँ · 'सद्धर्मपुण्डरीकटीका', 'महापरिनिर्वाणसूत्रटीका', 'वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता-टीका' और विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशिका, त्रिंशिका)।

वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' सर्वास्तिवाद दर्शन का प्रौढ ग्रन्थ है। उसको राहुल जी ने तिब्बत मे खोज निकाला। उस पर वसुबन्धु ने विस्तृत भाष्य भी लिखा था और उस भाष्य पर यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' टीका लिखी थी।

दिङ्नाग

दिङ्नाग को बौद्धन्याय का पिता कहा जाता है। तिब्बती परम्पराएँ उनको तमिल प्रदेश के कंजीवरम्‌ (काँची) का निवासी तथा वसुबन्धु का शिष्य बताती है। सिंहवक्र उनके गाँव का नाम था और ब्राह्मण परिवार मे उनका जन्म हुआ। उडीसा उनकी विश्रान्त भूमि थी और वही उन्होने निर्वाण प्राप्त किया। उनका समय ४२५ ई० के आसपास था।

उनके पहले गुरु भिक्षु नागदत्त थे, जिन्होने उन्हे बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। कुछ दिन उन्होने वही रहकर अध्ययन किया; किन्तु बाद मे गुरु के साथ उनका मतभेद हो गया और वे दक्षिण को छोडकर उत्तर भारत मे आकर वसुबन्धु के शिष्य हो गये। वहाँ उन्होने बौद्धन्याय का विशेष अध्ययन किया और तदुपरान्त ग्रन्थ निर्माण किया।

धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, कर्मशील और शंकर स्वामी उनके शिष्य थे। दिङ्नाग ने न्याय दर्शन पर लगभग एक-सौ ग्रन्थ लिखे, जिनमे से कुछ ही उपलब्ध है। उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थो मे 'प्रमाणसमुच्चय', 'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति', 'न्यायप्रवेश', 'हेतुचक्रनिर्णय' और 'प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश' आदि का प्रमुख स्थान है।

धर्मकीर्ति

आचार्य धर्मकीर्ति दाक्षिणात्य थे। उनका जन्म तमिल (चोल) प्रान्त के

अन्तर्गत तिरूमलै नामक गाँव के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था । तिब्बती परम्परा मे उन्हे कुमारिल भट्ट का भानजा बताया जाता है । आरंभ मे उन्होने वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया और बाद मे बुद्ध धर्म की तत्कालीन ख्याति से प्रभावित होकर वे नालन्दा गये और वहाँ उस युग के विज्ञानवाद के दार्शनिक तथा नालन्दा के प्रधान आचार्य धर्मपाल के शिष्य बन गये । दिङ्नाग की शिष्य-परम्परा के आचार्य ईश्वरसेन से भी उन्होने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया । उनका स्थितिकाल ६०० ई० था ।

धर्मकीर्ति के ग्रन्थो के नाम है : 'प्रमाणवार्तिक', 'प्रमाणविनिश्चय', 'न्यायविन्दु', 'हेतुविन्दु', 'सम्बन्धपरीक्षा', 'वादान्याय' और 'सन्तान्तरसिद्धि' । इनके अतिरिक्त उन्होने 'प्रमाणवर्तिक' और 'सम्बन्धपरीक्षा' पर वृत्तियाँ भी लिखी ।

उनके ग्रन्थो की लोकप्रियता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है उन पर अनेक टीकाएँ, उपटीकाएँ, भाष्य और वृत्तियाँ लिखी गयी । उदाहरण के लिए उनके 'प्रमाणवार्तिक' पर देवेन्द्र बुद्धि (६२५ ई०), शाक्यबुद्धि (६५० ई०), प्रज्ञाकर गुप्त (६७५ ई०), जयानन्द (७०० ई०), रविगुप्त (७०० ई०), यमारि (७२५ ई०), मनोरथनन्दि (७०० ई०) और शकरानन्द (७७५ ई०) प्रभृति अनेक ख्यातिवन्त विद्वानो ने टीकाये लिखी । उनके अन्य ग्रन्थो के सम्बन्ध मे भी यही स्थिति रही है ।

तिब्बती भाषा मे मूल संस्कृत के जितने भी बौद्ध-न्याय विषयक ग्रन्थो का अनुवाद किया गया है उनमे सर्वाधिक संख्या धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की है । उनके ग्रंथो के अधिकतर टीकाकार उनके शिष्य थे, जिनकी परम्परा बहुत लम्बी है ।

बौद्धन्याय

भगवान् तथागत ने जिस महान् लोकोपकारी धर्म को जन्म दिया था उसके मूल मे सामाजिक समझौता था । दलगत विचारधाराओं का उन्होने जीवनपर्यन्त वहिष्कार किया । उनके लिए यह सभव नही था कि वे दार्शनिक गुत्थियो के जंजाल मे पडकर तथा अपने धार्मिक उपदेशो से दूर रहकर दर्शन के ऊहापोह मे फँसते । अपने जीवनकाल मे बडी कडाई से उन्होने अपने अनुयायी भिक्षुओ को उधर जाने से रोका, टोका और निषेध किया । यही कारण है कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ मे उन्होने अपने अनुयायी भिक्षुओ के समक्ष जो पहला उपदेश (५२८ ई० पूर्व) किया था उसमे उन्होने यही कहा था कि 'हे भिक्षुओ, बहुजन हित के लिए और बहुजन सुख के लिए विचरण करो ।' गृहस्थ के लिए भी उन्होने दश अकुशल कर्मपथो का प्रवचन किया था ।

भगवान् तथागत के जीवन दर्शन के दो प्रमुख आधार रहे . एक व्यष्टिमय और दूसरा समष्टिमय। उनका व्यष्टिमय जीवन नितान्त एकाकी, समाधिस्थ योगी जैसा था। उनके इस जीवन के परिचायक थेरवाद, बौद्ध धर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ है, जिनके अनुसार बुद्ध असाधारण लक्षणो एवं विभूतियो से युक्त होते हुए भी मनुष्य थे, देवता नही। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित था। उसमे प्राणिमात्र की कल्याण-कामना और प्राणिमात्र की दु ख-निवृत्ति की भावना विद्यमान थी। इस दूसरी भावना मे विश्वसेवा के उच्चादर्श समन्वित थे, जिनको क्रियारूप मे उतारने का कार्य किया मौर्यो के बाद कुषाण और गुप्त राजाओं ने। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दोनो पक्षो मे पहली परम्परा का विकास श्रीलंका, बरमा एव थाई देशों मे और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन तथा जापान आदि देशो मे हुआ।

किन्तु बुद्ध निर्वाण (३८४ ई० पूर्व) के लगभग दो वर्ष के भीतर ही उनके अनुयायियों का दृष्टिकोण बदल गया और बुद्ध के पवित्र उद्देश्यो को छोडकर वे जीव, जगत् और आत्मा के सूक्ष्म रहस्यो का समाधान करने के दिशा मे प्रवृत्त हो गये। बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे जिन चार दार्शनिक सम्प्रदायो का आज हम परिचय पाते है उनके उदय का कारण यही था।

बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय

बौद्ध दर्शन के चार सप्रदायो और उनके सिद्धान्तों का सक्षिप्त सार इस प्रकार समझा जा सकता है :

संप्रदाय	सिद्धान्त	मान्यतायें
वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	ससार सत्य, निर्वाण सत्य
सौत्रांतिक	वाह्यार्थानुमेयवादी	ससार सत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	ससार असत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	ससार असत्य, निर्वाण असत्य

वैभाषिक

वैभाषिको के प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के अनुसार सासारिक वस्तु मे, जिसके द्वारा असख्य प्राणियो का जीवन-निर्वाह हो रहा है, अनन्त सत्ता विद्यमान है। अतएव वह सत्य है और उसके द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण सम्बन्धी मान्यताये भी सत्य हैं।

वैभाषिको का दृष्टिकोण है कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हम तभी प्राप्त कर सकते

है, जब प्रत्यक्ष उपाय से काम लें। यह ठीक है कि धुंवा देखकर हम आग के होने का अनुमान कर लेते हैं। यह इसलिए होता है, क्योंकि धुंवा और आग के साम्निध्य का हमारा संस्कार अनादि एवं अमिट है। इसके विपरीत यह भी संभावना की गयी है कि जिस व्यक्ति ने आग और धुंवा को कभी भी एक साथ नही देखा है वह धुंवा को देखकर आग का अनुमान कैसे लगायेगा ? इसलिए यह सिद्ध होता है कि जिसने वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन नही किया है वह कल्पना से उसका स्वरूप निर्धारित नही कर सकता है। अतः हमे यह स्वीकार करना पडता है कि वस्तु के प्रत्यक्ष हुए बिना उसका ज्ञान प्राप्त करना संभव नही है। अत. वैभाषिक मत को प्रत्यक्षवादी दर्शन कहा गया है।

वैभाषिक इसका नामकरण कैसे हुआ, इसका आधार या कारण सप्रदायों के प्रसंग मे बताया गया है। काश्मीर इस मत का मुख्य स्थल था।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक मत वाह्यार्थानुमेयवादी है। वाह्यार्थानुमेय के अनुसार वाह्य पदार्थ नाशवान् होने के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान सभव नही है। अतः वे अनुमान पर आधारित ज्ञान है। वैसे ही जैसे दर्पण के प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब का अनुमान लगाया जाता है। अनुमिति मे वाह्य पदार्थों की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है।

सौत्रान्तिकों का कथन है कि ससार सत्य है और निर्वाण भी सत्य है। अर्थात् चित्त और वाह्य पदार्थ, दोनो सत्य हैं। उनका अभिमत है कि यदि वाह्य पदार्थों के अस्तित्व को नही माना जाता है तो वाह्य वस्तुओ की प्रतीति हमे कैसे होगी ?

विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए सौत्रान्तिक कहते है कि वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन नही है। जब हम घट को देखते है तो वह बाहर विद्यमान रहता है, किन्तु उसका ज्ञान हमारे अन्दर रहता है। इसलिए वस्तु का अलग स्थान है और उसके ज्ञान का अलग। इस प्रकार वाह्य वस्तुओ की सत्ता पर विश्वास करना पडता है। जिस प्रकार वाह्य वस्तुओ की निश्चित संख्या नही है उसी प्रकार उनके ज्ञान की श्रेणियाँ भी अनेक है। बौद्ध सौत्रान्तिको ने ज्ञान के चार कारण बताये हैं आलम्बन, समनन्तर, अधिकारी और सहकारी। ज्ञान के इन्ही चार प्रत्ययो या कारणो के आधार पर समस्त वस्तुएँ चार कोटियो मे आ जाती हैं।

योगाचार

योगाचार मत के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को विज्ञानवाद कहते है। विज्ञानवादो दृष्टिकोण के अनुसार, प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं

मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है, जिसके आभास को हम जगत् के नाम से कहते हैं। चित्त ही विज्ञान है।

विज्ञानवादी माध्यमिक बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु वे चित्त के अस्तित्व को स्वीकार करते है, क्योंकि चित्त या मन के द्वारा ही हम विचार-प्रतिपादन की प्रक्रिया को संपन्न करते है।

चित्त की सत्ता को सर्वोपरि मानने के करण विज्ञानवाद का कहना है कि शरीर तथा जितने भी अन्य पदार्थ हैं वे सभी हमारे मन के भीतर विद्यमान हैं। जिस प्रकार हम स्वप्न तथा मतिभ्रम के कारण वस्तुओं को बाह्य समझ बैठते हैं उसी प्रकार मन की साधारण अवस्था मे हमे जो पदार्थ बाहरी प्रतीत होते है, वे वास्तव मे वैसे नही है। दृष्टिविकार के कारण ही हम वस्तुओ की बाह्यता को देखते है। यदि भ्रम से हम चन्द्रमा को दो देखते है तो वह हमारे वस्तुज्ञान की कमी ही कही जायगी। जो वस्तु बाह्य प्रतीत होती है वह मन के विकार के कारण से है। यथार्थ मे वैसा है नही। इसी को पाश्चात्य दर्शन मे 'सब्जेक्टिव आइडियलिज्म' कहा जाता है। इसलिए ज्ञान से वस्तु को भिन्न मानने का कोई कारण ही नही है।

इसी लिए विज्ञानवादी, विभिन्न विज्ञानो का भंडार होने से मन को 'आलय विज्ञान्' कहते है। वह नित्य और अपरिवर्तनशील नही है, बल्कि परिवर्तनशील चित्तवृत्तियो का एक प्रवाह है। इस 'आलय विज्ञान' को आत्मसंयम तथा योगाभ्यास के द्वारा वश मे करके निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। योग, जिज्ञासा को और आचार, सदाचार को कहते है। असंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्रखर तार्किक इस दार्शनिक मत के प्रवर्तक थे।

माध्यमिक

माध्यमिक सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त शून्यवाद के नाम से कहा जाता है। शून्यवाद के अनुसार चित्त अस्वतंत्र है। पदार्थ को भाँति विज्ञान भी क्षणिक है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। पारमार्थिक शून्य ही सत्य है।

माध्यमिक संप्रदाय के शून्यवादी सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन थे। नागार्जुन के आगमन मे बौद्ध दर्शन मे नये युग का सूत्रपात हुआ। यह युग ऐसा था, जिसमे कि एक ओर तो अनीश्वरवादी दर्शन की प्रौढ परम्परा उत्तरोत्तर विकास पर थी और दूसरी ओर ईश्वरवादी दर्शनो की निरन्तर ख्याति हो रही थी। नागार्जुन के स्थितिकाल की यह दूसरी शताब्दी ई० का युग विचार-संघर्ष का क्रांतिकारी युग रहा है। इस समय बौद्ध दार्शनिको ने अपने विचारो को प्रस्तुत

करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक युक्तियो का आलम्बन लिया, जिससे प्रतिस्पर्धी आस्तिक दर्शनो के कटाक्षों का प्रत्युत्तर देकर वे अपनी स्थिति को कायम रख सकते।

बौद्ध धर्म के अनुयायियो मे जो इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा एवं अपने ही बीच मत-मतान्तर की स्थिति उत्पन्न हुई उसका प्रमुख कारण था बुद्ध का निर्वाण हो जाना। बुद्ध-निर्वाण के बाद ही इस प्रकार की विचारधाराओ का जन्म हुआ। इन विचारधाराओ का सर्वेक्षण नीचे के चार्ट से किया जा सकता है।

नागार्जुन के समय तक भारतीय दर्शनो की स्थिति
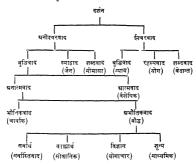
भारतीय दर्शन-सम्प्रदायो का उक्त विभाजन महापंडित राहुल साकृत्यायन जी के दृष्टिकोण से किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त दर्शन-सप्रदायो का जन्म न किसी एक निश्चित दिन पर हो हुआ और न किसी एक व्यक्ति विशेष के द्वारा। छठी शताब्दी ई० पूर्व० से लेकर नवी शताब्दी तक की १५०० वर्षों की अवधि मे बौद्ध दर्शन का संक्राति

काल रहा । इस कालावधि को बौद्ध-साहित्य मे 'त्रि-चक्र-परिवर्तन' के नाम से कहा गया है, जिसको ५००-५०० वर्षों के तीन भागो मे विभक्त किया गया है ।

बौद्ध साहित्य की दार्शनिक परम्परा का इतिहासबद्ध अध्ययन हम आचार्य नागार्जुन की कृतियो मे कर सकते है । बौद्ध-दर्शन के इतिहास मे नागार्जुन को युगविधायक मनस्वी के रूप मे याद किया जाता है । बौद्धन्याय की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार का संपूर्ण श्रेय आचार्य नागार्जुन की कृतियो को प्राप्त है ।

नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने से पूर्व भारतीय दर्शन की परम्परा मे परिचित होना आवश्यक है । भारतीय षड्दर्शनो के क्षेत्र मे न्याय और वेदान्त का अपना विशिष्ट स्थान है । ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय दर्शन दो मुख्य धाराओ मे आगे बढा । पहला स्थान अक्षपाद गौतम (५०० ई० पूर्व) के 'न्यायसूत्र' और उस पर लिखे गये 'वात्स्यायन-भाष्य' (३०० ई०) से आरम्भ होता है । इसको 'प्रकृत न्याय' के नाम से कहा जाता है । दूसरी परम्परा के प्रवर्तक जैन-बौद्ध थे । न्याय दर्शन की इन दोनों शाखाओ मे कई शताब्दियो तक बडी प्रतिस्पर्धा रही । उसके बाद एक स्वतन्त्र विचारशैली का उदय हुआ, जिसको 'नव्य न्याय' के नाम से कहा जाता है । प्रकृत न्याय और नव्य न्याय मे तो आपसी समझौता हो गया, किन्तु जैन और बौद्ध न्याय का उनसे अत तक मतभेद बना रहा ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रन्थ मे न्याय दर्शन की इन तीन प्रवृत्तियो को तीन युगो मे इस प्रकार विभाजित किया है .

प्रकृत न्याय ६५० ई० पूर्व से १०० ई० तक

मध्ययुगीन न्याय १०० ई० से १२०० ई० तक

नव्य न्याय ६०० ई० से

मध्ययुगीन न्याय का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सम्राट् कनिष्क से लेकर सम्राट् हर्ष तक का उसका शास्त्रीय युग और गुप्तकाल से लेकर पालयुग तक उसका नैयायिक युग रहा है ।

गौतम के सूत्रो पर 'वात्स्यायन भाष्य' के बाद न्यायदर्शन का सक्रान्तियुग आरम्भ होता है । इस संक्रान्ति का मूल कारण बौद्ध न्याय का आविर्भाव था । गौतमीय न्याय और बौद्धन्याय की इस प्रतिस्पर्धा से एक बहुत बडा लाभ यह हुआ कि भारतीय न्याय के क्षेत्र मे आश्चर्यचकित कर देने वाले महान् सिद्धान्तो का समुदय हुआ ।

इस सैद्धान्तिक संघर्ष में गौतमीय नैयायिकों के विरुद्ध जिन बौद्ध नैयायिको ने भाग लिया उनमे नागार्जुन (१७५ ई०), वसुबन्धु (४०० ई०), दिङ्नाग

(४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६००) का प्रमुख स्थान है। दोनों न्यायदर्शनों मे यह पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की भावना १२वी शताब्दी तक बनी रही। १२वीं शताब्दी मे मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की प्रतिष्ठाकर प्रकृत न्याय को प्रोत्साहित किया।

नागार्जुन, महायान संप्रदाय के माध्यमिक मत के अनुनायी आचार्य थे। बौद्ध धर्म के इतिहास मे माध्यमिक मत अति प्राचीन और अति मान्य मत माना गया है। तथागत इस मत के जन्मदाता थे। इस मत का सर्वप्रथम ग्रंथ 'प्रज्ञापारमितासूत्र' है, जिस पर आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' नामक व्याख्या लिखी। यह ग्रन्थ उनकी महती मेधा का परिचायक है।

शून्यवाद

आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण 'शून्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शून्यवाद दार्शनिक जगत् का अति प्रभावशाली एवं सूक्ष्म मत माना जाता है। 'शून्य एव धर्मा' माध्यमिको का मूल मंत्र है। शून्य के परिचायक पंचविध धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) का विस्तृत निरूपण आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। नागार्जुन का परमतत्त्व अष्टनिरोधक है। अष्टनिषेधयुक्त, अर्थात् अविरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम, अनिर्गम और अनानार्थ। किन्तु वह सत्तात्मक है, ऐसा सत्तात्मक शून्य कि जो स्वयं मे कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर और अगोचर है। नागार्जुन के मतानुसार समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक है। उक्त पंचविध धर्मों की निःस्वभाविकता का नाम ही परमार्थ है। निर्वाण का दूसरा नाम ही परमार्थ सत्य है। 'माध्यमिक कारिका' के २५वे अध्याय मे निर्वाण की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद ने कहा है कि निर्वाण भाव और अभाव, दोनो मे अलग एक अनिर्वचनीय तत्त्व है।

शून्यवाद के अनुसार समझा जाता है कि यह संपूर्ण चराचरमय जगत् शून्य है। ये संपूर्ण दृश्यमान वस्तुएँ असत्य है। उदाहरण के लिए जब हम किसी रस्सी को भ्रमवश या अज्ञानवश साँप समझ बैठते है उस समय ज्ञात वस्तु रस्सी के असत्य होने पर हम और हमारा ज्ञान, दोनो स्वत: असत्य सिद्ध हो जाते है। इसलिए शून्यवादियो की दृष्टि मे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की कोई स्थिति न होने के कारण सब असत्य हैं। तब संसार की सत्ता शून्य है।

शून्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही नागार्जुन का 'शून्यवाद' है।

'विग्रहव्यावर्तिनी' की ७१वी कारिका मे आचार्य ने कहा है कि 'जो इस शून्यता को समझ लेता है वही सब पदार्थों को समझ सकता है; और जो उसको नही समझता वह कुछ भी नहीं समझता ।' आचार्य के इन कथन से ऐसा ज्ञात होता कि वे पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते है । किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से नही किया जा सकता है । जो सत्य है वह तो निरपेक्ष है और उसका अस्तित्व किसी भी वस्तु पर निर्भर नही है । प्रत्येक वस्तु का यह अस्तित्व पारमार्थिक है । वस्तुओ का यही पारमार्थिक स्वरूप 'शून्य' है; किन्तु वह अवर्णनीय है । इसी अवर्णनीयता को सिद्ध करने या समझने के लिए 'प्रतीत्य-समुत्पाद' (वस्तुओ की पर-निर्भरता) की आवश्यकता है । नागार्जुन के मतानुसार शून्यवाद का सिद्धान्त ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है । जो शून्यता को समझता वही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को समझ सकता है । प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त करने पर चारो आर्य सत्य ग्रहण किये जा सकते है और तभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझकर निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद, जिसको कि राहुल जी ने 'विच्छिन्न प्रवाह के रूप मे उत्पत्ति' कहा है, से ही धर्म, धर्म का हेतु और धर्म का फल जाना जा सकता है । वही यह समझ सकता है कि सुगति तथा दुर्गति क्या है, उनमे पडना और उनसे निकलने का मार्ग क्या है ।

सभी वस्तुएँ सच्ची है, क्योकि अच्छे या बुरे रूप मे उनके अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है । जो है ही नही, प्रतिषेध्य है, उसको सिद्ध नही किया जा सकता है । समस्त भावो (सत्ताओ) की सिद्धि शून्यता या प्रतीत्यसमुत्पाद से है । किन्तु जिन प्रमाणो से भावो (वस्तुओ या सत्ताओ) की वास्तविकता को सिद्ध किया जा सकता है उन प्रमाणो को सिद्ध नही किया जा सकता है, क्योकि प्रमाण को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही है । भावो की शून्यता भी प्रमाणित है ।

बौद्धन्याय का परवर्ती स्वरूप

आचार्य नागार्जुन के प्रबल समर्थक उन्ही के शिष्य आर्यदेव (२०० ई०) हुए । आर्यदेव के बाद की दो शताब्दियो मे बौद्धन्याय की क्या स्थिति रही, इसका इतिहास आचार्य वसुबन्धु की कृतियों से आरंभ होता है ।

गौतमीय नैयायिको के प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमा का नागार्जुन ने पर्याप्त खण्डन किया । उनकी दृष्टि मे 'शून्य' ही परम तत्त्व है, जिसको शब्द और प्रमाणादि से नही समझा जा सकता है । न वह भाव है न अभाव और न इन दोनो का संघात-विघात ही । शून्यता को उन्होंने निःस्वभाव कहा है और इसी

का दूसरा रूप बताया है 'प्रतीत्यसमुत्पाद' 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते माता'।

नैयायिको के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भी बौद्धाचार्यों ने भरपूर विवाद किया। प्रमाण मीमांसा, नैयायिकों का मूल विषय है। प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान और शब्द, न्याय के ये चार प्रमाण है। बौद्धाचार्यों की सैद्धान्तिक मान्यनाये है कि भौतिक और मानसिक जितने भी पदार्थ है, सब मायाजन्य है। अतएव वे अस्तित्वहीन और कल्पित है। यह संसार वासनालिप्त है। इस स्वप्नोमय जगत् के विशेष्य विशेष और भाव-अभाव का अस्तित्व ही क्या ! नागार्जुन के अनुसार जब ज्ञाता और ज्ञेय, दोनो [ही कल्पित है तब उनके आधार पर वास्तविक ज्ञान की बात सोचना ही व्यर्थ है।

गौतमीय न्याय के उत्तरवर्ती विद्वानो ने नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण को 'अत्यन्ताभाव' की संज्ञा दी है। नागार्जुन की दृष्टि से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सभी नि:स्वभाव है। उन्होने दुःख को कल्पित, मोक्ष को मिथ्या और कर्मफल को असत्य तो बताया है, किन्तु कही-कही आवेश मे आकर निर्वाण के निरर्थक एवं नैतिक आदर्शों की आलोचना भी कर डाली। नागार्जुन की आदि से अन्त तक एक दृष्टि रही है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही उनकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु रहा है। उसी की व्याख्या शून्यवाद है और उसी के आधार पर उनके समस्त सिद्धान्त प्रतिपादित है।

आचार्य नागार्जुन के बाद बौद्धन्याय के क्षेत्र मे आचार्य वसुबन्धु का क्रम है। अल्पावस्था मे ही, वसुबन्धु बडे वाग्मि, तार्किक और बौद्ध दर्शन के धुरंधर विद्वान् हो गये थे। 'परमार्थसप्तप्ति' नामक महान् ग्रन्थ के निर्माणान्तर विद्वत्समाज मे उनके व्यक्तित्व की ख्याति हो गयी थी। अपने गुरुपाद के विजेता सुप्रसिद्ध साख्याचार्य की 'साख्यसप्तति' के खडनार्थ उन्होने इस ग्रन्थ को रचना की थी। इस ग्रन्थ के प्रकाश मे आते ही बौद्धन्याय के क्षेत्र मे युगान्तर उपस्थित हो गया।

आचार्य वसुबन्धु के साथ संघभद्र नामक एक सर्वास्तिवादी विद्वान् के शास्त्रार्थ होने का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रसंग है कि वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' लिख कर वैभाषिक संप्रदाय के सिद्धान्तो का खूब बढा-चढाकर वर्णन किया था। संघभद्र ने उक्त ग्रन्थ के खण्डनार्थ 'न्यायानुशास्त्र' की रचना की और साथ ही वसुबन्धु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, किन्तु इतिहासकारो और विशेषरूप से ह्वेनत्सांग के वृत्तान्तानुसार उसके तत्काल बाद ही संघभद्र की मृत्यु हो जाने

के कारण दोनों में शास्त्रार्थ न हो सका। वसुबन्धु ने उक्त विपक्षी ग्रंथ पर एक टीका लिखकर अपने उदार पाण्डित्य का परिचय दिया।

आचार्य वसुबन्धु के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक ग्रंथ उनका 'अभिधर्मकोश' है। काश्मीर के वैभाषिक इस ग्रन्थ को बडा प्रामाणिक और अपना सर्वस्व मानते थे। बौद्ध दर्शन की विचारधारा का इतना समर्थ और मौलिक प्रतिपादन दूसरे ग्रन्थ मे नही मिलता है। बाणभट्ट ने तो यहाँ तक कहा है कि शुकशारिका तक भी इस ग्रंथ मे पारंगत थी और वे उसका उपदेश देती थी '**शुकैरपि शाक्यशाशनकुशलैः कोशं समुपदिशद्‌भि.**'। 'अभिधर्मकोश' वैभाषिक संप्रदाय से विशिष्ट संबद्ध होने पर भी संपूर्ण बौद्ध दर्शन का विश्वकोश है। इस ग्रन्थ पर प्राचीन बौद्धचार्यों से लेकर आधुनिक विद्वानो तक ने अनेक टीकाये लिखी।

आचार्य वसुबंधु सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। भगवान् तथागत द्वारा प्रतिपादित त्रिकाल के अनित्यतासम्बन्धी वचनो के विरोध मे 'सर्वास्तिवादी' मत का आविर्भाव हुआ था। आचार्य वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' मे लिखा है कि पचविध धर्म (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) की सत्ता का भूत, वर्तमान एव भविष्य, तीनों कालो मे अस्तित्व प्रतिपादित करने वाला मत ही सर्वास्तिवादी मत के नाम से कहलाता है (**तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः**)। सर्वास्तिवादी मत के अनुसार त्रिकाल नित्य और अस्तित्वयुक्त है। यदि अतीत और अनागत को अनित्य एवं अस्तित्वहीन कहा जायगा तो मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जायेंगे, जैसा कि सभव तथा सत्य नही है।

इसी कारण आचार्य वसुबधु ने पचविध धर्म की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके मतानुसार बाहरी और भीतरी दोनो प्रकार के पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के बिना क्लेशो तथा रागादि द्वेषो का उपशमन हो हा नही सकता है। (**धर्माण प्रतिचयमन्तरेण नास्ति क्लेशाना यत उपशान्तयेऽभ्युपायः**)। आचार्य वसुबन्धु ने धर्म की नित्यता और सर्वव्यापकता पर बडी सूक्ष्मता एव मौलिकता से विचार करके यह सिद्ध किया है कि वे शाश्वत एव सनातन सत्ता वाले हैं। वसुबंधु के कोश ग्रथ पर 'स्फुटार्था' लिखते हुए आचार्य यशोमित्र ने उन्हें द्वितीय बुद्ध के नाम से समानित किया है '**य बुद्धिमताम् द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः।**'

नागार्जुन और वसुबन्धु के बाद, कालक्रम की दृष्टि से, बौद्ध दर्शन के क्षेत्र मे दिङ्नाग का नाम आता है। आचार्य दिङ्नाग को मध्ययुगीन बौद्धन्याय का पिता कहा गया है। एक दिग्विजयी विद्वान् होने के साथ ही वे महान् तार्किक भी थे।

क्षणभंगुरवाद, प्राय. सभी उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों का मान्य सिद्धान्त रहा है; किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादियो ने इस पर विशेष रूप से विचार किया है। दिङ्नाग के मतानुसार द्रव्य, गुण और कर्म से सम्बन्धित सारा ज्ञान मिथ्या है। जब कि सभी वाह्य पदार्थ क्षणिक है फिर वे ज्ञान का विषय कैसे हो सकते है (**क्षणस्य ज्ञानेन प्रा.यितुं अशक्यत्वात्।**) दिङ्नाग का यह भी कहना है कि भूत, भविष्य की प्रपंचजन्य कल्पना ही हमे क्षणिक पदार्थो मे स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक वस्तु तो विज्ञान है।

बौद्धन्याय के इतिहास को जानने के लिए तथा उसकी उत्तरोत्तर स्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उस युग के आस्तिक दार्शनिको एवं दर्शन-संप्रदायो का भी अध्ययन किया जाय। इस दृष्टि से लगभग छठी सदी ई० से लेकर बारहवी सदी ई० तक का समय भारतीय दर्शन का क्रातिकारी युग रहा है। ब्रह्मपालित, भावविवेक, धर्मकीर्ति, शातरक्षित, धर्मपाल, ईश्वरसेन तथा कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिक, उदयन, गंगेश उपाध्याय जैसे नैयायिक, पार्थसारथी जैसे मीमासक, वाचस्पति मिश्र तथा श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती और वसुगुप्त जैसे शैव दार्शनिक इसी युग मे हुए। यह युग पुरातन 'वादो' के विरुद्ध नये 'प्रतिवादो' का युग था। गंगेश का नव्य न्याय और बौद्धो का न्याय इसके उदाहरण है।

बुद्ध के उपदेशों की विशेषतायें

१ यथार्थवाद

बुद्ध के उपदेशो की पहली विशेषता थी उनके यथार्थवादी विचारो मे। उनके ये विचार उनके द्वारा आखो देखी सत्यता पर आधारित थे। अपने जीवन मे उन्होंने जिन बातो का अनुभव किया वे ही दूसरो के लिए कही। उनकी दृष्टि मे वेद, कर्म, ईश्वर आदि परोक्ष कही जाने वाली सभी बाते अविश्वसनीय है, उन्होंने समाज को उधर जाने से रोका भी।

२. व्यवहारवाद

बुद्ध ने अपने यथार्थवादी अनुभवो को लोकजीवन से संकलित किया था और उनका उद्देश्य भी लोकजीवन की भलाई रही। अत उन्होंने अच्छे और बुरे, मानवजीवन के इन दोनो पक्षो को अपने विचारो मे अभिव्यक्त किया। उनकी शिक्षाये इसी लिए व्यावहारिक कही जाती है। उनके चार आर्य सत्य व्यावहारिक जीवन की गहन अनुभूति के परिचायक है।

३. निराशावाद

बुद्ध निराशावादी विचारक थे, किन्तु उनका यह निराशावाद, पलायनवाद या अकर्मण्यतावाद नहीं था। उनमें निराशावाद का उदय मानवजीवन की पीडाओ को देखकर हुआ था। यह सारा संसार दु:खी है, पीडित है, अज्ञान मे पडा हुआ विवश है। इसलिए बुद्ध ने करुणार्द्र होकर संसार के इन दुःख का कारण खोज निकाला। उन्होने अपने उपदेशो मे लोगो को समझाया कि वे दु:खी क्यो है और उस दु:ख से उन्हे छुटकारा कैसे मिल सकता है। इन्ही को बुद्ध की शिक्षाओ मे दु ख का कारण और उपाय कहा गया है।

४. विवादों से उदासीनता

बुद्ध का विश्वास केवल विचारो को दमन कर देने मात्र से नही था, बल्कि उन्हे कार्यरूप मे परिणत करने के लिए था। उन्होने अपने जीवन मे यह सोचा भी नही था कि उनके द्वारा प्रवर्तित यह विशुद्ध धर्म आगे चलकर दर्शन के प्रपंच मे फँस जायगा। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को प्रमाणित करने के लिए न तो तर्कों का आश्रय लिया और न दूसरो के तर्क ही सुने। वे तो अपनी अनुभूतियो पर विश्वास करते थे और उन्होने इसलिए दार्शनिक विवादो की आलोचना भी की।

उन्होंने '**अव्याकतानि**' नाम से इस प्रकार के दस प्रश्नो को व्यर्थ कहा। पालिग्रन्थों मे वे इस प्रकार है (१) क्या यह जगत् शाश्वत है ? (२) क्या यह अशाश्वत है ? (३) क्या यह सान्त है ? (४) क्या यह अनन्त है ? (५) क्या आत्मा तथा शरीर एक है ? (६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है ? (७) क्या मरने के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ? (८) क्या मरने के बाद उनका पुनर्जन्म नही होता ? (९) क्या पुनर्जन्म होता भी है और नही भी होता ? (१०) क्या पुनर्जन्म होना, न होना, दोनो ही बात असत्य है ? इन दस प्रश्नो का उन्होने कोई उत्तर नही दिया, क्योकि जन-सामान्य के लिए उनका कोई महत्त्व नही था। वे तो बौद्धिक प्रतिस्पर्धा का विषय था। इसी लिए उनको '**अव्याकतानि**' कहा गया।

५. शील

शील के आचरण पर बुद्ध ने बडा बल दिया है। शील कहते है सदाचार को, जिसको अपनाकर मनुष्य मध्य मार्ग का आश्रय लेकर अपना और समाज का बडा उपकार कर सकता है। बुद्ध ने सर्वसाधारण और भिक्षुओ के लिए अलग-अलग शील बताये हैं। उन्होंने सर्वसाधारण के लिए पाँच शील और

भिक्षुओं के लिए दस शील बताये हैं। आज संसार के कोने-कोने में सभी शांतिप्रिय राष्ट्र जिस 'पंचशील' के सिद्धान्त को मानव-कल्याण का सबसे बड़ा साधन स्वीकार कर चुके हैं, बुद्ध का यह पंचशील था : (१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) यौन दुराचार से अलग रहना, (४) झूठ न बोलना और (५) नशीली वस्तुओं को सेवन न करना। इन पाँच प्रकार के आचार-नियमों के अतिरिक्त बुद्ध ने मन, वचन और कर्म की पवित्रता के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना भी आवश्यक बताया है। बहुजन हित के लिए विचरण करने की सीख ही पुण्य था और बहुजन अहित ही पाप था। इसी प्रकार उनकी दृष्टि से बहुजन सुख ही सुख था और बहुजन असुख ही दु:ख था।

६ समाधि

बौद्धग्रन्थों में मन को स्थिर एवं अचचल रखने के लिए ध्यान का नियम बताया है। ध्यान की चार अवस्थायें है। चौथी अवस्था में पहुँचकर साधक का मन शोक-आनन्द, सुख-दु:ख, उल्लास-सताप से ऊपर उठकर परिशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। इसी को समाधि का अन्तिम लक्ष्य कहा गया है। इसलिए मन के जितने विकार, संकल्प-विकल्प, आशा, उत्कंठायें आदि योगसिद्धि की बाधायें है उनको दूर करके ऐसी अवस्था को प्राप्त करना जो कि परिशुद्ध हो, समाधि में ही संभव है।

७. प्रज्ञा

बुद्ध के विचारों का एक भाग प्रज्ञा से सम्बन्धित है। प्रज्ञा कहते है ज्ञान को। बुद्ध ज्ञानी थे, सबुद्ध थे। उन्होंने प्रतित्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद् के सिद्धान्तों के द्वारा अपने ज्ञान-सम्बन्धी विचारों को प्रकट किया है।

चार आर्य सत्य

बुद्ध की जीवनी में यह संकेत किया जा चुका है कि आत्मा, परमात्मा, जगत्, परलोक, पाप, पुण्य और मोक्ष आदि दार्शनिक विवादों में उलझने का उनका कभी भी उद्देश्य नही रहा है। किन्तु इन सभी सूक्ष्म बातों पर बुद्ध से पूर्व, बुद्ध के समय और उनके बाद भी बडे विवाद होते रहे। बुद्ध का ध्येय इन असामान्य एव अप्रत्यक्ष बातो पर विचार करने का नही था। उनका तो एकमात्र ध्येय था समस्त जीवों के दु:ख का अन्त किस प्रकार किया जा सकता है।

जीवों का दु:ख से पीछा छूटने के लिए बडे चिन्तन-मनन एवं प्रत्यक्ष

व्यावहारिक अनुभवो के आधार पर उन्होने बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद सबसे पहले सारनाथ मे जो उपदेश किया था उसमे चार आर्य सत्यो की व्याख्या की। ये चार आर्य सत्य है : (१) दु:ख, (२) दु:ख का कारण, (३) दु:ख का अन्त और (४) दु:खों के अन्त का उपाय। इन चार आर्य सत्यो के प्रतिष्ठाता तथा प्रवर्तक यद्यपि गौतम बुद्ध थे, फिर भी इनका समावेश हम सभी भारतीय दर्शनो मे देखते है, यद्यपि उनका तरीका भिन्न-भिन्न है।

१ दु:ख

जनसाधारण की स्थायी सुख-शांति के लिए भगवान् बुद्ध ने जिस सरल, किन्तु महान् उपाय को खोज निकाला था उसकी प्रेरणा उन्हे 'दु:ख' से मिली थी। जरा, मरण, शोक और रोग के दृश्यों को देखकर ही उन्होंने घर छोड़ा था। सबसे पहले उन्होंने इसी पर विचार किया। दु:ख सत्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है - 'यह जन्म भी दु:ख है, बुढ़ापा भी दु:ख है, मरण, शोक, रुदन, अप्रिय से सयोग, प्रिय से वियोग और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, ये सभी दु:ख है।' रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान, इन पाँचो उपादानस्कन्धो को उन्होने 'दु:ख' कहा है। इस पचस्कन्ध को समझ लेने के बाद बुद्ध के इस प्रथम आर्य सत्य को समझ लेने के लिए कुछ भी बाकी नही रह जाता है।

पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, ये चारो महाभूत ही 'रूप' कहलाते है। वस्तुओ से हमारा सम्बन्ध स्थापित होकर जब हम सुख, दु:ख का अनुभव करते है उसी को 'वेदना' कहते है। पूर्व संस्कारो के कारण हमारे हृदय मे जो 'यह वही वस्तु है' ऐसा भावोदय होता है उसी को 'सज्ञा' कहते है। रूपो और सज्ञाओ की जो छाया तथा स्मृति हमारे मस्तिष्क मे बनी रहती है और जिनकी सहायता से हम किसी वस्तु को चीन्हते है उसी का नाम 'सस्कार' है। चेतना या मन को ही 'विज्ञान' कहते है।

यही पाँच उपादानस्कन्ध है जो तृष्णा का स्वरूप धारण करके दु:ख का कारण बनते है।

२ दु:ख का कारण

दु:ख-समुदय (हेतु) को दूसरा आर्य सत्य कहा गया है। जिन पाँच उपादान स्कंधो का ऊपर उल्लेख किया है, ये ही दु:ख के कारण है। दु:ख को यद्यपि सभी दार्शनिक मानते है, किन्तु उसके कारणो के सम्बन्ध मे मतभेद है। महात्मा बुद्ध का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त ही दु:ख के कारणो

को जानने का एकमात्र उपाय है। संसार का कोई भी पदार्थ बिना कारण नहीं है। यही प्रतीत्य समुत्पाद है। इसका विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

राहुल जी ने लिखा है कि दु.ख का प्रबल कारण तृष्णा है। भोग की तृष्णा, भव की तृष्णा और विभव की तृष्णा—ये अनेक रूप तृष्णा के है। इन्द्रियो के जितने भी विषय है उनका खयाल तृष्णा को जन्म देता है। इसी तृष्णा (काम) के लिए राजा-राजाओ से लडते है। और तो क्या माता, पिता, भाई, बहिन और मित्र भी परस्पर लड पडते है। इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जो अनेक उपाय प्रयोग मे लाये जाते है वे ही दु ख के कारण है।

प्रतीत्य समुत्पाद के प्रसंग मे आगे जिन द्वादश निदानो का उल्लेख किया जायगा वे ही दु ख के मूल कारण है। वे त्रिकालजीवी है और उनकी शृ खला ऐसी बनी हुई है कि वे स्वत ही होते रहते है। उनको 'द्वादश निदान' या 'भवचक्र' भी कहा गया है।

३ दु:ख का अन्त

ऊपर दु ख की जिस तृष्णा का उल्लेख किया गया है उसी के निरोध से ही दु ख का अन्त बताया गया है। तृष्णा का परित्याग तथा विनाश तब होता है जब कि मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाले विषयो से विमोह हो जाता है। विषयो की ओर से जब मन विमुख हो जाता है तब भव (लोक) का निरोध होता है। भव के निरोध से पुनर्जन्म को आशकाएँ मिट जाती है, और जब जन्म-मरण पर काबू पा लिया जाता है तब शोक, विषण्णता, दु ख, कष्ट आदि सब का नाश हो जाता है। अर्थात् इन सबका उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

इसी को दु खो का अन्त कहते है। यह दु ख-निरोध समस्त बौद्ध दर्शन और विशेषत भगवान् तथागत के सिद्धान्तो का सर्वस्व है। इस दु ख-निरोध की अवस्था को प्राप्त करके जीवितावस्था मे ही निर्वाण का सुख प्राप्त किया जा सकता है।

४. दु.खो के अन्त का उपाय

दु ख क्या है, वह क्यो होता है और उसका अन्त कर देने से क्या लाभ है—बुद्ध के इन तीन आर्य सत्यो के बाद चौथा आर्य सत्य है दु.खो के अन्त करने का उपाय। जिन कारणो से दु ख का उदय होता है उनके नष्ट करने के उपायो को ही निर्वाण-मार्ग कहा गया है। इस दु ख-निरोध के उपायो या निर्वाण-मार्ग को अष्टागिक कहा गया है। गृहस्थ हो या संन्यासी, इन आठ मार्गो पर चलकर अपना अभ्युदय कर सकता है। इन आठ मार्गो के नाम है . सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका,

सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि । बौद्ध विद्वानो ने इन आठ श्रेष्ठ मार्गों को तीन भागो (स्कन्धो) मे विभक्त किया है, जिनका विवरण इस प्रकार है :

१ ज्ञान	सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प
२ शील	सम्यक् वाणी सम्यक् कर्म सम्यक् जीविका
३ समाधि	सम्यक् प्रयत्न सम्यक् स्मृति सम्यक् समाधि

१. सम्यक् दृष्टि

शरीर, मन और वाणी मे भले-बुरे कर्मों का यथार्थ रूप मे ज्ञान प्राप्त करना ही 'सम्यक् दृष्टि' है। हिंसा, चोरी और व्यभिचार—ये कायिक दुष्कर्म है, मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, कटु बोलना तथा व्यर्थ बोलना—ये वाचिक दुष्कर्म है, और लोभ, प्रतिहिंसा तथा असत्य धारणा—ये मानसिक दुष्कर्म है। इनके प्रतियोगी सुकर्म कहे जाते है। इन्ही अच्छे-बुरे कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर समुचित मार्ग को अपनाना ही 'सम्यक् दृष्टि' है।

२. सम्यक् संकल्प

आर्य सत्यो के अनुसार जीवन बिताने की दृढ इच्छा ही 'संकल्प' है। राग, हिंसा और प्रतिहिंसा का परित्याग करना ही 'सम्यक् संकल्प' कहा जाता है।

३. सम्यक् वाणी

सम्यक् संकल्प के विमुक्त हुए व्यक्ति की पहली प्रतिक्रिया वाणी के द्वारा प्रकाश मे आती है। झूठी बात, चुगलखोरी, कटु भाषण और व्यर्थ की बातो का परित्याग कर मीठी वाणी बोलने का नाम ही 'सम्यक् वाणी' है।

४. सम्यक् कर्म

हिंसा, चोरी और व्यभिचार से रहित होकर जो कार्य किया जाता है उसी को 'सम्यक् कर्मान्त' कहते है।

५. सम्यक् जीविका

छल-प्रपचो एवं निषिद्ध कर्मों की जगह शुद्ध, निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों के द्वारा जीविका का उपार्जन करना ही 'सम्यक् आजीविका' है। तत्कालीन

शासन की शोषक प्रवृत्ति को देखकर बुद्ध ने कहा था कि 'प्राणिहिंसा, युद्ध, प्राणि का व्यापार, माँस का व्यापार, मद्य का व्यापार, विष का व्यापार—इनके द्वारा जीवन-निर्वाह करना झूठी जीविका है।' इनका परित्याग ही सच्ची जीविका है।

६. सम्यक् प्रयत्न

इसी का अपर नाम 'सम्यक् व्यायाम' भी है। संक्षेप मे बुरी भावनाओ को छोडकर अच्छी भावनाओं की ओर प्रवृत्त होना ही 'सम्यक् प्रयत्न' है। पुराने बुरे भावो का पूरी तरह नाश कर देना, नये बुरे भावो को न अपनाना, मन को सतत अच्छे विचारो की ओर उन्मुख रखना और उन शुभ विचारो को मन मे बैठाकर रख देना, ये चार प्रयत्न कहे गये है। धर्म मार्ग पर सतत आगे बढ़ने के लिए इन सम्यक् प्रयत्नो की नितान्त आवश्यकता है।

७ सम्यक् स्मृति

शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और मानसिक अवस्था को मानसिक अवस्था के रूप मे बराबर स्मरण करते रहना ही 'सम्यक् स्मृति' है। शरीर, चित्त, वेदना और मन की अवस्थाओ को सब कुछ मानने के कारण ही हम दुःख मे पड जाते है। किन्तु इन वस्तुओं के प्रति यदि हमारी स्वाभाविक अनासक्ति हो जाय तो हमे स्वभावतः किसी प्रकार के दुःख का सामना न करना पडेगा। ऐसा न करने का तरीका 'सम्यक् स्मृति' से प्राप्त होता है। सम्यक् स्मृति के कारण मनुष्य सभी विषयो से विरक्त होकर सासारिक बन्धनो मे नही पडता है।

८ सम्यक् समाधि

चित्त की एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं। चित्त की एकाग्रता के लिए बुद्ध ने कहा है कि 'सारी बुराइयो से दूर रहना, अच्छाइयो का अर्जन करना और अपने चित्त का संयम करना चाहिए।' उन्होने अपने उपदेशो मे चित्त की एकाग्रता का सार बताते हुए कहा है 'भिक्षुओं, वह ब्रह्मचर्य का जीवन न तो लाभ, सत्कार तथा प्रशंसा के लिए है; न उसमे सदाचार की आशा करनी चाहिए, न वह समाधि प्राप्ति के लिए है और न ज्ञान के लिए ही। यह ब्रह्मचर्य चित्त की मुक्ति के लिए है।'

उक्त जिन सात दुःखान्त उपायो का निर्देश किया है उनके अनुसार चलकर अन्त मे मनुष्य सम्यक् समाधि मे लीन हो जाता है। इस सम्यक् समाधि की चार अवस्थाएँ बतायी गयी है। प्रथम तो वह विचारो मे निमग्न होकर विरक्ति का

अनुभव करता हुआ परम शान्ति का लाभ करता है। जब विचारों एवं वितर्कों का जंजाल समाप्त हो जाता है तब आनन्द के साथ-साथ शान्ति का अनुभव होता है। यह दूसरी अवस्था है। तीसरी कोटि की समाधि में आनन्द के प्रति भी उदासीनता हो जाती है। चौथी अवस्था में न तो दैहिक सुख और न आनन्द का भान होता है। यह अवस्था सुख और दुःख से अतीत है। इसी को 'पूर्ण प्रज्ञा' की अवस्था कहा जाता है। यही निर्वाण है।

प्रतीत्य समुत्पाद

बुद्ध के विचारों में और विशेषतः बौद्ध दर्शन में जीव, आत्मा, जगत् और जन्म के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है उसका आधार 'प्रतीत्य समुत्पाद' है।

'प्रतीत्य समुत्पाद' मध्य मार्ग का सिद्धान्त है। इस मध्यमत के अनुसार एक ओर तो वस्तुओं के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु उनको नित्य नहीं कहा जा सकता है। उनकी उत्पत्ति दूसरी वस्तुओं से होती है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं का पूर्ण विनाश भी नहीं होता, बल्कि उनका अस्तित्व बना रहता है। इसलिए वस्तु न तो पूर्ण नित्य है और न पूर्ण विनाशशील ही।

'प्रतीत्य समुत्पाद' को बुद्ध ने धर्म के नाम से कहा है। उनके विचारों का यह मुख्य पहलू है। एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है, इसी सनातन नियम को बुद्ध ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' नाम दिया है। बुद्ध के इस मत के अनुसार प्रत्येक (वस्तु या घटना की) उत्पत्ति का कोई कारण होता है। इसी कारण या हेतु को बुद्ध ने 'प्रत्यय' कहा है। यह 'प्रत्यय' किसी वस्तु या घटना के प्रकाश में आने के पहले क्षण सदैव लुप्त रहता है। इसलिए 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अनुसार कार्य-कारण-सम्बन्ध को विच्छिन्न माना जाता है। बुद्ध के इस सिद्धान्त में आत्मा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उपनिषदों तथा 'गीता' के अनुसार न तो वह नित्य है, न ध्रुव है और न अविनाशी ही। उनकी दृष्टि से 'आत्मवाद' भयंकर अन्धकार (महा अविद्या) है। इस अविद्या के कारण ही जीव बारह अवस्थाओं (भवचक्र) में चक्कर काटता रहता है। इनको जीव के 'द्वादशाग' कहा गया है।

'विग्रहव्यावर्तिनी' में आचार्य नागार्जुन ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' को शून्यता' के नाम से कहा है। उन्होंने उसको दो अर्थों में ग्रहण किया है। पहले अर्थ के अनुसार सभी वस्तुएँ अपनी उत्पत्ति के लिए दूसरे हेतु (प्रत्यय) पर निर्भर हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का दूसरा अर्थ क्षणिकता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु या घटना क्षण भर के लिए उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। इस दूसरे अर्थ से यह सिद्ध

हुआ कि वस्तुओं का प्रवाह विच्छिन्न है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' के उक्त दोनों अर्थ निष्प्रयोजन नही हैं। यह बुद्ध के आदर्शों के अनुसार है। बुद्ध न तो आत्मवादी थे और भौतिकवादी ही। उन्होने आत्मवादियो तथा भौतिकवादियो के विरुद्ध, वस्तुओ के विच्छिन्न प्रवाह मे विश्वास किया है। उन्होने प्रतीत्य (विच्छिन्न) का मध्यम मार्ग अपनाया।

'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है पराश्रित उत्पादन। अर्थात् सभी वस्तुओं की उत्पत्ति दूसरी वस्तुओ पर निर्भर है। इस दृष्टि से इन पराश्रित सत्ता वाली वस्तुओ के कर्त्ता, कर्म, कारण और क्रिया को सिद्ध नही किया जा सकता है। जिस प्रकार वस्तुओ के पराश्रित उत्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद) होने से किसी भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध, असिद्ध, न सिद्ध और न असिद्ध कहा जा सकता है उसी भाँति उनके कार्य, कारण, कर्म और कर्त्ता की भी व्यवस्था नही हो सकती है।

अनित्यतावाद और क्षणिकवाद

बुद्ध और परवर्ती बौद्ध दार्शनिको ने वस्तु की सत्ता पर गम्भीर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य है। किसी वस्तु का अस्तित्व तब है, जब पहले वह अनित्य है। इस दृष्टि से बाहरी स्थूल जगत् और आन्तरिक सूक्ष्म जगत्, दोनो ही क्षणिक है। बुद्ध का यह दृष्टि-कोण, उपनिषदो के आत्मवाद के विपरीत था। आत्मवाद के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील इस स्थूल जगत् की तह मे एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका नाम आत्मा है। इसी आत्मवाद को ब्रह्मवाद कहा गया है और वेदान्त मे ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित्, तथा आनन्द बताया गया है। इस ब्रह्मवाद तथा आत्मवाद के विरोध मे बुद्ध तथा बौद्ध विचारको ने अनित्यतावाद एव क्षणिकवाद को प्रतिष्ठा कर वेदान्त के सत्, चित्, आनन्द को क्रमश. अनित्य, दु ख और अनात्म कहकर अमान्य घोषित किया। वेदान्त का सत् अर्थात् नित्य को अनित्य, चित् अर्थात् आत्मा को अनात्म और आनन्द अर्थात् सुख को दु ख कहकर बुद्ध ने एक नयी विचारधारा को जन्म दिया।

अनित्यतावाद

'महापरिनिर्वाणसूत्र' मे लिखा है "जो नित्य तथा स्थायी जान पडता है, वह भी नश्वर है, जो महान् दिखायी देता है उसका भी पतन है, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है; और जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु भी है।" 'संयुक्तनिकाय' मे प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष बताये गये है। 'प्रत्येक वस्तु है' एक पक्ष यह है और

'प्रत्येक वस्तु नही है' यह दूसरा पक्ष है। ये दोनो पक्ष एकान्तिक है। बुद्ध ने इन दोनो के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उनका कहना है कि जीवन संभूति है, भावरूप है। दुनिया की सभी वस्तुएँ अनित्य धर्मो के सघात पर टिकी हैं। अतः वे अनित्य है। उनमे उत्पाद है, स्थिति है और निरोध है। यही बुद्ध का अनित्य सिद्धान्त है।

क्षणिकवाद

बुद्ध ने जिसको अनित्यवाद के नाम से कहा था, बुद्ध के अनुयायियो ने उसको 'क्षणिकवाद' नाम दिया। क्षणिकवाद के अनुसार जिसकी उत्पत्ति है उसका अवश्य ही विनाश होता है। क्षणिकवाद प्रत्येक वस्तु को अनित्य तो मानता है, किन्तु वह इससे भी बढकर प्रत्येक वस्तु को सत्ता क्षणभगुर मानता है।

इसकी पुष्टि मे बौद्ध विचारको ने अनेक तर्क दिये है। उनका कहना है कि जो वस्तु खरगोश के सीग की भाँति सर्वथा असत् है उसमे उत्पत्ति और विनाश की क्रिया का कोई सम्बन्ध नही। इसलिए जो वस्तु कार्य उत्पन्न नही कर सकती वह असत् है और जो वस्तु कार्य उत्पन्न नही कर सकती उसका कोई अस्तित्व नही है। एक वस्तु मे एक समय एक ही कार्य हो सकता है, दूसरे क्षण दूसरा कार्य। एक बीज एक क्षण में एक ही क्रिया उत्पन्न करता है। एक क्षण वह पौधे को जन्म देता है तो दूसरे क्षण वह थोडा बढ जाता है। दूसरे क्षण के आने पर उसका पहला क्षण समाप्त हो जाता है। इसका यह आशय हुआ कि विकास की क्रिया मे कोई भी दो क्षण एक ही नही है। इस दृष्टि से कोई भी मनुष्य किन्ही दो क्षणो मे एक जैसा नही रहता है। यही क्षणिकवाद का सिद्धान्त है।

दिङ्नाग आदि बौद्धो ने वस्तु की क्षणिकता को तार्किक भूमि पर ले जाकर यह सिद्ध किया कि वस्तु की स्थिति क्षणिक है। वह उत्पन्न हुई, यही उसका विनाश है। उत्पत्ति और विनाश का फल एक ही है (**अर्थोत्पन्न विनष्ट इत्येककालः। उत्पत्तिविनाशौ एककालौ**)। इस दृष्टि से ससार की प्रत्येक वस्तु जन्म के साथ ही मृत्यु को भी बाँधे रहती है। इसलिए प्रिय के प्रति आसक्ति और अप्रिय के प्रति विराग ये सभी बातें क्षणिक है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि क्षणिक होने के भय से जीवन की सभी दिशाओ को सूनी समझकर मनुष्य अकर्मण्य हो जाय, बल्कि जीवन के प्रति अधिक सक्रिय और निष्ठावान् बनकर वह आने वाले क्षण को अपनी रुचि के अनुसार उन्नत बनाने की चेष्टा करे।

क्षणिकवाद की आलोचना

बौद्धों के क्षणिकवाद का जैनो और वेदान्तियो ने प्रबल खण्डन किया है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद के विरुद्ध पाँच तर्क उपस्थित किये है। वे है :

१. कृत प्रणाशा, २. कृत कर्मभोग, ३ भवभग, ४. मोक्षभंग और ५ स्मृतिभग।

१. कृत प्रणाशा · कृत प्रणाशा का अर्थ है कर्म का सर्वथा लोप। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण बदलता रहता है तो जिस क्षण मे जिस व्यक्ति ने जो कर्म किया है, दूसरे क्षण, दूसरा व्यक्ति हो जाने के कारण वही उस कर्म का फल कैसे प्राप्त कर सकता है ? इस दृष्टि से तो कर्म करने वाला और कर्मफल का उपभोक्ता, कोई भी न होगा।

२. कृत कर्मभोग यदि आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो किये गये कर्मो के फलोपभोग भी परिवर्तित होते रहेगे और इस प्रकार कर्मभोग की कोई स्थिति न रह जायगी।

३. भवभग . यदि आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो तृष्णाओ के कारण अज्ञान नष्ट न होगा और इसलिए जीव सतत इस 'भवचक्र' मे घूमता रहेगा।

४. मोक्षभंग : क्षणिकवाद के अनुसार कर्म, व्यक्ति, आत्मा आदि जब क्षणिक है तो दुःख भी क्षणिक है। अत· उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध के चार आर्य सत्य निष्प्रयोजन सिद्ध होते है और निर्वाण का सिद्धान्त भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

५. स्मृतिभग . जब कि मनुष्य क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो उसके विगत अनुभवो की स्मृति भी क्षणिक होने मे क्षण के साथ ही विलुप्त हो जाती है। इसलिए मन की स्मृति आदि क्रियाओ का कोई प्रयोजन नही रह जाता।

शकराचार्य

१. ज्ञान का अभाव जब कि आत्मा, मन आदि परिवर्तनशील है तब प्रवृत्तियाँ भी जिनमे ज्ञान संचित रहता है, परिवर्तनशील होने के कारण, मनुष्य मे ज्ञान का स्थायित्व नही बना रह सकता। प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान इन्द्रियो से होता है। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त वह ज्ञान मन ग्रहण करता है और मन के द्वारा वह आत्मा तक पहुँचता है। आत्मा उस ज्ञान को संचित रखता है। किन्तु जब इन्द्रिय, मन और आत्मा सभी क्षणिक है तो ज्ञान के इस तारतम्य को कैसे बनाये रखा जा सकता है ?

२ **कार्यकारण का अभाव** इसी प्रकार क्षणिकवाद के अनुसार जब एक कारण की स्थिति एक ही क्षण है तो उससे कार्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? ऐसी स्थिति मे कार्य की उत्पत्ति शून्य से मानी जाने लगेगी और 'बिना कारण

के कर्म की उत्पत्ति' का नया सिद्धान्त स्थापित हो जायगा । इसलिए यदि कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी और उसकी स्थिति एवं विनाश पर विश्वास किया जायगा तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त बन ही नहीं सकता है ।

इसलिए क्षणिकवाद का सिद्धान्त अनैतिक, अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है ।

अनात्मवाद और पुनर्जन्म

अनात्मवाद

बुद्ध दर्शन के जिस प्रतीत्य समुत्पाद और आर्य सत्यों का निरूपण किया गया है उसका आधार है दुःख, अनात्म और अनित्य । बुद्ध के मतानुसार इस दृश्यमान जगत् की सभी वस्तुएँ विनाशशील (अनित्य) है । उनमे एक क्षण के लिए भी स्थिरता नही है । इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि जीव के भीतर कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जिसको हम आत्मा कह सके । रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पाँचो का संघात हमारा जीवन (शरीर) है ।

बुद्ध के मतानुसार रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान, जगत् की ये सारस्वरूप श्रेष्ठ वस्तुएँ अनित्य है । अनित्य होने के कारण वे दुःखप्रद है । यदि वे दुःखप्रद है तो उनके सम्बन्ध मे यह सोचना भी कि 'यह मेरा है', 'यह मै हूँ' तथा 'यह मेरी आत्मा है' सर्वथा अनुचित है । ज्ञान हो जाने पर इन सभी वस्तुओ के वास्तविक अस्तित्व और स्थिति का पता चलता है ।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना भूल है, क्योंकि एक तो वे रोग तथा बाधाओ से ग्रस्त है और दूसरे मे क्षणिक है । इनको आत्मा नही कहा जा सकता, वरन् दुःख कहा जा सकता है । जब ये वस्तुएँ आत्मा नही है तो इनमे सम्बन्ध रखना ही उचित नही है । बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इनमे मनुष्य जाति का जब कोई कल्याण सम्भव ही नही तो इनके ऊहापोह मे पडने की आवश्यकता ही क्या ?

इनकी असारता को सिद्ध करने के लिए उन्होने प्रश्नोत्तर के रूप मे इस प्रकार कहा

क्या रूप अनित्य है या नित्य ?

अनित्य

जो अनित्य है वह सुख है या दुःख ?

दुःख

जो चीज अनित्य है, दु:ख है, विपरिणामी है, क्या उसके विषय मे इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि 'यह मेरा है, यह मै हूँ, यह मेरा आत्मा है' ? नही

इसी प्रकार उन्होने वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध मे प्रश्न किये और उन सबको अनात्म बताया।

रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान इन पाँच स्कंधो के मेल के बने हुए इस शरीर का तथा इसमे रहने वाले आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण इस कथा मे किया गया है।

पाँच स्कन्धों का संघात (मेल)

एक बार एक ग्रीक राजा, एक बौद्ध-भिक्षु के पास गया। उस भिक्षु का नाम था नागसेन। राजा ने नागसेन से पूछा 'महाराज, आप कहते है कि हमारे व्यक्तित्व मे कोई वस्तु ऐसी नही है, जो स्थिर हो। फिर यह बताइये कि वह क्या है, जो संघ के सदस्यों को आज्ञा देता है, पवित्र जीवन व्यतीत करता है, उपासना करता है, निर्वाण प्राप्त करता है और पाप-पुण्य का फल भोगता है ? आपको सघ का सदस्य नागसेन कहते है। यह नागसेन कौन है ? क्या शिर के बाल नागसेन है ?'

भिक्षु ने उत्तर दिया 'ऐसा नही है'

राजा ने कहा 'क्या ये दाँत, माँस तथा मस्तिष्क आदि नागसेन है ?'

'नही' भिक्षु ने कहा

राजा का प्रश्न था 'फिर क्या आकार, वेदनाये अथवा सस्कार नागसेन है ?'

'नही' भिक्षु का फिर भी वही उत्तर था

'तो क्या ये सब वस्तुएँ मिलाकर नागसेन कहलाती है। या इनके बाहर की कोई वस्तु है, जो नागसेन है ?'

उत्तर था 'नही'

'तो फिर इसका यह मतलब हुआ कि नागसेन कुछ नही है। जिसे हम अपने सामने देख रहे है और जिसको हम नागसेन कह रहे है वह कौन है ?'

भिक्षु ने राजा के प्रश्न का उत्तर नही दिया। उसने राजा से ही प्रश्न करना आरंभ किया। कहा 'राजन्, क्या आप पैदल आये है ?'

'नही, रथ पर' राजा ने कहा

'फिर तो आप जरूर जानते होंगे कि रथ क्या है। क्या यह पताका रथ है ?'

भिक्षु ने प्रश्न किया।
राजा का उत्तर था 'नही'
'क्या ये पहिये या यह धुरी रथ है ?'
'नही'
'फिर क्या ये रस्सियाँ या यह चाबुक रथ है ?'
'नही'
'तो, क्या इनके बाहर कोई चीज है, जो रथ है ?'
'नही'

अब भिक्षु ने समझाया 'तो फिर रथ कुछ नही है। जिसे हम अपने सामने देख रहे है और रथ कह रहे है, यह क्या है ?'

इस पर राजा बोला 'इन सब के साथ होने पर ही उसे रथ कहा जाता है, महात्मन्'।

इस पर भिक्षु नागसेन ने कहा 'राजन, तुम ठीक कहते हो। ये सब वस्तुएँ ही मिलकर रथ है। इसी प्रकार पाँच स्कंधो के सघात के अतिरिक्त और कुछ नही है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने बुद्ध के इस अनात्मवाद पर आक्षेप किये है। किन्तु उस युग मे तथा उससे पूर्व आत्मा को जो स्थान दिया गया था वह बुद्ध के अनात्मवाद से भी अधिक अस्पष्ट था। बुद्ध से पहले यह कहा गया था कि आत्मा बन्ध्य, कूटस्थ तथा नगर द्वार पर खडे स्तम्भ की तरह है। वह जड है। चार महाभूतो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) से उसका निर्माण हुआ है। उसके माँ बाप है। शरीर के बाद उसका विनाश हो जाता है। मृत्यु के बाद वह रहता ही नही। यह जो आत्मा को अनुभव होता है और जहाँ-जहाँ वह अपने भले-बुरे कर्मों के विधान को अनुभव करता है, वहाँ वह शाश्वत है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है और अनन्तकाल तक वैसा ही बना रहेगा।

बुद्ध ने आत्मा से सम्बन्धित इन परम्परागत तथा सामाजिक सिद्धान्तो पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि शरीरान्त के बाद आत्मा का नाश (विच्छेद) हो जाता है। बुद्ध ने उक्त वादो से बचकर 'नैरात्म्यवाद' को अपनाया।

बुद्ध की मान्यता है कि इस क्षणभगुर ससार मे निर्वाण को छोडकर सभी वस्तुएँ विनाशशील तथा परिवर्तनशील है। हमारी यह काया ही जब क्षणिक है तो आत्मा जैसी स्थिर वस्तु उसमे रह ही कैसे सकती है ?

जन्म-मरण का प्रश्न लेकर जब किसी ने बुद्ध से प्रश्न किया तो अपने उस जिज्ञासु को बुद्ध ने समझाया शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है,

और शरीर से भिन्न आत्मा है, ऐसा मानना दूसरा अन्त है । मैं इन दोनो को छोडकर मध्यम मार्ग का उपदेश देता हूँ ।

'अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से छह आयतन, छह आयतनो से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति (जन्म) से जरा-मरण, यही इसका रहस्य है और यही प्रतीत्य समुत्पाद है ।'

भगवान् बुद्ध को केवल शरीरात्मवाद ही अमान्य है, बल्कि सर्वान्तिर्यामी, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, ऐसा अनात्मवाद भी उन्हे अमान्य है । उनके मत से न तो आत्मा, शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा, शरीर-अभिन्न ही ।

बुद्ध ने उच्छेदवाद और शाश्वतवाद को अतिवादिता को त्यागकर बीच का मार्ग अपनाते हुए यह सिद्ध किया है कि ससार मे दुख, सुख, कर्म, जन्म, मरण, बध, मोक्ष आदि सब है, किन्तु इन सब का कोई स्थिर आधार आत्मा नही है । ये अवस्थाएँ एक नयी अवस्था को पैदाकर फिर नष्ट हो जाती है । पूर्व का न तो सर्वथा उच्छेद होता है और न वह निन्य ही है । पूर्व की सारी शक्ति उत्तर मे हस्तान्तरित हो जाती है, या यो कहना चाहिए कि पूर्व का उत्तर मे अस्तित्व हो जाता है ।

पुनर्जन्म

अनात्मवाद को मानते हुए भी बौद्ध विचारको के मत मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त वास्तविक है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त जानने के लिए 'अहं' वस्तु का ज्ञान लेना आवश्यक है, जिसका उचित समाधान प्रतीत्यसमुत्पाद और कर्मवाद के प्रसग मे किया जा चुका है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त वस्तुत भवचक्र पर आधारित है । उत्पति-प्रक्रिया ही भवचक्र है ।

बुद्ध ने जरा-मरण के रहस्य को समझ कर चार आर्य सत्यो को खोज निकाला । इस भवचक्र मे उन्होने दुख का हेतु 'प्रतीत्य समुत्पाद' के द्वारा स्पष्ट किया । प्रतीत्य अर्थात् कार्य के प्रति कारणो के इकट्ठा होने पर और समुत्पाद अर्थात् उत्पत्ति । इसका यह आशय है कि ऐसे कारण कौन-कौन से है, जिनके होने पर यह जरा-मरण रूप दुख उत्पन्न होता है । बुद्ध ने उसके बारह कारण गिनाये: १. अविद्या, २ संस्कार, ३. विज्ञान, ४. नामरूप, ५. षडायतन, ६.स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान, १०. भव, ११. जाति और १२. जरा-मरण । इसको 'भवचक्र' कहा गया है ।

बुद्ध का कथन है कि जीव का इससे भी पहले कोई जन्म अवश्य था, जिसके कारण मनुष्य अनादि काल से अज्ञान (अविद्या) के अंधकार में पड़ा हुआ है। ये जन्मान्तर के बुरे कर्म ही 'संस्कार' हैं। उन कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म मे आया, इसका रहस्य 'विज्ञान' बताता है । जन्म धारण करने के बाद मनुष्य को 'नामरूप' अर्थात् भौतिक और मानसिक स्वरूप मिले। उसके बाद उसमे छह इन्द्रियों का समावेश हुआ और उसको 'षडायतन' कहा गया। इन्द्रियों के प्राप्त हो जाने पर जीव मे बाह्य-जगत् के 'स्पर्श' का आधान हुआ, जिसके फलस्वरूप उसको 'वेदना' का अनुभव हुआ। इन्द्रिय तथा विषयों का संयोग होने के बाद उसमे 'तृष्णा' का आधान हुआ, जिससे उसकी सुखप्रद वस्तुओ के प्रति रुचि हुई। इसी को 'उपादान' (ग्रहण करना) या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह 'भव' (संसार) के अच्छे-बुरे कार्यो की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कर्मो के परिणामस्वरूप उसको दूसरे 'जन्म' (जाति) मे लिप्त होना पडा जिसका परिणाम मृत्यु, अर्थात् 'जरा-मरण' है।

इस दृष्टि से पुनर्जन्म का सम्बन्ध, भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालो से है। यह भवचक मनोवैज्ञानिक है, किन्तु बुद्ध का कहना है कि मनुष्य या जीव तब तक इस भवचक्र मे घूमता रहता है, जब तक उसका वह अज्ञान नष्ट न हो जाय, जो तृष्णा का कारण है।

तथागत के भवचक्र का स्वरूप इस रूप मे समझा जा सकता है

१ अविद्या २. संस्कार	भूत जीवन
३ विज्ञान ४ नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान १०. भव	वर्तमान जीवन
११. जाति १२. जरा-मरण	भविष्य जीवन

जन्म-मरण का रहस्य लेकर किसी ने जब बुद्ध से प्रश्न किया तो अपने उस जिज्ञासु को तथागत ने समझाया 'शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है और आत्मा, शरीर से भिन्न है, यह मानना दूसरा अन्त है।'

कर्मवाद

प्रतीत्य समुत्पाद के प्रसग मे कहा जा चुका है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसकी पूर्ववर्ती अवस्था का ही परिणाम है। कर्मवाद भी यही बताता है। एक बार एक शिष्य का सिर फट गया। वह तथागत के पास गया। तथागत ने उससे कहा 'हे अर्हत, इसे ऐसा ही सहन करो। तुम अपने उन कर्मों का फल भुगत रहे हो, जिनके कारण तुम्हे दीर्घकाल तक नरक जैसा कष्ट सहन करना पडता।' इस उक्ति के अनुसार बुद्ध ने कर्मों की भवितव्यता को बड़ा बलवान् बताया।

बौद्ध दर्शन के अनुसार जीव का वर्तमान जीवन, उसके पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का परिणाम है और उसके वर्तमान जीवन के कर्म उसके भावी जीवन का फल निर्धारित करते हैं। यह कर्मफल जीव के चरित्र के अनुसार मिलता है। जैसा कर्म जो करेगा वैसा ही उसको फल मिलेगा। किन्तु यह नही समझना चाहिए कि जीव कर्मों के अधीन है, बल्कि कर्म उसके अधीन है। वह कर्मों से नही बँधा है। उसके वर्तमान चरित्र पर निर्भर है कि वह अपना भविष्य पापमय बनाये या पुण्यमय। यदि मनुष्य कर्मों से बँधा माना जाय तो अकर्मण्यता फैल जायगी। कर्मों को करने के लिए व्यक्ति धार्मिक-जीवन बिताया है। दुःखो से छुटकारा पाने के लिए वह अच्छे कर्म करता है। भवचक्र के अनुसार कारण-कार्य, कर्म-कर्मफल की शृंखला अटूट रूप मे बनी रहती है। जन्म और मरण उसी के फल हैं। किन्तु इस भवचक्र से, आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए पूर्व कर्मों का नाश और पर कर्मों का सचय करके मुक्ति पायी जा सकती है। जन्म-मरण का आत्यन्तिक अभाव ही 'निर्वाण' है। निर्वाण, ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। उसमे पूर्व कर्मो की शृंखला अज्ञान और वासनाओ का कारण है। निर्वाण के बाद यह शृंखला टूट जाती है।

बुद्ध के अनुसार तब पुनर्जन्म नही होता। निर्वाण प्राप्ति के बाद कर्म और विज्ञान, दोनो नष्ट हो जाते है।

कर्मवाद और अनात्मवाद

कर्मवाद तथा प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त मे बताया गया है कि नया जन्म पिछले कर्मो का फल है। किन्तु यदि आत्मा, जो कि जन्मान्तर मे व्यक्ति के कर्मों का संचय ले जाता है, जब अनित्य है तो फिर जन्मान्तर और कर्म का

सिद्धान्त कैसे बन सकता है ? बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद तो आत्मा को क्षणिक और कर्मान्तिर, जन्मान्तर का सिद्धान्त ही समाप्त कर देता है। यदि क्षण-क्षण अलग-अलग आत्माओं की स्थिति भी मान ली जाय तो एक आत्मा में संचित कर्म दूसरे आत्मा में किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं ?

इसके उत्तर में बौद्ध विचारकों का कथन है कि यद्यपि आत्मा अनित्य है, क्षणिक है, फिर भी वह अपने द्वारा संचित संस्कारों को अगले आत्मा में पहुँचा देता है। उन्होंने दीपक की लौ का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की लौ में अटूट सम्बन्ध होते हुए भी वैसा ही दिखाई देता है, अर्थात् बिना व्यतिक्रम के एक लौ दूसरी लौ को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार एक आत्मा दूसरी आत्मा के संचित संस्कारों को ग्रहण कर लेता है, और इस तरह कर्मवाद तथा अनात्मवाद का समन्वय हो जाता है।

विज्ञानवाद और ब्रह्मवाद

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' के नाम से और शंकर के अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त 'ब्रह्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों सिद्धान्तों में कहाँ तक एकता और कहाँ तक अनेकता है, यह जान लेना आवश्यक है।

बौद्धों के चार दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदाय हुए : माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत वाले बौद्ध विद्वान् घट, पट आदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं। उनमें अन्तर यही है कि सौत्रान्तिक जहाँ बाह्य अर्थों को प्रत्यक्षसिद्ध मानते हैं, वहाँ वैभाषिक अर्थों को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमानसिद्ध मानते हैं। शेष दोनों संप्रदाय बाह्य अर्थों को नहीं मानते। माध्यमिक मत 'शून्यवाद' और योगाचार 'विज्ञानवाद' को मानता है।

विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये घट-पटादि पदार्थ स्वप्न में देखी गयी वस्तुओं के समान केवल कल्पित और भ्रमयुक्त हैं। ज्ञान के द्वारा हम व्यावहारिक जगत् के स्वप्नाविष्ट और दृष्टिगोचर, दोनों प्रकार के पदार्थों का बोध कर सकते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। यह समस्त दृश्यमान जगत् स्वप्नवत्, कल्पित और मिथ्या है।

शंकर के ब्रह्मवाद के अनुसार इस परिवर्तनशील जगत् का यथार्थ तत्त्व 'ब्रह्म' है। यह जगत् स्वतः कल्पित और भ्रममात्र है। शंकर के अनुसार यह

जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त अर्थात् 'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति'; जैसे रज्जु मे सर्प की प्रतीति।

शंकर का यह सिद्धान्त और उनसे पूर्व भी गौडपाद तथा 'माण्डूक्य उपनिषद्' की कारिकाओं मे जगत् तथा ब्रह्म का यही दृष्टिकोण विवेचित है। शंकर का यह जगद्विषयक अभिमत विज्ञानवादी बौद्धो के मतानुसार स्वप्नाविष्ट तथा परिकल्पित वस्तुओ के समान भ्रममात्र है। उसका कोई अस्तित्व नही है। इस दृष्टि से बौद्धो के 'विज्ञानवाद' और शंकर के 'ब्रह्मवाद' मे पर्याप्त समानता है, यद्यपि दोनो सिद्धान्त एक ही नही है। उनमे कुछ अन्तर भी है। बौद्धो के विज्ञानवाद के अनुसार सब कुछ क्षणिक है, किन्तु शंकर के मतानुसार ब्रह्म नित्य है। दोनो सिद्धान्तो मे समानता इस बात मे है कि बौद्ध 'विज्ञान' के अतिरिक्त और शंकर 'ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता स्वीकार नही करते। इन दोनो के समान दृष्टिकोणो को लेकर विज्ञान भिक्षु ने 'पद्मपुराण' का एक श्लोक अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' मे उद्धृतकर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। श्लोक है

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

विज्ञानवाद का 'ज्ञान' ही ब्रह्मवाद का 'ब्रह्म' है। यही इन दोनो सिद्धान्तो का निष्कर्ष है।

निर्वाण

बुद्ध की दृष्टि मे निर्वाण कहते है बुझ जाने को। विच्छिन्न प्रवाह के रूप से उत्पन्न नामरूप तृष्णा के वशीभूत होकर जो एक जीवन-प्रवाह का रूप धारणकर सतत गतिशील है, इसी गति या प्रवाह का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही 'निर्वाण' है। दीपक मे डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार काम, भोग, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व आदि आस्रवो के क्षीण हो जाने पर आवागमन नष्ट हो जाता है। बुद्ध ने उस अवस्था को निर्वाण की अवस्था कही है, जहाँ तृष्णा नष्ट हो गयी है और भोगादि आस्रवो का कोई अस्तित्व नही रह गया है।

किन्तु निर्वाण, अर्थात् जीव के मर जाने के बाद क्या होता है, इसको बुद्ध ने इस आशय से कहना छोड दिया है कि जो व्यक्ति अनात्मवाद को जान लेता है उसके लिए 'निर्वाण' की उक्त अवस्था का जानना शेष नही रह जाता है।

इस सम्बन्ध मे अधिक कहना उन्होने वैसे ही समझा जैसे कि अज्ञानी बालको के सामने गूढ़ बातो की व्याख्या करके उन्हे चौंका दिया जाय। इसको उन्होने 'अव्याकृत' (अकथनीय) के अन्तर्गत माना है। बुद्ध ने लोक, अनित्य, जीव, शरीर, पुनर्जन्म और निर्वाण (मुक्ति) के सम्बन्ध मे कहा है कि उन्हे बताने की आवश्यकता ही नही है। उन्होने कहा है कि 'मै इन दस अव्याकृतो (अकथनीयो) के सम्बन्ध मे कुछ कहना इसलिए उपयुक्त नही समझता कि न तो वे ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है, न वैराग्य, न शान्ति, न निर्वाण के लिए ही।'

निर्वाण का आशय जीवन की समाप्ति नही; बल्कि जीवन को अनन्त शान्ति की अवस्था है। निर्वाण का आशय है मृत्यु के बाद सर्वथा अस्तित्वरहित हो जाना। निर्वाण से जो 'बुझने' का अर्थ लिया जाता है उसका आशय जीवन का 'अन्त' न होकर लोभ, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियो के बुझ जाने से है। जब वासनाये बुझ जाती है तो भूत जीवन, भावी जीवन और वर्तमान जीवन के जो द्वादश भवचक्र है उनकी आत्यन्तिक निवृत्त हो जाती है। जीवन इन के आस्रवा (नशो) का ठंडा पड जाना ही जीवन का निर्वाण है। इसलिए निर्वाण को 'सितिभाव की अवस्था' कहा गया है। जीवन की वह पवित्रता, शाति, शिवत्व और प्रज्ञा की अवस्था है।

राग, द्वेष, घृणा, कर्म आदि बधन के बीज है। इन्ही से पूर्वजन्म का चक्र चलता है। किन्तु बीज का निरोध कर देने से वह पल्लविन तथा अकुरित नही होने पाता। जैसे भूंजे हुए बीज को धरती मे बो देने से वह उग नही पाता उसी प्रकार कर्म-बन्धनो के बीज निरुद्ध हो जाने पर वे फिर नही फलते।

निर्वाण वस्तुत: नि.श्रेयस, मुक्ति, अमृत, परमानन्द और परम शाति की अवस्था है। वह वर्णनातीत है। वह तर्क और प्रमाण से रहित अलौकिकावस्था है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए बौद्ध दर्शन मे आठ मार्ग (अष्टाग) बताये गए है।

बौद्धो के प्रसिद्ध ग्रथ 'धम्मपद' मे कहा गया है कि 'स्वास्थ्य की प्राप्ति का बडा लाभ है, सतोष ही सबसे बडा धन है, विश्वास ही सबसे बडा संबधी है और निर्वाण ही परम सुख है'

आरोग्या परमा लाभा सतुट्ठि परमं धनम्।
विस्साम परमा ञाति निब्बाणं परमं सुखम्॥

★

न्याय दर्शन

★ ★ ★ ★

नामकरण

न्याय दर्शन की सत्ता बहुत प्राचीन है। न्याय दर्शन तर्कवादी दर्शन है। तर्कशास्त्र का अस्तित्व बौद्धो से पहले का है। उपनिषद्, 'रामायण', 'महाभारत', 'मनुस्मृति', 'गौतमधर्मसूत्र', 'अर्थशास्त्र' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' आदि ग्रन्थो मे तर्कशास्त्र को हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वादविद्या, न्यायविद्या, न्यायशास्त्र और प्रमाणशास्त्र आदि अनेक नामो से कहा गया है। न्याय का एक प्राचीन नाम 'आन्वीक्षकी' भी था। 'अन्वीक्षा' का अर्थ है प्रत्यक्ष तथा आगम के द्वारा उपलब्ध ज्ञान या प्रत्यक्ष तथा शब्द के द्वारा उपलब्ध विषय का अनु = पश्चात्, ईक्षण = अवलोकन करना। अत. तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसंधान करना ही 'अन्वीक्षकी' है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे आन्वीक्षकी की गणना चार विद्याओ मे की गयी है और उसको सब विद्याओ का प्रदीप, तथा सब कर्मो का उपाय और सब धर्मो का आशय कहा गया है। 'महाभारत' मे महर्षि नारद को पचावयवयुक्त वाक्य के गुणदोषो का जानने वाला कहा गया है **'पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषविद'**। 'महाभारत' के इस प्रसंग की व्याख्या श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण' के ग्रन्थ (हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक, पृ० १७) मे बड़े विस्तार से की गयी है।

'न्याय' शब्द का अर्थ है 'जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके' (**नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः**)। इस विवक्षितार्थ की सिद्धि पंचावयव वाक्यो से होती है। इसी लिए पंचावयव वाक्यो का अपर नाम न्याय या न्याय-प्रयोग

भी है (**पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः**)। ये पंचावयव वाक्य है : प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय या विवक्षितार्थ का सिद्धि का तरीका इस प्रकार है :

१. पर्वत पर अग्नि है	प्रतिज्ञा
२. क्योकि वहाँ धुआँ है	हेतु
३. जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग भी रहती है, जैसे रसोईघर	उदाहरण
४. पर्वत पर भी धुआँ है	उपनय
५. इसलिए पर्वत पर अग्नि है	निगमन

इस उदाहरण मे प्रतिपाद्य विषय है 'पर्वत पर अग्नि का होना'। वह साध्य है। उसी की सिद्धि उक्त पंचावयक वाक्यो से की गयी है।

न्याय दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

भारतीय दर्शनों की परम्परा मे न्याय दर्शन का क्षेत्र बहुत विस्तृत और उसकी ख्याति अधिक है। लगभग विक्रमी पूर्व मे लेकर आज तक अबाध रूप से उसका अध्ययन-अध्यापन, निर्माण और मनन-अनुसंधान होता आ रहा है। इस पर भी न्याय दर्शन का एक बडा भाग अब तक अप्रकाशित ही है। न्याय सूत्रों की ठीक रचनातिथि के सम्बन्ध मे बहुत विवाद है, किन्तु अधिक विद्वानो का मत है कि उनका निर्माण लगभग ४००-५ ० ई० पूर्व मे हो चुका था।

न्याय दर्शन की समृद्धि मे गुप्त युग का बडा योग रहा है। इस युग के न्याय सूत्रों पर बृहद् भाष्यों और वार्तिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस युग मे ही न्याय सूत्रों की दुरूहता को भाष्यकारो ने सुगम बनाया और इसमे न्याय दर्शन की लोकप्रियता बढी।

न्याय दर्शन की दो शाखाएँ

न्याय दर्शन का समस्त साहित्य दो भागो मे विभक्त है पदार्थ मीमासा (कैटेगोरिस्ट) और प्रमाण मीमासा (एपिस्टेमोलॉजी)। न्याय को पदार्थ मीमासा शाखा के प्रवर्तक महर्षि गौतम हुए, जिनके 'न्यायसूत्र' मे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थो का विवेचन है।

प्रमाण मीमासा का प्रवर्तन मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक गगेश उपाध्याय (१२ वी शताब्दी) ने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ को लिखकर किया। इसमे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणो का गम्भीर विवेचन किया गया है।

पदार्थ मीमासा और प्रमाण मीमासा को क्रमशः 'प्राचीन न्याय' और 'नव्य न्याय' कहते है।

प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य था मुक्ति की उपलब्धि किन्तु नव्य न्याय मे एकमात्र तर्क को प्रमुखता दी गयी। प्राचीन न्याय के षोडष पदार्थो मे भी यद्यपि तर्क के लिए स्थान था, किन्तु उसका प्रचलन नव्य न्याय मे अधिक हुआ। आज नव्य न्याय को ही अधिक अपनाया जाता है।

न्याय तर्क श्रेणी का दर्शन है। उसका पदार्थ-विवेचन और प्रमाण-विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक ढग का है। उसकी विषय विवेचन-पद्धति सूक्ष्म, दुर्गम और नितान्त पारिभाषिक है। जैन-बौद्ध आचार्यो से बौद्धिक सघर्ष मे अपने पक्ष की प्रतिष्ठा करने मे नैयायिको ने जिस अद्भुत पाण्डित्य का परिचय दिया उसका इतिहास हमारे सामने है।

गौतम

गौतम के नाम और स्थितिकाल के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। 'पद्मपुराण', स्कन्धपुराण', 'गान्धर्वतन्त्र', 'नैषधचरित' और विश्वनाथ पचानन की 'न्यायसूत्रवृत्ति' मे महर्षि गौतम को न्याय दर्शन का रचयिता बताया गया है। उधर 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्तिक', 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' और 'न्यायमजरी' आदि ग्रन्थो मे 'न्यायसूत्र' को अक्षपाद की कृति बताया गया है। इन दोनो नामो के विपरीत भास के 'प्रतिमा नाटक' मे न्यायशास्त्र का रचयिता मेधातिथि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार गौतम, अक्षपाद और मेधातिथि, ये तीन नाम न्यायशास्त्र के साथ जुडे है।

इस सम्बन्ध मे अधिक विद्वानो का यही अभिमत है कि गौतम या गोतम नाम से दो अलग-अलग व्यक्ति हुए : एक मेधातिथि गौतम और दूसरे अक्षपाद गौतम। इनमे मेधातिथि गौतम ही न्यायशास्त्र के आदि निर्माता हुए और उनके न्यायशास्त्र के प्रतिसस्कर्ता अक्षपाद गौतम। 'कर्तभाषा' की भूमिका मे आचार्य विश्वेश्वर ने विभिन्न इतिहासकारो के अभिमतों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष दिया है कि "सबसे पूर्व गोतम (मेधातिथि) के अध्यात्म प्रधान 'न्यायसूत्र' की रचना हुई। उसके बाद अध्यात्म प्रधान उपनिषदो से अक्षपाद (गोतम) ने आन्वीक्षकी से न्यायविद्या को पृथक् करने के लिए उसमे प्रमेय प्रधान स्वरूप के स्थान पर प्रमाण प्रधान स्वरूप देकर अक्षपाद ने उसका नवीन संस्करण किया, और बौद्ध युग मे उसमे कुछ प्रक्षेप और परिवर्धन होकर ही न्यायशास्त्र को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हो सका है।"

मेधातिथि गौतम का स्थान दरभंगा (बिहार) के उत्तर-पूर्व २८ मील की दूरी पर एक ऊँचा टीला बताया जाता है, जिसके निकट आज भी एक कुण्ड है, जिसको कि गौतम कुण्ड कहा जाता है। 'गौतम स्थान' नामक टीले पर आज भी चैत्र नवमी को एक मेला लगता है।

इसी प्रकार अक्षपाद गौतम के स्थान का नाम काठियावाड के निकट 'प्रभासपत्तन' बताया जाता है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' में लिखा हुआ है कि अक्षपाद गौतम, शिव के अंशभूत सोमशर्मा ब्राह्मण के पुत्र थे। वे प्रभासपत्तन के निवासी और जातुकर्णी व्यास के समकालीन थे।

न्यायशास्त्र के आधारभूत इन दोनो आचार्यों के स्थितिकाल का ठीक-ठीक उल्लेख करना असम्भव है, किन्तु अब तक की खोजो के आधार पर उनका आनुमानिक समय ६००-४०० ई० पूर्व मे रखा जा सकता है। कदाचित् मेधातिथि गोतम, अक्षपाद गौतम से १०० या १५० वर्ष पहले हुए।

वात्स्यायन

वात्स्यायन को अक्षपाद के 'न्यायसूत्र' का प्रामाणिक भाष्यकार माना जाता है। वात्स्यायन का भाष्य न्यायसूत्रो के अर्थोद्घाटन की कुजी है। हेमचन्द्र की 'अभिधानचिन्तामणि' मे उल्लिखित एक श्लोक के आधार पर कुछ विद्वानो ने 'अर्थशास्त्र' के निर्माता कौटिल्य और भाष्यकार वात्स्यायन को एक ही व्यक्ति माना है, जो उचित नही है। वात्स्यायन दाक्षिणात्य (कॉंची) थे ओर उनका एक नाम पक्षिलस्वामी था, जिसका उल्लेख को वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' के आरम्भ मे किया गया है।

वात्स्यायन ने अपने भाष्य मे पतंजलि के 'महाभाष्य' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से अनेक उदाहरण दिये है। इसके अतिरिक्त उन्होने बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन (३०० ई०) के सिद्धान्तो का भी खण्डन किया है। वात्स्यायन के आक्षेपो का खण्डन किया है बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५०० ई०) ने। अत. वात्स्यायन का समय ४०० ई० मे निश्चित है। प्रशस्तपाद और वात्स्यायन लगभग एक ही समय हुए।

वात्स्यायन के पूर्व का विलुप्त भाष्य

वात्स्यायन से पूर्व भी न्यायसूत्रो पर कोई भाष्य लिखा गया था, जिसका पता वात्स्यायन भाष्य के उन स्थलो से चलता है, जहाँ उन्होंने एक ही सूत्र के दो-दो वैकल्पिक अर्थ किये है। कुछ विद्वानों ने इस आधार पर वात्स्यायन से पहले किसी भाष्य के होने का अनुमान लगाया

है, किन्तु इस अनुमान की सिद्धि के लिए कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

उद्योतकर

बौद्ध दिङ्नाग 'वात्स्यायन भाष्य' का पहला आलोचक था, जिसके तर्कों का खण्डन किया उद्योतकर ने। उसने 'वात्स्यायन भाष्य' पर 'न्यायवार्तिक' नामक टीका लिखकर उसकी प्रस्तावना मे अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा 'दिङ्नाग के कुतर्कों द्वारा फैलाये गये अज्ञान की निवृत्ति के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।' रैंडिल महोदय ने उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' को तर्कशास्त्र का महत्वपूर्ण एवं विश्व-साहित्य की ख्याति का ग्रन्थ माना है।

उद्योतकर थानेश्वर का निवासी था। वह भारद्वाज गोत्रीय और पाशुपत सम्प्रदाय का विद्वान् था। सुबन्धु (६५० ई०) की 'वासवदत्ता' मे उद्योतकर का उल्लेख होने के कारण और बौद्ध धर्मकीर्ति (७०० ई०) के द्वारा उद्योतकर की आलोचना होने के कारण उद्योतकर का स्थितिकाल छठी शताब्दी के अन्त मे निश्चित होता है।

बौद्ध नैयायिकों और वैदिक नैयायिकों का विवाद

लगभग तीसरी शताब्दी ई० से लेकर नवी शताब्दी ई० तक का समय भारतीय दर्शन की चरमोन्नति का समय है। इस युग मे बौद्धन्याय और वैदिक न्याय-वैशेषिक, तीनो दर्शन सम्प्रदायो का विशेष रूप से विकास हुआ है। यह युग बौद्ध दार्शनिको और वैदिक दार्शनिकों के बौद्धिक संघर्ष का युग था। गौतम के 'न्यायसूत्र' पर अनेक प्रकार के आक्षेप करके, इस बौद्धिक प्रतिस्पर्धा और आलोचना-प्रत्यालोचना का आरम्भ किया नागार्जुन (३०० ई०) ने। जिनका प्रत्युत्तर दिया वात्स्यायन (४०० ई०) ने अपने भाष्य ग्रन्थ मे। उसके बाद दिङ्नाग (५०० ई०) ने नागार्जुन के समर्थन और वात्स्यायन के खण्डन मे बडी ही प्रामाणिक युक्तियाँ प्रस्तुत की। जिनका उत्तर दिया उद्योतकर (६०० ई०) ने 'न्यायवार्तिक' लिख कर। उद्योतकर का खण्डन धर्मकीर्ति (७०० ई०) ने 'न्यायबिन्दु' की रचना करके किया और उसके बाद 'न्यायबिन्दु टीका' मे धर्मोत्तर (८०० ई०) ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति का युक्तियां पर अपनी सहमति की मुहर लगायी। उसके बाद वाचस्पति मिश्र (९०० ई०) ने अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' मे बौद्धों का भरपूर विरोध करके न्याय वैशेषिक की सत्ता को पाण्डित्य के साथ प्रतिष्ठित किया। उसके बाद वाचस्पति मिश्र के अनुकरण कर जयन्त तथा उदयन ने दसवी शताब्दी मे न्याय वैषेशिक का अच्छा विकास किया।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र भारतीय दर्शन के उज्वल रत्न है। वे अद्भुत प्रतिभा के विद्वान् थे। सभी शास्त्रो पर उनका समान अधिकार था। ऐसा कोई भी दर्शन सम्प्रदाय नही है, जिस पर उन्होने ग्रन्थ न लिखा हो। इसलिए उनका उल्लेख सभी दर्शनो मे किया गया है। विषय की दृष्टि से उनके ग्रन्थो की नामावली इस प्रकार है :

न्याय	न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका, न्यायसूत्री निबन्ध
सांख्य	सांख्यतत्त्व कौमुदी, युक्तिदीपिका (अप्राप्य)
योग	तत्त्ववैशारदी (व्यास भाष्य पर)
मीमामा	न्यायकणिका, तत्त्वविन्दु
वेदान्त	भामती, तत्त्वसमीचा या ब्रह्मतत्व समीक्षा, ब्रह्मसिद्धि, वेदान्ततत्त्व कौमुदी (अन्त के तीनो ग्रन्थ अप्राप्य)

जयन्त भट्ट

जयन्त भट्ट भी वाचस्पति मिश्र के समकालीन अथवा उनसे कुछ बाद मे हुए। जयन्त भट्ट के पुत्र अभिनन्द के 'कादम्बरी कथासार' मे लिखा हुआ है कि जयन्त के प्रपितामह शक्तिस्वामी काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड के मंत्री थे। मुक्तापीड का समय ७२४–७६० ई० है। इस दृष्टि से जयन्त का स्थितिकाल ६ वी शताब्दी के अन्त मे या १० वी शताब्दी के आदि मे होना चाहिए। किन्तु वाचस्पति मिश्र की 'न्यायकणिका' की प्रस्तावना मे 'न्यायमंजरी' के कर्ता जयन्त को अपना गुरु मानकर नमस्कार किया है। श्लोक है :

अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराः
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे गुरवे नमः ॥

इस दृष्टि से जयन्त भट्ट का समय वाचस्पति मिश्र से पहले या उनके समकालीन ठहरता है।

'न्यायमजरी' न्यायदर्शन की प्रौढ एवं पाण्डित्यपूर्ण कृति है। हाल ही मे सरस्वती भवन सीरीज से प्रकाशित भावसर्वज्ञ के 'न्यायसार' पर 'न्यायकलिका' नामक टीका को भी जयन्त की रचना कहा जाता है।

भावसर्वज्ञ

भावसर्वज्ञ, जयन्त की कोटि के विद्वान् थे। उनका स्थितिकाल नवम शताब्दी के अन्त में या दशवी शताब्दी के आदि मे था। जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन मे शिवादित्य को प्रकरण ग्रन्थो का प्रवर्तक कहा गया है उसी प्रकार

भावसर्वज्ञ ने भी न्याय दर्शन मे सर्वप्रथम 'न्यायसार' नामक प्रकरण ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ विशुद्ध प्रमाणवाद पर लिखा गया और जिसको आधार मानकर आगे गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की प्रतिष्ठा की। यह ग्रन्थ इतना सम्मानित हुआ कि हरिभट्ट के 'षड्दर्शन समुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न के कथनानुसार जिस पर १८ टीकाएँ लिखी गयी। इनमे 'न्यायभूषण' या 'भूषण' नामक टीका का विशेष महत्व है। इस टीका को रत्नकीर्ति (१० वी श०) ने अपनी 'आपोहसिद्धि' मे जयन्त के नाम से ही उद्धृत किया है।

उदयनाचार्य

न्याय वैशेषिक के क्षेत्र मे उदयनाचार्य का मुख्य स्थान है। वे मैथिल थे और दरभगा के अन्तर्गत करियन नामक गाँव इनका जन्मस्थान बताया जाता है। इन दोनो दर्शन सम्प्रदायो पर अलग-अलग और सयुक्त रूप से जितने ग्रन्थ इन्होने लिखे उतने किसी ने नही। वाचस्पति मिश्र के बाद इन्ही का स्थान माना जाता है। इनका समय दशवी शताब्दी के अन्त मे बैठता है, जैसा कि 'लक्षणावली' की पुष्पिका मे उन्होने उसका समाप्तिकाल ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) स्वयं ही लिखा है। इनके ग्रन्थो की नामावली इस प्रकार है :

न्याय	न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि (वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका की उप टीका), न्याय परिशिष्ट या (प्रबोधसिद्धि)
वैशेषिक	किरणावली (प्रशस्तपाद भाष्य की टीका), लक्षणावली (प्रक्रिया ग्रन्थ)
न्याय-वैशेषिक	न्याय कुसुमाजलि, आत्मतत्त्व विवेक (या बौद्धाधिकार)

गंगेश उपाध्याय

गंगेश उपाध्याय को नव्य न्याय का जनक माना जाता है। नव्य न्याय की प्रतिष्ठा यद्यपि दसवी शताब्दी मे उदयन, जयन्त और भावसर्वज्ञ के द्वारा हो चुकी थी और ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे वरदराज की 'तार्किकरक्षा' तथा केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' मे उसका अधिक परिमार्जित रूप सामने आया; फिर भी न्याय दर्शन के क्षेत्र मे इस परिवर्तित विचारधारा के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय को ही माना जाता है।

गंगेश उपाध्याय मिथिला में हुए। प्राचीन काल मे मिथिला का बडा महत्व रहा है। न्याय दर्शन तो वस्तुत मिथिला की ही देन है। गौतम, वाचस्पति मिश्र

उदयन, पक्षधर मिश्र, रुद्रदत्त और शंकर मिश्र आदि विद्वान् वहीं पैदा हुए। इस परम्परा में गगेश का नाम उल्लेखनीय है।

गंगेश उपाध्याय ने भावसर्वज्ञ की शैली पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रकार के प्रमाणों की गम्भीर व्याख्या अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' मे की। यह नव्य न्याय का आधारभूत ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार खण्डो मे विभाजित है और उसमे प्रामाण्यवाद, प्रत्यक्षकरणवाद, मनोऽणुतत्त्ववाद तथा व्याप्तिग्रहोपाद आदि नवीन विषयो पर गहन विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के द्वारा प्राचीन न्याय का पदार्थशास्त्र नवीन न्याय के प्रमाणशास्त्र के नाम से कहा गया और न केवल विषय की दृष्टि से अपितु भाषा, शैली की दृष्टि से भी सर्वथा नवीनीकरण हुआ।

इस नव्य न्याय के प्रवर्तक ग्रन्थ पर लिखी गयी अनेक टीकाएं और उपटीकाएँ उसकी उपयोगिता एवं प्रामाणिकता को प्रकट करती है। इन टीकाओ मे वर्धमान उपाध्याय (१३ वी श०) का 'प्रकाश', पक्षधर मिश्र (१३ वी श०) का 'आलोक', वासुदेव सार्वभौम (१५०० ई०) की 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' और रघुनाथ शिरोमणि (१६०० ई०) की 'दीधिति' प्रमुख है।

गगेश द्वारा प्रवर्तित न्याय की नवीन विचारधारा के समर्थक अनेक विद्वान् मिथिला मे हुए। उनमे वर्धमान उपाध्याय और पक्षधर मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

वर्धमान उपाध्याय

वर्धमान, गंगेश उपाध्याय के पुत्र और नव्य न्याय के उद्भट विद्वान् थे। अपने पिता द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों की व्याख्या उन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' की 'प्रकाश' नामक टीका को लिखकर की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उदयन की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि' पर 'न्याय निबन्ध प्रकाश', 'कुसुमाजलि' पर 'कुसुमाजलिप्रकाश', वल्लभाचार्य की 'न्याय लीलावती' पर 'न्याय लीलावती प्रकाश' (लीलावती कण्ठाभरण) और श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' पर 'खण्डनखण्डखाद्यप्रकाश' आदि टीकाएँ लिखी।

केशव मिश्र

केशव मिश्र नव्य न्याय की मैथिल शाखा के नैयायिक थे। उनके पिता का नाम बलभद्र था। उनके बड़े भाई पद्मनाभ मिश्र न्याय और वैशेषिक के प्रख्यात विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम गोवर्द्धन मिश्र था। केशव मिश्र १३ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए।

न्याय के क्षेत्र मे केशव मिश्र के 'तर्कभाषा' की बड़ी ही लोकप्रियता है। इस ग्रन्थ पर १३ वी शताब्दी से लेकर १८ वी शताब्दी तक लगभग १४ टीकाएँ लिखी गयीं।

पक्षधर मिश्र (जयदेव)

नव्य न्याय के क्षेत्र मे दूसरे मैथिल विद्वान् पक्षधर मिश्र हुए, जिनका वास्तविक नाम जयदेव मिश्र था। पक्षधर इनका इसलिए नामकरण हुआ कि ये जिस पक्ष को लेते थे उसको बिना सिद्ध किये नही छोड़ते थे। ये १३ वी शताब्दी में हुए।

इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'मरयालोक' नामक पाणिडत्यपूर्ण व्याख्या लिखी। इनका लिखा हुआ 'प्रसन्नराघव' नाटक भी प्रसिद्ध है। रुचिदत्त इन्ही के शिष्य थे, जिन्होंने वर्धमान के 'कुसुमाजलि प्रकाश' पर 'मकरन्द' नामक टीका लिखी। वासुदेव सार्वभौम और रघुनाथ शिरोमणि इन्ही की शिष्य परम्परा के विख्यात विद्वान् थे, जिन्होने बंगाल मे नव्य न्याय की प्रतिष्ठाकर उनके नाम को उजागर किया। इन दोनो विद्वानो द्वारा बगाल मे प्रवर्तित नव्य न्याय की शाखा को आज 'नवद्वीप' या 'नदिया' की नव्य नैयायिको की स्वतंत्र शाखा के रूप मे कहा जाता है।

नवद्वीप के नैयायिक

यद्यपि गगेश द्वारा नव्य न्याय का जन्म मिथिला मे हुआ और वर्धमान, पक्षधर आदि विद्वानो ने उसका अनुवर्तन किया, फिर भी उसके भावी विकास का श्रेय बंगाल (नदिया) के नैयायिकों को है। नदिया मे नव्य न्याय की यह परम्परा १६ वी से १७ वी शताब्दी, एक सौ वर्ष तक अटूट रूप मे बनी रही। नव्य न्याय का यह काल 'स्वर्गयुग' के नाम मे कहा जाता है।

मिथिला से नव्य न्याय की यह ज्ञानधारा बंगाल मे किस प्रकार प्रविष्ट हुई, इसकी भी एक रोचक कथा बतायी जाती है। इस सम्बन्ध मे कहा जाता है कि मिथिला के तत्कालीन विद्वद्वर्ग को इसका बडा गौरव और ध्यान था कि नव्य न्याय का कोई भी अध्येता मिथिला मे आकर ही उसका ज्ञानार्जन करे। नव्य न्याय की जितनी भी कृतियाँ हस्तलेखो के रूप मे विद्यमान थी उन पर कड़ी दृष्टि रखी जाती कि न तो वे बाहर जाने पावे और न ही उनकी प्रतिलिपि करने दी जाय। पक्षधर मिश्र की शिष्य परम्परा मे वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला मे रहकर नव्य न्याय का अध्ययन किया और तत्सम्बन्धी समस्त प्रामाणिक ग्रन्थो को कण्ठस्थ कर वे अपने घर नदिया गये। वहाँ

जाकर उन्होंने कण्ठस्थ ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया और तदन्तर बंगाल में नव्य न्याय की प्रतिष्ठा की।

वासुदेव सार्वभौम

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, वासुदेव सार्वभौम नदिया (नवद्वीप, बंगाल) के निवासी थे। मिथिला मे आकर उन्होंने नव्य न्याय का अध्ययन किया और बाद मे बगाल वापिस आकर वहाँ एक विद्यापीठ की स्थापना की। इनका स्थितिकाल १५ वी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इनके द्वारा स्थापित नवद्वीप का यह विद्यापीठ बहुत ही प्रसिद्ध हुआ और अपने युग मे वह नव्य न्याय के अध्यापन का एकमात्र केन्द्र सिद्ध हुआ। वासुदेव सार्वभौम ने 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' नामक ग्रन्थ लिखा, किन्तु उनकी ख्याति बंगाल मे नव्य न्याय के विद्यापीठ को स्थापित करने और अनेक सुयोग्य शिष्यो को पैदा करने मे अधिक है। रघुनन्दन, कृष्णानन्द और रघुनाथ शिरोमणि आदि उन्ही के शिष्य थे। चैतन्य महाप्रभु को भी इन्ही का शिष्य बताया जाता है।

रघुनाथ शिरोमणि

नव्य न्याय के क्षेत्र मे ख्याति एवं पाण्डित्य की दृष्टि से गंगेश उपाध्याय के बाद रघुनाथ शिरोमणि का नाम आता है। ये अद्भुत तार्किक थे और इनके इसी अद्भुत पाण्डित्य के कारण नवद्वीप के विद्वत्समाज ने इन्हे 'तर्कशिरोमणि' की उपाधि से सम्मानित किया था। इनका जन्म १४७७ ई० को नदिया मे हुआ था। इन्होंने पक्षधर मिश्र के 'तत्त्वचिन्तामणि मण्यालोक' पर 'मण्यालोकदीधिति' नाम से एक टीका लिखकर नव्य न्याय के क्षेत्र मे युग परिवर्त्तन किया। यह टीका ग्रन्थ 'दीधिति' नाम से प्रसिद्ध है और इसका मौलिक महत्त्व है। बाद मे नैयायिको ने इसी टीका ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी।

मथुरानाथ तर्कवागीश

ये रघुनाथ तर्कशिरोमणि के शिष्य थे। इनका स्थितिकाल १६ वी शताब्दी है। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर और 'दीधिति' पर दो टीकाएँ लिखी, जो 'माथुरी' नाम से प्रसिद्ध है।

जगदीश भट्टाचार्य

नवद्वीप के नैयायिको मे जगदीश भट्टाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये १७ वी शताब्दी मे हुए। इन्होंने 'दीधिति' पर एक टीका लिखी, जो 'जागदीशी' नाम से विख्यात है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्ति पर लिखी हुई इनकी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' नामक कृति इनके मौलिक पाण्डित्य का परिचय देती

है । प्रशस्तपाद के भाष्य पर इन्होने 'भाष्यसूक्ति' टीका लिखी । इसका 'तर्कामृत' और इनके अनेकों स्फुट निबन्ध भी इनके पाण्डित्य के सूचक हैं ।

गदाधर भट्टाचार्य

नव्य न्याय के क्षेत्र में जगदीश भट्टाचार्य के बाद गदाधर भट्टाचार्य का नाम एक महारथी के रूप में स्मरण किया जाता है । इनका समय भी १८वीं शताब्दी था । इन्होने 'दीधिति' पर बृहत् व्याख्या लिखी, जो 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है । नव्य न्याय के क्षेत्र मे 'जागदीशी' और 'गादाधरी' का बडा ही समान एवं प्रचलन है । इस टीका के अतिरिक्त उन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्वविवेक' पर टीका और 'तत्त्वचिंतामणि' के प्रमुख अंशो पर 'मूलगादाधरी' नामक व्याख्या लिखी । इसके अतिरिक्त इन्होने 'व्युत्पत्तिवाद', 'शक्तिवाद' आदि अनेक निबन्ध भी लिखे ।

नव्य न्याय के अन्य आचार्य

यद्यपि १५वीं शताब्दी के अन्त मे बगाल का विद्यापीठ स्थापित होकर नव्य न्याय का एकमात्र केन्द्र बना हुआ था, फिर भी इस बीच मिथिला और देश के अन्य भागो मे भी नव्य न्याय की दिशा मे निरन्तर कार्य हो रहा था । इस प्रकार के विद्वानो मे शकरमिश्र, विश्वनाथ पंचानन और अन्नंभट्ट का नाम उल्लेखनीय है । इन्हे नव्य-न्याय के नवीनयुग का प्रमुख टीकाकार भी माना जाता है ।

शंकर मिश्र

शंकर मिश्र मैथिल ब्राह्मण थे । मिथिला मे वे अयाची मिश्र के नाम से विख्यात हैं और उनके इस नाम के मूल मे एक मनोरजक कथा भी है । उनके पिता भवनाथ मिश्र न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे । शकार मिश्र का स्थितिकाल १५वीं शताब्दी था । उन्होने 'जागदीशी टीका' और 'वैशैषिकसूत्र' पर 'उपस्कर' नामक टीका बडी ही सरल भाषा मे लिखी है । ये टीकायें छात्रोपयोगी दृष्टि से बडी लोकप्रिय हैं ।

विश्वनाथ पचानन

ये बगीय ब्राह्मण थे और १७वीं श० मे हुए । उन्होने 'न्यायसूत्रवृत्ति', 'भाषा परिच्छेद' या 'कारिकावली' और उसकी टीका 'सिद्धान्त-मुक्तावली' आदि ग्रन्थ लिखे । इनके ये ग्रन्थ छात्रोपयोगी और बहुप्रचलित हैं ।

अन्नभट्ट

ये दक्षिणात्य थे । इनकी लोकप्रिय कृति 'तर्कसंग्रह' का कई दृष्टि

से महत्त्व है। वास्तव मे पिछले २५०-३०० वर्षों से विश्वनाथ पंचानन की 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' और अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह' की जितनी ख्याति रही है उतनी किसी अन्य ग्रन्थ की नही। ये दोनो कृतियाँ न्याय में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थी के लिए कुञ्जियाँ है। दोनों ही सरल, सुगम और सुबोध है। 'तर्कसंग्रह' पर ग्रन्थकर्ता की 'तर्कसंग्रहदीपिका' नामक टीका भी है। इसके अतिरिक्त अन्नंभट्ट ने पक्षधर मिश्र के 'मणयालोक' पर 'सिद्धाञ्जन' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका भी लिखी है।

न्यायसूत्र

गौतम का 'न्यायसूत्र' न्यायदर्शन का आधार है। इसकी विषय-सामग्री पाँच अध्यायों मे विभक्त है और प्रत्येक अध्याय मे दो-दो आह्निक (खण्ड) हैं।

प्रथम अध्याय मे न्याय के सोलह पदार्थों का नाम-निर्देश करने के उपरान्त प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का विवेचन, आत्मा, शरीर आदि बारह प्रकार के प्रमेयो का निरूपण, फिर संशय, प्रयोजन दृष्टान्त और सर्वतंत्र, प्रतितंत्र आदि चार प्रकार के सिद्धान्तो की व्याख्या, उसके बाद प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, तर्क, निर्णय का विवेचन, और अन्त मे वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, त्रिविध छल, जाति तथा अन्त मे निग्रहस्थान पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरा अध्याय अधिक तर्कपूर्ण है। उसमे संशय, प्रमाणचतुष्टय, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, व्यक्ति, आकृति और जाति के सम्बन्ध मे पूर्वपक्ष की शकाओं तथा आक्षेपो का युक्तियुक्त समाधान करके न्याय के पक्ष को अधिक मजबूत बनाया गया है।

तीसरे अध्याय मे आत्मा आदि बारह प्रमेयो का विस्तार से विवेचन किया गया है। उसमे नास्तिकवादी विचारको के इन्द्रियचैतन्यवाद और शरीरात्मवाद का खण्डन करके आत्मा के नित्यत्व तथा इन्द्रिय एवं विषयो की नि सारता का प्रतिपादन किया गया है।

चौथे अध्याय मे प्रवृत्ति तथा दोष का विवेचन, जन्मान्तर का सिद्धान्त, दु ख एव मोक्ष और अवयव-अवयवी आदि विषयो का निरूपण किया गया है।

पाँचवें अध्याय का विषय चौबीस प्रकार की जाति के प्रभेदो और बाईस प्रकार के निग्रहस्थान के लक्षण निर्धारित करके उनके स्वरूप को समझाया गया।

इस प्रकार यदि 'न्यासूत्र' के उक्त पाँच अध्यायों की सामग्री को विषयक्रम से विभक्त किया जाय तो उसको चार प्रमुख भागो मे रखा जा सकता है। पहले भाग मे प्रमाण सम्बन्धी विवेचन, दूसरे भाग मे भौतिक जगत् का स्वरूप, तीसरे

भाग मे आत्मा तथा मोक्ष का निरूपण और चौथे भाग मे ईश्वर-सम्बन्धी विचारो को देखा जा सकता है

पदार्थ परिचय

दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय मे अपनी-अपनी दृष्टि से जगत् जीव, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष और जन्मान्तर आदि के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार से विचार किया गया है। सभी दर्शनो का अन्तिम लक्ष्य है नि.श्रेयस की प्राप्ति। सभी दर्शनो ने इस नि.श्रेयस की प्राप्ति के लिए अलग-अलग साधन और उपाय बताये है। न्याय दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ, गौतम के 'न्यायसूत्र' मे इस नि श्रेयसिद्धि के लिए सोलह उपाय, जिन्हे 'पदार्थो' की सज्ञा दी गयी है, बताये है। वे सोलह पदार्थ है : (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) सशय, (४) प्रयोजन, (५) अवयव, (६) दृष्टान्त, (७) सिद्धान्त, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

(१)
प्रमाण विचार

ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

प्रमाण-विचार से पहले हमे यह जान लेना चाहिए कि ज्ञान का स्वरूप क्या है। ऊपर जिन सोलह पदार्थो को गिनाया गया है उनका ज्ञान प्राप्त करने से ही नि श्रेयस की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से हम घट, पट आदि वस्तुओ को पहचानने मे समर्थ होते है उसी प्रकार ज्ञान के आलोक से ही पदार्थो के वास्तविक स्वरुप का बोध होता है।

ज्ञान के प्रमुख दो भेद है : प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान को प्रमा (प्रमिति) कहते है (**यदर्थ विज्ञानं सा प्रमा**)। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसी ही समझना 'प्रमा' है। इसके विपरीत किसी वस्तु को भ्रमवश या अज्ञानवश दूसरी तरह की समझना 'अप्रमा' है। उदाहरण के लिए सर्प को सर्प समझना और सीपी को सीपी समझना 'प्रमा' है और रस्सी को सर्प समझना और सीपी मे चाँदी का भ्रम होना 'अप्रमा' है। सक्षेप मे यथार्थज्ञान को 'प्रमा' तथा अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहते है।

प्रमा के चार प्रभेद है : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। इसी प्रकार अप्रमा के भी चार प्रभेद है स्मृति, सयम, भ्रम और तर्क। प्रमा के प्रभेदो का

विवेचन आगे किया जायगा। अप्रमा का पहला प्रभेद स्मृति है। किसी बीती हुई वस्तु या घटना के अनुभव पर आधारित ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है, जो यथार्थ ज्ञान नही है। यदि यह अनुभव यथार्थ होता है तो 'स्मृति' भी यथार्थ होती है और यदि अनुभव अयथार्थ होता है तो 'स्मृति' भी अयथार्थ होती है। 'स्मृति' को यथार्थ ज्ञान इसलिए भी नही माना जाता क्योकि उससे कोई नया ज्ञान नही होता, बीते हुए अनुभव की पुनरावृत्तिमात्र होती है। 'संशय' ज्ञान संदिग्ध कोटि का होने से 'प्रमा' नही कहलाता। 'भ्रम' मे 'संशय' नही होता और उसका प्रत्यक्ष भी होता है, किन्तु उससे विषय की यथार्थता प्रकट नही होती है। 'तर्क' के द्वारा भी वस्तुओ के यथार्थ रूप की जानकारी नही हो सकती है। 'तर्क' से अनुमानित ज्ञान की पुष्टि भले ही हो सकती है, यथार्थ ज्ञान उससे भी प्राप्त नही किया जा सकता है।

ज्ञान का आधार

ऊपर हमने जिसको यथार्थ ज्ञान (प्रमा या प्रमाण) कहा है उसकी पूर्ण जानकारी 'प्रमाता' और 'प्रमेय' के बिना नही हो सकती है। ज्ञान (प्रमाण) की अपेक्षा के लिए चेतन व्यक्ति की आवश्यकता है। उसी को 'ज्ञाता' अथवा 'प्रमाता' कहा जाता है। ज्ञान का आधार होता है विषय, उसी को 'प्रमेय' कहा जाता है (**योऽर्थः तत्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्**)। ज्ञेय (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) के बिना ज्ञान का होना सभव नही है। घट, पट, अश्व आदि प्रमेय है। उदाहरण के लिए आपके आगे अश्व खडा है। इस अश्व को आप तभी अश्व समझेगे, जब कि आप, अश्व और देखना, ये तीनो हेतु एक साथ उपस्थित हो। आप 'प्रमाता' है, अश्व 'प्रमेय' है और देखना 'प्रमाण' है। ये तीनों प्रमा (ज्ञान) के हेतु है।

प्रमाण का लक्षण

प्रमाण के साथ प्रमेय और प्रमाता की क्या स्थिति है, इसको जान लेने के बाद हम प्रमाण का वास्तविक लक्षण इस प्रकार निर्धारित कर सकते है। जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है उसे 'प्रमाण' कहते है।

लौकिक पदार्थो के मान (तौल) का निर्धारण करने के लिए जिस प्रकार तुला (तराजू) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार न्याय दर्शन मे ज्ञान के सत्यासत्य निर्धारण के लिए प्रमाण पदार्थ की आवश्यकता होती है। न्याय दर्शन मे इसी लिए प्रमाण की सत्ता सर्वोपरि मानी गयी है और इसी कारण न्याय दर्शन का अपरनाम प्रमाणशास्त्र भी है।

प्रमाण के अवान्तर भेद

ऊपर हमने प्रमा के चार प्रभेद बताये है : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द । इन चारों ज्ञानो को उत्पन्न करने मे जो सब से अधिक सहायक है उसी को 'प्रमाण' कहते है । चार्वाक से लेकर वेदान्त दर्शन तक प्रमाणो पर गंभीरता से विचार किया गया है । चर्वाक ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया है। बौद्धो तथा वैशेषिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान, दो प्रमाण माने है । साख्य मे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द को प्रमाण माना गया है । मीमासा मे गुरुमत के प्रतिष्ठापक प्रभाकर मिश्र के मतानुसार पाँच प्रमाण हैं प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द तथा अनुमिति । मीमासा मे कुमारिल भट्ट और वेदान्तियो ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा शब्द, इन छह प्रमाणो को स्वीकार किया है । न्याय दर्शन मे चार प्रकार के प्रमाण माने गये है : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का लक्षण

जो वस्तु आंखो के सामने विद्यमान है, इन्द्रियाँ जिसको प्रत्यक्ष देख रही है, सामान्यत: वही 'प्रत्यक्ष' है । इसलिए उसको निर्विवाद और निरपेक्ष कहा गया है । कहा भी गया है **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानं प्रत्यक्षम्'** । अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के सयोग (सन्निकर्ष) मे उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है । इसी को यथार्थ ज्ञान कहा गया है । उदाहरण के लिए मेरे सामने जो पुस्तक है, मेरी आखे जिसको देख रही है, जिसके पुस्तक होने मे मुझे कोई सन्देह नही है, वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है ।

प्रत्यक्ष की परिभाषा मे हमने तीन बातो का उल्लेख किया है . इन्द्रिय, पदार्थ और सन्निकर्ष । इनका ज्ञान लेने के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण को बहुत कुछ स्थिति स्पष्ट हो जाती है ।

इन्द्रिय

इन्द्रियो के प्रमुख दो भेद है, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय । प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमे ज्ञानेन्द्रियो की आवश्यकता होती है । वे है आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कान । उनके द्वारा क्रमश. हमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है ।

पदार्थ

इन्द्रिय सम्बन्ध के लिए घट-पटादि वस्तुओ (पदार्थों) का होना

आवश्यक है। तभी तो हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। न्याय में सात प्रकार के पदार्थ माने गये है, जिनके नाम है : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

सन्निकर्ष

पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध या संयोग को ही 'सन्निकर्ष' कहते है। चक्षु आदि जिन पांच ज्ञानेन्द्रियो का ऊपर उल्लेख किया गया है वे विषय तक पहुँचकर उसके रूप का संस्कार लेकर लौट आते है। इसी लिए इन्द्रियों को प्राप्यकारी (विषय के संस्कार को ग्रहण करने वाली) कहा गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और पदार्थ का होना आवश्यक है। पदार्थों के साथ इन्द्रियों के संयोग को ही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' कहा गया है।

सन्निकर्ष के भेद

सन्निकर्ष के छह भेद है संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव।

(१) **संयोग** : किसी द्रव्य के साथ किसी इन्द्रिय का संयोग 'संयोग सन्निकर्ष' कहलाता है। यह संयोग टूट जाने वाला (विच्छेद्य) होता है। जैसे पुस्तक के साथ चक्षु का संयोग।

(२) **संयुक्तसमवाय** : पुस्तक के साथ या गुलाब के साथ चक्षु का संयोग 'संयोगसन्निकर्ष' हुआ। किन्तु पुस्तक के साथ उसका 'रूप' और गुलाब के साथ उसका 'गुलाबी रंग' समवेत है। उनसे भी हमारी आँखो का सन्निकर्ष होता है। यही 'संयुक्त समवाय' कहलाता है।

(३) **संयुक्तसमवेतसमवाय** किसी इन्द्रिय के साथ किसी द्रव्य की सामान्य जाति का समवेत-संयोग 'संयुक्तसमवेतसमवाय', कहलाता है। जैसे घट की जाति 'घटत्व' है। घट की इस सामान्य जाति ने उसको 'घट' से अलग कर दिया है। चक्षु के साथ घट का 'संयोग' सम्बन्ध; चक्षु के साथ 'घटरूप' का 'संयुक्त समवाय' सम्बन्ध, और चक्षु के साथ 'घट-रूप-त्व' का 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सम्बन्ध है।

(४) **समवाय** : आकाश के साथ शब्द का 'समवाय' सम्बन्ध है, क्योंकि शब्द उसका विशेष गुण है। श्रवणेन्द्रिय की उपयोगिता इसी में है कि उसके द्वारा शब्दज्ञान प्राप्त हो। इसलिए श्रवणेन्द्रिय में शब्द (आकाश) समवेत रूप में विद्यमान रहता है। अतः पदार्थ (शब्द)

के साथ श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। कान से ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

(५) **समवेत समवाय** शब्द के साथ उसका शब्दत्व (जाति) समवेत (अविच्छेद्य) रूप मे रहता है। अत समवेत पदार्थ शब्द मे, समवाय रूप मे विद्यमान 'शब्दत्व' जाति के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध को 'समवेत समवाय' सम्बन्ध कहते है।

(६) **विशेष्य विशेषणभाव** 'मेज पर पुस्तक नही है' इस वाक्य मे 'मेज' 'विशेष्य' और 'पुस्तक का न होना' (अभाव) उसका विशेषण है। यद्यपि हम वस्तु के अभाव को नही देखते, बल्कि देखते है उस अभाव युक्त आधार को, फिर भी हमारा इन्द्रिय-सम्बन्ध विशेष्य-विशेषणभाव से उस अभाव पदार्थ के साथ भी हो जाता है। अर्थात् विशेष्य (भाव) के द्वारा हम विशेषण (अभाव) का भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है।

मन और आत्मा का प्रत्यक्ष

वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए, इन्द्रिय सन्निकर्ष के अतिरिक्त मन और आत्मा का सन्निकर्ष भी आवश्यक है, क्योकि इन्द्रिय और विषय का सयोग होने पर कभी-कभी वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो पाता। इन्द्रिय और आत्मा के बीच के क्रिया-व्यापार को जोडने के लिए मन एक कडी है। विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध, इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध और मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। बाहरी विषयो को ग्रहण करके इन्द्रिया भीतर पहुँचती है और उसके बाद उनको आत्मा तक ले जाने का कार्य करता है मन। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मन और आत्मा का संयोग भी आवश्यक है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के छह कारण

न्याय के अनुसार छह ज्ञानेन्द्रियाँ है। ऊपर हमने मन के सहित जिन पाँच इन्द्रियो को गिनाया है वे ही मिलकर छह ज्ञानेन्द्रियाँ है। इन्हे ही प्रत्यक्ष ज्ञान के छह 'करण' कहा गया है। इनमे मन अन्तरिन्द्रिय और नाक, जिह्वा, आँख, त्वचा तथा कान वाह्येन्द्रिय है, जिनके द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रंग, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रकृत नैयायिको और नव्य नैयायिको ने अनेक तरह से प्रत्यक्ष के भेदो का

निरूपण किया है। किन्तु मोटे तौर से प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते है, जिनके नाम हैं लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष।

लौकिक प्रत्यक्ष

वस्तु के साथ इन्द्रिय का संयोग ही लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वह संयोग दो प्रकार से होता है : वाह्य तथा मानस। वाह्य प्रत्यक्ष आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है और मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियो के साथ मन के संयोग से होता है। इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के छह प्रकार होते हैं : चाक्षुस, श्रौत, स्पार्श, रासन, घ्राणज और मानस। यह दृष्टिकोण नव्य नैयायिकों का है।

प्राचीन नैयायिको के मतानुसार प्रत्यक्ष के दो प्रकार होते है : सविकल्प और निर्विकल्प। इन दो भेदो पर प्रथम विचार वाचस्पति मिश्र को 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' मे हुआ है। इससे पूर्व इनका उल्लेख न तो गौतम के 'न्यायसूत्र' में हुआ है और न 'वात्स्यायन भाष्य' मे ही। साख्यकारो, मीमासको और वेदान्तियो ने भी इन भेदो को स्वीकार किया है।

सविकल्प प्रत्यक्ष

सविकल्प कहते है सप्रकारक ज्ञान को **'सप्रकारक ज्ञानं सविकल्पम्'**। 'प्रकार' कहते 'विशेषण' के लिए। कोई भी वस्तु जब हमारे सामने आकार (उद्देश्य विशेष्य) और प्रकार (विधेय-विशेषण), दोनो रूपों मे विद्यमान रहती है तब उस वस्तु का जो ज्ञान हमे उपलब्ध होता है उसी को 'सविकल्प प्रत्यक्ष' कहते है। 'विद्यार्थी के हाथ मे पुस्तक है', यह सविकल्प ज्ञान हुआ। इसी को 'आख्यात' (भाषा के द्वारा अभिव्यक्त) तथा विशिष्ठ ज्ञान भी कहते है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष

निष्प्रकारक ज्ञान को 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' कहते है **'निष्प्रकारक ज्ञानं निर्विकल्पम्'**। दूसरे शब्दो मे केवल वस्तुमात्र के ज्ञान को 'निर्विकल्प' कहते है। 'घट' के साथ 'घटत्व' का ज्ञान सप्रकारक ज्ञान है, किन्तु केवल घट मात्र का ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। ऊपर के उदाहरण मे 'विद्यार्थी', हाथ' और 'पुस्तक' इस प्रकार विशेषणरहित वस्तुमात्र का ज्ञान 'निर्विकल्प' है। इसको अनाख्यात और अविशिष्ट ज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार 'सविकल्प' विशिष्ट ज्ञान है और 'निर्विकल्प' अविशिष्ट ज्ञान। अविशिष्ट (विशेषण रहित) ज्ञान के बाद ही सविशिष्ट (विशेषणयुक्त) ज्ञान को प्राप्ति होती है। इन दोनो ज्ञानो मे वस्तु की आत्मा एक ही रहता है, किन्तु

भेद इतना ही है कि निर्विकल्प मे जहाँ वह (आत्मा) अनाख्यात (अव्यक्त) रहता है, सविकल्प मे वहाँ वह आख्यात (व्यक्त) होता है ।

अलौकिक प्रत्यक्ष

नव्य नैयायिको ने अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार बताये है : सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज ।

सामान्य लक्षण

जन सामान्य की कहावत है कि मनुष्य मरणशील है । इसका आशय न तो एक मनुष्य से है और न किसी मृत व्यक्ति से ही; बल्कि भूत, भविष्य और वर्तमान मे, जितने भी मनुष्य है वे सब मरणशील है । यह सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए है । यह जो एक मनुष्य से सम्पूर्ण मनुष्य जाति का बोध होता है वह अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही सभव है । एक मनुष्य से मनुष्यत्व और मनुष्यत्वधर्मविशिष्ठ सम्पूर्ण मानवता का बोध ही सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष है ।

ज्ञान लक्षण

एक इन्द्रिय का विषय दूसरी इन्द्रिय द्वारा अनुभव होना ही 'ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष' है । यह अनुभव अतीत ज्ञान के कारण होता है । उदाहरण के लिए चन्दन के रग को देखकर हमारे मन मे उसके गध का भी अनुभव होता है । यह अनुभव इसलिए होता है, क्योंकि उसको हम पहले देख चुके है । इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण और दे देना यथेष्ट है । बहुधा हम कहते है 'बर्फ ठडी दीख रही है' । यहाँ बर्फ का ठडापन देखने का विषय, अर्थात् आँख का विषय नही है । बल्कि त्वचा का विषय है । इस प्रकार एक इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय के द्वारा अनुभव करना ही 'ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष' है ।

योगज

योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त व्यक्तियो को ही 'योगज' प्रत्यक्ष होता है । इस योगज प्रत्यक्ष के द्वारा योगी अतीत-अनागत और समीपस्थ-दूरस्थ वस्तुओ की साक्षात् अनुभूति कर लेता है ।

अनुमान प्रमाण

अनुमान का लक्षण

अनुमान का शब्दार्थ होता है पश्चाद्ज्ञान । एक बात से दूसरी बात को देख लेना (अनु + ईक्षा) अथवा एक बात को जान लेने के बाद उसी के द्वारा दूसरी बात को जान लेना (अनुमितिकरण) 'अनुमान' कहलाता है । धूम को

देखकर अग्नि के होने का ज्ञान प्राप्तकर लेना ही पश्चाद्ज्ञान है। प्रत्यक्ष वस्तु धूम के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु अग्नि का ज्ञान प्राप्तकर लेना 'अनुमान प्रमाण' का विषय है।

अनुमान के साधन

गौतम के अनुमान खण्ड पर विचार करने से पूर्व उसके अवयवों को जान लेना आवश्यक है। अनुमान के ये साधन हैं लिंग, लिंगी, साध्य, साधन (हेतु), पक्ष, व्याप्ति, व्याप्य, व्यापक, पक्षधर्मता, परामर्श और अनुमिति।

लिंग : लिंगी

'लिंग' कहते हैं चिह्न या निशान को, और यह चिह्न या निशान जिस दूसरी वस्तु का परिचायक होता है उसे कहते हैं 'लिंगी'। धूम लिंग है और अग्नि लिंगी, क्योंकि 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस वाक्य में अग्नि का परिचायक हुआ धूम और धूम से हमें जिस वस्तु के अस्तित्व का परिचय मिल रहा है वह है अग्नि।

साध्य : साधन : पक्ष

अनुमान के द्वारा हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसे 'साध्य' कहते हैं, और जिस लक्षण के आधार पर ऐसा अनुमान किया जाता है उसे कहते हैं 'साधन' (हेतु)। जिस स्थान पर साध्य और साधन का होना पाया जाता है उसे कहते हैं 'पक्ष'। अग्नि साध्य हुआ, धूम साधन और पर्वत पक्ष।

व्याप्ति : व्याप्य : व्यापक

धूम के साथ अग्नि का नित्य सम्बन्ध पाया जाता है। इसी लिए तो कहा जाता है 'जहाँ-जहाँ धुवाँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है'। धूम और अग्नि के इसी नित्य साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस व्याप्ति ज्ञान पर आगे प्रकाश डाला गया है। ऊपर के उदाहरण में आग व्यापक है और धूम व्याप्य।

पक्षधर्मता

पक्ष (स्थान = पर्वत) पर धर्म (लिंग = धूम) का पाया जाना ही 'पक्षधर्मता' कहलाती है। यदि पर्वत पर धूम का होना नहीं पाया जाता तो वहां अनुमान के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती है।

परामर्श

परामर्श कहते हैं विशिष्ट ज्ञान को। पक्षधर्मता (पर्वत और धूम) तथा व्याप्ति (धूम और अग्नि), इन दोनों के सम्मिलित ज्ञान में जो विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है उसे ही 'परामर्श' कहते हैं (**व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः**)।

अनुमिति

परामर्श के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमिति' कहते है (**परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमितिः**)। 'पर्वत पर अग्नि है' यह परामर्श ज्ञान हुआ। अनुमान प्रमाण का यही अन्तिम फल है। इसी फलोत्पत्ति को 'अनुमिति' कहते है।

अनुमान के पांच अवयव

गौतम के अनुसार अनुमान के पाँच अवयव या अंग होते हैं, जिनके नाम है प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस पंचावयवयुक्त अनुमान को ही 'पंचावयववाक्य' या 'न्यायप्रयोग' कहते है।

(१) **प्रतिज्ञा** : प्रतिपाद्य विषय को उपस्थित करना ही 'प्रतिज्ञा' कहलाती है। जैसे 'पर्वत पर अग्नि है' ऐसा कहकर पर्वत पर आग को सिद्ध किया गया है।

(२) हेतु : प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिए जिन युक्तियो (साधनो) का आश्रय लिया जाता है उन्हे 'हेतु' कहते है। ऊपर के उदाहरण मे पर्वत (पक्ष) पर अग्नि (साध्य) वर्तमान है, इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए यह युक्ति दी जायगी, क्योकि 'पर्वत मे धूम है' (**धूमकावात्**)।

(३) उदाहरण : प्रतिपाद्य (प्रतिज्ञा) के समान कोई दूसरा दृष्टान्त देना ही 'उदाहरण' कहलाता है। किन्तु इस दृष्टान्त मे हेतु और साध्य का व्याप्ति-सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसी लिए बाद के नैयायिकों को कहना पडा '**व्याप्तिप्रतिपादकं उदाहरणम्**'। जैसे 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यथा रसोईघर', इस वाक्य के 'रसोईघर' के उदाहरण मे हेतु और साध्य का व्याप्ति सम्बन्ध भी है।

(४) **उपनय** : 'उपनय' शब्द का अर्थ है अपने निकट ले आना या उपसंहार करना। प्रतिपाद्य विषय को अपने पक्ष मे ले आने के लिए हम कहेंगे 'पर्वत मे भी वही अग्निव्याप्य धूम विद्यमान है'।

(५) **निगमन** : प्रतिपाद्य (प्रतिज्ञा वाक्य) जब साध्य कोटि (असिद्ध स्थिति) से हेतु के द्वारा सिद्ध कोटि मे आ जाता है तब उसे 'निगमन कहा जाता है। अब हम 'अतः पर्वत मे धूम है' इस वाक्य को प्रतिज्ञा न कहकर 'निगमन' कहेंगे।

इस पंचावयव वाक्य का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है :

१ पर्वत मे अग्नि है : **प्रतिज्ञा**

२ क्योकि वहाँ धूम है : **हेतु**

३ जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर : **उदाहरण**

४ पर्वत मे भी उसी प्रकार का धूम है : **उपनय**

५ इसलिए पर्वत मे भी अग्नि है : **निगमन**

व्याप्ति का सिद्धान्त

ऊपर हमने 'व्याप्ति' के सम्बन्ध मे कुछ सकेत किया है। न्याय दर्शन के क्षेत्र मे 'व्याप्ति' का बडा महत्त्व माना गया है। दो वस्तुओ के नियत साहचर्य (सर्वदा एक साथ रहने) को ही 'व्याप्ति' कहते है। जहाँ दो सहचर वस्तुओ की अनियमिति (सर्वदा एक साथ न रहना) हो वहाँ 'व्यभिचार' कहा जाता है। उदाहरण के लिए धूम और अग्नि का नियत साहचर्य है, किन्तु जल और मछली दोनो वस्तुओ का सहचर-सम्बन्ध होने पर भी दोनो का एक दूसरे के बिना रहना भी पाया जाता है। इसलिए जल और मछली का व्यभिचरित (अनियमित) सम्बन्ध है। किन्तु धूम और अग्नि का अव्यभिचरित (नियत) सम्बन्ध है। इसी नियत-सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते है। इसी के अपर नाम 'एकान्तिकभाव' (एक का दूसरे के आश्रित) तथा 'अविनाभाव' (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव मे न रहना) भी है।

अनुमान के भेद

प्राचीन न्याय के अनुसार

गौतम के 'न्यायसूत्र' के अनुसार अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार होते है : पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदिष्ट। अनुमान के ये भेद व्याप्तिभेद के अनुसार है। सक्षेप मे कहा जाय तो पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान कार्य-कारण के नियत सम्बन्ध के द्वारा होते है, जब कि सामान्यतोदिष्ट मे कार्य-कारण की आवश्यकता नही होती है।

१ **पूर्ववत्** . पूर्ववत् अनुमान उसे कहते है, जिसमे भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है। न्याय मे अव्यवहित परवर्ती घटना को 'कारण' कहते है और कारण के नित्य अव्यवहित परवर्ती घटना को 'कार्य' कहते है। जैसे मेघ को जल

से भर हुआ देखकर 'बारीश होगी' यह अनुमान 'पूर्ववत्' कहा जाता है ।

२. **शेषवत्** : 'शेष' कहते 'कार्य' के लिए । जिसमे वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है उसे 'शेषवत्' कहते है । जैसे नदी की गंदली तथा वेगवती धारा को देखकर 'कही बारीश हुई है' यह अनुमान करना ।

इन दोनो अनुमान-भेदो मे साधन-साध्य के बीच कारण-कार्य तथा कार्य-कारण का सम्बन्ध दिखाया गया है

३ **सामान्यतोदिष्ट** : किसी वस्तु के साधारण रूप को देखकर उसके आधार पर उस वस्तु के परोक्ष रूप का जिसके द्वारा ज्ञान होता है उसको 'सामान्यतोदिष्ट' अनुमान कहते है । जैसे सूर्य को प्रात काल पूर्व दिशा मे देखने के पश्चात् सायंकाल को पुन पश्चिम दिशा मे देखकर यह अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य गतिशील है' । यद्यपि सूर्य की गति को हम प्रत्यक्ष नही देखते, किन्तु उसके स्थान-परिवर्तन से यह अनुमान लगा लेते है कि उसमे गति है । इसी को 'सामान्यतोदिष्ट' अनुमान कहा गया है ।

नव्य न्याय के अनुसार

नव्य न्याय के अनुसार अनुमान के तीन प्रभेद माने गये है : केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी । अनुमान के इन तीनो प्रभेदो की परिभाषाये समझने से पूर्व उनमे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो का अर्थ समझ लेना आवश्यक है ।

'अन्वय' का अर्थ होता है साथ (साहचर्य) और 'व्यतिरेक' का अर्थ होता है साहचर्याभाव या अविनाभाव (एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव मे न रहना) । 'जहाँ आग है वहाँ धूम है' यह हुआ 'अन्वय' का उदाहरण, और 'जहाँ आग नही वहाँ धूम भी नही' यह हुआ 'व्यतिरेक' का उदाहरण ।

इसी प्रकार 'पक्ष', 'सपक्ष' और 'विपक्ष' के सम्बन्ध मे भी जान लेना आवश्यक है । 'पक्ष' उसको कहते है, जिसमे साध्य का होना पहले से निश्चित न हो, जैसे 'पर्वत मे अग्नि है' इस उदाहरण मे पर्वत 'पक्ष' मे अग्नि 'साध्य' का होना पहले से निश्चित नही था । इसी साध्य (अग्नि) के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता हुई है । इसी प्रकार जिस वस्तु मे साध्य का होना निश्चित रूप से ज्ञात हो उसे 'सपक्ष' कहते है, जैसे रसोईघर

मे आग का रहना निश्चितप्राय है। जिस वस्तु मे साध्य का न होना (अभाव) निश्चत रूप से ज्ञात है उसे 'विपक्ष' कहते है, जैसे यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि पानी मे आग नही होती।

१. केवलान्वयी : जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित हो और जिसमे व्यतिरेक का सर्वथा अभाव हो वह 'केवलान्वयी' अनुमान कहलाता है। इस अनुमान मे उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति संबंध होता है। घट, पट आदि सभी वस्तुएँ इसका उदाहरण है। ऐसी कोई वस्तु नही जिसका नाम न दिया जा सके। सभी वस्तुएँ ज्ञातव्य (प्रमेय) भी है और उनके नाम भी दिये जा सकते (अभिधेय) है। 'जो अभिधेय नही है वे अज्ञेय है' ऐसा दृष्टान्त नही मिल सकता है।

२. केवल व्यतिरेकी : जिसमे साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव का व्याप्तिज्ञान से अनुमान होता है, साधन और साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नही, वह 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान कहलाता है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि जहाँ केवल व्यतिरेक का दृष्टान्त पाया जाय, अन्वय का नही, जैसे 'जो-जो आत्मावान् नही है, वे वे चैतन्यवान् भी नही है, यथा जड पदार्थ' इस वाक्य मे साधन 'चैतन्य' को पक्ष 'आत्मा' के बिना कही भी देखना-सुनना संभव नही है।

३. अन्वय व्यतिरेकी : जिसमे अन्वय'सपक्ष' और व्यतिरेक 'विपक्ष' दोनो के दृष्टान्त देखने को मिलें। इसमे व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक, दोनो की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर होता है जैसे : (१) सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् है, पर्वत धूमवान् है, अत पर्वत वह्निमान् है। (२) सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन है, पर्वत धमवान् है, अत पर्वत वह्निमान् है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास न्याय का स्वतंत्र पदार्थ है, जिसका क्रम 'वितण्डा' के बाद और 'छल' से पूर्व रखा गया है; किन्तु 'हेतु' अनुमान का आधार होने के कारण उसका विवेचन अनुमान प्रकरण मे यही पर किया जाना आवश्यक है। यदि हेतु विशुद्ध हो, दोषो से रहित हो तो अनुमान शुद्ध होता है और यदि हेतु दुष्ट हो तो अनुमान भी दूषित हो जाता है, और तब उसे 'हेत्वाभास' कहते है।

'हेतु' का लक्षण देते हुए बताया जा चुका है कि जिसमे साध्य को

सिद्ध करने की योग्यता हो वह 'हेतु' है। किन्तु जो हेतु न होने पर भी हेतु की तरह दिखायी दे, अर्थात् जिसमे साध्य को सिद्ध करने की योग्यता न हो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं **(असाधको हेतुत्त्वेनाभिमतो हेत्वाभासः)**। ऐसे दुष्ट हेतु से अनुमान मे हेत्वाभास दोष आ जाता है। प्रकृति और नव्य न्याय मे इसके पाँच-पाँच भेद बताये गये है। किन्तु उनमे परस्पर कोई अन्तर नही है। प्रकृत न्याय के सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत, इन पाँच भेदो का पर्यवसान नव्य न्याय के सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित, इन पाँच भेदो मे हो जाता है। बल्कि प्रकृत न्याय के हेत्वाभासो की अपेक्षा नव्य न्याय के हेत्वाभासो पर गंभीरता से विचार किया गया है।

१. सव्यभिचार जिस हेतु मे अव्यभिचरित (नियत) व्याप्ति न हो उसे 'सव्यभिचारी' हेत्वाभास कहते है, जैसे

सभी द्विपद बुद्धिमान् है,
हंस द्विपद है,
अतः हंस बुद्धिमान् है,

यहाँ हेतु 'द्विपद' और साध्य 'बुद्धिमान्' मे अव्यभिचारी व्याप्ति नही है, क्योंकि कुछ द्विपद बुद्धिमान् होते है और कुछ नही भी होते। इस प्रथम हेत्वाभास को 'अनैकान्तिक' भी कहते है, जैसे

सभी द्विपद् बुद्धिहीन है, जैसे कबूतर
हंस द्विपद है
अत हंस बुद्धिहीन है

यहाँ साहचर्य एकान्तरूप मे साध्य के साथ ही नही, अन्य वस्तुओ के साथ भी है।

२. विरुद्ध जिस अनुमान मे साध्य के अस्तित्व के विपरीत उसके अभाव को ही पक्ष मे सिद्ध किया जाता है वह 'विरुद्ध हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे :

शब्द नित्य है
क्योंकि वह उत्पन्न होता है

यहाँ शब्द के उत्पन्न होने से उसके नित्यत्त्व को नही, वरन् उसके अनित्यत्त्व को सिद्ध किया गया है, क्योंकि उत्पत्तिशील वस्तुयें सदा ही विनाशशील होती है, नित्य नही।

३. सत्प्रतिपक्ष जिस हेतु मे साध्य के वैपरीत्य को सिद्ध करने के

लिए दूसरा प्रतिपक्षी हेतु दिया गया हो वह 'सप्रतिपक्ष' हेत्वाभास है; जैसे .

क. शब्द नित्य है
क्योंकि इसमे अनित्य धर्म नही है
ख. शब्द अनित्य है
क्योंकि इसमे नित्यधर्म नही है

यहाँ प्रथम अनुमान मे हेतु 'अनित्यधर्म' के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गयी है, किन्तु दूसरे अनुमान मे हेतु 'नित्यधर्म' के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गयी है। यहाँ दूसरे अनुमान का हेतु ठीक है, इसलिए उसके द्वारा पहले अनुमान का हेतु खण्डित हो जाता है।

४. **असिद्ध** : जहाँ हेतु की वास्तविकता अनिश्चित हो उस अनुमान को 'असिद्ध' हेत्वाभास कहते है, जैसे .

आकाश का कमल सुगन्धित है
क्योंकि वह कमल है
जो कमल है वह सुगन्धित होता है
. जैसे तालाब मे उगनेवाला कमल

यहाँ 'आकाश का कमल' पक्ष है, 'सुगन्धित' साध्य है, 'कमल है' हेतु है और 'तालाब मे उगने वाला कमल' दृष्टान्त है। हेतु का पक्ष मे रहना आवश्यक बताया गया है, किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो पक्ष है उसी का होना असभव है, क्योकि आकाश मे फूलो का होना सभव नही है। अत उसमे हेतु का रहना भी कल्पनामात्र है और इसलिए वह सुगन्धित भी नहीं हो सकता है।

५. **बाधित** जिस अनुमान मे आधारित प्रमाणो के द्वारा पक्ष मे साध्य का होना बाधित अर्थात् सिद्ध न हो उसको 'बाधित' हेत्वाभास कहते है, जैसे .

आग गरम नही है
क्योकि वह उत्पन्न होती है
जैसे जल

यहाँ 'गरम नही है' यह साध्य है और 'उत्पन्न होना' उसका हेतु है। यह अनुमान गलत है, क्योकि आग गरम होती है, इस बात को सभी प्रत्यक्ष जानते है। इसलिये यहाँ प्रमाण के द्वारा पक्ष मे साध्य का होना सिद्ध नही होता है।

उपमान प्रमाण

उपमान कहते है समानधर्म, सारूप्यता या समानजातीयता को। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से किसी न जानी हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' प्रमाण है। काव्यशास्त्र की भाषा मे कहा जाय तो कहना चाहिए कि किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' है। उदाहरण के लिए हमने गाय तो देखी है, किन्तु नीलगाय नही देखी है। कोई जंगल का रहने वाला व्यक्ति आप से जब कहता है कि नीलगाय, ठीक गाय जैसी ही होती है, तब आप जगल मे जाकर उसी आकार-प्रकार का पशु देखकर यह समझ जाते है कि यही नीलगाय है। ऐसा ज्ञान उपमान प्रमाण के द्वारा होता है।

उपमिति

उपमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'उपमिति' कहते है, अर्थात् एक वस्तु की उपमा या समानता के द्वारा दूसरी वस्तु का जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'उपमिति' कहते है। उपमिति फल है और उपमान कारण। ऊपर के उदाहरण मे गाय वाचक है और नीलगाय वाच्य। घर पर देखी हुई गाय के आधार पर जगल मे हमे जिस नीलगाय का बोध होता है वही वाचक (उपमान = गाय) का फल है।

शब्द प्रमाण

शब्द का स्वरूप

हमारी श्रवणेन्द्रिय जिस अर्थ या विषय को ग्रहण करती है वही 'शब्द' है। शब्द 'वाचक' है, क्योंकि वह वस्तु का संकेत है। शब्द दो प्रकार का होता है ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक। जो शब्द ध्वनि प्रधान होती है वह 'ध्वन्यात्मक' और जो शब्द वर्णों के द्वारा उच्चरित होता है वह 'वर्णनात्मक' कहलाता है। शंख का शब्द ध्वन्यात्मक का और मनुष्य की वाणी वर्णनात्मक शब्दो का उदाहरण है। यह वर्णनात्मक शब्द भी 'सार्थक' और 'निरर्थक' भेद से दो प्रकार का होता है। 'गाय', 'पुस्तक' आदि शब्द सार्थक है और बच्चो की किलकारियाँ निरर्थक। न्याय मे सार्थक शब्द के अनेक प्रभेद बताये गये है।

शब्द संकेत

ऊपर हमने शब्द को वस्तु का संकेत कहा है। 'गाय' तथा 'गमन' आदि

संज्ञा तथा क्रिया शब्दो को कहने से जो अर्थबोध होता है उसी को 'संकेत' कहते हैं। शब्दो की इस अर्थबोध शक्ति (सकेत) को मीमासक नैसर्गिक तथा नित्य मानते है, किन्तु नैयायिकों की ' ष्टि से शब्द और अर्थ, दोनों में कृत्रिम संबंध है। यह शब्द-सकेत भी दो प्रकार का माना गया है : आजानिक और आधुनिक। आजानिक शब्द सकेत उसको कहते है जो अज्ञातकाल मे चला आ रहा है और आधुनिक सकेत उसको कहते है ; जो इच्छानिर्मित है। 'घट' शब्द को कहने से हमे जिस पात्र विशेष का बोध होता है वह परम्परा मे अज्ञात रूप मे चला आ रहा है, किन्तु अपने नवजात बच्चे का 'देवदत्त' यह नामकरण इच्छानिर्मित है।

शब्द का लक्षण

गौतम ने कहा कि आप्त व्यक्ति का उपदेश ही 'शब्द प्रमाण' है (**आप्तोपदेशः शब्द**)। गौतम के इस सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि प्रत्यक्ष अनुभव मे किसी विषय को जो जानकारी प्राप्त होती है उसे 'आप्ति' कहते हैं। इस दृष्टि से आप्त व्यक्ति वह हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी पदार्थ का स्वयं साक्षात किया है। ऐसा व्यक्ति, दूसरो के उपकार के लिए जो कुछ भी कहता है वह माननीय है, प्रामाणिक है। इसलिए शब्द प्रमाण न तो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है और न अनुमान की ही कोटि मे। न्याय मे उसको स्वतत्र प्रमाण माना गया।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ

यह शब्द प्रमाण दो प्रकार का माना गया है : दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ कहते है प्रत्यक्षदृष्ट, अर्थात् लौकिक। उदाहरण के लिए हाँडी का एक चावल देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि सभी चावल पक गये है। इसी प्रकार कुछ आप्त वाक्यो की प्रत्यक्ष सत्यता देखने के बाद अन्य वाक्यो की सत्यता पर विश्वास हो जाता है। अदृष्टार्थ कहते है पारलौकिक को। वैदिक वाक्य इसके उदाहरण है, क्योंकि उनका अर्थ लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नही होता। नैयायिको और वैशेषिको का कथन है कि वेद आप्त वाक्य होने के कारण प्रामाणिक है। आप्त वाक्य, अर्थात् ईश्वरप्रणीत। न्याय वैशेषिक मे इसी दृष्टि से वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है। महात्माओं की विश्वासयोग्य बातें, धर्माचार्यों के वचन, न्यायालय मे साक्षियो का कथन, धर्मग्रन्थो के विधान—ये सभी अदृष्टार्थ के अन्तर्गत आते है। यह अदृष्टार्थ तीन प्रकार का माना गया है . विधिवाक्य (आज्ञासूचक वाक्य), अर्थवाद (वर्णनात्मक वाक्य) और अनुवाद (अनुवचन वाक्य)।

पद और वाक्य

शब्द प्रमाण के लक्षण मे आप्तोपदेश का उल्लेख किया गया है। यह आप्तोपदेश कथित अथवा लिखित वाक्यो के द्वारा प्रकट किया जाता है। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। न्याय की दृष्टि से पद और वाक्य की क्या स्थिति है, इसको समझना आवश्यक है।

पद का स्वरूप और उसके भेद

जिस शब्द मे किसी अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है उसको 'पद' कहते है। 'गो' एक पद है। यह एक मूर्तिमान अर्थात् द्रव्य व्यक्ति है। इसकी अपनी आकृति (स्वरूप) है और उससे जाति (गोत्व) विशेष का बोध होता है। इसलिए नैयायिको की दृष्टि से पद के द्वारा व्यक्ति, आकृति और जाति, इन तीनों का बोध होता है।

रूढ . यौगिक : योगरूढ़

यह 'पद' अवयवार्थ (व्युत्पत्ति के अधीन) और समुदयार्थ (वर्ण समुदाय के अधीन) भेद से तीन प्रकार का होता है . रूढ, यौगिक और योगरूढ। जिस पद का प्रयोग (प्रकृति) वर्ण समुदाय के अधीन होता है वह 'रूढ', जिस पद का प्रयोग व्युत्पत्ति के अधीन होता है वह 'यौगिक' और जिस पद का प्रयोग कुछ तो वर्णों के अधीन और कुछ व्युत्पत्ति के अधीन होता है वह 'योगरूढ' कहा जाता है। 'घट' पद 'घ' और 'ट' इन दो वर्णो के समुदाय से एक विशिष्ट अर्थ का द्योतन करता है। अत वह 'रूढ' है। 'दाता' पद 'दा' धातु से 'तृच' प्रत्यय योजित करने से व्युत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति के अधीन है। अत. यौगिक है। इसी प्रकार 'पंकज' पद 'योगरूढ' दोनो है । पक + ज (कीचड मे उत्पन्न) यह उसका यौगिक (व्युत्पन्न) अर्थ है, और वह कमल जो शुष्क स्थल मे उगता है उसे भी 'पकज' कहा जाता है, यह उसका रूढार्थ (वर्णसमुदयार्थ) हुआ।

वाक्य

पदो के समूह का नाम वाक्य है (**वाक्यं पदसमूहः**) । इस वाक्य से जिस अर्थ का प्रकाश होता है उसे 'शाब्दबोध' कहते है। शब्दो मे अर्थबोध कराने की जो क्षमता है उसे शब्दो की शक्ति कहा जाता है। न्याय के अनुसार यह शक्ति ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। किस शब्द से कौन अर्थ समझना चाहिए, यह ईश्वर ने ही निश्चित किया है ।

वाक्यार्थबोध के नियम

प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य का आशय समझने के लिए चार बातो की आवश्यकता बतायी गयी है; जिनके नाम है . आकाक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य ।

१. **आकांक्षा** : पदो की परस्परापेक्षा को 'आकाक्षा' कहते है । दूसरे पद के उच्चारण हुए बिना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ मे नही आता तो ऐसे पदो के परस्पर सम्बन्ध को ही 'परस्परापेक्षा' कहते है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति कहता है 'देवदत्त', तो सुनने वाले के मन मे प्रश्न होता है 'देवदत्त क्या ?' । इस प्रकार की आकांक्षा की निवृत्ति तब होती है जब कहा जाता है 'पढता है' । 'देवदत्त पढता है' कहने से एक सार्थक वाक्य बन जाता है और तब आकाक्षा पूरी हो जाती है ।

२. **योग्यता** : पदो के सामंजस्य (ठीक संगति) को 'योग्यता' कहते है। अर्थात् पदो के द्वारा जिन वस्तुओ का अर्थबोध होता है उसमे किसी प्रकार का विरोध नही होना चाहिए । जैसे 'आग मे पेड सीचो' इस वाक्य मे पदो की ठीक सगति नही है, क्योकि पेडो को आग से नही पानी से सीचा जाता ह ।

३. **सन्निधि** : पदो के व्यवधानरहित (निकटवर्ति) प्रयोग को 'सन्निधि' कहते है । इसको 'आसत्ति' भी कहते है । यदि किसी वाक्य का एक शब्द प्रात:, दूसरा मध्याह्न और तीसरा सायकाल कहा जाय तो उस वाक्य से कोई संबद्ध अर्थ का बोध नही हो सकता है । 'देवदत्त-पुस्तक-पढता है' इस वाक्य के एक-एक पद को यदि एक-एक दिन मे कहा जाय तो उनसे वाक्य नही बन सकता है । इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिए 'सन्निधि' की आवश्यकता बतायी गयी है ।

४. **तात्पर्य** : नव्य नैयायिको ने शाब्दबोध के लिए तात्पर्य की अनिवार्यता बतायी है । तात्पर्य कहते है वक्ता के अभिप्राय को । प्रकरण के अनुसार प्रत्येक शब्द का वक्ता की इच्छा(विवक्षा) को दृष्टि मे रखकर ही अर्थबोध होता है । भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' इस वाक्य का आशय वक्ता के अभिप्राय (तात्पर्य) को ध्यान मे रखकर 'नमक लाओ' यह अर्थ ग्रहण किया जायगा, न कि 'घोडा लाओ' । इसी प्रकार वैदिक मत्रों को समझने के लिए मीमासा के निर्देशो का तात्पर्य जानना आवश्यक बताया गया है ।

(२)

प्रमेय विचार

लक्षण और प्रकार

न्याय दर्शन मे प्रमाण के बाद प्रमेय पदार्थ का निरूपण किया गया है। प्रमेय-विचार न्याय का महत्त्वपूर्ण अग है । प्रमा (ज्ञान) का जो विषय है उसे ही 'प्रमेय' कहा जाता है। (**प्रमाविषयत्व प्रमेयत्वम्**) । वात्स्यायन के शब्दो मे कहा जाय तो 'जिस वस्तु का तत्त्व जाना जाय वही 'प्रमेय' है (**योऽर्थः तत्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्**) यह अर्थ निकलता है। गौतम के 'न्यायसूत्र' मे प्रमेय प्रदार्थ के १२ प्रकार बताये गये है, जिनके नाम है : १–आत्मा, २–शरीर, ३–इन्द्रिय, ४–अर्थ, ५–बुद्धि, ६–मन, ७–प्रवृत्ति, ८–दोष, ९–प्रेत्यभाव, १०–फल, ११–दु ख और १२–अपवर्ग ।

१. आत्मा

आत्मा का स्वरूप

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा निराकार है। वह स्पर्शादिगुण रहित ज्ञान अथवा चैतन्य का अमूर्त आश्रय है। वह देश-काल के बन्धनो से मुक्त और सीमातीत है। इसीलिए 'सर्वदर्शन सग्रह' मे उसको विभु और नित्य कहा गया है

अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः ।
तन्नित्यं विभुचेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥

वह निरवयव (वृद्धि-ह्रास-रहित) है, उत्पत्ति रहित होने कारण अनादि है और नाशरहित होने कारण अनन्त है।

यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि जिस वस्तु को हम छूते है, उसको देखते भी है। तभी तो हमे प्रत्येक वस्तु की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि देखना तथा स्पर्श करना आदि जो भिन्न-भिन्न ज्ञान है उनका ज्ञाता एक ही है। उसी एकमेव ज्ञाता को किसी ने शरीर, किसी ने मन, किसी ने इन्द्रिय और किसी ने बुद्धि कहा है, किन्तु नैयायिको ने उस पृथक् सत्ता को आत्मा माना है। नैयायिको के अनुसार जो स्थिति रथ को हाँकने वाले सारथी की होती है वही स्थिति शरीर को संचालित करने वाले आत्मा की है। वही आत्मा सभी इन्द्रियों का उपभोक्ता है। आत्मा और इन्द्रियो के बीच सदेशवाहन करने का कार्य

मन करता है। बुद्धि, आत्मा का गुण है। अतएव आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अलग है (**शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्य. पृथगात्मा विभुर्ध्रुव.**)।

इस ससीम शरीर के साथ असीम आत्मा का सयोग पूर्व कर्मो के फल का उपभोग करने के निमित्त होता है (**पूर्वकृत् फलानुबन्धात्**)। इसीलिए न्याय मे शरीर को आत्मा का भोगायतन (भोग का आश्रम) कहा गया है (**आत्मनो भोगायतनं शरीरम्**)।

जीवात्मा और परमात्मा

आत्मा का जो स्वरूप ऊपर बताया गया है वह वेदान्त से प्राय मिलता है, किन्तु वेदान्त और न्याय का इस सम्बन्ध मे अलग-अलग मत है। वेदान्त एकात्मवादी दर्शन है और न्याय अनेकान्तवादी। वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जो उपाधि-भेद से प्रत्येक जीव मे अलग-अलग दृष्टिगोचर होती है, किन्तु न्याय और साख्य का अभिमत है कि प्रति शरीर मे अलग-अलग आत्मा का निवास है।

आत्मा के भेद

न्याय मे आत्मा के दो भेद माने गये है . जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा अनेक है और प्रत्येक शरीर मे वह भिन्न-भिन्न है। आत्मा शब्द का जहाँ भी प्रयोग हुआ है वह जीवात्मा से ही सम्बन्धित है। जहाँ जीवात्मा अनेक है वहाँ परमात्मा एक है। जीवात्मा के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान—ये छह गुण (लिग) है। जीवात्मा मे ये गुण तभी तक बने रहते है, जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष नही प्राप्त कर लेता। मोक्ष के बाद वह शान्त, निर्विकार, जड और संज्ञाशून्य हो जाता है।

२. शरीर

ऊपर बताया गया है कि शरीर आत्मा के भोग का आश्रय (भोगायतन) है, किन्तु वह नाशवान् है। 'शरीर' नाम ही उसका इसलिए पडा कि वह अनुक्षण क्षीयमाण है। न्याय मे शरीर के दो प्रकार बताये गये है: योनिज और अयोनिज। योनिज शरीर के अन्तर्गत मनुष्य, पशु, पक्षी आदि और अयोनिज शरीर के अन्तर्गत तैजस, वायव्य आदि की गणना की गयी है। उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज नाम से इस पार्थिव शरीर के चार भेद और किये गये है।

३. इन्द्रिय

इन्द्रियाँ, विषय का उपभोग करने का साधन है। वे शरीर के अवयव है। वे स्वतः प्रकाश्य नही है; बल्कि जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती है उसका प्रकाशन करती है। उदाहरण के लिए नेत्रेन्द्रिय का विषय है देखना। नेत्रो से हम देख सकते है, किन्तु नेत्रेन्द्रिय को नही देख पाते। इसीलिए उनको 'अतीन्द्रिय' कहा गया है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती है : ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। नाक, जीभ, आँख कान और चर्म—इन पाँच इन्द्रियो के सहित मन संयुक्त होकर उन्हे ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। हाथ, पैर, कण्ठ, मलद्वार और जननेन्द्रिय, ये कर्मेन्द्रिय कहलाती है। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-प्राप्ति और कर्मेन्द्रिय कर्माचरण का साधन है।

४. अर्थ

इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण होता है उसे 'अर्थ' कहते है। नेत्र, रसना, घ्राण, त्वचा और श्रोत्र, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा क्रमशः रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द का अर्थ ग्रहण होता है। इन्द्रियों का विषय होने के कारण इन्हे 'अर्थ' कहा जाता है।

५. बुद्धि

बुद्धि, आत्मा का गुण है। वह आत्मा का प्रकाश है। उससे आलोकित होकर समस्त पदार्थो मे आत्मा का परिचय होता है। इसलिए, जिसके द्वारा आत्मा को किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो वही 'बुद्धि' है (**बुद्ध्यते अनया इति बुद्धि**)। इसके प्रमुख दो भेद है : नित्या (परमात्म बुद्धि) और अनित्या (जीवात्म बुद्धि)। अनित्या बुद्धि के भी कई अवान्तर भेद होते है।

६. मन

न्याय मे 'मन' प्रमेय का बारीकी से विवेचन किया गया है। किन्तु यहाँ उसका सामान्य परिचय प्रस्तुत करना ही अभिप्राय है। मनन करने वाले साधन को 'मन' कहा जाता है। मनन अर्थात् सोचना-विचारना आदि। यह मन, इन्द्रिय और आत्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला एक माध्यम है। इसलिए वह बाह्य और आभ्यन्तर, दोनो प्रकार की इन्द्रियो से संबद्ध है। किन्तु उसकी विशेषता इसमे है कि वह अस्पृश्य, अदृष्ट होते हुए भी क्रियाशील है। वह अनुमान-सिद्ध है।

वह इतना द्रुतगामी है कि एक बार एक विषय पर अधिष्ठित रहता हुआ भी तरंगस्थ जलबिन्दु की भाँति अपने अस्तित्व को विलय कर के हमारे भीतर के अनेकत्व एवं पूर्वापर का भेद मिटा देता है, और इसीलिए हम रोटी खाते समय उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श का एक साथ अनुभव करते हैं।

७. प्रवृत्ति

किसी कार्य को करने की इच्छा से तदनुकूल जो यत्न किया जाता है उसी को न्याय मे 'प्रवृत्ति' कहा गया है। किसी कार्य को करने के लिए प्रथम तो उसके फल का हमे ज्ञान होता है, तब उस फल को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तदनन्तर उस इच्छापूर्ति के लिए उपाय सूझते है, फिर उन उपायो को क्रियान्वित करने की अभिलाषा का उदय होता है और अन्त मे जाकर उस कार्य को सपन्न करने कि प्रवृत्ति होती है। ये प्रवृत्तियाँ शारीरिक, मानसिक और वाचिक भेद से तीन प्रकार की होती ।

८. दोष

जो कार्य किसी कारणविशेष के प्रलोभन से किया जाता है वह 'दोष' कहलाता है। वह दोष, राग (आसक्ति), द्वेष (विरक्ति) और मोह (भ्राति) रूप से तीन प्रकार का होता है।

९. प्रेत्यभाव

मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म होने को ही 'प्रेत्यभाव' (**प्रेत्य = मृत्वा, भावो = जननम्**) कहते हैं (**मरणोत्तरं जन्म प्रेत्यभाव**)। आत्मा जब पुराने शरीर को छोडकर नये शरीर मे प्रवेश करता है, तब उसी अवस्था को पुनर्जन्म या प्रेत्यभाव कहते है।

१०. फल

किसी कार्य के अन्तिम परिणाम को ही 'फल' कहते है। वह दो प्रकार का होता है : मुख्य और गौण। धार्मिक कार्यों के सम्पादन से जो सुख होता है वह उस कार्य का मुख्य फल और पुत्रादि की प्राप्ति से जो सुख होता है वह गौण फल कहलाता है।

११. दुःख

प्रतिकूल प्रतीति को ही 'दुःख' कहते हैं। जिससे किसी को पीड़ा या क्लेश हो और जो बुरा लगे वही 'प्रतिकूल' है। यह दुःख ही वस्तुतः समस्त दार्शनिक दर्शनों की विचारधाराओं का मूल कारण रहा है। इसलिए सभी दर्शनों में, यहाँ तक कि नास्तिक दर्शन-संप्रदायों में भी, दुःख पर गंभीरता से विचार किया गया है। नैयायिकों के मत से दुःख के ये २१ भेद हैं: शरीर–१, इंद्रियाँ–६, विषय–६, प्रत्यक्ष–६, सुख–१, दुःख–१।

१२. अपवर्ग

अपवर्ग का स्वरूप

अपवर्ग कहते हैं मोक्ष के लिए। इसी के अपरनाम हैं 'निःश्रेयस', 'चरमदुःखध्वंस' या 'आत्यन्तिक दुःखाभाव'। उक्त इक्कीस प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति (समूलनाश) का नाम ही मोक्ष है (**आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः मोक्षः**)। यह आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति (मोक्ष) दो प्रकार की है अपरामुक्ति और परामुक्ति। तत्त्वज्ञान के द्वारा समस्त दोषों का नाश हो जाने के बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है वह 'अपरा' है। यह अवस्था 'जीवन्मुक्त' कही जाती है। नाना योनियों में क्रमशः जन्म धारण कर अन्त में जो अवस्था प्राप्त होती है उसी को 'परा' कहते हैं।

मुक्ति के उपाय

न्याय में मुक्ति के अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें प्रमुख हैं: शास्त्र अध्ययन, योग में वर्णित धारणा, ध्यान, समाधि का आश्रय और निष्काम भाव से कर्मों का अनुष्ठान। इन उपायों से इक्कीस प्रकार के दुःखों का क्षय होकर जीवात्मा को अपवर्ग की सिद्धि होती है।

(३)
संशय

लक्षण

मन की उस अवस्था का नाम संशय है, जिसमें वह नाना कोटिक विरुद्ध ज्ञानों के बीच झूलता रहता है और उनमें किसी एक का निश्चय नहीं कर पाता। उसका लक्षण विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है:

एकस्मिन् धर्मणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानं संशयः
विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः
अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः
दोलायमाना प्रतीतिः संशयः

दर्शन शास्त्र मे संशय को ज्ञानोपलब्धि का प्रयोजन बताया गया है (**सशय ज्ञानप्रयोजनः भवति**) । संशय के बिना जिज्ञासा का होना असंभव है, और जब जिज्ञासा ही न होगी तो ज्ञान-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नही उठता है ।

सशय के भेद

यह संशयावस्था पाँच प्रकार की बतायी गयी है : १ समानधर्मोपपत्तिमूलक, जैसे : यह मनुष्य है या स्थाणु ? २ अनेकधर्मोपपत्तिमूलक; जैसे : शब्द नित्य है या अनित्य ? ३. विप्रतिपत्तिमूलक, जैसे आत्मा है या नही ? ४ उपलब्ध्य-व्यवस्थामूलक, जैसे : प्रतीयमान वस्तु सत्य है या असत्य ? और ५. अनुपलब्ध्य-व्यवस्थामूलक, जैसे : अमुक वस्तु दिखायी नही दे रही है या वह है ही नही ?

सशय और विपर्यय

विपर्यय कहते है मिथ्या ज्ञान को । सीप को चाँदी और रज्जु को सर्प समझ लेना मिथ्या ज्ञान है । किन्तु संशय तो दो वस्तुओ की सर्वथा अनिश्चयात्मक स्थिति है । वह न तो ज्ञान (प्रमा) है और न मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) ही ।

संशय और ऊह

सशय मे दो कोटियाँ संदिग्ध रहती है, किन्तु ऊह मे एक कोटि प्रबल होती है । ऊह वस्तुत सशय और यथार्थ के बीच की अवस्था है । संदिग्धावस्था के अनेक कोटिक ज्ञान को किसी एक निश्चित अवस्था मे निर्धारित करने के लिए जो स्फुरणाये (विचार) पैदा होती है उन्ही का नाम 'ऊह' है ।

सशय और अनध्यवसाय

अनध्यवसाय कहते है विस्मृति या अन्यमनस्कता को । 'शायद मैने अमुक वस्तु को कही देखा था' इस अधूरे विस्मृत ज्ञान को 'अनध्यवसाय' कहते है, जिसकी निवृत्ति ध्यान या स्मृति मे हो जाती है । किन्तु संशय की निवृत्ति होती ही नही है ।

(४)
प्रयोजन

स्वरूप : लक्षण

जिस विषय को उद्देश्य मानकर किसी कार्य को करने मे प्रवृत्ति होती है

उसे 'प्रयोजन' कहते (**यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्**)। 'प्रयोजन' शब्द का सामान्य अर्थ है इच्छित वस्तु की संप्राप्ति। लोक मे भी देखा गया है कि बिना प्रयोजन मन में किसी कार्य का करने की अभिलाषा उत्पन्न नही होती है (**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**)। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए जिन बातो की अपेक्षा होती है उनके नाम है : १. कार्यता ज्ञान (कार्यसपादन-बोध), २. चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा), ३. कृति साध्यता ज्ञान (कार्य सपादन विधिज्ञता), ४. प्रवृत्ति (प्रयोजनसिद्धि के लिए कार्य मे पूर्ण संलग्नता) और ५ चेष्टा (देहेन्द्रिय व्यापार)।

प्रयोजन और प्रयोज्य

'प्रयोजन' के लिए 'प्रयोज्य' की आवश्यकता होती है। ये दोनो शब्द सापेक्ष्य है। उदाहरण के लिए रोटी खाने का प्रयोजन है भूख का शान्त हो जाना। यहाँ रोटी खाने का व्यापार 'प्रयोज्य' है और भूख-शान्ति प्रयोजन। किन्तु यही क्रिया-व्यापार एक कार्य का प्रयोजन और दूसरे कार्य का प्रयोज्य हो सकता है।

प्रयोजन के भेद

प्रयोजन के दो प्रमख भेद है मुख्य और गौण। जीव का मुख्य प्रयोजन होता है मोक्ष, जिसे परम पुरुषार्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जो प्रयोजन इच्छापूर्ति का साधनमात्र होता है उसे 'गौण' कहा जाता है। यह गौण प्रयोजन भी दो प्रकार का होता है दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट प्रयोजन कहते है पुत्रागार-धनादि की प्राप्ति के लिए और अदृष्ट प्रयोजन कहते है स्वर्ग प्राप्ति के लिए। ये दोनो प्रयोजन आत्यन्तिक सुख के कारण न होने पर 'गौण' कहे गये है।

(४)
अवयव

पदार्थानुमान के विभिन्न अंगो को 'अवयव' कहते है। वह पाँच प्रकार का होता है : प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अवयव के इन पाँचों भेदो का निरूपण अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इन अवयवो की सख्या के सम्बन्ध मे मतान्तर है। बौद्ध दार्शनिको के मतानुसार हेतु तथा दृष्टान्त, दो अवयव है। इसी प्रकार जैनियो ने तीन, साख्यकारो ने तीन, मीमासको ने तीन, वैशेषिककारो ने पाँच और वेदान्तियो ने तीन अवयव माने है। नैयायिको ने उपर्युक्त तर्क देकर अपने पक्ष मे पाँच अवयवो की अनिवार्यता को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रमाणित किया है।

प्रमाणचतुष्टय में पंचावयवों का पर्यवसान

प्रमाणचतुष्टय के सम्बन्ध मे वात्स्यायन ने एक नया सिद्धान्त स्थापित करके यह सिद्ध किया है कि ये पाँच अवयव प्रमाणचतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) मे ही पर्यवसित हो जाते है। उनको इस प्रकार समन्वित किया गया है

१ 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि भी है, जैसे 'महानस'

—प्रत्यक्ष प्रमाण और उदाहरण अवयव

२. 'क्योकि पर्वत धूमवान् है'

—अनुमान प्रमाण और हेतु अवयव

३ 'इसी प्रकार यह पर्वत भी धूमवान् है'

—उपमान प्रमाण और उपनय अवयव

४ 'पर्वत वह्निमान् है'

—शब्द प्रमाण और प्रतिज्ञा अवयव

५. इस प्रमाणचतुष्टय का जो निष्कर्ष (फल) है वही 'निगमन' अवयव (अन्तिम निष्पत्ति) है।

इन अवयवो की तर्क जगत् के लिए क्या सार्थकता है, इस पर भी न्याय दर्शन मे, युक्तियाँ देकर प्रतिपादन किया गया है।

(६)

दृष्टान्त

काव्यशास्त्र मे 'दृष्टान्त' को एक अलंकार मानकर काव्य प्रेमियो एवं काव्याचार्यो के लिए कविता का एक सौन्दर्य स्वीकार किया गया है, किन्तु दर्शन मे उसके सूक्ष्म स्वरूप पर विचार किया गया है। न्याय मे उसका लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'व्याप्ति-संवेदन भूमिका का नाम 'दृष्टान्त' है' (व्याप्तिसंवेदनाभूमिर्दृष्टान्तः)। इसी बात को सरल ढग से कहा जाय तो 'दृष्टान्त' उसको कहते है जिसको देखने से किसी बात का निश्चय हो जाय। इस अभिमत से तार्किक और कविताचार्य दोनो सहमत है। जैसे धूम और अग्नि के साहचर्य या संबध का उदाहरण है रसोईघर या यज्ञशाला। दृष्टान्त के दो भेद किये गये है . साधर्म्य (अन्वय का उदाहरण, जैसे रसोई घर मे धूम तथा अग्नि का साहचर्य) और वैधर्म्य (जैसे व्यतिरेक का उदाहरण जल मे धूम तथा अग्नि का अभाव है)।

(७)
सिद्धान्त

स्वरूप

जिसके द्वारा किसी विवादास्पद विषय का अन्त हो जाय उसी का नाम 'सिद्धान्त' है (**सिद्धः अन्त निश्चयः येन स सिद्धान्तः**) । अथवा माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' के अनुसार कहा जा सकता है कि 'जो विषय प्रामाणिक कहकर स्वीकार किया जाय उसी का नाम 'सिद्धान्त' है (**प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः**) । सिद्धान्त के सम्बन्ध में जैन-बौद्धों के साथ नैयायिकों का मतभेद है ।

भेद

सिद्धान्त के चार भेद माने गये हैं १ सर्वतंत्र २ प्रतितंत्र, ३ अधिकरण और ४ अभ्युपगम । 'सर्वतंत्र सिद्धान्त' उसको कहते हैं, जिसको सब शास्त्र स्वीकार करते हैं, 'परतंत्र सिद्धान्त' वह है, जिसको कुछ शास्त्र तो मानें, किन्तु कुछ न मानें, 'अधिकरण सिद्धान्त' उसको कहते हैं, जिसके मान लिये जाने पर अन्य कई अधीनस्थ विषयान्तर भी स्वयमेव मान लिये जाते हैं, और 'अभ्युपगम सिद्धान्त' वह है, जिसके अनुसार किसी अपरीक्षित वस्तु को विचारार्थ स्वीकार किये जाने के बाद पुन अपरीक्षित सिद्धान्तों के विचारार्थ स्वत भूमिका तैयार हो जाती है ।

(८)
तर्क

स्वरूप लक्षण

व्याप्य का आरोप हो जाने पर व्यापक का जो आरोप है वही 'तर्क' है (**व्याप्यारोपे व्यापकारोपस्तर्क**) । उदाहरण के लिए 'जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का भी अभाव होता है' इस वाक्य में 'अग्नि का अभाव' इस व्याप्य में 'धूम का अभाव' इस व्यापक का आरोप किया गया है । यहाँ अग्न्यभाव का मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर ही धूमाभाव का भी मिथ्यात्व सूचित हुआ है । यही 'तर्क' है । तर्क का उद्देश्य यही है कि उसके द्वारा विपक्षी के मण्डनात्मक आधारों का उन्मूलन करके अपने पक्ष को प्रतिपादित किया जाय । इसी लिए उसको 'अनुग्राहक' भी कहा गया है ।

गौतम ने 'तर्क' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जिस वस्तु का तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान) प्राप्त नही है उस वस्तु का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए, कारण का आश्रय लेकर जो एक पक्ष की सभावना (ऊह) की जाती है वही 'तर्क' है **(अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः)**

किसी वस्तु का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु के प्रति पहले मन मे जिज्ञासा पैदा होती है, तदनन्तर जिज्ञासु के समक्ष उस वस्तु के दो विभिन्न पक्ष उपस्थित होकर सशय को जन्म देते है। इसी सदिग्धावस्था का, कारण की उत्पत्ति करके, तर्क द्वारा समाधान किया जाता है। यही नैयायिको की तर्क-प्रणाली है। इस तर्क-प्रणाली द्वारा किसी नियम को प्रतिपादित करने के दो तरीके है :

१. अपने पक्ष को लेकर युक्तियो द्वारा उसकी पुष्टि करना

२. विपक्ष को लेकर युक्तियो द्वारा उसकी असारता को सिद्ध करना

तर्क के भेद

प्राचीन न्याय मे तर्क के छह भेद किये गये है, जिनके नाम है १. व्याघात, २ प्रतिबन्धिकल्पना, ३. कल्पनालाघव, ४. कल्पनागौरव, ५ उत्सर्ग और ६. अपवाद। किन्तु नव्य न्याय मे उसके पाँच भेद गिनाये गये है १. प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग, २ आत्माश्रय, ३. अन्योन्याश्रय, ४ चक्रकाश्रय और ५. अनवस्था। प्राकृत और नव्य न्याय के इन भेदो को एक साथ मिलाकर 'सर्वदर्शनसग्रह' मे 'तर्क' को ग्यारह प्रकार का कहा गया है।

तर्क और संशय

कुछ विद्वान् 'तर्क' को 'संशय' के अन्तर्गत मानते है, किन्तु तर्क और संशय दोनो एक नही है। तर्क मे एककोटिक ज्ञान होता है और सशय मे उभयकोटिक। 'स्थाणु है कि पुरुष है?' यह उभयकोटिक ज्ञान है, जो सशय का निर्णय है, किन्तु तर्क मे इस सशयात्मक उभयकोटिक ज्ञान को कारण देकर एककोटिक रूप मे लाया जाता है। इसलिए तर्क एक कोटि मे निश्चित है और संशय उभय कोटि मे। यही दोनो का अन्तर है।

(६)
निर्णय

निर्णय का लक्षण देते हुए लिखा गया है कि (**विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः**), अर्थात् अपने पक्ष के स्थापन और परपक्ष के साधनो के

खण्डन के द्वारा पदार्थ का निश्चय करना ही 'निर्णय' है। जब जिज्ञासु के मन में एक ही विषय पर दो विरुद्ध मतो को सुनकर संशय पैदा होता है, तब प्रमाणो के द्वारा तथा तर्क की सहायता से वह निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करता है। इसी लिए 'यथार्थ ज्ञानानुभव का पर्याय प्रमिति को ही 'निर्णय' कहा गया है' (**यथार्थज्ञानानुभवपर्याया प्रमितिर्निर्णयः**), अथवा 'प्रमाणो के द्वारा पदार्थ का निश्चय करने को ही 'निर्णय' कहा गया है (**निर्णयो विशेषदर्शनमवधारण सशयविरोधिः**)। निर्णय, सशयविरोधि है, अर्थात् निर्णय के द्वारा निश्चितार्थ का ज्ञान प्राप्त होकर संशय दूर हो जाता है।

(१०)
वाद

वाद की आवश्यकता

'संशय' पदार्थ का निरूपण पहले किया जा चुका है। एक वस्तु में नानाविध ज्ञानो की अनिश्चितावस्था को ही 'संशय' कहा गया है। वस्तु की उस अनिश्चितावस्था को निश्चयात्मक स्थिति में लाने का कार्य 'वाद' पदार्थ के द्वारा होता है। 'वाद' का आशय है यथार्थ तत्त्व का निर्णय। इस तत्त्वनिर्णय के लिए ही 'वाद' की आवश्यकता बतायी गयी है।

वाद के अवयव

'वाद' पदार्थ का निरूपण करने से पूर्व उसके अवयवो का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। वे अवयव है कथा, पक्ष, प्रतिपक्ष, वादी, प्रतिवादी, कथामुख, पूर्वपक्ष, अनुवाद और उत्तरपक्ष।

जिस विषय को लेकर विवाद किया जाता है उसको 'कथा' या 'कथावस्तु' कहते है। यह विवाद सर्वथा विरोधी धर्मो पर आधारित होता है, जैसे एक का कथन है कि 'शब्द नित्य है' और दूसरे का कथन है कि 'शब्द अनित्य है'। इस एक ही आधार शब्द मे दो विरुद्ध धर्मो — नित्यता और अनित्यता — को आरोपित करना ही क्रमश. 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। इस 'पक्ष' को प्रमाणित करने वाला 'वादी' और उसका खण्डन कर 'प्रतिपक्ष' को प्रमाणित करने वाला 'प्रतिवादी' या 'प्रतिपक्षी' कहलाता है। 'वादी' जिस पक्ष को प्रस्तुत करता है उसे 'कथामुख' (उपन्यास) कहते है और पुन प्रमाण द्वारा उसका मण्डन करके उस पर किये गये आक्षेपो का समाधान करने को ही 'पूर्वपक्ष' कहा जाता है। तदनन्तर 'प्रतिवादी' 'पूर्वपक्ष' को दुहराता है।

इसी पुनरावृत्ति को 'अनुवाद' कहते हैं। 'अनुवाद' करने के उपरान्त पूर्वपक्ष का खण्डन करके प्रमाण द्वारा प्रतिपक्ष की स्थापना करने को ही 'उत्तरपक्ष' कहा जाता है।

वाद का लक्षण : स्वरूप

यथार्थ तत्त्व का निर्णय सामने रखकर जो शास्त्रार्थ किया जाता है उसे 'वाद' कहते हैं, अथवा यों कहा जा सकता है 'ऐसे कथाविशेष का नाम 'वाद' है, जिसमें तत्त्वनिर्णयरूपी फल का अवधारण किया जा चुका है **(तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः)**। उसमें वादी और प्रतिवादी, दोनों ज्ञान के इच्छुक होते हैं, विजय के इच्छुक नहीं। इसी लिए उसमें 'तर्क' तथा 'प्रमाण' का आश्रय लिया जाता है, सिद्धान्त के विपरीत कुछ भी नहीं कहा जा सकता और पंचावयवयुक्त अनुमान को आधार माना जाता है। यथार्थ तत्त्वनिर्णय (वाद) के लिए ये शर्तें आवश्यक हैं, अन्यथा वह शास्त्रार्थ 'वाद' नहीं कहा जायगा 'जल्प' कहा जायगा।

(११)
जल्प

'वाद' पदार्थ में निर्दिष्ट शर्तों के विपरीत, ऐसे शास्त्रार्थ (कथा) को, जिसमें एकमात्र जीतने की इच्छा रहती है, 'जल्प' कहलाता है **(विजिगीषु कथा जल्पः)**। इसमें योग्यता और वाक्चातुर्य की प्रधानता रहती है। जहाँ तक कि मिथ्या बात कहकर भी अपने पक्ष को सिद्ध किया जाता है। इसी लिए कहा गया है कि 'द्विविध (सत्यासत्य) साधनों को लेकर जीतने की इच्छा से जो 'वाद' किया जाता है उसको 'जल्प' कहते हैं'। **(उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः)**।

(१२)
वितण्डा

यदि विजिगीषु (जल्प करने वाला) अपने पक्ष की स्थापना न करके केवल प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करके ही शास्त्रार्थ को स्थगित कर दे तो ऐसे जल्प को 'वितण्डा' कहते हैं **(स्वपक्षस्थापनाहीनः कथाविशेषो वितण्डा)**। वितण्डावादी को कोई प्रतिज्ञा नहीं होती। इसलिए उसकी प्रपंचपूर्ण युक्तियाँ रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक होती हैं।

(१३)
हेत्वाभास

'हेतु' अनुमान का आधार होने के कारण उसका निरूपण अनुमान प्रमाण के प्रसग मे पहले किया जा चुका है।

(१४)
छल

वक्ता के कथन का वास्तविक आशय ग्रहण न करके उसकी जगह जो दूसरा ही अर्थ आरोपित किया जाता है उसको 'छल' कहते है (**शब्दावृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुः छलम्**)। व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त शब्द को संकुचित अर्थ मे ग्रहण करके या मुख्यार्थ को छोडकर गौणार्थ अथवा लक्ष्यार्थ को लेकर जो आक्षेप किया जाता है वह भी 'छल' है। वह तीन प्रकार का होता है १ वाक्छल—कही गयी बात का कुछ और ही अर्थ लगाना, २. सामान्य छल—संभावित अर्थ को छोडकर असंभावित अर्थ की कल्पना करना, और ३. उपचार छल—वाक्य का शब्दार्थ न लेकर उसका तात्पर्यमात्र ग्रहण करना।

न्याय से छल को एक स्वतत्र पदार्थ के रूप मे इसलिए स्वीकार किया गया कि उसको समझकर उसका प्रतीकार किया जाय, जिससे अपवर्ग को प्राप्ति मे सुगमता हो सके।

(१५)
जाति

यह भी एक दुष्ट प्रकार का उत्तर है। जब हम साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्म (असमानता) के द्वारा वादी की दोष रहित युक्ति का खण्डन करने के लिए उसके दोष निकालने (प्रत्यवस्थापन) की चेष्टा करते है तो ऐसे अनुमान को 'जाति' कहते हैं (**साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यावस्थापन जातिः**)। इससे व्याप्ति-सम्बन्ध की अपेक्षा नही रहती और साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा वादी की युक्ति को सदोष सिद्ध किया जाता है। उदाहरण के लिए वादी का सिद्धान्त है 'शब्द अनित्य है क्योकि वह घट की भाँति एक कार्य है' इस अनुमान का खण्डन करने के लिए प्रतिवादी कहे 'नही, शब्द नित्य है, क्योंकि वह काल की भाँति अदृश्य है'। यहाँ 'नित्य' और 'अदृश्य' मे कोई साधर्म्य (नियत संबध नही है। इसके २४ भेद होते हैं।

(१६)

निग्रहस्थान

न्याय दर्शन का यह अन्तिम पदार्थ है । निग्रहस्थान का शाब्दिक अर्थ है पराजय, हार या तिरस्कार का स्थान । शास्त्रार्थ के जिस स्थान पर पहुँचने पर वादी की हार हो जाय और उसको निन्दा या भर्त्सना का अपमान सहना पड़े वही स्थान 'निग्रहस्थान' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में वादी तभी पहुँचता है, जब वह अपने पक्ष का प्रतिपादन अनुचित (विप्रतिपत्ति) ढंग से करता है अथवा प्रतिपादन कर ही नहीं सकता (अप्रतिपत्ति) है । प्राचीन न्याय में 'निग्रहस्थान' के २२ प्रकार बताये गये हैं ।

मोक्षप्राप्ति के लिए पदार्थज्ञान की अनिवार्यता

ऊपर जिन सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया है अपवर्ग के लिए उन सभी का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है । 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के पदार्थ ऊपरी दृष्टि से यद्यपि वाग्विलासमात्र प्रतीत होते हैं किन्तु अन्य पदार्थों की भाँति न्यायदर्शन में अपवर्ग (मोक्ष) के लिए उनके यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता बतायी गयी है । उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के उपरान्त यह सिद्ध किया है कि 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक जितने भी पदार्थ है उनकी अन्य पदार्थों की भाँति, विपर्यस्त व्यक्ति को संशयापन्न करके तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु बनाने में, उतनी ही अनिवार्यता है ।

ईश्वर विचार

स्वरूप

न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गंभीरता और बारीकी से विचार किया गया है । ईश्वर निःशरीर है, किन्तु उसमें इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ये गुण वर्तमान हैं । वह सर्वज्ञ है, शक्तिमान् है और अनन्त ज्ञान का आगार है । इस जगत् का बनानेवाला, संस्थापक, नियामक और संहारक सभी कुछ वही है । दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा भौतिक परमाणुओं की सहायता से वह सृष्टि की रचना करता है । ये परमाणु आदि नित्य हैं । ईश्वर में रहने वाली सत्तायें हैं । वे सत्तायें ही जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं । वेदान्त के सिद्धान्त की भाँति ईश्वर, मकड़ी की भाँति अपने उदर से सृष्टि को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि कुम्भकार की भाँति नित्य परमाणुओं के

उपादानो को लेकर उसको बनाता है । इसलिए सृष्टि-निर्माण मे उसको निमित्तकारण माना जा सकता है, उपादान कारण नही । उसको विश्वकर्मा (ब्रह्माण्ड कुलाल) कहा जा सकता है ।

यद्यपि उक्त नित्य द्रव्यो की सहायता से ईश्वर जगत् का निर्माण करता है; किन्तु उनकी अपेक्षा वह व्यापक है, अनन्त है, असीमित है । उनसे बधा हुआ नही है । आत्मा का शरीर से जो संबध है, वही सबंध ईश्वर का नित्य द्रव्यो से है ।

जीवो को समस्त कर्मफलों को देने वाला वही है । जीवो के पाप-पुण्यो के अनुसार ही वह उन्हे सुख-दुःख देता है । जीव अल्पज्ञ है, किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है । उसको षडैश्वर्यसंपन्न कहा गया है । उसके षड् ऐश्वर्य है, आधिपत्य, वीर्य, यज्ञ, श्री, ज्ञान और वैराग्य । उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि परिशिष्ट' मे कहा गया है :

> **ईश्वरोऽयं निराकारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।**
> **अनादिरविकारी चानन्त सर्वगतो विभु. ॥**
> **सच्चिदानन्द रूपोऽपि दयालुर्न्यायतत्परः ।**
> **सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्यतृप्तो निराशयः ॥**

ईश्वर के अस्तित्व की युक्तियाँ

साख्य को छोडकर ईश्वर के अस्तित्व को सभी आस्तिक दर्शनो मे स्वीकार किया गया है । न्याय दर्शन मे ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी है वे लोकव्यवहार की दृष्टि मे बडी ही उपयोगी है ।

ईश्वर ही इस जगत् का कर्ता है

न्याय की दृष्टि से ससार के समस्त पदार्थो की दो श्रेणियाँ है : नित्य और अनित्य । नित्य पदार्थो मे दिक्, काल, आकाश, मन और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की गणना की गयी हे । ये नित्य पदार्थ निरवयव एवं अणु है । ये पदार्थ सृष्टि और प्रलय, दोनो मे बने रहते हे । इनके अतिरिक्त राई से लेकर पर्वत तक और एक क्षुद्र जलबिन्दु से लेकर महासमुद्र तक संसार की जितनी भी वस्तुएँ है वे सावयव और अनित्य है ।

नित्य वस्तुएँ कारणरूप और अनित्य वस्तुएँ कार्यरूप है । ये कार्यरूप वस्तुएँ कारणरूप उपादान वस्तुओ से बनी है । इन कारणरूप उपादान वस्तुओ के संयोग से कार्यरूप वस्तुओ का निर्माण करने वाला, उनका प्रयोजक और

निमित्त कारण कोई तीसरा ही है। वह तीसरी सत्ता सर्वज्ञ है और उसी को न्याय मे ईश्वर कहा गया है।

जिस प्रकार विभिन्न अवयवों के सयोग से निर्मित घट, कुम्हार का कार्य है उसी प्रकार विभिन्न अवयवों के सयोग से निर्मित पर्वत, समुद्र आदि भी ईश्वर के कार्य है। संसार को विभिन्न सावयव वस्तुओं को देखकर संसार भी कार्य की कोटि मे आता है। न्याय की दृष्टि से:

जो सावयव पदार्थ है वे सभी कार्य है
जगत् भी सावयव है
इसलिए वह भी कार्य पदार्थ है

ईश्वर जगत् का कर्ता है, इसके अनुमान के लिए नैयायिकों का कहना है—कि जितने भी कार्यद्रव्य है उनका कोई-न-कोई अवश्य कर्ता है। इसलिए इस कार्यरूपी जगत् को बनाने वाला भी कोई है:

समस्त पदार्थों की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है
यह जगत् भी कार्य है
अत. इस जगत् की उत्पत्ति भी किसी के द्वारा होती है

इन युक्तियों मे जगत्कर्ता और जागतिक वस्तुओं का निमित्त कारण ईश्वर की प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है।

कर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर है

ससार मे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि जो नाना रूप विभिन्न जीव दिखायी देते हैं, उसका कारण क्या है? मनुष्यों मे भी एक सुखी और दूसरा दु:खी क्यों दिखायी देता है? यदि ईश्वर ने ही इस जगत् को बनाया है तो होना यह चाहिए कि सभी मनुष्य धनी हों या तो निर्धन? इस असमानता का उत्तर न्याय मे कर्मसिद्धान्त के आधार पर दिया गया है। अपने दैनिक जीवन मे भी हम कर्म का प्रत्यक्ष फल देखते है। किन्तु न्याय का कर्मवाद अदृष्ट है। वह अदृष्ट है पूर्व जन्म। अपने इस जन्म मे हम जो सुख-दु:ख लाभ-हानि, गरीबी-अमीरी का उपभोग करते है वे हमारे पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। हमारा वर्तमान सुख, हमारे पूर्व जन्म के सुकर्मों का फल है और दु:ख, दुष्कर्मों का फल। इन सुकर्मों और दुष्कर्मों से उत्पादन पुण्य-पापों का सग्रह ही 'अदृष्ट' है। यह संचय ही हमारे वर्तमान जीवन के सुख-दु:ख है। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि हमारे पूर्वजन्म के कर्म ही हमारे वर्तमान जीवन के सुख-दु:खादि कार्यों के कारण है।

इन अच्छे और बुरे कार्यों का साक्षी ही ईश्वर है। यदि साक्षी ईश्वर न हो तो भले और बुरे का विचार कैसे किया जाता ? ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध होती है कि वह सर्वज्ञ होने के कारण हमारे अदृष्ट पाप-पुण्यों का संचालन करता है। वह एक ऐसे राजा की तरह है जो अपनी प्रजा की भाँति हमें हमारे अच्छे कर्मों पर सुख और बुरे कर्मों पर दुःख देता है।

ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है, यह इससे भी सिद्ध होता है कि कर्मों की फलप्राप्ति दूरभावी होती है। यदि कर्म के सपादित कर देने मात्र से ही फल की तत्काल प्राप्ति हो जाय तो वर्तमान में किये गये कर्मों का फल वर्तमान में ही मिल जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता। इसके अतिरिक्त कर्म के अभाव में फल की प्राप्ति नही होती है। इसमे स्पष्ट यह सिद्ध होता है कि कर्मफल को देने वाला ही ईश्वर है और वह, व्यक्ति के या प्राणी के कर्मों के अनुसार ही उसका फल देता है।

अतएव कर्मों का अधिष्ठाता होने से ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है।

वेदों की प्रामाणिकता

भारत के बृहद् वाङ्मय और जन-जीवन मे वेदों की प्रामाणिकता एकस्वर मे स्वीकार की गयी है। इसी लिए वेदों को हिन्दू जाति का प्राण कहा गया है। न्याय के अनुसार वेदों को इसलिए प्रामाणिक माना गया है क्योंकि उनको ईश्वर ने बनाया है। क्योंकि ईश्वर अनादि और अलौकिक है। इसलिए वेदों को भी अनादि और अलौकिक माना गया है। जीव और आत्मा मे यह बात नही है। इसलिए वेदों की अनादिता और अलौकिकता को मानने के लिए ईश्वर को मानना नितान्त आवश्यक है।

वेदवचन ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी

वेदों का कर्ता ईश्वर है, इसलिए उनको प्रामाणिक, अनादि एवं अलौकिक माना गया है। इसके अतिरिक्त वेदवचन ही ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी है। अनेक श्रुतियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान तर्क से नही, बल्कि परोक्ष या अपरोक्ष अनुभव से हो सकता है। ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न दर्शनों मे अनेक प्रकार की युक्तियाँ सुझायी गयी है। उनका आश्रय लेने से ईश्वर का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। इन युक्तियों से यदि सफलता न मिले तो श्रुतिवचनों पर विश्वास करना चाहिए। क्योंकि वे बाते उन ज्ञानमना महर्षियों

ने कही है, जिन्होने ईश्वर का साक्षात्कार किया। इसी हेतु उनको साक्षात्कृतधर्मा कहा गया और उनके वचनो को अतर्क्य एवं संदेहरहित।

इसलिए वेदवचन ईश्वर के अस्तित्व के साक्षी है और इसलिए ईश्वर की सत्ता को मानने मे कोई संदेह नही रहता।

निष्कर्ष

ईश्वरसिद्धि के सम्बन्ध मे न्यायदर्शनकारो ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की है उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' मे उनका निष्कर्ष इस श्लोक मे व्यक्त किया गया है :

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

कार्यात् : जिस प्रकार घटरूपी कार्य का निर्माण करने के लिए कुम्हार की आवश्यकता होती है उसी प्रकार इस जगदरूपी कार्य का निर्माण करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता है।

आयोजनात् : जड परमाणुओ के संयोग से विभिन्न वस्तुओं की रचना के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता है। ईश्वर की ही इच्छा से परमाणुओं मे क्रिया उत्पन्न होती है और तब नाना रूपमय वस्तुओं का निर्माण होता है।

धृत्यादे इस जगत् का धारण करने वाला और नाश करने वाला कोई है। वह विश्वनियन्ता ही ईश्वर है।

पदात् इस जगत् के जो अनन्त कलाकौशल परम्परा से अज्ञात रूप मे चले आ रहे है उनका उद्गमस्थान ही ईश्वर है।

प्रत्ययत . विज्ञान की सत्यता को देखकर यह विश्वास होता है कि उसका अवश्य कोई स्रष्टा है। असीम ज्ञान का भण्डार ही ईश्वर है।

श्रुते : श्रुतिग्रन्थ ईश्वर की सर्वज्ञता और सृष्टिकर्ता होने का प्रमाण प्रस्तुत करते है।

वाक्यात् : वेद वाक्यो को इसलिए प्रामाणिक माना गया है कि वे ईश्वरवचन है।

संख्याविशेषात् : दो परमाणुओ के मिलने से द्वयणुक और द्वयणुको को तीन संख्या से 'त्र्यणुक' बनता है। प्रलय काल मे जब सारा प्राणिजगत् निद्रा मे निमग्न रहता है तब कोई चेतन सत्ता है, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से ये संख्याये बनती हैं। वही ईश्वर है।

ईश्वर विरोधी शंकाएँ और उनका समाधान

ईश्वर-विरोधी शंकाओं के समाधान में नैयायिकों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की है उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. ईश्वर के विरोध में पहली शंका यह प्रस्तुत की गयी है कि यदि इस संसार को किसी ने बनाया है तो इसका क्या प्रमाण है कि वह ईश्वर ही है ?

न्याय में इसका उत्तर दिया गया है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व प्रतिपादित करनेवाली श्रुतियाँ अप्रामाणिक है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि ईश्वर ने इस जगत् को बनाया है, क्योंकि जब आकाश में फूल खिलता ही नहीं तो उसके लाल-पीले रंग के सम्बन्ध में विवाद ही नहीं उठता। यदि ईश्वर को न मानने वाले लोग श्रुति (वेद) को प्रमाण मानते है तो उसी वेद के इन वचनों को वे क्यों स्वीकार नहीं करते, जिनमें बताया गया है कि जगत् का कर्ता ईश्वर है। इसलिए यदि वेद प्रमाण है तो वेद के द्वारा प्रमाणित ईश्वर की सत्ता भी प्रमाणित है और वेदविहित ईश्वर का जगत्कर्ता होना भी सिद्ध है।

२. विरोधियों का कथन है कि यदि वेदप्रोक्त होने के कारण ईश्वर की प्रामाणिकता वेद से और ईश्वरीय वचन होने के कारण वेद की प्रामाणिकता ईश्वर से सिद्ध है तो ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष होता है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कथन है कि यहाँ अन्योन्याय दोष तब चरितार्थ होता यदि ईश्वर की उत्पत्ति या उसका ज्ञान वेद के द्वारा और वेद की उत्पत्ति या उसका ज्ञान ईश्वर से माना जाता। यहाँ तो स्पष्ट ही ईश्वर का ज्ञान वेद से और वेद की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गयी है। ईश्वर, वेद का कारण है और वेद, ईश्वर-विषयक ज्ञान का कारण है, न कि वेद, ईश्वर का कारण है और न ही ईश्वर, वेद-विषयक ज्ञान का कारण है। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की कोई संभावना है ही नहीं।

३. तीसरी शंका यह है कि यदि ईश्वर ने इस जगत् को बनाया है तो वह सशरीर होना चाहिए, क्योंकि निःशरीर के द्वारा कोई कार्य होना संभव नहीं है। वेद में यदि ईश्वर को निःशरीर कहा गया है तब उसको जगत् का कर्ता कैसे माना जा सकता है ?

नैयायिकों ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि किसी कर्ता के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शरीरयुक्त ही हो, बल्कि कर्ता में साध्य तथा साधन

का ज्ञान, साधन को काम मे लाने की इच्छा (चिकीर्षा) और साध्य की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न (क्रिया), इन तीन बातो का होना आवश्यक है। ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न, इन तीनो के होने पर अशरीर ईश्वर कार्य करने मे सक्षम हो सकता है। इस दृष्टि से विरोधियो की यह युक्ति खण्डित हो जाती है कि कर्ता को सशरीर ही होना चाहिए। अत सिद्ध है कि कर्तृत्व साधन के लिए ईश्वर स्वतंत्र इच्छा से प्रवृत्त होकर सर्वज्ञ होने से सृष्टि को रचना करता है।

४. चौथी शंका विरोधियो की ओर से यह प्रस्तुत की गयी है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर ही सृष्टिकर्त्ता है; किन्तु ऐसी स्थिति मे प्रश्न यह उठता है कि किस प्रयोजन के लिए वह सृष्टिरचना करता है, क्योकि बिना प्रयोजन के किसी कार्य मे कर्ता की प्रवृत्ति हो ही नही सकती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की यह सृष्टिरचना स्वार्थमूलक है या परार्थमूलक ?

इसका उत्तर नैयायिको ने यह दिया है कि ईश्वर स्वय पूर्ण और निरपेक्ष है। अत उसकी सृष्टिरचना कार्य स्वार्थमूलक नही हो सकता है, बल्कि उसका प्रयोजन परार्थमूलक है। यह इसलिए कि ईश्वर स्वभावत करुणामय है। करुणावश ही उसकी सृष्टिकार्य मे प्रवृत्ति होती है (**करुणया प्रवृत्तिरीश्वरस्य**)। किन्तु इसका यह आशय नही है कि करुणा मे प्रेरित होकर यदि ईश्वर जगत् का निर्माण करता है तो सभी प्राणियो को सुखी होना ही चाहिए। यह सर्वसुख की कल्पना व्यर्थ है। यह सुख और दुःख तो प्राणियो के अपने पूर्वसंचित कर्मो का फल है। इन कर्मो के फलोपभोग के लिए सभी जीव स्वतत्र है और दयालु ईश्वर सभी प्राणियो को उनके उन्नत लक्ष्य तक पहुँचाने मे उनकी मदद करता है।

इसलिए भारतीय दर्शन संप्रदायो मे, विशेष रूप से ईश्वर के विरोध मे साख्य दर्शन मे जो शंकाएँ प्रस्तुत की गयी है, न्याय मे और वैशेषिक मे उसका बडे विस्तार मे समाधान किया गया है, और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके उसी को जगत् का कर्ता सिद्ध किया गया है।

*

वैशेषिक दर्शन

* * * *

नामकरण

इस दर्शन के 'वैशेषिक' नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा 'विलक्षण' होने के कारण इसको 'वैशेषिक' कहा गया। विलक्षण से तात्पर्य वस्तुओं की सूक्ष्म, स्वतंत्र सत्ता से है, जो कि न तो वेदान्त में है और न सांख्य, न्याय आदि दर्शनों में देखने को मिलती है। वस्तुओं की इसी विलक्षण विश्लेषणात्मक पद्धति के कारण इस दर्शन का ऐसा नाम पड़ा।

न्याय दर्शन परमाणुवादी दर्शन है। न्याय के अनुसार प्रत्येक वस्तु की विशिष्ट सत्ता होती है, जो उसको शेष वस्तुओं से पृथक् करती है। वस्तुओं की इस अनेकता तथा भिन्नता को ही 'विशेष' कहा गया है। वस्तुओं की सर्वोपरि सत्ता इसी 'विशेष' पदार्थ को मान लिये जाने के कारण इस दर्शन का 'वैशेषिक' नामकरण हुआ **(विशेषं पदार्थभेदमधिकृत्य कृत शास्त्र वैशेषिकम्)**। प्रत्येक वस्तु के मूल में जो 'विशेष' सत्ता निहित है उसी को 'परमाणु' कहा गया है। प्रत्येक परमाणु की वह स्थिति, जिसमें पहुँचकर उसका कोई हिस्सा नहीं हो सकता, अर्थात् सामान्यों को छाँटते-छाँटते अन्त में जो भाग बच जाता है, 'विशेष' कहलाता है।

इसी आधार पर इस दर्शन का 'वैशेषिक' नामकरण हुआ।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

कणाद

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हुए। उनका यह नामकरण 'कणभक्ष'

(कणों को खाने वाला) होने के कारण पडा (**स कणाद इति कणभक्ष इति वा नाम्ना प्रसिद्धिमवाप**) । इस सम्बन्ध मे यह किम्वदन्ती है कि ये महर्षि तत्त्वानुसंधान मे इस प्रकार भूले रहते थे कि उन्हें अपने खाने-पीने तक की सुध न रहती थी । जब भूख असह्य हो उठती थी तो खेतो मे जाकर ये अन्नकणो को बटोरकर उन्ही से अपनी उदरपूर्ति कर लिया करते थे । अथवा कन्दलीकार श्रीधर के मतानुसार मार्ग मे पडे हुए अन्नकणो से अपनी जीवन-यात्रा चलाने के कारण उन्हें कणाद कहा गया । या 'कणभुक्' अर्थात् अणुजीवी होने के कारण उनका यह नामकरण हुआ । उन्होंने भारतीय दर्शन मे सर्वप्रथम 'परमाणुवाद' का प्रवर्तन किया ।

काश्यप और उलूक, इनके दो नाम भी प्रचलित है । 'त्रिकाण्डकाश' मे इनको काश्यप कहा गया है । काश्यप संभवत. इनका गोत्र था, क्योंकि उदयनाचार्य की 'किरणावली' मे इनको कश्यप मुनि का पुत्र बताया गया है । 'अमरकोश', 'सर्वदर्शनसग्रहटीका' और 'नैषधचरित' प्रभृति ग्रन्थो मे कणाद को उलूक, नाम और उनके दर्शन को औलूक्य दर्शन के नाम से कहा गया है । इस सम्बन्ध मे 'न्यायकन्दली' के टीकाकार जैन राजशेखर ने एक जनश्रुति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कणाद की तपस्या पर प्रसन्न होकर स्वयं परमेश्वर ने उलूक रूप धारण कर कणाद को पदार्थतत्त्व का ज्ञान दिया (**तपस्विने कणादमुनय स्वयमीश्वर उलूकरूपधारी, प्रत्यक्षोभूय पदार्थषट्कमुपदिदेश इति ऐतिह्यं** श्रूयते)। प्रशस्तपाद ने भी इस अनुश्रुति को स्वीकार किया है। 'वायुपुराण' मे लिखा है कि महर्षि कणाद प्रभासपत्तन (काठियावाड) के निवासी सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार थे । इन उल्लेखो से विदित होता है कि कणाद काश्यपगोत्रीय और सोमशर्मा के शिष्य सभवत. कठियावाड के निवासी थे ।

उनका स्थितिकाल लगभग ४०० ई० पूर्व मे बताया जाता है । इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन से भी प्राचीन ठहरता है । न्याय की अपेक्षा वैशेषिक दर्शन इसलिए भी प्राचीन सिद्ध होता है कि वैशेषिक का पदार्थशास्त्र, जो वहिर्जगत् का विषय है, न्याय के प्रमाणशास्त्र, जो अन्तर्जगत् का विषय है, उससे प्राचीन है । यह प्रकृतिसिद्ध है कि वहिर्जगत् के बाद ही मनुष्य अन्तर्जगत् की ओर प्रवृत्त होता है ।

रावणभाष्य

कणाद के 'वैशेषिकसूत्र' पर सब से पहले 'रावणभाष्य' लिखा गया था, जो संप्रति प्राप्त नही है, किन्तु विभिन्न ग्रन्थो मे जिसके अस्तित्व का उल्लेख पाया

जाता है। उदयनाचार्य की 'किरणावली' में 'प्रशस्तपाद-भाष्य' के मंगलश्लोक में 'प्रवक्ष्यते' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि 'अपने पूर्ववर्ती सूत्र भाष्य तथा प्रकरण ग्रन्थों के होने पर भी प्रशस्तपाद ने कुछ विशेष (प्रकृष्ट) कहने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की है। उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसंग्रह' की अपेक्षा 'भाष्य' को वृहत् बताया है। 'किरणावली भास्कर' में पद्मनाभ मिश्र ने उदयन द्वारा उद्धृत उक्त 'भाष्य' शब्द से 'रावणभाष्य' को लिया है।

इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के 'शारीरिक भाष्य' में दो द्व्यणुक से एक चतुरणुक उत्पन्न होने का उल्लेख किया गया है, किन्तु कणाद और प्रशस्तपाद के मतानुसार तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। इस सन्देह की निवृत्ति शंकरभाष्य की 'रत्नप्रभा' टीका में की गयी है। वहाँ कहा गया है कि शंकराचार्य ने 'प्रकटार्थ' नामक टीका में उद्धृत 'रावणभाष्य' के मत से ऐसा कहा है। हाल ही में मद्रास यूनिवर्सिटी से 'प्रकटार्थविवरण' नामक टीका प्रकाशित हुई है और उसमें अणुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त मन्तव्य देखने को मिलता है। 'रावणभाष्य' का यह मन्तव्य प्राचीन और प्रशस्तपाद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'रावणभाष्य' में वैशेषिक दर्शन की व्याख्या नास्तिकवादी दृष्टिकोण से की गयी थी और वह भाष्य लगभग ८वीं शताब्दी तक उपलब्ध रहा। बाद में उसको विनष्ट कर दिया गया। वैशेषिकों को अर्ध बौद्ध (अर्ध वैनाशिक) संभवतः सर्वप्रथम 'रावणभाष्य' में ही कहा गया था।

प्रशस्तपाद

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' पर एक वृहद् भाष्य-ग्रन्थ लिखा गया, जिसका वैशेषिक के क्षेत्र में वही स्थान है, जो वेदान्त के क्षेत्र में 'शारीरिक भाष्य' का। यह भाष्य प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य है। इस भाष्य-ग्रन्थ का नाम 'पदार्थधर्मसंग्रह' है, जिसको कि उसके रचयिता के नाम से 'प्रशस्तपादभाष्य' भी कहा जाता है।

वस्तुतः प्रशस्तपाद के इस ग्रन्थ का महत्व एक कोरे भाष्य के रूप में न होकर मौलिक ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। स्वयं ग्रन्थकार ने उसको भाष्य ग्रन्थ की कोटि में नहीं माना है और परवर्ती ग्रन्थकारों ने उसके सिद्धान्तों को अभ्रान्त रूप में उद्धृतकर उसकी प्रामाणिकता एवं मौलिकता को और भी स्पष्ट कर दिया है। 'पदार्थधर्मसंग्रह' के प्रामाणिक टीकाकार उदयनाचार्य ने उसको वैशेषिक दर्शन की मौलिक कृति स्वीकार किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद का व्यक्तित्व वैशेषिक के क्षेत्र मे बडे सम्मान से स्मरण किया गया है, किन्तु उसके स्थितिकाल के सम्बन्ध मे विद्वान् एकमत नही है। डा० कीथ ने प्रशस्तपाद को बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का परवर्ती एवं दिङ्नाग की दार्शनिक कृतियो से प्रभावित बताया है, किन्तु रूसी आलोचक शेराबात्स्की ने अपनी नवीन गवेषणों से यह सिद्ध किया है कि दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु पर 'प्रशस्तपाद भाष्य' का प्रभाव है। प्रशस्तपाद के सम्बन्ध मे अधिक विद्वानो की यही राय है कि या तो वे वसुबन्धु (चौथी शताब्दी) के पूर्ववर्ती थे अन्यथा उनके समकालीन होने मे तो कोई द्विविधा ही नही है।

प्रशस्तपाद का भाष्यग्रन्थ वैशेषिक के क्षेत्र मे इतना विद्वत्प्रिय सिद्ध हुआ कि उस पर व्योमकेश, उदयन, श्रीधर, श्रीवत्स, वल्लभ, पद्मनाभ, शंकर और जगदीश भट्टाचार्य प्रभृति अनेक विद्वानो ने टीकायें, उपटीकाये तथा वृत्तियाँ लिखी।

व्योमकेश

संभवत ये दक्षिणात्य थे। ये उदयनाचार्य से पहले हुए, क्योकि 'किरणावली' मे इन्हे 'प्रशस्तपाद भाष्य' का सर्वप्रथम टीकाकार माना गया है। सभवत ये हर्षवर्धन के राज्यकाल मे हुए। इनकी 'व्योमवती' टोका प्रसिद्ध है।

उदयनाचार्य

उदयनाचार्य मिथिलावासी थे और उनका स्थितिकाल १०वी शताब्दी था। उन्होने वैशेषिक के क्षेत्र मे 'न्यायकन्दली' और 'किरणावली', दो ग्रन्थ लिखे। उनकी 'किरणावली', 'प्रशस्तपादभाष्य' को प्रामाणिक और प्रसिद्ध टीका है। उस पर वरदराज (११वीं श०) की टीका, वादीन्द्र (१३वी श०) का 'रसमार', वर्धमानोपाध्याय (१३वी श०) का 'किरणावलीप्रकाश' और पद्मनाभ मिश्र (१६वी श०) का 'किरणावलीभास्कर' नामक चार टीकाएँ लिखी गयी। उदयनाचार्य की 'लक्षणावली' भी वशेषिक की मान्य कृति है। उस पर शाङ्र्गधर ने 'न्यायमुक्तावली' नामक टीका लिखी।

उदयनाचार्य ने न्याय और वैशेषिक पर अलग-अलग और दोनो पर सयुक्त ग्रन्थ भी लिखे। उनका विवरण इस पकार है :

न्याय	'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि', वाचस्पति मिश्र की 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' की उपटीका तथा न्याय-परिशिष्ट'
वैशेषिक	'किरणावली', 'प्रशस्तपादभाष्य' की टीका, 'लक्षणावली'
न्याय-वैशेषिक	'कुसुमाञ्जलि', 'आत्मतत्त्वविवेक', 'बौद्धाधिकार'

श्रीधराचार्य

श्रीधराचार्य बगाल के निवासी थे। इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का नाम अम्ब्रोका देवी था। इनका स्थितिकाल १०वी शताब्दी था, क्योंकि इन्होंने अपनी टीकाकृति 'न्यायकन्दली' की पुष्पिका मे उसका समाप्तिकाल ९१३ शक (९९१ ई०) लिखा है। उदयनाचार्य और श्रीधराचार्य ही पहले विद्वान् थे, जिन्होंने 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ का निरूपण करके वैशेषिक को सप्तपदार्थी दर्शन के नाम से विश्रुत किया। इनको 'न्यायकन्दली' पर पद्मनाभ मिश्र ने 'न्यायकन्दलीसार' और जैन विद्वान् राजशेखर ने 'न्यायकन्दलीपजिका' नामक दो उप टीकाएँ लिखी।

'न्यायकन्दली' मे श्रीधराचार्य ने स्वरचित कुछ अन्य ग्रन्थो का उल्लेख किया है, जिनके नाम है, 'अद्वयसिद्धि', 'तत्त्वप्रदीप', 'तत्त्वसवादिनी' और 'संग्रहटीका', किन्तु ये चारो कृतियाँ सप्रति उपलब्ध नही है।

श्रीवत्स

श्रीवत्स के सम्बन्ध मे, इसके अतिरिक्त कि उन्होने 'प्रशस्तिपादभाष्य' पर 'न्यायलीलावती' नामक टीका लिखी, कुछ भी ज्ञान नही है। सभवत वे ११वी, १२वी शताब्दी मे हुए।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञात नही है। सभवत वे ११वी शताब्दी मे हुए, क्योंकि वादीन्द्र (१३वी श०) ने अपने 'रमसार' मे उनका उल्लेख किया है। उनकी 'न्यायलीलावती' टीका उदयन की 'किरणावली' के समान लोकप्रिय है। 'न्यायलीलावती' पर लिखी गयी लगभग सात उपटीकाओ का पता चलता है, जिनमे वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावतीप्रकाश' और पक्षधर मिश्र का 'न्यायलीलावतीविवेक' अधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है।

पद्मनाभ मिश्र

पद्मनाभ मिश्र का अपर नाम प्रद्योतन मिश्र था। वे मिथिलावासी थे और १३वी शताब्दी मे हुए। उन्होने 'पदार्थधर्मसंग्रह' पर 'सेतु' नामक टीका लिखी, जो कि अपूर्णरूप मे उपलब्ध है। 'तर्कभाषा' के रचयिता केशव मिश्र के ये बडे भाई थे।

शकर मिश्र

शकर मिश्र का जन्म दरभंगा के समीप सरिसव नामक गाँव मे हुआ था। वहाँ इनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वरी देवी का मन्दिर आज भी वर्तमान है।

इनके पूर्वजो मे बडे-बडे विद्वान् हुए । मिथिला के प्रसिद्ध अयाची मिश्र (भवनाथ मिश्र) इनके पिता और जीवनाथ मिश्र इनके पितामह थे। इनका स्थितिकाल १५वी शताब्दी था ।

इन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे । प्रशस्तपाद के भाष्य पर इन्होने 'कणादरहस्य' नामक टीका ग्रन्थ लिखा, जो कि अपना स्वतंत्र महत्त्व भी रखता है। इसके अतिरिक्त इन्होने न्याय तथा वैशेषिक पर 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' (वैशेषिक सूत्र की टीका), 'आमोद' (न्यायकुसुमाजलि की व्याख्या), 'कल्पलता' (आत्मतत्त्वविवेक की टीका), 'आनन्दवर्धन' (श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की टीका), 'कण्ठाभरण' (न्यायलीलावती की टीका) 'मयूख' (चिन्तामणि की टीका), 'वादिविनोद' (मौलिक न्याय-ग्रन्थ), 'भेदरत्नप्रकाश' (न्याय-वैशेषिक का संयुक्त ग्रन्थ) ।

जगदीश भट्टाचार्य

नवद्वीप के नैयायिको मे इनका प्रमुख स्थान है। इनका स्थितिकाल १७वी शताब्दी था । इनकी कृतियो के नाम है 'तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति-प्रकाशिका' (जागदीशी), 'तत्त्वचिन्तामणिमयूख', 'न्यायसारावली', 'शब्दशक्तिप्रकाशिका', 'तर्कामृत', 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' और 'न्यायलीलावती-दीधिति-व्याख्या' ।

शिवादित्य मिश्र

श्रीधराचार्य और उदयनाचार्य ने जिस 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ की योजना अपने ग्रन्थो मे रखी थी उसका गंभीर विवेचन किया शिवादित्य मिश्र ने 'सप्तपदार्थी' लिखकर । शिवादित्य का स्थितिकाल १७वी शताब्दी था। इन्होने वैशेषिक दर्शन पर 'लक्षणमाल' नामक एक दूसरी कृति का भी निर्माण किया, किन्तु इनकी 'सप्तपदार्थी' का विशेष महत्त्व है। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता उस पर लिखी गयी टीकाओ से सिद्ध होती है। उस पर लिखी गयी प्रसिद्ध टीकाओ मे मल्लिनाथ की 'निष्कटक', माधव सरस्वती की 'मितभाषिणी', शार्ङ्गधर की 'पदार्थचन्द्रिका' और भैरवेन्द्र की 'शिशुबोधिनी' का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त जिनभद्र सूरि, बलभद्र, शेषानन्त आदि विद्वानो ने भी 'सप्तपदार्थी' पर टीकाएँ लिखी।

विश्वनाथ पंचानन

ये बंगवासी थे और इनका स्थितिकाल १७वी शताब्दी था । इनका उल्लेख नव्यन्याय के प्रकरण मे विस्तार मे किया गया है । इनके 'भाषापरिच्छेद' ग्रन्थ को न्याय-वैशेषिक मे बहुत अपनाया गया। यह छात्रो की दृष्टि से लिखा

गया है। इसमें वैशेषिक के सिद्धान्तों का सरल एवं सुगम श्लोकों में वर्णन किया गया है। इसका अपर नाम 'कलिकावली' भी है। इस पर ग्रन्थकार ने स्वयं ही 'सिद्धान्तमुक्तावली' या 'मुक्तावली' नाम से एक टीका भी लिखी है। इस ग्रन्थ पर रुद्राचार्य की 'रौद्री' टीका और दिनकर की 'दिनकरी' उपटीका प्रसिद्ध है। त्रिलोचन तथा बालकृष्ण भट्ट ने भी 'मुक्तावली' पर टीकाएँ लिखी।

अन्नंभट्ट

ये दाक्षिणात्य तेलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम तिरुमल था, जो अद्वैत विद्याचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे। अन्नंभट्ट का अध्ययन काशी में हुआ। ये १७वीं शताब्दी में हुए। इनका विशेष उल्लेख न्याय के प्रकरण में किया गया है।

इनका 'तर्कसंग्रह' न्याय-वैशेषिक का सयुक्त ग्रन्थ है। इस पर इन्होंने स्वयं ही 'दीपिका' नामक टीका भी लिखी है, जिसके कारण प्राचीन और आधुनिक दोनों युगों में यह सटीक ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय रहा। 'तर्कसंग्रह' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी, जिनका विवरण इस प्रकार है :

नीलकण्ठ	: तर्कदीपिकाप्रकाश
गोवर्धन	न्यायबोधिनी
कृष्णधूर्जटि	सिद्धान्तचन्द्रोदय
क्षमाकल्याण	फक्किका
विन्ध्येश्वरी	तरंगिणी
हनुमान	प्रभा
चन्द्रसिंह	: पदकृत्य
मुकुन्दभट्ट	चन्द्रिका
श्रीनिवास शास्त्री	सुरकल्पतरु
लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री	: भास्करोदय

इनके अन्य ग्रन्थों के नाम हैं 'राणकोज्जीवनी' (न्यायसुधा की टीका), 'ब्रह्मसूत्रव्याख्या', 'अष्टाध्यायी-टीका', 'उद्योतन' (कैयटप्रदीप का व्याख्यान) और 'सिद्धाञ्जन' (जयदेव के मण्यालोक की टीका)।

न्याय और वैशेषिक

न्याय और वैशेषिक, दोनों दर्शनों में आंशिक असमानता और प्रायः समानता है। दोनों पदार्थ-विवेचक दर्शन हैं। किन्तु दोनों का पदार्थ-दर्शन कुछ भिन्न भी है। गौतम के 'न्यायसूत्र' में इन पदार्थों की संख्या सोलह है, जब कि कणाद

के 'वैशेषिकसूत्र' मे छह पदार्थ ही माने गये है। गौतम का पदार्थ-निरूपण ज्ञान (प्रमाण) पर आधारित है और कणाद का पदार्थ-दृष्टिकोण वस्तु-सत्ता की सिद्धि पर केन्द्रित है। इसके अतिरिक्त न्याय मे चार प्रकार के प्रमाण माने गये है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, किन्तु वैशेषिक मे प्रत्यक्ष और अनुमान, इन दो को ही प्रमाण माना गया है और उपमान तथा शब्द को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

इस आशिक भिन्नता के अतिरिक्त दोनों दर्शनो का चरम उद्देश्य है मोक्ष का निरूपण। दोनो दर्शन यह मानते है कि जो नाना नामरूप दु ख है उनका एकमात्र कारण है अज्ञान। इस अज्ञान का क्षय तत्त्वज्ञान से ही सभव है। वही मोक्ष है।

न्याय, वैशेषिक के क्षेत्र मे यह एक बडे महत्व की बात है कि ११वी शताब्दी ई० के लगभग शिवादित्य मिश्र कृत 'सप्तपदार्थी' मे न्याय और वैशेषिक का परस्पर समन्वय हो गया और उसके बाद दोनो दर्शनो के सिद्धान्त प्राय एक ही तत्त्वज्ञान के समर्थक हो गये। न्याय और वैशेषिक के उत्तरकालीन सिद्धान्त एक साथ मिलकर आगे बढने के कारण न्याय दर्शन की अनेक कृतियाँ वैशेषिक के और वैशेषिक दर्शन की अनेक कृतियाँ न्याय के अन्तर्गत मानी जाने लगी। अन्नभट्ट का 'तर्कसंग्रह' इसका अच्छा उदाहरण है।

इस प्रकार यद्यपि उक्त दोनो दर्शन बहुत कुछ दशाओ मे एक समान होने पर भी उनकी प्रतिपादन शैली तथा सिद्धान्तो मे मौलिक अन्तर है, और दोनो दर्शनो की प्रमाण-मीमासा, कारणता-विचार, पदार्थ-विवेचन तथा ईश्वर-सबधी विचारो के विश्लेषण मे अपने अलग-अलग दृष्टिकोण, अलग-अलग स्थापनाएँ है, यथा न्याय प्रमाणप्रधान या तर्कप्रधान और वैशेषिक वस्तुविवेचक दर्शन है, तथापि दोनो दर्शन अविरोधी, वरन् एक-दूसरे के प्रपूरक भी है। यही कारण था कि नैयायिको और वैशेषिककारो के सिद्धान्त मिले-जुले रूप मे आगे बढे तथा उत्तरोत्तर इसी पद्धति पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

वैशेषिक सूत्र

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' मे दस अध्याय है और प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निको मे विभक्त है।

पहले अध्याय मे धर्म का स्वरूप, धर्म का उद्देश्य और तदनन्तर मुक्ति के साधन छह पदार्थो के सम्यक् ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। इन छह पदार्थो

के लक्षण और प्रभेदो पर सूक्ष्म विचार भी इसी अध्याय मे किया गया है। तदनन्तर कार्य-कारण, सामान्य-विशेष का निरूपण और अन्त मे शुद्ध सत्ता भाव का निरूपण किया गया है।

दूसरे अध्याय मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि नौ द्रव्यों तथा उनके गुणो का विवेचन करने के पश्चात् दिशा तथा काल का स्वरूप और अन्त मे शब्द के नित्यत्व एव अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है।

तीसरे अध्याय का विषय आत्मा का निरूपण करना है। इसी आत्म-निरूपण के लिए शरीर, इन्द्रिय और उनके गुण, अनुमान, हेत्वाभास और प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए विषय, इन्द्रिय तथा आत्मा का सयोग निरूपित है। मन, शरीर और आत्मा का अस्तित्व तथा उनकी पारस्परिक स्थिति का निरूपण करने के अनन्तर अन्त मे आत्मा के अनेकत्व को सिद्ध किया गया है।

चौथे अध्याय का विषय बड़ा ही सूक्ष्म है। इसमे परमाणु का स्वरूप, उनके संयोग से भौतिक द्रव्यों की उत्पत्ति, उनकी नित्यता का विवेचन करने के बाद कार्यरूप द्रव्य, शरीर, इन्द्रिय और विषय का स्वरूप और अन्त मे शरीरो की विभिन्नता को समझाया गया है।

पाँचवे अध्याय मे कर्म और उसके भेदो का वर्णन है। कर्मों के अत्यन्ताभाव होने से ही मोक्ष की उपलब्धि बतायी गयी है। इसी प्रसंग में दिक्, काल, आकाश, और आत्मा की निष्क्रियता और अन्त मे अधकार को तेज का अभाव मात्र बताया गया है।

छठे अध्याय मे श्रुतिसमत धर्म और अधर्म की मीमासा की गयी है। कर्त्तव्य क्या है, इसका भी निरूपण किया गया है। अन्त मे दृष्ट प्रयोजन, कर्म और अशुचि कर्मों का स्वरूप दिखाने के बाद मोक्ष का निरूपण किया गया है।

सातवे अध्याय मे अणु-महत्, ह्रस्व-दीर्घ, आकाश-आत्मा का स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंध को दिखाया गया है। तदनन्तर दिक्, काल, एकता, सयोग, वियोग, शब्द, परत्व और समवाय का विवेचन किया गया है।

आठवे अध्याय मे सामान्य ज्ञान तथा विशेष ज्ञान का विवेचन करने के पश्चात् विभिन्न इन्द्रियो और उनकी प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन है।

नवें अध्याय मे असत्कार्यवाद, अभाव, अनुमान, शब्द, उपमान, स्मृति, स्वप्न, अविद्या और विद्या का स्वरूप समझाया गया है।

दसवे अध्याय मे सुख-दुःख का विवेचन करने के पश्चात् समवायिकारणों

और असमवायिकारणों का पारस्परिक विभेद और अन्त मे वेद की प्रामाणिकता तथा मोक्ष का निरूपण किया गया है ।

पदार्थ विचार

वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय पदार्थो का विवेचन करना है । पदार्थ वह वस्तु है, जिसका किसी 'पद' (शब्द) से अभिधान होता है । महर्षि कणाद का कथन है कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान होने से नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है (**धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्**) । अर्थात् धर्माचरण के द्वारा उत्पन्न जो द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा तत्त्वज्ञान है उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

कणाद के छह पदार्थ

जैसा कि कणाद ने अपने उक्त सूत्र मे निर्देश किया है, वे छह पदार्थ मानते हैं, जिनके नाम है . १. द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५. विशेष और ६. समवाय । इन्ही छह पदार्थो के अन्तर्गत कणाद ने ससार की समस्त वस्तुओं का समावेश किया है । 'वैशेषिक सूत्र' के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी इन्ही छह पदार्थो को माना है ।

सातवाँ अभाव पदार्थ

ऊपर जिन छह पदार्थों का उल्लेख किया गया है वे सभी 'भाव' हैं । जिनकी सत्ता है, जो विद्यमान है वे 'भाव' पदार्थ कहे जाते है । इन सत्तावान् छह भाव पदार्थो को ही कणाद और प्रशस्तपाद ने माना है । किन्तु श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य और शिवादित्य प्रभृति उत्तरवर्ती वैशेषिककारो ने एक सातवाँ पदार्थ भी माना है, जिसका नाम है 'अभाव' । 'भाव' कहते है सत्ता, अस्तित्व, होना और 'अभाव' कहते है असत्ता, अनस्तित्व तथा न होना । 'अभाव' पदार्थ के समर्थक आचार्यो का कथन है कि जिस प्रकार किसी स्थान पर हमे 'घट' के होने का ज्ञान होता है उसी प्रकार किसी स्थान पर हमे 'घट' के न होने का भी ज्ञान होता है । अत 'अभाव' भी ज्ञान का विषय होने के कारण एक पदार्थ है, जो शेष भाव पदार्थों से अलग है । इस अभाव पदार्थ के समर्थक आचार्यों का कथन है कि महर्षि कणाद ने जिन छह पदार्थों को स्वीकार किया है वे सत् पदार्थ है । उन्होने असत् पदार्थो को छोड दिया है । वे असत् पदार्थ ही 'अभाव' के अन्तर्गत है । कणाद ने अभाव का न तो निर्देश किया है और न विरोध ही ।

अतः वैशेषिक दर्शन में १. द्रव्य, २. गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय और ७ अभाव—इन सात पदार्थों को ही आज माना जाता है। आगे इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१
द्रव्य

लक्षण

वैशेषिक दर्शन में 'द्रव्य' पहला पदार्थ है। द्रव्य, गुण और कर्म का आधार है, किन्तु यह गुण और कर्म नहीं है। ये गुण और कर्म दोनों उसमें रहते हैं, द्रव्य के बिना उनकी कोई स्थिति नहीं है। 'द्रव्य' अपने समवाय कार्यों का समवायी कारण भी होता है। इसलिए 'वैशेषिक सूत्र' में कहा गया है कि क्रिया और गुण के समवायी कारण का नाम ही 'द्रव्य' है (**क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्**)।

न्याय और वैशेषिक में दो अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध बताया गया है। जिन दो पदार्थों में से एक ऐसा हो कि जब तक वह विद्यमान रहे, नष्ट न हो, तब तक दूसरे पदार्थ के ही आश्रित होकर रहे, उन दोनों पदार्थों को अयुतसिद्ध कहा जाता है। जैसे घड़ा और उसका रूप। रूप जब तक रहेगा, तब तक वह घड़े के आश्रित होकर ही रहेगा। 'कपड़ा और सूत' इसमें सभी 'सूत' उनसे बनने वाले कपड़े के 'अवयव' हैं। इन अवयवों (सूतों) से जो वस्तु (कपड़ा) बना है वह 'अवयवी' है। यहाँ कपड़ा अवयवी और सूत अवयव है। सूतों से कपड़ा बनता है। अतः दोनों में समवाय-सम्बन्ध है। अवयवी, अवयवों के आधीन होकर ही रहता है।

इसी लिए ऊपर कहा गया है कि द्रव्य अपने समवाय कार्यों का समवायी कारण भी होता है और गुण, कर्म का आधार होकर भी वह उनसे भिन्न होता है।

द्रव्य के प्रकार

गुण और क्रिया में समवेत द्रव्य के नौ प्रकार हैं : १ पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिक्, ८. आत्मा और ९. मन। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन ये 'सक्रिय' और आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—ये 'निष्क्रिय' द्रव्य माने गये हैं।

छाया में द्रव्यत्व

उक्त नौ प्रकार के द्रव्यों के अतिरिक्त मीमांसकों ने छाया या अंधकार को

भी द्रव्य माना है, क्योंकि उसमे भी कृष्णवर्णत्व (गुण) और गतिमत्ता (क्रिया) विद्यमान है, किन्तु कणाद का कथन है कि गतिमत्ता छाया या अंधकार मे न होकर वस्तु मे होती है । इसलिए छाया या अंधकार द्रव्य न होकर द्रव्य की उपाधियाँ है । इस सम्बन्ध मे विश्वनाथ पंचानन की 'सिद्धान्त मुक्तावली' मे कहा गया है कि छाया या अंधकार मे जो कृष्णवर्णत्व की प्रतीति होती है वह वास्तविक नही, भ्रातिमात्र है । अत. वैशेषिक दर्शन मे नौ प्रकार के ही द्रव्य माने गये है ।

कारण रूप नित्य और कार्यरूप अनित्य

पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये चार द्रव्य कारणरूप में नित्य और कार्यरूप मे अनित्य है । कारण अर्थात् परमाणु । इन कारणरूप परमाणुओ से कार्यरूप बने द्रव्य सावयव तथा, संयोगज है, अत: वे अनित्य है और विनाशशील है । किन्तु जिन परमाणुओं के सयोग मे ये बने है वे नित्य, एवं अप्रत्यक्ष है । उनको अनुमान से ही जाना जा सकता है । किसी कार्यरूप द्रव्य के अवयवो का विभाग करते-करते क्रमशः जब हम उसके स्थूल रूप से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप मे, जिसका कि विभाग करना संभव ही नही है, पहुँचते है तो वही अविभाज्य क्षुद्रतम कण 'परमाणु' कहलाता है । अत· यह परमाणु नाशरहित और अनादि होने के साथ ही निरवयव भी है । उसी को कारणरूप नित्य कहा गया है ।

अत उक्त चार द्रव्य कारणरूप मे नित्य और कार्यरूप मे अनित्य है ।

१. पृथ्वी

स्वरूप

पृथ्वी वह है, जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये चार गुण पाये जाते है (**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी**) । पृथ्वी अनेकरूपा है । उसके कारणरूप अणुओ मे लाल, नीला, पीला आदि अनेक भाँति के रग है । अत उसका एक गुण 'रूप' है । पृथ्वी मे अनेक रस पाये जाते है । इन्ही अनेक रस वाले पार्थिव कणो से अनेक स्वादयुक्त पदार्थ बनते है । अत. पृथ्वी का दूसरा गुण 'रस' है । जितने भी रसयुक्त पार्थिव पदार्थ है उनमे घ्राणत्व पाया जाता है । इसी हेतु 'गध' पृथ्वी का तीसरा और असाधारण गुण है । असाधारण से आशय, जो दूसरे पदार्थों मे नही पाया जाता । इसी प्रकार पृथ्वी का स्पर्श न तो ऊष्ण है

और न शीत ही, किन्तु कोमल एवं कठोर होता है। अत. उसको 'स्पर्श' गुण-वाली कहा गया है।

पृथ्वी के भेद प्रभेद

पृथ्वी के प्रमुख दो भेद है . परमाणुरूप और कार्यरूप। परमाणुरूप पृथ्वी नित्य और कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है। इस कार्यरूप पृथ्वी के भी तीन प्रभेद है शरीर, इन्द्रिय और विषय। कार्यरूप पृथ्वी के इन प्रभेदो का उत्पत्ति और विनाश होता है, किन्तु जिन पार्थिक परमाणुओ से उनका निर्माण हुआ है, वे उत्पत्तिरहित और अविनश्वर है। यह कार्यरूप शरीर भी योनिज तथा अयोनिज भेद से दो प्रकार का होता है। उनमे भी योनिज शरीर जरायुज (मनुष्य आदि) तथा अण्डज (पक्षी आदि), और अयोनिज शरीर स्वेदज (मशक आदि) तथा उद्भिज (वृक्ष आदि) से दो-दो प्रकार के होते है।

सामान्य और विशेष भेद से पृथ्वी के चौदह गुण बताये गये है। सामान्य गुण दस है १. संख्या, २ परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४. सयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८ गुरुत्व, ९. वेग तथा १०. द्रवत्व, और चार विशेष गुण है १ गन्ध, २. स्पर्श, ३. रस और ४. रूप, जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

२. जल

स्वरूप

'जल' वह द्रव्य है, जिसमे रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धत्व, ये गुण वर्तमान रहते है। ये पांच जल के विशेष गुण है। उसके नौ सामान्य गुणो के नाम है १ सख्या, २. परिणाम, ३ पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८ गुरुत्व और ९. वेग।

जल को देखा जा सकता है। अतः वह 'रूप' गुण से युक्त है। उसका स्वाद है। इसलिए उसका दूसरा विशेष गुण 'रस' है। उसका स्वभाविक गुण शीतलता है, जो कि स्पर्श्य है। अत उसमे 'स्पर्श' गुण है। इसी प्रकार जल मे तरलता होने के कारण 'द्रव्यत्व' (प्रवहणीयता) है। उसमे 'स्निग्धत्व' गुण भी है, जो कि मक्खन, चर्बी, हरित वृक्ष आदि जलीय अशो मे देखने को मिलता है।

जल के भेद

पृथ्वी की भाँति जल के भी दो भेद है : नित्य (परमाणुरूप) और

अनित्य (कार्यरूप)। पुन. कार्यरूप जल के शरीर, इन्द्रिय और विषय क्रम से तीन प्रभेद है। जलीय शरीर अयोनिज (रजवीर्यसंयोगरहित) है। वह रसनेन्द्रिययुक्त ह। नदी, समुद्र आदि उसके विषय है।

३. तेज

स्वरूप

'तेज' (अग्नि) वह द्रव्य हे, जिसमे रूप और स्पर्श, दो विशेष गुण विद्यमान रहते है। तेज मे जो शुक्लत्व है वही उसकी दीप्ति अर्थात् प्रकाश को शक्ति है। यह प्रकाशन-शक्ति न तो पृथ्वी मे है, न जल मे और न आकाशादि अन्य द्रव्यों मे ही। अपनी इस प्रकाशन-शक्ति के कारण वह स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित (रूपायित) करता है। तेज का दूसरा विशेष गुण 'स्पर्श' है। जिस प्रकार जल का असाधारण गुण शीतलता हे, पृथ्वी का असाधारण गुण गन्ध है उसी प्रकार तेज का असाधारण गुण 'स्पर्श' (उष्ण) है।

इसी प्रकार तेज के नौ सामान्य गुणो के नाम है: १ सख्या, २. परिणाम, ३. पृथकत्व, ४. सयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७. अपरत्व, ८. वेग और ९. द्रवत्व।

तेज के भेद प्रभेद

तेज के भी प्रमुख दो भेद होते है: परमाणुरूप नित्य और कायरूप अनित्य। कार्यरूप तेज के पुन तीन प्रभेद है. शरीर, इन्द्रिय, और विषय। भौम, दिव्य, आदर्य और आकरज नाम से विषय के चार अवान्तर भेद किये गये है। भौम काष्ठाग्नि, दिव्य विद्युत् औदार्य जठराग्नि और आकरज सुवर्णादि।

४. वायु

स्वरूप

'वायु' वह द्रव्य है, जिसमे केवल स्पर्शगुण विद्यमान रहता है। पृथ्वी आदि पूर्वोक्त द्रव्य दृश्य भी है और स्पर्श्य भी, अर्थात् वे देखे भी जा सकते है और छुये भी जा सकते है। किन्तु वायु अदृश्य द्रव्य है। वह लिंग (स्पर्श) के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिए वायु को 'अदृष्टलिंग' भी कहा जाता है (**न च दृष्टानां स्पर्श इति अदृष्टलिंगो वायु.**)। वायु मे स्पर्श गुण के अतिरिक्त

क्रिया (गति) भी होती है। इसी गतिमत्ता के कारण उसको द्रव्य माना गया है। गति, उसका सामान्य गुण है। उसके आठ सामान्य गुण हैं : १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४ संयोग, ५. विभाग, ६ परत्व, ७. अपरत्व और ८. वेग (गति)।

वायु के भेद प्रभेद

वायु के भी दो प्रमुख भेद हैं : परमाणुरूप नित्य और कार्यरूप अनित्य। पुनः कार्यरूप वायु के शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण, ये चार प्रभेद हैं। वायवीय शरीर अयोनिज है। वायवीय परमाणुओं से निर्मित त्वचा ही उसकी इन्द्रिय है। हवा, आँधी, उसके विषय हैं। मल, मूत्र, श्वास, रस आदि का संचालन करने वाला 'प्राण' वायु है, जो कि शरीर के भीतर रहता है। क्रिया-भेद से इस प्राणवायु को पाँच प्रकार का माना गया है : प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान, जो क्रमश. हृदय, मलद्वार, नाभि, कण्ठ और सारे शरीर मे अवस्थित रहते हैं।

५. आकाश

स्वरूप

'आकाश' वह द्रव्य है, जिसका विशिष्ट गुण शब्द है (**शब्दगुणकमाकाशम्**)। उसके पाँच सामान्य गुण है : १. सख्या, २. परिणाम, ३ पृथक्त्व, ४. संयोग और ५. विभाग। शब्द का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु आकाश का नही, क्योंकि आकाश का न तो कोई परिणाम है और न कोई प्रकटरूप ही। शब्द न तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आदि का गुण है और न आकाश मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि कोई गुण होते है (**ते आकाशे न विद्यन्ते**)। वह दिक् काल, आत्मा और मन का भी गुण नही हो सकता है। क्योंकि शब्द के अभाव मे भी ये बने रहते हैं। इसलिए शब्द का एकमात्र आधार आकाश है।

आकाश गुणवान् (शब्दवान्) होने के कारण द्रव्य है और निरवयव, निरपेक्ष होने के कारण नित्य है। सर्वव्यापक तथा अनन्त होने के कारण उसको 'विभु' कहा गया है। आकाश, शब्द का उपादान या समवायी कारण है। शब्द, आकाश से उत्पन्न होकर उसी मे समा जाता है।

६. काल

स्वरूप

'काल' उसको कहते हैं, जिसमे पौर्वापर्य आदि गुण विद्यमान हो। पौर्वापर्य का आशय है आगे-पीछे होना, एक साथ न होना, देर से होना तथा जल्दी से होना। 'वैशेषिक सूत्र' मे उसके वही लिंग (परिचायक चिह्न) गिनाये गये है। (**अपरस्मिन्नपरम्, युगपत्, चिर, क्षिप्रम्, इति काललिङ्गानि**)। 'काल' उसको इसलिए कहा जाता है कि वह नित्य पदार्थों के अभाव का और अनित्य पदार्थों के भाव का कारण होता है (**नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति**)।

काल के भेद

निरवयव होने के कारण वह स्वत: नित्य और मूलत: एक है; किन्तु अनित्य पदार्थों का आधार होने के कारण उसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ये तीन प्रकार माने गये है। अनित्य पदार्थ वे है, जिनमे उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की क्रिया होती रहती है। अतएव भूत, भविष्यत् और वर्तमान— ये कार्य के विशेषण है, काल के नही। लोकव्यवहार मे समय की सूचना के लिए उनकी कल्पना की गयी है। अत 'काल' के ये औपाधिक (कल्पित) विभाग है। काल, अनित्य पदार्थों का कारण है, क्योंकि जितने भी अनित्य पदार्थ है वे कालप्रसूत है।

७. दिशा

स्वरूप

'दिशा' उस द्रव्य को कहते हैं, जिसमे वस्तुओ का पौर्वापर्य गुण सहवर्त्तित्व के रूप मे विद्यमान रहता है, अर्थात् एक वस्तु से दूसरी वस्तु किस ओर कितनी दूरी पर अवस्थित है, यह ज्ञान जिस द्रव्य के द्वारा सभव हो उस 'दिशा' कहते है (**इतः इदम्, इति यतः तादृस्यं लिङ्गम्**)। यही वस्तुओं के पूर्वापर सम्बन्ध का सहवर्त्तित्व ज्ञान है।

दिशा के भेद

निरवयव होने के कारण वह स्वतः नित्य और मूलतः एक है, किन्तु

लोकव्यवहार की दृष्टि से तथा कार्यविशेष के कारण उसके दस औपाधिक (कल्पित) भेद किये गये हैं, जिनके नाम है : पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्निकोण, नैऋत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोण, उर्ध्व (ब्राह्मी) और अधः (नागी)।

८. आत्मा

'आत्मा' वह द्रव्य है, जिसका असाधारण गुण चैतन्य है। चेतन उसको कहते है, जो इन्द्रियो का प्रवर्तक, विषयो का उपभोक्ता और शरीर से भिन्न है। वही 'आत्मा' कहलाता है। जैसे रूप आदि गुण पृथ्वी आदि द्रव्यो के आश्रित है उसी प्रकार इस चैतन्य का आश्रयभूत द्रव्य 'आत्मा' है। 'मै' आत्मा का वाचक (पर्यायवाची) है। 'मै' वह चेतन द्रव्य (आत्मा) है, जो ज्ञानेच्छुओ और सुख-दु खादि गुणो का आधार है। इमी लिए चैतन्य शरीर के जो श्वासप्रश्वास, पलको का उठाना-गिराना, मन का दौडना, इन्द्रियविकार, सुख-दु ख, इच्छा, प्रयत्न आदि अनेक व्यापार बताये गये है वे ही आत्मा के परिचायक (लिंग) है **(प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि)**।

प्राण तथा अपान, इन प्रयत्नो को करने वाला, निमेष तथा उन्मेष, इन कार्यो का प्रवर्तक, जीवन, अर्थात् इस शरीर रूपी घर का अधिष्ठाता; मन को प्रेरित करने वाला, सभी इन्द्रियो का स्वामी, और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न—इन मनोभावो का सूचक केवल 'आत्मा' है।

इसीलिए वैशेषिक को अनेकान्तवादी दर्शन कहा गया है।

आत्मा के भेद

आत्मा के दो भेद किये गये हैं : जीवात्मा और परमात्मा : जीवात्मायें अनित्य तथा शरीरभेद से अनन्त है और परमात्मा नित्य तथा एक है। जीवात्मा के पाँच सामान्य और नौ विशेष, कुल मिलाकर चौदह गुण है। उसके पांच सामान्य गुण हैं : १. संख्या, २. परिणाम, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग और ५. विभाग। इसी प्रकार नौ विशेष गुणो के नाम है : १. बुद्धि २. सुख, ३. दु ख, ४. इच्छा, ५ द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. भावना, ८. धर्म और ९. अधर्म। जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर उसके विशेष गुण विलुप्त हो जाते है और सामान्य गुण ही बने रहते हैं।

९. मन

स्वरूप

विश्वनाथ पचानन के 'भाषापरिच्छेद' मे लिखा है कि 'मन' उसको कहते है, जो सुखादियों के ज्ञान का साधक (करण) होता है (**साक्षात्कारे सुखादीनां करण मन उच्यते**)। यही सुखादियों की उपलब्धि ही उसका विशेष गुण है। ये सुख-दु खादि, क्योकि ग्राभ्यन्तरिक है। इसलिए इनका अनुभव करने के लिए ग्राभ्यन्तरिक साधन की ग्रावश्यकता होती है। ज्ञान, इच्छा ग्रौर सुखदु:खादि जो ग्राभ्यन्तरिक पदार्थ है उनके साक्षात्कार के लिए मन की ग्रावश्यकता है। ग्रात्मा, इन्द्रिय ग्रौर विषय, इन तीनो के रहते हुए भी जीव को ज्ञानोपलब्धि नही हो सकती है। वह मन का कार्य है। इन्द्रिय से गृहीत विषयो का ज्ञान मन के द्वारा ग्रात्मा तक पहुँचता है। इसलिए जब मन ग्रन्यत्र रहता है तब जीवात्मा को ज्ञानोपलब्धि नही हो सकती है।

मन एक है ग्रौर वह इतना द्रुतगामी है कि हमको सभी इन्द्रियो के विषयों की ग्रनुभूति समकालीन (युगपत्) प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए ग्राप रोटी खा रहे है। ग्रापकी दृष्टि रोटी पर है, कान उसके तोडने ग्रथवा खाने का शब्द सुन रहे है, हाथ उसको छू रहे है, रसना उसका स्वाद ले रही है ग्रौर नासिका उसकी गन्ध ग्रहण कर रही है। इस उदाहरण से हमे यह विश्वास हो गया कि हमारी पाँचो वाह्येन्द्रियाँ ग्रपने विषयो का युगपत् ज्ञान प्राप्त कर रही है, जब कि होना यह चाहिए कि एक इन्द्रिय को एक समय मे ग्रपने विषय को ग्रहण करे ग्रौर उसी का ज्ञान हमे उपलब्ध हो। फिर ऐसा क्यो होता है? ऐसा मन के ही कारण होता है। वही भिन्न-भिन्न संवेदनाग्रो के युगपत् ज्ञान का ग्राधार है।

मन के ग्राठ सामान्य गुण है: १. सख्या, (ग्रनन्त), २. परिमाण, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग, ६. परत्व, ७ ग्रपरत्व ग्रौर ८. वेग। वैशेषिक के ग्रनुसार एक-एक शरीर मे एक-एक मन ग्रणुरूप मे विद्यमान रहता है। ग्रत मन निरवयव है, ग्रणुरूप है, ग्रौर प्रत्यक्ष का ग्राभ्यन्तरिक साधन है। वह एक ग्रन्तरिन्द्रिय है, जिसके द्वारा ग्रात्मा विषयो का ग्रहण करता है।

२
गुण

स्वरूप : लक्षण

'गुण' वह द्रव्याश्रित पदार्थ है, जो निर्गुण और निष्क्रिय है; अर्थात् वह द्रव्य मे रहता है, किन्तु उसमे कोई गुण तथा कर्म नही रहता। 'गुण' के अस्तित्व एव वैशिष्ट्य को सूचित करने वाले द्रव्याश्रयत्व, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व, इन तीन विशेषणों को 'वैशेषिक सूत्र' मे इस प्रकार कहा गया है : **'द्रव्याश्रय्य गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्'।**

गुण को द्रव्याश्रयी इसलिए कहा गया कि वह निराधार नही रह सकता है, किन्तु कई द्रव्य ऐसे हैं, जो दूसरे द्रव्यो पर आश्रित है। इसलिए उसको 'अगुणवान्' कहा गया। अर्थात् गुण स्वयं गुणवान् नही है, किन्तु कर्म का भी तो कोई गुण नही होता है। वह भी द्रव्याश्रित है। अत. कर्म से गुण की पृथक्ता बताने के लिए कहना पडा कि वह सयोग और विभाग के कारण की अपेक्षा नही रखता है (**सयोग विभागेऽवकारणमनपेक्ष**)। इसलिए गुण द्रव्याश्रयी है। किन्तु उसमे गुण और कर्म नही रहता।

गुण के भेद

'गुण' के चौबीस प्रकार माने गये है जिनके नाम हैं . १. रूप, २. रस, ३. गध, ४ स्पर्श, ५ शब्द, ६. सख्या, ७. परिमाण, ८ पृथक्त्व, ६ संयोग, १० विभाग, ११.परत्व, १२ अपरत्व, १३.गुरुत्व, १४ द्रवत्व, १५.स्नेह, १६ संस्कार, १७ बुद्धि, १८ प्रयत्न, १६ सुख, २० दुःख, २१.इच्छा, २२ द्वेष, २३ धर्म और २४ अधर्म।

१. **रूप** : 'रूप' वह गुण है, जो केवल दर्शनेन्द्रिय के द्वारा ज्ञात हो। पृथ्वी, जल और अग्नि, ये तीन द्रव्य रूप के आधार है। इन तीनो द्रव्यों मे जो नाना रूप देखने को मिलते है उनको सात प्रकार का बताया गया है : १.उजला, २ लाल, ३. पीला, ४ काला, ५. हरा, ६. भूरा, और ७. चितकबरा।

२. **रस** : जिह्वा के द्वारा जिस गुण का स्वाद लिया जाय वह 'रस' है। मीठा, खट्टा, नमकीन, कडवा, कसैला, और तीता—रस के ये छह प्रकार है।

३. **गन्ध** : घ्राण द्वारा जिसको ग्रहण किया जाय उसको 'गन्ध' गुण कहते हैं। वह पृथ्वी का असाधारण गुण है। उसके दो प्रकार होते है : सुगन्ध और दुर्गन्ध।

४. **स्पर्श** : त्वगिन्द्रिय (त्वचा) मात्र से जिस गुण का ज्ञान है उसे 'स्पर्श'

कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है: १. ठंडा, २. गर्म और ३. मध्यम (अनुष्णशीत)।

५. **शब्द** : श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जिस गुण को ग्रहण किया जाता है उसको 'शब्द' कहते हैं। 'शब्द' आकाश का असाधारण गुण है। उसके दो भेद हैं: वर्णात्मक (कंठ, तालु से उच्चारित) और ध्वन्यात्मक (अस्पष्ट ध्वनियुक्त)।

६. **सख्या** : गणना के व्यवहार मे जो असाधारण कारण है वही 'सख्या' नामक गुण है। सभी द्रव्यो मे यह गुण विद्यमान रहता है। एकत्व संख्या, परमाणु आदि नित्य पदार्थों और घट आदि अनित्य पदार्थों, दोनो मे रहती है; किन्तु द्वित्व संख्यायें सर्वत्र अनित्य होती हैं। यह द्वित्व अपेक्षाबुद्धि पर निर्भर होता है। अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने पर यह द्वित्व भी नष्ट हो जाता है।

७. **परिमाण** : माप के व्यवहार का जो असाधारण कारण है वही 'परिमाण' कहलाता है। उसके दो भेद होते है। अणु (ह्रस्व) और महत् (दीर्घ)। परिमाण गुण की वृत्ति भी सभी द्रव्यो मे पायी जाती है। परिमाण का स्वरूप तीन प्रकार से जाना जा सकता है: १ एक-दो आदि सख्या के द्वारा, २. किसी वस्तु के विस्तार के द्वारा और ३ किसी वस्तु के संकुचन तथा विकसन के द्वारा।

८. **पृथकत्व** : जिस गुण के द्वारा वस्तुओ की भिन्नता का ज्ञान होता है उसे 'पृथक्त्व' कहते है। नव्य न्याय मे इसको 'अन्योन्याभाव' के अन्तर्गत माना गया है। किन्तु वास्तव मे वह ऐसा नही है। उदाहरण के लिये 'घडा, वस्त्र नही है' इस वाक्य मे 'अन्योन्याभाव' है, और 'घडा, वस्त्र से भिन्न है' यह हुआ पृथक्त्व का उदाहरण। पहला वाक्य अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक।

९. **संयोग** : संयुक्त व्यवहार के असाधारण कारण को 'सयोग' कहते है। दो अखण्ड वस्तुओ का क्रियाविशेष के द्वारा आपस मे मिल जाना ही 'संयोग' है। यह तीन प्रकार का माना गया: अन्यतरकर्मज (जैसे पक्षी आकर पेड की शाखा पर बैठ गया), २. उभयकर्मज (जैसे दो भेडे दोनों ओर से दौडकर आपस में टकरा गयी), और ३ सयोगज (जैसे घट के अंगविशेष कपाल का पृथ्वी से संयोग होने के कारण घट और पृथ्वी का सयोग हो जाता है)।

१०. **विभाग** : जिस गुण के द्वारा संयोग का नाश (प्रतियोगी) होता है उसे 'विभाग' कहते है। जो पदार्थ आपस मे संयुक्त थे उन्ही का अलग-अलग हो जाना ही 'विभाग' है। वह भी तीन प्रकार का होता है: १ अन्यतरकर्मज, २ उभयकर्मज और ३. विभागज।

११. १२. **परत्व : अपरत्व** : निकट और दूरवर्ती वस्तुओं के बोध के सामान्य

कारण को 'परत्व' और 'अपरत्व' कहते हैं। वे दोनों देश और काल के अनुसार दो-दो प्रकार के होते हैं।

१३. **गुरुत्व** : जिस गुण के कारण किसी वस्तु का स्वाभाविक (वेगरहित) पतन होता है उसे 'गुरुत्व' कहते हैं। वह अतीन्द्रिय होने से अनुमानगम्य है। गुरुत्व की वृत्ति पृथ्वी और जल मे पायी जाती है।

१४. **द्रवत्व** : जिस गुण के कारण किसी वस्तु मे प्रवहणशीलता का बोध होता है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं। वह पृथ्वी, जल और अग्नि मे पाया जाता हैं। इस दृष्टि से उसके दो भेद किये गये हैं : सासिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (संयोगज)।

१५. **स्नेह** : जिस गुण के कारण चूर्णयुक्त किसी वस्तु मे पिण्डीभाव (गोला बन जाना) पाया जाता है उसको 'स्नेह' कहते हैं। स्नेह, जल का असाधारण गुण है।

१६. **संस्कार** : जिस गुण के कारण पूर्वानुभूत विषयो का चित मे सूक्ष्मानुभव विद्यमान रहता है उसको 'संस्कार' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है : १. भावना, २ वेग और ३ स्थिति-स्थापक।

१७. **बुद्धि** : शब्दमात्र के व्यवहार का मूल कारण ज्ञान ही 'बुद्धि' गुण है। 'ज्ञानत्व' बुद्धि का असाधारण धर्म है, यह ज्ञानत्व जिसमे हो वही बुद्धि है। बुद्धि के प्रमुख दो भेद है : १. अनुभव (यथार्थ ज्ञान या प्रमा) और २. स्मृति (पूर्वानुभूत सस्कारो से उपलब्ध ज्ञान)। इन दोनो के भी अनेक अवान्तर भेद होते है।

१८. **प्रयत्न** : कार्य के प्रारम्भिक गुण को 'प्रयत्न' कहते है। वह दो प्रकार का होता है : जीवनपूर्वक (आत्मा तथा मन का संयुक्त प्रयत्न) और इच्छाद्वेष-पूर्वक (इच्छा तथा द्वेष से संयुक्त)।

१९. **सुख** : जिसके अनुग्रह से आत्मा को आनन्द का अनुभव होता है वह 'सुख' कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है : सासारिक (प्रयत्नसाध्य) और स्वर्गीय (इच्छाधीन)।

२०. **दुःख** : जिसके कारण आत्मा को वेदना की अनुभूति होती है वह 'दुःख' है। वह भी दो प्रकार का होता है . स्मृतिज (अतीत अनिष्ट के स्मरण से) और संकल्पज (अनागत अनिष्ट की आशका से)।

२१. **इच्छा** : किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति-कामना को ही 'इच्छा' कहते है। वह कार्यप्रवृत्ति का कारण और धर्माधर्म का मूल है। अभिलाषा, काम, संकल्प,

राग, कारुण्य, उपधा और भाव आदि अनेक उसके विषय हैं। क्रियाभेद से उसके दो मुख्य प्रकार हैं : चिकीर्षा और जिघृक्षा।

२२. **द्वेष** : जिसके कारण आत्मा ज्वलन का अनुभव करे वह 'द्वेष' कहलाता है। वह प्रयत्न, स्मृति और धर्माधर्म का मूल है। द्वेष के प्रमुख पाँच भेद हैं : १. क्रोध, २ द्रोह, ३ मन्यु, ४ अक्षमा और ५. अमर्ष।

२३. **धर्म** : जिसके कारण कर्त्ता को अभीष्ट मोक्ष की प्राप्ति हो उसको 'धर्म' कहते हैं। धर्म, आत्मा का गुण है। वह अप्रत्यक्ष होने से अनुमानगम्य है। उसके दो भेद किये गये हैं : सामान्य (जैसे अहिंसा, परोपकार, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा आदि) और विशेष (जैसे वर्णाश्रमो के लिए धर्मशास्त्रविहित कर्म)।

२४. **अधर्म** : जिसके द्वारा कर्ता को दु.ख या पीडा की उपलब्धि हो वह 'अधर्म' है। वह भी आत्मा का गुण है। धर्म के प्रतिकूल आचरण करना ही अधर्म है। हिंसा, चोरी, झूठ, परद्रोह आदि उसके कारण हैं।

३
कर्म

स्वरूप : लक्षण

द्रव्य के गतिशील धर्मो का नाम 'कर्म' है। गुण को द्रव्य का निष्क्रिय स्वरूप कहा गया है, किन्तु कर्म, द्रव्य का सक्रिय स्वरूप है। गुण अपने आधारभूत पदार्थ मे निष्क्रिय रूप से अवस्थित रहता है, किन्तु कर्म अपने आधारभूत पदार्थ को स्थानान्तर मे पहुँचा देता है। इसलिए कर्म को द्रव्यो के संयोग-विभाग का कारण कहा गया है। 'वैशेषिक सूत्र' मे उसका लक्षण देते हुए कहा गया है 'जो एक ही द्रव्य के आश्रित हो, जो स्वयं गुणरहित हो और जो सयोग विभाग का निरपेक्ष कारण हो वह 'कर्म' कहलाता है।' (**एकद्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्**)।

कर्म के भेद

'कर्म' के पाँच भेद किये गये है : १ उत्क्षेपण (ऊपरी प्रदेश से संयोग और नीचे के प्रदेश से विभाग, जैसे गेंद को उछालना), २ अवक्षेपण (उत्क्षेपण का उल्टा, जैसे छत से पानी नीचे फेंकना); ३ आकुंचन (संकुचित होना, जैसे हाथ-पैर मोडना), ४. प्रसारण (जैसे हाथ-पैर फैलाना); और ५ गमन (एक स्थान से विभाग तथा दूसरे स्थान से सयोग, जैसे चलना, दौडना आदि)।

४
सामान्य

स्वरूप : लक्षण

जो एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समान रूप मे समवेत रहता है उसको 'सामान्य' कहते है। अर्थात् जिसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति या वस्तुएँ एक ही जाति के अन्तर्गत समाविष्ट होकर एक ही नाम से पुकारे जाते हैं, वह 'सामान्य' है। इसलिए समान्य का अर्थ हुआ जाति। वह नित्य है। उदाहरण के लिए मोहन, सोहन, कमला, विमला आदि विभिन्न व्यक्तियो को एक ही 'मनुष्य' शब्द से इसलिए कहा जाता है, क्योकि उन सब मे 'मनुष्यत्व' जाति समान रूप से समवेत है। इसी प्रकार 'गोत्व' जाति है, जो संसार की सभी गायों मे है और उन सभी गायो के लुप्त हो जाने पर भी बना रहेगा। इसलिए सामान्य (जाति) मे एक, अनेक, समवेत और नित्य—इनका होना अनिवार्य है।

सामान्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत

बौद्धो के मतानुसार मनुष्य, गाय आदि व्यक्तियो के अतिरिक्त 'मनुष्यत्व', 'गोत्व' आदि उनकी जाति का कोई महत्त्व नही है। वे व्यक्ति (मनुष्य, गाय) को ही सत्य मानते है, सामान्य (जाति) को वे नाम के ही भीतर मानते है। नाम ही व्यक्ति का सामान्य धर्म है, जिसके कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाता है, गाय, गाय कहलाती है, बल्कि उसी नाम-भेद के कारण गाय, मनुष्य नही कहलाया जाता और मनुष्य, गाय नही कहलायी जाती। बौद्ध दर्शन मे इसको 'व्यक्तिवाद' कहा गया है।

जैनियो और वेदान्तियो के मतानुसार व्यक्ति से भिन्न सामान्य की कोई सत्ता नही है। तादात्म्य सम्बन्ध से सामान्य, व्यक्ति के ही भीतर रहता है। उसको ग्रहण करना बुद्धि का विषय है।

उक्त दोनो मतो के विपरीत न्याय और वैशेषिक मे सामान्य को व्यक्ति से भिन्न माना गया है और उस को व्यक्ति के साथ समवेत रूप मे स्वीकार किया गया है। अनेक व्यक्तियो मे एकता की प्रतीति इसी सामान्य से सम्भव है। वह नित्य पदार्थ है। आधुनिक वस्तुवादी विद्वान् तो सामान्य को स्वतंत्र, कालातीत और जाति से भिन्न मानते है।

सामान्य के भेद

व्यक्ति के अनुसार सामान्य के प्रमुख तीन भेद माने गये है १ पर, २. परापर

और ३. अपर। जिस सामान्य की वृत्ति (व्यापकता) अधिक विषयो मे होती है उसे 'पर', जिसकी वृत्ति मध्यवर्ती होती है उसे 'परापर' और जिसकी वृत्ति संकुचित हाती है उसे 'अपर' सामान्य कहते है।

साधारणत 'सामान्य' शब्द से 'जाति' का अर्थ लिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म रूप से सामान्य दो प्रकार का माना जाता है : जातिरूप और उपाधिरूप। जिस सामान्य को विषय के सम्बन्ध से जाना जाता है उसको 'जातिरूप' और जिस सामान्य को विषय के सम्बन्ध से नही, बल्कि परम्परा के सम्बन्ध से जाना जाता है उसको 'उपाधिरूप' कहते है। 'जाति' नैसर्गिक एवं अखण्ड और 'उपाधि' कृत्रिम एवं सखण्ड होती है। मनुष्यत्व, गोत्व, मे शुद्ध सामान्य और राजत्व, शृंगित्व मे औपाधिक सामान्य है।

५
विशेष

स्वरूप : लक्षण

'विशेष', 'सामान्य' के ठीक विपरीत होता है। जिस वस्तु के द्वारा एक व्यक्ति, संसार के अन्य व्यक्तियो से सर्वथा विलग (व्यावृत्त) होता है उसको 'विशेष' कहते है। दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा परमाणु आदि जो निरवयव होने के कारण नित्य द्रव्य है उनमे एक मन या दूसरे मन से, एक परमाणु का दूसरे परमाणु से अथवा एक आत्मा का दूसरे आत्मा से विभेद करने वाला पदार्थ ही 'विशेष' है इसी लिए उसे 'अन्त्य व्यावर्त्तक' कहा गया है। प्रत्येक परमाणु का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होने के कारण प्रत्येक मूलवस्तु अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखती है। यही पृथक् या विशिष्ट सत्ता उस वस्तु का 'विशेष' कहलाती है. 'विशेष' कारणभूत द्रव्यो (नित्य परमाणुओ) मे रहता है, कार्यभूत अनित्य द्रव्यो (घट, पट) मे नही। इसलिए विशेष का कभी नाश नही होता। प्रत्येक परमाणु के विशिष्ट स्वरूप का द्योतन करना ही 'विशेष' का कार्य है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव से 'विशेष' की पृथकता बनाने के लिए उसके साथ दो विशेषण जोडे गये है : 'सामान्यरहित' और 'एकव्यक्ति-वृत्ति'। अर्थात् विशेष का सामान्य नही होता और वह एक ही व्यक्ति मे समवेत रहता है।

निरवयव नित्य द्रव्यो की अनेकता के कारण 'विशेष' भी असंख्य है। वह नित्य और अगोचर है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा हम द्रव्य, गुण तथा कर्म का ज्ञान

प्राप्त करते हैं उसी प्रकार यौगिक शक्तियों द्वारा विशिष्ट आत्मा से साक्षात्कार (प्रत्यभिज्ञान) किया जाता है।

६

समवाय

स्वरूप : लक्षण

दो वस्तुओं के उस नित्य वर्तमान (अयुतसिद्ध) सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है, जो सर्वदा बना रहता है, कभी नही टूटता। न्याय-वैशेषिक मे 'संयोग' के द्वारा भी दो वस्तुओ का संयुक्त सम्बन्ध स्थापित किया जाता है; किन्तु वह नित्य नही होता, काल-सापेक्ष होता है। 'घट' और 'घटत्व' में जो सम्बन्ध है वह अयुतसिद्ध (नित्य) है, और इसी नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहा गया है। इसके विपरीत घट-रज्जु का जो सम्बन्ध है वह युतसिद्ध (अनित्य) है और इसी कारण ऐसे सम्बन्ध को 'संयोग' कहा गया है।

इस प्रकार 'संयोग' एक वाह्य सम्बन्ध है, जो दो द्रव्यो को कुछ काल के लिए मिला देता है। नदी-नाव का सम्बन्ध ऐसा ही है। नाव, नदी मे भी रह सकती है और सूखे मे भी। किन्तु 'समवाय' एक अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, जो दो द्रव्यो के नित्य सम्बन्ध को सूचित करता है। तन्तु-वस्त्र ऐसा ही सम्बन्ध है, जो अतीत काल से अटूट है और अनन्त काल तक बना रहेगा।

अवयव (तन्तु), अवयवी (वस्त्र), गुण (अग्नि), गुणी (उष्णत्व), क्रिया (वायु), क्रियावान् (उसकी गति); जाति (गोत्व), व्यक्ति (गो), और विशेष (आकाश) तथा नित्य (आकाशत्व) इन वस्तुओ मे समवाय सम्बन्ध पाया जाता है।

'समवाय' अतीन्द्रिय पदार्थ है, अत अनुमान के द्वारा ही वह जाना जा. सकता है।

७

अभाव

स्वरूप : लक्षण

कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' मे 'अभाव' का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु उसको पदार्थों की श्रेणी मे नही रखा गया है और प्रशस्तपाद ने भी अपने भाष्यग्रन्थ में इसी लिए कणाद द्वारा निर्दिष्ट छह पदार्थो का ही निरूपण किया है। किन्तु

ऊपर जिन छह पदार्थों का विवेचन किया गया है उनमे कही भी अभाव पर विचार नही किया गया है। इसी हेतुवाद के वैशेषिककारो ने 'अभाव' को भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया और तभी से वैशेषिक दर्शन को सप्तपदार्थ प्रधान दर्शन कहा जाता है।

न्याय और वैशेषिक, दोनो दर्शनो मे 'अभाव' को 'भाव' का प्रतियोगी पदार्थ माना गया है। जिस प्रकार छह भाव पदार्थो की उपयोगिता एवं आवश्यकता स्वीकार की गयी है उसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ की भी अनिवार्यता है, बल्कि वैशेषिक दर्शन के पदार्थ-विवेचन मे 'अभाव' अत्यन्त तर्कसगत, सूक्ष्म और गभीर पदार्थ है। इस पदार्थ के कारण वैशेषिक दर्शन का अधिक महत्व बढा है।

'भाव' की भाँति 'अभाव' की भी स्वतन्त्र सत्ता है। एक ही बात को हम इन दोनो पदार्थो के द्वारा कह सकते है। उदाहरण के लिए 'घट है', यह वाक्य भावात्मक और 'घट का अभाव नही है' यह वाक्य अभावात्मक है। इसी प्रकार 'घट नही है' यह वाक्य अभावात्मक और 'घट का अभाव है' यह वाक्य भावात्मक है। इससे सिद्ध है कि अभाव की सत्ता और उसका क्षेत्र भाव की सत्ता और उसके क्षेत्र के बराबर है।

अभाव का ज्ञान, भावज्ञान पर आधारित है, क्योकि घटज्ञान के बिना घटाभाव का ज्ञान सभव नही है। इसलिए कहा गया है कि 'जिस पदार्थ का ज्ञान उसके विरोधी (प्रतियोगी) पदार्थ के ज्ञान के बिना सम्भव नही है वह 'अभाव' पदार्थ है' (**प्रतियोगिज्ञानाधीनोऽभाव.**)। क्योकि भाव पदार्थो का ही अपर नाम वैशेषिक है, अत उन पर आधारित अभाव पदार्थ की सत्ता स्वत. सिद्ध है।

अभाव के भेद

अभाव पदार्थ चार प्रकार का माना गया है १ प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३ अन्यन्ताभाव और ४. अन्योन्याभाव। वचस्पति मिश्र ने अभाव को पहले दो भागो मे वर्गीकृत किया है : तादात्म्याभाव और संसर्गाभाव। तादात्म्याभाव का उन्होने एक भेद माना है . अन्योन्याभाव, और ससर्गाभाव के तीन भेद किये है . प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अन्यन्ताभाव। इस दृष्टि से भी अभाव के वही चार भेद होते है।

१ प्रागभाव

किसी कार्य की उत्पत्ति से पहले उस कार्य का जो अभाव रहता है उसको 'प्रागभाव' कहते है (**उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य**)। कार्य द्रव्य घट के निर्माण से पूर्व इस भूतल पर जब तक उसका अस्तित्व नही था उसी अभावात्मक अवस्था का

नाम ही 'प्रागभाव' है । घट का यह प्रागभाव अनादि है, किन्तु उसका भाव हो जाने अर्थात् घट का निर्माण हो जाने के बाद उसके प्रागभाव का अन्त हो जाता है । अतः प्रागभाव अनादि और सान्त दोनो है ।

२. प्रध्वंसाभाव

ध्वंस कहते है नाश को । किसी उत्पन्न कार्यद्रव्य के विनाश हो जाने पर उसका जब अभाव हो जाता है तो उसको 'प्रध्वंसाभाव' कहते है (**विनाशानन्तरं कार्यस्य**) जिस कार्यरूप घट द्रव्य का निर्माण हुआ था वह कभी टूट भी सकता है । और वह घट जब टूट जाता है तब से उसका अभाव आरम्भ हो जाता है और इस अभाव का कोई अन्त नही होता । क्योकि जो घडा विनष्ट हो गया है वही फिर नही बन सकता है । इसलिए प्रध्वंसाभाव सादि तो है, किन्तु अनन्त है ।

३. अत्यन्ताभाव

जहाँ दो वस्तुओ में त्रैकालिक संसर्गाभाव या सम्बन्धाभाव पाया जाय उस अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते है । अत्यन्ताभाव मे वस्तुओ का अभाव नही उनके संसर्ग (समवाय) का अभाव पाया जाता है । जैसे वायु मे रूप का भाव न तो भूतकाल मे था, न वर्तमान मे है और न भविष्य मे ही होगा । इसलिए 'अत्यन्ताभाव' को 'समयाभाव' भी कहा जाता है । प्रागभाव सान्त होता है, प्रध्वंसाभाव सादि होता है, किन्तु अत्यन्ताभाव आदि-अन्त रहित शाश्वत एव नित्य होता है ।

४. अन्योन्याभाव

जहाँ एक वस्तु मे दूसरी वस्तु से भिन्नता पायी जाय, अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के रूप का अभाव हो उसको 'अन्योन्याभाव' कहते है । उदाहरण के लिए घट, पट से भिन्न और पट, घट से भिन्न है । इसका यह भी आशय हुआ कि परस्पर दोनो मे एक-दूसरे के रूप का अभाव है । अन्योन्याभाव में दो वस्तुएँ एक नही होतीं । अत्यन्ताभाव मे दो वस्तुओ में सम्बन्ध का अभाव होता है । अन्योन्याभाव मे 'तादात्म्य' का निषेध और अत्यन्ताभाव मे 'संसर्ग' का निषेध पाया जाता है । यही दोनो मे अन्तर है ।

असत्कार्यवाद या आरम्भवाद

न्याय और वैशेषिक के अनुसार कार्य और कारण दोनो का अलग-अलग अस्तित्व माना गया है । वहाँ कारण को कार्य का जनक माना गया है (**कार्योत्पादकत्वं**

कारणत्वम्) । कारण पिता और कार्य पुत्र है । पिता-पुत्र दोनो एक नही होते, भिन्न-भिन्न होते है । प्रत्येक कार्य का आदि और अन्त है । उत्पन्न होने से पहले कार्य असत् (अस्तित्वरहित) था । घडा जब तक बनाया नही गया था, तब तक वह 'असत्' था, उसका प्रागभाव था, किन्तु घडे के बन जाने से उसका प्रागभाव मिट जाता है । इसलिए उसको प्रागभाव का प्रतियोगी कहा गया (**प्रागभाव-प्रतियोगित्वं कार्यत्वम्**) । कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' था, इस सिद्धान्त को 'असत्कार्यवाद' कहा गया । क्योकि कार्य (घट) सर्वथा एक नयी वस्तु के रूप मे, जो कारण (मिट्टी) से भिन्न है, उत्पन्न होता है । अर्थात् कार्य की उत्पत्ति उसकी आदि सृष्टि है । इसलिए 'असत्यकार्यवाद' को 'आरम्भवाद' भी कहते है ।

परिणामवादी साख्य का मत

कारण के इस सम्बन्ध को लेकर न्यायवैशेषिक के साथ साख्य का बडा मतभेद है। साख्य 'सत्कार्यवाद' को मानता है । साख्य का मत है कि घट और मिट्टी, दोनो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नही है । कारण और कार्य का तादात्म्य सम्बन्ध है । मिट्टी (कारण) ही बदलकर घट (कार्य) की अवस्था मे परिणत हो जाती है । अन्यथा साख्य यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि, जो वस्तु असत् है उसका भाव (अस्तित्व, सत्ता) नही हो सकता और जो वस्तु सत् है उसका अभाव नही हो सकता (**नाऽसतो विद्यते भावः नाऽभावो विद्यते सतः**) । यदि घट की सत्ता नही थी तो वह आया कहाँ से ? अत. वस्तुतः देखा जाय तो मिट्टी से घट उत्पन्न नही होता, बल्कि वह मिट्टी मे मौजूद रहता है । उसकी उत्पत्ति नही अभिव्यक्ति होती है । साख्य के परिणामवाद के अनुसार घट अपने उपादान कारण मिट्टी मे पहले ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान था, निमित्तकारण कुम्हार ने उसका रूपमात्र व्यक्त कर दिया । अतः कारण की भाँति कार्य की सत्ता भी मौलिक है । इस मत को 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है ।

साख्य के उक्त अभिमत के विरुद्ध, न्याय-वैशेषिक का कथन है कि यदि मिट्टी और घट दोनो एक ही है तो घट मे नये धर्म कहाँ से आये ? यदि दोनों एक है तो उन्हे अलग-अलग नाम से क्यो पुकारा जाता है ? इसके अतिरिक्त यदि दोनो एक है तो फिर कुम्हार की आवश्यकता क्यो होती है ?

साख्यकारो ने इसका भी उत्तर दिया है, जो वेदान्त से मिलता है। साख्य का 'सत्कार्यवाद' और वेदान्त का 'विवर्तवाद' इस दृष्टि से एक है । विवर्तवाद के अनुसार कार्य का वास्तविक तत्त्व कारण ही है । कार्य मे जो नये धर्म दीखते है वे भ्रममात्र है । उदाहरण के लिए रस्सी मे सर्प का भ्रम होने से रस्सी, सर्प नहीं

होती है, बल्कि वास्तव मे रस्सी, रस्सी ही रहती है और सर्प, सर्प ही रहता है। इसी प्रकार यह जगत्, जिसको हम भ्रम से अलग समझते है, वस्तुतः ब्रह्म का ही विवर्त है, उपादान है। इसलिए कारण और कार्य दोनो भिन्न-भिन्न नही हैं।

किन्तु, इस मत के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक का कथन है कि यदि कारण कार्य को एक ही मान लिया जाय तो इस बाह्य जगत् का कोई अस्तित्व ही न रह जायगा, जैसा कि सम्भव नही है। इस सिद्धान्त को 'बाह्यार्थवाद' कहते है। इस दृष्टि से वस्तुत. मिट्टी कार्य और घट कार्य, दोनो एक नही है, भिन्न-भिन्न है, क्योकि उनसे लोक मे दो भिन्न-भिन्न वस्तुओ का बोध होता है। कार्य अवयवी है और कारण अवयव। घट अवयवी मे एकत्व है और उसके अवयव मिट्टी मे अनेकत्व है। दोनों की उत्पत्ति भी एक समान नही है। अत. कारण (मिट्टी) और घट (कार्य) दोनो अलग-अलग है। कारण मे कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होकर रहता है।

आगे न्याय-वैशेषिक के मत से कारण-कार्य का सम्बन्ध जान लेने पर 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' का सिद्धान्त अधिक स्पष्ट हो जाता है।

कारण और कार्य

प्राय. सभी दर्शनो का तत्त्व-विवेचन कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित है। लोक-व्यवहार मे भी यह देखा गया है कि बिना कारण के कोई कार्य नही होता है। इसलिए उसके सम्बन्ध मे कहा गया है **'कार्योत्पादक कारणत्वम्'**। कारण से कार्य की उत्पत्ति मे तीन बातें होती है : (१) कारण अपने कार्य का पूर्ववर्ती होता है, जैसे पुत्र (कार्य) के जन्म से पहले पिता (कारण) होता है; (२) कार्य का जो पूर्ववर्ती कारण है वह नियतरूप से होना चाहिए, (३) वह पूर्ववर्ती नियत कारण अन्यथासिद्ध न हो, अर्थात् जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'किसी कार्य के होने से ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना हो और जो अन्यथासिद्ध न हो उसे 'कारण' कहते है (**अन्यथासिद्ध-नियतपूर्ववर्त्ति कारणम्**)। उदाहरण के लिए घट के निर्माण मे मिट्टी उसका नियत पूर्ववर्ती कारण है, क्योकि उसके बिना घट कार्य सम्पन्न नही हो सकता। मिट्टी को लाने वाला गधा अन्यथासिद्ध नही है, क्योकि मिट्टी लाने का कार्य कोई आदमी भी कर सकता है। इसी प्रकार मिट्टी का लाल-पीला रंग और घड़े से पूर्व नियत रूप से रहने वाला कुम्हार का पिता आदि घट के कारण नही हो सकते है, क्योकि इनके बिना भी घट बन सकता है।

करण

फल-सम्पादन के लिए जो सबसे उन्नत साधन होता है उसे 'करण' कहते है। जैसे वृक्षच्छेदन मे पेड काटने वाला लकडहारा, उसका हाथ, कुल्हाड़ी आदि अनेक वस्तुएँ हैं, किन्तु इनके रहते हुए भी फल-सपादन (वृक्षच्छेदन) नही हो रहा है। फलोत्पत्ति तब होगी जब परशु-वृक्ष-संयोग होगा। अतः 'परशु-वृक्ष संयोग' ही 'करण' है, क्योकि उसी से फलोत्पत्ति देखी जाती है। इसी 'प्रकृष्ट कारण' को 'करण' कहते है। लकडहारा, उसका हाथ, कुल्हाडी, पेड़ आदि 'कारण सामग्री' है।

कार्य मे अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। अर्थात् जहाँ कारण रहेगा वहाँ कार्य भी अवश्य होगा और जहाँ कारण नही रहेगा वहाँ कार्य भी न होगा **(कारणाभावत् कार्याभावः; कारणभावात् कार्यभाव)।**

कारण के भेद

कारण के तीन भेद है समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

समवायिकारण

जिस कारण मे कार्य समवेत रहता है उसको 'समवायिकारण' कहते है। जिन दो पदार्थों मे एक पदार्थ सदैव दूसरे के आश्रित होकर रहे वे दोनो पदार्थ 'अयुतसिद्ध' कहे जाते है। इन्ही दो पदार्थों मे समवाय सम्बन्ध होता है। यह अयुतसिद्ध समवाय सम्बन्ध अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति और नित्य-विशेष मे होता है।

सभी कार्य वस्तुएँ सावयव होती है, जैसे कपडा और सूत। सूत, कपडे के 'अवयव' और कपडा, सूत का 'अवयवी' है। यहाँ सूत-कपडा मे समवाय सम्बन्ध है। अवयव (सूत) कारण और अवयवी (कपडा) कार्य है। यहाँ सूत, कपड़े का 'समवायिकारण' है।

'गुण' जिसके आश्रित हो वह 'गुणी' कहलाता है। 'गुण' कार्य है और 'गुणी' उसका कारण। 'गुलाब का गुलाबी रंग' इसमे गुलाब गुणी और गुलाबी रंग गुण है। इन दोनो मे भी 'समवाय सम्बन्ध' है। गुलाब, गुलाबी रंग का 'समवायिकारण' है।

कोई भी क्रिया किसी क्रियावान् द्रव्य के आश्रित होकर रहती है। जैसे पेड का पत्ता और उसका हिलना। यहाँ 'हिलना' क्रिया, क्रियावान् पत्ते के आश्रित है। यहाँ पत्ता कारण और हिलना क्रिया के अयुत सम्बन्ध होने के कारण, पत्ता, हिलने का 'समवायिकारण' है।

मनुष्यत्व (जाति) और एक मनुष्य (व्यक्ति), दोनो मे समवाय सम्बन्ध है । व्यक्ति के बिना जाति नही रह सकती है । यहाँ व्यक्ति, जाति का 'समवायिकारण' है ।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार भौतिक परमाणुओ मे परस्पर भेद करने के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है । यह 'विशेष' नित्य द्रव्य से अलग होकर नही रह सकता है । अतः दोनो मे समवाय सम्बन्ध है और नित्य द्रव्य विशेष पदार्थो का समवायिकारण है ।

असमवायिकारण

'समवायिकारण' मे कारण मे कार्य समवेत रहता है; और वह 'समवायिकारण' द्रव्य ही होता है । उसके गुण-कर्म नहीं होते, किन्तु 'असमवायिकारण' वहाँ होता है, जहाँ कारण मे कार्य समवेत नही रहता और वह समवायिकारण गुण या कर्म मे होता है, द्रव्य मे नही ।

उदाहरण के लिए कपडे का समवायिकारण है 'सूत' और सूतो मे परस्पर संयोग संबन्ध है । सयोग गुण है और वह समवाय सम्बन्ध से 'सूतो' मे है और सूतो के सयोग के बिना कपडा तैयार नही हो सकता । अत 'सयोग' कपडे का 'कारण' है और कपडे के साथ समवाय संबन्ध से विद्यमान है । सूतो मे रहने वाला संयोग (कारण) और पट (कार्य) एक ही अधिकरण (तन्तु) मे समवेत है । इसलिए सूतो का 'सयोग' कपडारूपी कार्य का 'असमवायिकारण, है । इस उदाहरण मे असमवायिकारण और समवायिकारण मे 'कार्यैकार्थसमवाय लक्षणा' है ।

इसका दूसरा उदाहरण भी है, जिसमें 'कारणैकार्थसमवाय लक्षणा' है । जैसे 'सूत का रूप' यहाँ सूत का 'रूप', कपडे के रूप का 'कारण' है । अत. सूतरूप, पटरूप का 'असमवायिकारण' है ।

इसी लिए 'तर्कसग्रह' मे 'असमवायिकारण' का लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'जो कार्य के या कारण के साथ एक ही विषय मे समवेत हो उसको 'असमवायिकारण' कहते है **(कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेत सत्कारणम् असमवायिकारणम्)** ।

निमित्तकारण

समवायिकारण और असमवायिकारण, दोनो से भिन्न कारण 'निमित्तकारण' कहलाता है । जैसे घट-निर्माण मे कुम्हार उसका कर्त्ता होने के कारण घट का 'निमित्तकारण' है और चाक, डंडा आदि सहायक होने के कारण 'सहकारिकारण' है ।

परमाणुवाद

'परमाणुवाद' वैशेषिक दर्शन का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक और जटिल सिद्धान्त है। वैशेषिक के अनुसार जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सावयव है और वे भिन्न-भिन्न अवयवो के योग से बने हैं। ये अवयव अनन्त हैं, क्योकि अवयवो से निरन्तर अवयव बनते हैं। पहला अवयव दूसरे अवयव का समवायिकारण या उपादानकारण है। उदाहरण के लिए घट, मृत्तिका का समवायिकारण है और पट का समवायिकारण है तन्तु। दो पदार्थों के नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। घट का मृत्तिका से और पट का तन्तु से ऐसा ही नित्य सम्बन्ध है। अतएव घट का समवायिकारण या उपादान कारण है मृत्तिका और पट का तन्तु। अवयवो की यह प्रक्रिया एक सरसो से लेकर पर्वत तक सम्पूर्ण वस्तुओ मे एक समान पायी जाती है।

किन्तु प्रत्येक सावयव पदार्थ के अवयवो को यह विभाजन-प्रक्रिया अन्त मे एक ऐसी स्थिति पर पहुँचती है जहाँ वे अवयव इतने सूक्ष्मतम हो जाते है कि उनका विभाजन करना सर्वथा असंभव हो जाता है। वस्तु के उसी अविभाज्य मूल अश को 'अणु' या 'परमाणु' कहा जाता है। इसलिए परमाणु उस पदार्थ को कहते है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम हो और जिसके परे अन्य सूक्ष्म न हो। कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' मे कहा गया है कि जिसको तोडा ही न जा सके वह 'परमाणु' है (**परं वा त्रुटे**)। ऐसे अविभाज्य, निरवयव, अविनश्वर और नित्य द्रव्यो के नाम है . आकाश, काल, दिक्, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु। इनका न तो जन्म होता है और न संहार ही। वे सृष्टि और प्रलय, दोनो अवस्थाओ मे सदाशय रूप मे बने रहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये चार भौतिक परमाणु है। इनको महाभूत भी कहा गया है। इन्ही से सृष्टि का सूत्रपात होता है। मूलभूत कारण रूप मे वे नित्य (परमाणु) है और उत्पत्ति भूत कार्यरूप मे अनित्य।

परिमाण की दृष्टि से परमाणु के दो स्वरूप है : परम अणु और परम महत्। परिमाण (आयतन) की सब से अल्प पराकाष्ठा को 'परम अणु' और परिमाण की सब से ऊँची पराकाष्ठा को 'परम महत्' कहते है। परमाणु के ये दोनो स्वरूप अगोचर, अस्पृश्य होने के कारण अनुमानगम्य हैं। इस 'परम अणु' को 'त्रुटि' या 'त्रसरेणु' कहा गया है। ये 'परम अणु' मिलकर ही 'महत् अणु' का निर्माण करते है। दो परमाणुओ के योग से 'द्वयणुक' और तीन अणुओ के

संयोग से 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' बनाता है। सूर्यरश्मि मे उडता हुआ धूल का कण 'त्रसरेणु' या 'त्र्यणुक' का उदाहरण है। इस 'त्र्यणुक' के बाद जितने भी परमाणु बनते हैं वे 'द्वयणुक' की संख्या पर निर्भर है। किन्तु दो अणुओ मे रहने वाली द्वित्व सख्या, बहुत्व की संख्या नही होती। अत. 'द्वयणुक' का परिणाम महत् का परिणाम नही होता। त्र्यणुक मे महत्परिमाण होता है।

द्वयणुक

परमाणु चार प्रकार के है: पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। उनके कार्यरूप द्रव्य भी चार है: पृथ्वी, जल, तेज और वायु। ये चारों कार्यरूप द्रव्य कारण रूप परमाणुओ के द्वयणुकों, त्र्यणुकों और उनके वृहत्तर संयोगो के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए। यह सयोग परमाणुओ की गति या कर्म के कारण हुआ।

सृष्टि और प्रलय

उत्पत्ति की प्रक्रिया

वैशेषिक दर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया बडी ही उलझी हुई है। वैशेषिक का मत है कि सृष्टि और लय, इन दोनो का आदि-अन्त नही है। प्रत्येक सृष्टि से पहले लय की अवस्था थी और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था थी। इसलिये किसी भी सृष्टि-लय को प्रथम या अन्तिम नही कहा जा सकता है।

प्रत्येक सृष्टि की प्रलयावस्था मे कुछ मूलभूत परमाणु ऐसे है, जो अपने धर्माधर्म सस्कार के कारण विनष्ट नही होते। निस्तब्ध और निश्चेष्ट रूप मे पडे रहते है। इन मूलभूत परमाणु के अतिरिक्त आत्मा, काल, दिक् और आकाश भी प्रलयकाल मे नष्ट नही होते।

परमाणु उस पदार्थ को कहते है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम हो और जिससे परे अन्य सूक्ष्म न हो। ऐसे परमाणु अनन्त है, जिनको गिना नही जा सकता। साख्य, योग और वेदान्त मे उन असंख्य परमाणुओ को सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणप्रधान कहा गया है। न्याय, वैशेषिक और मीमासा मे उन्हे परमाणु कहा गया है। इन परमाणुओ को कोई ऐसी दिव्य शक्ति है, जिसको प्रमाणकुशल लोग भी नही पा सकते, जिसका योगी भी लक्षण नहीं कर सकते, मुमुक्षु भी जिसकी उपेक्षा नही कर सकते और वैज्ञानिक जिसका लक्षण नही कर सकते। वह अप्रज्ञात, अलक्षण, अतर्क्य, अविज्ञेय और अव्यक्त कोई पदार्थ है, जो इन सत्वादि गुणो की तथा परमाणुओं की साम्यावस्था है। उसी का नाम साख्य मे प्रकृति है। 'वैशेषिक सूत्र' में कहा गया है कि 'जो पदार्थ सत्स्वरूप है, जिसका अन्य कोई

कारण भी नही, वह नित्य पदार्थ ही 'मूला प्रकृति' है' (सदकारणवन्नित्यम्)। दैवी शक्ति, पर शक्ति, माया, महामाया, प्रकृति, अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान आदि उसी के अनेक नाम है।

प्रलयावस्था मे सारा जगत् सोया हुआ-सा अंधकार मे आवृत एव लीन था। जिस समय न मृत्यु थी, न जीवन था, न रात्रि और न दिन ही का अस्तित्व था उस समय प्रकृति (स्वधा) और एक चेतन (ब्रह्म) था, जो निष्काम्य था और जिससे परे कुछ न था।

इस प्रकार की प्रलय निशा मे विश्राम कर चुकने के अनन्तर चेतन परमेश्वर को सृष्टि-रचना की इच्छा हुई और समस्त सोई हुई शक्तियाँ जागकर सृष्टि-प्रक्रिया मे जुट गयी। सर्व प्रथम वायु-परमाणुओ के सयोग से वायु महाभूत, तदनन्तर जल-परमाणुओ के सयोग से जल महाभूत, फिर पृथ्वी-परमाणुओं के सयोग से पृथ्वी महाभूत और अन्त मे तेज-परमाणुओं के सयोग से तेज महाभूत की उत्पत्ति हुई। चार महाभूतो की उत्पत्ति के बाद ईश्वर के ध्यानमात्र से तेजस् और पार्थिव परमाणुओ के सयुक्त बीजरूप अण्ड मे 'हिरण्यगर्भ' और उसमे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यही ब्रह्मा या विश्वात्मा इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का कारण होने से पितामह कहलाया। उस पितामह को अनन्त ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का आगार कहा गया।

उस महाभाग से महत्तत्त्व (बुद्धि) और तत्पश्चात् अहकार (काम) उत्पन्न हुआ। उसी को 'मन' कहा गया। जगत् की उत्पत्ति मे कर्म हेतु था। महत्तत्व और अहकार, जिनको साख्य तथा योग मे प्रकृति का परिणाम माना गया है, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदान्त मे उन्हे क्षुब्ध प्रकृति का भागविशेष कहा गया है। बाद मे ईश्वर की इच्छा से अहंकार के सत्वगुणविशेष भाग से प्रत्येक जीव को एक-एक मन दिया गया। इस प्रकार क्रमशः मनु, ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि विभिन्न कोटि के जीवो की रचना हुई।

सृष्टि के आरंभ मे किसी भी जीव का कोई स्वरूप नही था। चेतन परमात्मा के सकल्प से इस जगत् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए इस सृष्टि से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि को, परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण, 'साकल्पिक' कहा गया।

जीव का यह जो मनुष्य, पशु, पक्षी के रूप मे भिन्न-भिन्न शरीर दिखायी दे रहा है उसका कारण पूर्वजन्म के किये गये धर्माधर्म का परिणाम है। जीवों के

पाप-पुण्य आदि प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही ईश्वर ने उनको भिन्न-भिन्न शरीर दिये। इसीलिए कर्म को उत्पत्ति का हेतु कहा गया है।

प्रलय की प्रक्रिया

जिस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है उसी प्रकार प्रलय-प्रक्रिया भी उसी के आधीन है। उसी परमेश्वर की इच्छा से नाना नामरूपधारी जीव अनेक योनियो मे जन्म लेकर और प्रत्येक जोवन के सुख-दु खो का उपभोग करके अन्त मे अपनी उस अवस्था मे लौट आते है, जहाँ वे निश्चेष्ट अवस्था मे लीन थे। सृष्टि के बाद प्रलयावस्था को यह निश्चेष्टता प्राणियो की विश्रामावस्था कही गयी है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओ मे निर्मित विश्व के समस्त कार्यरूप द्रव्य विनष्ट हो जाते है। शरीर मे आत्मा अलग हो जाता है। जीवो के सारे अदृष्ट अवरुद्ध हो जाते हैं। शरीर और इन्द्रियो के निर्माता परमाणु विच्छिन्न हो जाते है। सभी परमाणु अलग-अलग हो जाते है। इस अवस्था को कल्पान्तर, संहार या प्रलय कहा गया है।

इस प्रलयकाल मे सारे जीव थककर सो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु, दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा ये नित्य द्रव्य और जीवात्माओ ने सृष्टिकाल मे जो धर्माधर्म किये थे उनके संस्कार बच जाते है। ये चार महाभूत, पाँच नित्य द्रव्य और संस्कार ही अगली सृष्टि की रचना करते है, जब जीवो के कुछ काल तक विश्राम करने के बाद परमेश्वर की सृष्टि रचना के लिए पुन इच्छा होती है।

इस प्रकार सिद्ध है कि वैशेषिक की सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया एक ऐसा चक्र है, जो निरन्तर घूमता रहता है और जिसका न आदि है और न अन्त ही।

सांख्य दर्शन

* * * *

साख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हुए, जो कि उपनिषत्कालीन ऋषि थे। किन्तु साख्य के विचार अपने मूल रूप मे कपिल से भी प्राचीन हैं। वह न्याय और वैशेषिक, दोनो दर्शनो से प्राचीन है। 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर', और 'मैत्रेय' आदि उपनिषदो तथा 'महाभारत' एवं 'गीता' आदि अनेक ग्रन्थो मे साख्य के सिद्धान्त प्रचुर रूप मे बिखरे हुए हैं। इन्ही प्राचीनतम विचारो को सुसंगत एवं वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित करके कपिल ने साख्य दर्शन की प्रतिष्ठा की।

साख्य का अर्थ

'साख्य' शब्द का विद्वानो ने अनेक प्रकार का अर्थ किया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस दर्शन का 'साख्य' नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमे सर्व प्रथम पच्चीस तत्त्वो की सख्या निर्धारित की गयी है। 'भागवत' मे इसी उद्देश्य से प्रस्तुत दर्शन को 'तत्त्व-सख्यान' कहा गया है, जिसको कि टीकाकार श्रीधर स्वामी ने 'तत्त्व-गणक' के नाम से कहा। अत तत्त्वो की प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक गणना का आधारभूत शास्त्र होने के कारण इसको 'साख्य' कहा गया। 'साख्य' शब्द के इस आशय के विपरीत दूसरे विद्वानो का कथन है कि ज्ञान का सम्यक् निदर्शन होने के कारण उसका नाम 'साख्य' पडा। 'सम्' पूर्वक 'ख्याञ्' धातु से 'साख्य' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है सम्यक् ख्यान, सम्यक् विचार या सम्यक् ज्ञान। इस सम्यक् ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध है। अविद्या के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान नही होता है और इसीलिए तब तक वह दु:ख से निवृत्त नही हो सकता है। जब तक जीव सत्त्व-रज-तम-रूप अविद्या को त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् करके नही देखता तब तक वह दु:खो से छुटकारा नही पा

सकता है। साख्य दर्शन मे प्रतिपादित तत्वज्ञान से जिज्ञासु को विवेकबुद्धि होती है और तभी वह अविद्या से आच्छादित आत्मा को मुक्त करता है, अविद्या के इस बन्धन को तोड डालता है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक, दोनो दर्शनो मे दु.ख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए, दु ख विनिश्चायक तत्त्वज्ञान की सुन्दर मीमासा की गयी है, किन्तु आत्मा और अविद्या पर जितना सूक्ष्म विचार साख्य मे किया गया है उतना उक्त दोनो दर्शनो मे नही है। इस दृष्टि से साख्य की गणना वेदान्त से की जा सकती है।

अत. 'साख्य' शब्द का अर्थ तत्त्व संख्यान या तत्त्व-गणना न होकर सम्यक् ज्ञान या सम्यक् विचार है।

साख्य का सार

साख्य द्वैतमूलक दर्शन है। प्रकृति और पुरुष उसके दो मूल तत्त्व है। 'साख्यकारिका' मे सत्त्व, रज और तम का साम्यावस्था को ही 'प्रकृति' कहा गया है। प्रकृति जड और एक है, पुरुष सचेतन और अनेक है। प्रकृति-पुरुष का संयोग ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। प्रकृति और पुरुष के सयोग से सर्वप्रथम जिस महत्तत्त्व की उपलब्धि होती है उसे 'बुद्धितत्त्व' कहते है। बुद्धितत्त्व से 'सत्त्वप्रधान अहंकार' और 'तम प्रधान अहकार' की उत्पत्ति हुई है। सत्त्वप्रधान अहकार से 'एकादश इद्रियाँ' तथा तम-प्रधान अहंकार से 'पंचतन्मात्राओ' का आविर्भाव हुआ और पंचतन्मात्राओ से 'पचतत्त्वयुक्त जगत्' को उत्पत्ति हुई।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥

साख्य के प्राचीन सिद्धान्त वेदान्त से बहुत-कुछ साम्य रखते है, क्योकि उसमे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया था; किन्तु बाद मे साख्य निरीश्वरवादी हो गया। प्रकृति और पुरुष, दो मूल कारणो के अतिरिक्त, ईश्वर नाम की किसी तीसरी सत्ता को स्वीकार करने मे साख्य सर्वथा मौन है। यही कारण है कि गौतम बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो की आधारभित्ति को साख्य की ठोस भूमि पर निर्मित किया। जैन और बौद्ध, दोनो धर्म-सम्प्रदायो ने अहिंसावाद का परम लोकोपकारी सिद्धान्त भी साख्य से ही अपनाया।

सांख्य दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

कपिल

साख्य दर्शन के प्रवर्तक के रूप मे कपिल का नाम प्रसिद्ध है। इनके जीवन चरित्र और स्थितिकाल के सम्बन्ध मे विद्वानो का एकमत नही है। इस नाम के

लगभग चार व्यक्तियों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है। 'भागवत' के तीसरे स्कन्ध के एक प्रसंग मे यह देखने को मिलता है कि कपिल, प्रजापति कर्दम तथा मनुपुत्री देवहूति का पुत्र था, वही विष्णु का अवतार था और उसी ने सांख्य दर्शन का भी प्रवर्तन किया। कपिल के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के उल्लेख 'रामायण' और 'महाभारत' मे भी देखने को मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त प्राचीन ग्रन्थो मे उद्धृत कपिल से सम्बन्धित उल्लेखो की परीक्षा करके कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर और कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर अग्नि, विष्णु, शिव तथा हिरण्यगर्भ आदि शब्दों का पर्यायवाची शब्द के रूप मे ग्रहण किया गया है। इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए 'जयमंगला' टीका की भूमिका मे महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि कपिल एक महान् सिद्धिप्राप्त व्यक्ति थे। उसी सिद्धि के बल पर मुक्ति को प्राप्त करने से पहले उन्होने अपनी एक सिद्धदेह की स्वयं रचना करके साख्य का उपदेश देने के लिए वे आसुरि के समक्ष प्रकट हुए थे। इस प्रकार कपिल का कोई भौतिक शरीर नही था। अत कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नही माना जा सकता है।

इन विद्वानो के मतो का विश्लेषण श्री उदयवीर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'साख्य दर्शन का इतिहास' मे किया है। शास्त्री जी ने, कपिल के सम्बन्ध मे बिखरे हुए प्रमाणो को सिलसिलेवार लगाकर यह सिद्ध किया है कि कपिल की जीवनी इतिहास शुद्ध घटनाओं पर आधृत है। उनका काल अत्यन्त प्राचीन था, जिसका स्पष्ट निर्देश किया जाना अत्यन्त कठिन है; किन्तु उनका समय सत्ययुग के अन्त अथवा त्रेतायुग के आरम्भ मे था। शास्त्री जी का यह भी कथन है कि कपिल का उत्पत्ति स्थान वर्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर कही अवस्थित था। वही सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर ब्रह्मावर्त्त की पश्चिमी सीमा मे कर्दम ऋषि का भी आश्रम था। इसलिए ब्रह्मावर्त्त देश के तत्कालीन राजा स्वायंभुव मनु का, अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह करने के लिए वहाँ उपस्थित होना सर्वथा युक्तियुक्त जान पडता है।

कपिल को सत्ययुग अथवा त्रेता मे रखने का उक्त अभिमत भले ही विवादास्पद हो, किन्तु यह निश्चित है कि कपिल एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उन्होने ही साख्य दर्शन का प्रवर्तन किया। कपिल के सम्बन्ध मे इधर जो नई गवेषणायें हुई है उनके आधार पर यह अधिक उपयुक्त जान पडता है कि कपिल का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ई० पूर्व के आसपास था। डा० राधाकृष्णन् का भी यही मत है।

कपिल के नाम से सम्प्रति जो 'साख्यसूत्र' उपलब्ध है वह 'साख्यषडाध्यायी' और 'तत्त्वसमास', इन दोनो ग्रन्थो को मिला देने से बना है। कपिल के इन दोनो ग्रन्थो पर जो टीकायें लिखी गयी उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि हुए। आसुरि के शिष्य पंचशिख ने एक सूत्र मे कहा है कि 'सृष्टि के आदि मे विष्णु रूप भगवान ने योगबल से एक चित्त का निर्माण कर तथा स्वय एक अश से उसमे प्रवेश कर, कपिल का रूप धारण कर, महर्षि कपिल के रूप मे, करुणा से युक्त होकर, परमतत्त्व की जिज्ञासा करने वाले अपने प्रिय शिष्य आसुरि को साख्य दर्शन के तत्त्वो का उपदेश दिया' (**आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्र प्रोवाच**)।

कीथ, गार्वे प्रभृति विद्वान् आसुरि को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नही मानते है, किन्तु 'शतपथ ब्राह्मण' और 'महाभारत' के अनेक स्थलो पर आसुरि से सम्बन्धित उल्लेखो को देखकर उनकी ऐतिहासिकता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। इन ग्रन्थो मे लिखा हुआ है कि आसुरि ने कपिल मे अध्यात्म विद्या का उपदेश लिया था। उस दीक्षा और प्रव्रज्या से पूर्व आसुरि महायाज्ञिक तथा गृहस्थ था। वह वर्ष-सहस्रजीवी था। इनकी कोई भी स्वतत्र रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।

पंचशिख

आसुरि के शिष्य पचशिख हुए। 'महाभारत' शान्तिपर्व मे पंचशिख का उल्लेख हुआ है। उसको पराशरगोत्रीय और उसकी माता का नाम कपिला कहा गया है। उसके सम्बन्ध मे लिखा गया है कि उसने कपिल द्वारा प्रणीत 'षष्टितंत्र' को अपने गुरु आसुरि से पढकर उसे अनेक शिष्यो को पढाया और उस पर विस्तृत व्याख्यान भी लिखा। इस 'षष्ठितत्र' ग्रन्थ का निर्माता कुछ विद्वान् पंचशिख को ही मानते है, किन्तु इस सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ नही कहा जा सकता है, क्योकि वह उपलब्ध नही है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (१२।१८–३०) मे यह ग्रन्थ साठ परिच्छेदो का बताया गया है।

पंचशिख के नाम से सम्प्रति कोई कृति उपलब्ध नही है। विभिन्न दर्शनग्रन्थो मे उनके नाम से कुछ सूत्र उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि पंचशिख ने निश्चित ही साख्य दर्शन पर किसी सूत्रग्रन्थ का निर्माण किया था।

पंचशिख के शिष्यो मे जनक धर्मध्वज भी एक था। 'विष्णुपुराण' मे उनका

वंशक्रम धर्मध्वज-मितध्वज-ऋतध्वज और खाण्डिक्य जनक केशिध्वज, इस प्रकार दिया गया है। 'युक्तिदीपिका' (७०वीं कारिका) से ऐसा विदित होता है कि पंचशिख के दो शिष्य और थे. वशिष्ठ और कराल जनक। वसिष्ठ इक्ष्वाकु राजवंश का पुरोहित था और विदेहो के जनकवंश के व्यक्ति निमि का दूसरा पुत्र कराल जनक हुआ।

सांख्य के अन्य प्राचीन आचार्य

ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' (७१वीं कारिका) मे लिखा हुआ है कि साख्य दर्शन का यह ज्ञान पंचशिख के बाद परम्परा से ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। इस परम्परा के प्राचीन साख्याचार्यों का क्रमबद्ध इतिहास नही मिलता है ; किन्तु 'महाभारत', 'बुद्धचरित', 'माठरवृत्ति' और 'युक्तिदीपिका' आदि ग्रन्थो से विदित होता है कि याज्ञवल्क्य, देवराति जनक, बोढ़, सनक, सनन्दन, सनातन, सहदेव, च्युति, पुलह, भृगु, अंगिरस, मरीच, क्रतु, दक्ष, अत्रि, पुलस्त्य, कश्यप, शुक्र, सनत्कुमार, नारद, आर्ष्टिषेण, शुक, जैगीषव्य, वाल्मीकि, देवल, हारीत, भार्गव, पराशर उलूक प्रभृति अनेक आचार्य साख्य सिद्धान्तो का निरूपण कर चुके थे। ये सभी आचार्य एक समय के नही है। उनमे कुछ तो महाभारतकाल से पहले कुछ उसके आसपास और कुछ उसके बाद हुए, किन्तु मोटे तौर पर उनकी स्थिति विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी से भी पहले की है।

विध्यवासी

आचार्य विंध्यवासी का वास्तविक नाम अज्ञात है। विंध्याटवी का निवासी होने के कारण ही सम्भवत इनको विंध्यवासी कहा गया। कमलशील की 'तत्त्व-सग्रहपंजिका' से विदित होता है कि विंध्यवासी का वास्तविक नाम रुद्रिल था। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम वार्षगण्य बताया है। इस बौद्ध विद्वान् भिक्षु परमार्थ ने वसुबधु की जीवनी लिखी है। इसमें इन्होने लिखा है कि अयोध्या मे बुद्धमित्र के साथ विंध्यवासी का घोर शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमे बुद्धमित्र बुरी तरह पराजित हुए। इस विजय के कारण तत्कालीन अयोध्यानरेश ने विंध्यवासी को तीन लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान कर सम्मानित किया था। बाद मे अपने गुरु का बदला लेने की स्पर्धा से वसुबंधु जब विंध्याटवी पहुँचे तो तब तक विंध्यवासी का शरीरान्त हो चुका था।

विंध्यवासी के नाम से कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है, किन्तु 'श्लोकवार्तिक' 'भोजवृत्ति' और 'मेधातिथिभाष्य' मे इनके साख्य-विषयक सिद्धान्तो का हवाला देखने को मिलता है।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने विंध्यवासी को वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र का समकालीन (२५०-३२० ई०) माना है। विंध्यवासी उत्तर भारत और सम्भवतः वाराणसी के निवासी थे।

ईश्वरकृष्ण

कुछ दिन पूर्व विंध्यवासी, वसुबन्धु और ईश्वरकृष्ण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध मे जो संदिग्ध बातें कही जाती थी उनका अब पूरी तरह से समाधान हो चुका है, और इन तीनो विद्वानो के सम्बन्ध मे विस्तार से प्रामाणिक सूचनायें उपलब्ध हो चुकी हैं।

साख्य दर्शन के क्षेत्र मे आचार्य ईश्वरकृष्ण का बड़ा सम्मान है, और यद्यपि उनके सम्बन्ध की अनेक बाते अब स्पष्ट-सी हो चुकी है, फिर भी उनके स्थिति-काल पर आज भी इतिहासकारो मे मतभेद है। प्रायः यह निश्चित-सा है कि बौद्धाचार्य वसुबन्धु द्वारा साख्यशास्त्र का खण्डन हो जाने के पश्चात् साख्य की क्षीण सत्ता को पुनः प्रकाशित एवं प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ईश्वरकृष्ण ने 'साख्य-कारिका' की रचना की थी। इस दृष्टि से उनको वसुबन्धु के बाद मे रखा जाना चाहिए, किन्तु कुछ विद्वानो के मतानुसार ईश्वरकृष्ण, वसुबन्धु से भी पहले हुए। चीन मे रहकर भिक्षु परमार्थ ने ५५७-५६९ ई० के बीच वसुबन्धु का जो जीवन चरित लिखा था और ५७० ई० मे ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' का 'हिरण्य-सप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' अथवा 'कनकसप्तति' के नाम से जो चीनी अनुवाद किया था, वे दोनो ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध है। इन दोनो ग्रन्थो के आधार पर डॉ० तकाकुसू ने अनुमान लगाया है कि ईश्वरकृष्ण का समय ४५० ई० के लगभग था। इस मत के विपरीत डॉ० विन्सेंट स्मिथ, ईश्वरकृष्ण को वसुबन्धु से पहले रखते हैं। उनके मतानुसार वसुबन्धु का समय ३२८-३६० ई० है और ईश्वरकृष्ण का २४० ई० के लगभग।

डॉ० विद्याभूषण ने, तिब्बती ग्रन्थो मे सुरक्षित कुछ अनुश्रुतियो का परीक्षण करके, यह सिद्ध किया है कि ईश्वरकृष्ण और वसुबन्धु, दोनों समकालीन थे और उनका स्थितिकाल ४०० ई० था।

ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' साख्यदर्शन की प्रामाणिक एवं पाण्डित्यपूर्ण कृति है। उसकी लोकप्रियता का अनुमान, उस पर लिखी गयी अनेक टीकाओ को देखकर लगाया जा सकता है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

माठर : गौड़पाद

ये दोनो साख्याचार्य 'साख्यकारिका' के भाष्यकारो के रूप मे प्रसिद्ध है।

माठर की 'माठरवृति', 'सांख्यकारिका' का सम्मानित एवं प्रामाणिक भाष्य है। यह भाष्य भिक्षु परमार्थ के अनुवाद ग्रन्थ 'हिरण्यसप्तति' (५७० ई०) के पूर्व लिखा गया था। इस दृष्टि से माठराचार्य का स्थितिकाल पाँचवीं-छठी शताब्दी के आसपास ठहरता है। 'माठरवृति' का उल्लेख 'अनुयोगद्वार' नामक जैनों के ग्रन्थ मे देखने को मिलता है, जिसकी रचना २०० ई० मे बतायी जाती है। इस दृष्टि मे माठर को कनिष्क का समकालीन माना जाता है, किन्तु यह मत अभी संदिग्ध है। 'गौडपादभाष्य' के रचयिता आचार्य गौडपाद भी इसी समय हुए, जिसका निराकरण आगे किया गया है।

विज्ञानभिक्षु

आचार्य विज्ञानभिक्षु स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे। 'भिक्षु' शब्द मे न तो इन्हे बौद्ध समझना चाहिए और न संन्यासी ही। इसका स्थितिकाल १६वी शताब्दी था। हाल, गार्बे, विटनित्स, दासगुप्ता (१५५०ई०), कीथ (१६५०ई०) आदि विद्वानो के मतो एव साक्ष्यो का विवेचन करके श्री पी० के० गोडे ने यह सिद्ध किया है कि विज्ञानभिक्षु १५२५-१५८० ई० के बीच हुए।

इन्होने 'साख्यसूत्र' पर 'साख्यप्रवचन-भाष्य', 'व्यासभाष्य' पर 'योगवार्तिक' और 'ब्रह्मसूत्र' पर 'विज्ञानामृतभाष्य' लिखा। इस प्रकार इन्होने साख्य, योग और वेदान्त, तीनो दर्शनो पर कार्य किया। 'साख्यसार' और 'योगसार' को लिखकर इन्होने दोनो दर्शनो के सिद्धान्तो का संक्षिप्त एवं सरल ढंग से प्रतिपादन किया। साख्य और वेदान्त के बीच भी इन्होने सामंजस्य स्थापित किया। संप्रति उपलब्ध 'साख्यसूत्र' को इन्ही की कृति बताया जाता है, किन्तु यह युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' का लेखक भावगणेश इन्ही का शिष्य था।

साख्यसूत्रों के व्याख्याकार

पहले संकेत किया जा चुका है कि 'साख्यषडाध्यायी' और 'तत्त्वसमास' दोनो को मिलाकर 'साख्यसूत्र' के नाम से कहा जाता है। इन दोनो ग्रन्थो पर अलग-अलग व्याख्यायें लिखी गयी। कुछ साख्यकारो ने प्रथम ग्रन्थ पर और कुछ ने दूसरे ग्रन्थ पर ही विचार किया। उन विचारको को हम उसी क्रम से यहाँ प्रस्तुत करते है।

साख्यषडाध्यायी के व्याख्याकार

स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थप्रकाश' के एक स्थल से ऐसा जान पड़ता है कि कपिल के साख्यशास्त्रो पर भागुरि मुनि ने एक भाष्य लिखा था। 'संस्कारविधि'

मे भी भागुरि कृत भाष्य का उल्लेख हुआ है। किन्तु भागुरि का यह भाष्य उपलब्ध नही है। इस परम्परा की उपलब्धि बहुत बाद मे दिखायी देती है। अनिरुद्ध, महादेव वेदान्ती और विज्ञानभिक्षु का नाम इस परम्परा मे प्रमुख है।

'साख्यषडाध्यायी' पर 'अनुरुद्धवृत्ति' के दो संस्करण संप्रति उपलब्ध है : पहला डॉ० श्री रिचर्ड गार्बे का और दूसरा महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण का। इनमे दूसरा सस्करण, प्रथम सस्करण का ही अनुकरणमात्र है, बल्कि डॉ० गार्बे का प्राक्कथन बहुत ही खोजपूर्ण है। डा० गार्बे ने प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अनिरुद्ध १५०० ई० के लगभग हुआ।

साख्यसूत्रो के दूसरे व्याख्याकार हुए महादेव वेदान्ती। उनकी कृति 'अनिरुद्धवृत्ति' पर आधारित है। इसीलिए उनकी व्याख्या का नाम 'वृत्तिसार' है। कुछ विद्वान् इन्हे विज्ञानभिक्षु का उत्तरवर्ती सिद्ध करते है; किन्तु आधुनिक गवेषणाओ से यह सिद्ध हो चुका है कि महादेव वेदान्ती, विज्ञानभिक्षु के पूर्व, किन्तु अनिरुद्ध के बाद हुए।

तीसरे भाष्यकार विज्ञानभिक्षु और उनकी कृति 'साख्यप्रवचनभाष्य' का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

तत्त्वसमास के व्याख्याकार

'तत्त्वसमाससूत्र' पर अनेक विद्वानो ने व्याख्याये लिखी। इन व्याख्याओ का एक सुन्दर संस्करण चौखम्बा सस्कृत सीरिज से 'साख्यसग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिसमे नौ व्याख्याओ को सकलित किया गया है। उनका विवरण इस प्रकार है :

शिवानन्द	:	साख्यतत्त्वविवेचन (१७०० ई०)
भावागणेश	:	तत्त्वयाथार्थ्यदीपन (१६०० ई०)
महादेव	:	सर्वोपकारिणीटीका (१५०० ई०)
कृष्ण	:	साख्यसूत्रविवरण
×	:	क्रमदीपिका-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति
केशव	:	साख्यतत्त्वप्रदीपिका (१७०० ई०)
यति, कविराज	:	साख्यतत्त्वप्रदीप (वाचस्पति मिश्र के बाद)
×	:	सांख्यपरिभाषा
कृष्णमित्र	:	तत्त्वमीमासा

साख्यकारिका के व्याख्याकार

ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस पर

२०वी शताब्दी तक लगभग आठ टीकाये लिखी गयी, जिनका विवरण इस प्रकार है :

१ **माठरवृत्ति :** यह सबसे प्राचीन टीका है । माठर को कुछ विद्वान् कनिष्क का समकालीन मानते है, किन्तु कुछ विद्वान् उन्हे पाँचवी-छठीं शताब्दी मे रखते है । चौखम्बा संस्कृत सीरीज से 'माठरवृत्ति' के नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित है । इस वृत्ति का 'युक्तिदीपिका', 'गौडपादभाष्य', 'जयमंगला' और 'तत्त्वकौमुदी' पर प्रभाव है ।

२ **युक्तिदीपिका :** इसकी पुष्पिका मे लिखा हुआ है **'कृतिरियं श्री वाचस्पति मिश्राणाम्'** । इस आधार पर कुछ विद्वानों ने उसको वाचस्पति मिश्र की कृति बताया है; किन्तु टीका के सम्पादक ने इस अंश को प्रक्षिप्त माना है । श्री उदयवीर शास्त्री का कथन है कि यह टीका 'जयमंगला' से प्राचीन है; उसका सम्भावित रचनाकाल विक्रमी के पाँचवें शतक के आसपास है; उसका रचयिता 'राजा' नामक कोई व्यक्ति था, जो कि राजा भोज के से पृथक् था, और इस कृति का दूसरा नाम 'राजवार्तिक' भी था ।

३ **गौडपादभाष्य :** इस भाष्य के रचयिता आचार्य गौडपाद, शंकराचार्य के प्रगुरु या दादागुरु गौडपाद से भिन्न थे । 'गौडपादभाष्य' पर 'युक्तिदीपिका' का प्रभाव लक्षित होता है । इसलिए आचार्य गौडपाद का समय ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी के आस-पास रखा जाना उपयुक्त जान पडता है ।

४ **जयमंगला :** प० हरदत्त शर्मा ने इस टीका का संपादन किया है । उन्होंने इसको शंकराचार्य की कृति बताया है । किन्तु महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे दो बातो का उल्लेख किया है । पहली बात तो उन्होने यह कही है कि इस टीका का रचयिता शकराचार्य न होकर शंकरार्य है और दूसरी बात यह कि वह बौद्ध था और कामन्दक के 'नीतिसार' की 'जयमगला' टीका के रचयिता शकराचार्य से भिन्न था । इसके विपरीत श्री उदयवीर शास्त्री का कथन है कि उक्त टीका का रचयिता न शंकर था, न शकराचार्य और न शंकरार्य ही । वह बौद्ध नही था, तथा उसका रचनाकाल ७०० वि० के बाद का नही है ।

५. **हिरण्यसप्तति :** भिक्षु परमार्थ ने चीन मे रहकर ईश्वरकृष्ण की 'साख्य-कारिका' का 'हिरण्यसप्तति' (सुवर्णसप्तति या कनकसप्तति) के नाम से चीनी अनुवाद किया था । यह अनुवाद ५७० ई० मे किया गया था । पं० ऐय्यरस्वामी शास्त्री ने इसको चीनी से संस्कृत मे अनुवादकर प्रकाशित करवाया है । इस

संस्कृतानुवाद को देखकर यह ज्ञात होता है कि वह 'साख्यकारिका' का अनुवाद न होकर उस पर लिखी गयी किसी टीका का अनुवाद था। इस अनूदित कृति का मूल ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नही है। इसलिए 'सुवर्णसप्तति' को देखकर अधिक उपयुक्त यही जान पडता है कि वह भी 'साख्यकारिका' को ही एक टीका है। इस टीका मे सत्तर कारिकाये है।

६. तत्त्वकौमदी : इस टीका का रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति मिश्र था। भारतीय दर्शनशास्त्र मे वाचस्पति मिश्र को एक व्याख्याकार के रूप मे अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। उनके स्थितिकाल और उनकी जीवनी के सम्बन्ध मे इतिहासकार एकमत नही है 'साख्यतत्त्वकौमुदी' का एक संस्करण डा० गंगानाथ झा ने संपादित किया है, जो कि १९३४ ई० मे ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना से प्रकाशित हो चुका है। इसकी भूमिका मे डॉ० झा ने यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र ८४१ ई० मे हुए, किन्तु अपने एक निबन्ध मे श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने, डा० झा के तर्कों पर आपत्ति प्रकट करते हुए यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र का स्थितिकाल १०वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे था। इन दोनो विद्वानो के मतो का विश्लेषण श्री उदयवीर शास्त्री ने किया है। उनके मतानुसार वाचस्पति मिश्र का समय ८४१ ई० (८९८ वि०) तो है, किन्तु इस सम्बन्ध मे डॉ० झा ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की है वे विवादास्पद है।

७ चन्द्रिका : महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र ने अपने ग्रन्थ मे नारायण तीर्थ (१७ वी सदी) कृत 'चन्द्रिका' टीका का उल्लेख किया है, जिस पर कि 'तत्त्वकौमुदी' की छाया बतायी गयी है।

८. सरलसाख्ययोग : इस टीका के लेखक हरिहरारण्यक, २०वीं शताब्दी मे हुए। यह टीका बगला मे है और इसका उल्लेख भी डॉ० उमेश मिश्र ने किया है।

सांख्यसूत्र

'साख्यसूत्र' छह अध्यायो मे विभक्त है।

१. पहले अध्याय मे त्रिविध दु खो के कारण और उनकी निवृत्ति के उपाय बन्धन-मोक्ष; जीव, शरीर, आत्मा; पदार्थों का नित्यत्व, और प्रकृति-पुरुष का विवेचन है।

२. दूसरे अध्याय मे सृष्टि का विकास, बुद्धि, मन, अहंकार, इंद्रियाँ और अन्त.करण का वर्णन है।

३. तीसरे अध्याय मे प्रकृति के स्थूलकाय, पृथ्वी आदि महाभूत, दो प्रकार के शरीर, कर्म, ज्ञान, ज्ञान के पाँच साधन; मिथ्याज्ञान, आठ प्रकार की सिद्धियाँ, विवेक और अन्त मे मुक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

४ चौथे अध्याय से ज्ञान के साधनो का विवेचन है।

५. पाँचवे अध्याय के आदि मे वादी-प्रतिवादी के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन; अपौरुषेय वेदो की प्रामाणिकता, प्रकृति-पुरुष का प्रत्यक्ष; छह प्रकार की सृष्टि, समाधि, सुषुप्ति, और मोक्ष का वर्णन है।

६. छठे अध्याय मे पूर्वोक्त पाँच अध्यायो का साररूप मे वर्णन किया गया है।

तत्त्व विचार

साख्य तत्त्वप्रधान दर्शन है। उसमे बहुत ही सूक्ष्म एवं गंभीर दृष्टि से तत्त्वो पर विस्तार से विचार किया गया है। साख्य के ये तत्त्व पच्चीस है, स्वरूप की दृष्टि से जिन्हे व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ, इन तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। व्यक्त तत्त्व तेईस है, और अव्यक्त तथा ज्ञ एक-एक। जिसको चेतन या पुरुष कहा जाता है वह ज्ञ तत्त्व, जिसको मूला प्रकृति या प्रधान कहा जाता है वह अव्यक्त तत्त्व और इनके अतिरिक्त शेष व्यक्त तत्त्व है। मूला प्रकृति जड है और उनके परिणामस्वरूप तेईस अव्यक्त तत्त्व भी जड़ है। पुरुष तत्त्व निर्गुण, विवेकी तथा निष्क्रिय है और प्रकृति तथा उसके परिणाम शेष तेईस तत्त्व त्रिगुण, अविवेकी आदि धर्मो से युक्त हैं। इन पच्चीस तत्त्वो का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और सूक्ष्म जगत् के कार्य-निर्वाह के लिए वे किस प्रकार उपयोगी है, इसका विवेचन ही साख्य का विषय है।

कार्य कारणभाव से तत्त्वो का वर्गीकरण

नैयायिको ने 'कारण' में 'कार्य' का अभाव मानकर 'कार्य' को 'कारण' मे भिन्न माना है। वहाँ इन दोनो के रहस्यपूर्ण सम्बन्ध को 'स्वभाव' की संज्ञा दी गयी है, किन्तु साख्यकार ऐसा नही मानते है। उनका अभिमत है कि 'कारण' मे 'कार्य' अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है। कार्यरूप समस्त जगत् और उसके मूल कारण, इन दोनो सत्त्व और असत्त्व के भेद से साख्य दर्शन मे पच्चीस तत्त्वो को चार वर्गों मे विभाजित किया गया है : (१) प्रकृति, (२) विकृति (३) प्रकृति-विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। प्रकृति तत्त्व ऐसा है, जो सबका कारण तो होता है, किन्तु स्वयं किसी का कार्य नही होता

(**सतः असज्जायते**।) कुछ तत्त्व ऐसे है जो स्वयं उत्पन्न होते है, किन्तु किसी दूसरे को उत्पन्न करने मे असमर्थ होते हैं (**असतः सज्जायते**)। कुछ ऐसे तत्त्व होते है, जो स्वयं उत्पन्न होते है और दूसरे तत्त्वो को भी उत्पन्न करते है (**सतः सज्जायते**)। पुरुष तत्त्व ऐसा है, जो न किसी तत्त्व का कार्य है न कारण (**असतः असज्जायते**)। इन चारो वर्गों मे पच्चीस तत्त्वो को इस प्रकार समझा जा सकता है :

स्वरूप	संख्या	नाम
१ प्रकृति	१	प्रकृति
२ विकृति	१६	चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक्, श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रिय); वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (कर्मेन्द्रिय); मन, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (महाभूत)
३ प्रकृति-विकृति	७	महतत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (तन्मात्र)
४ न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

साख्य के मत से न किसी की उत्पत्ति होती है और न विनाश ही। उत्पत्ति और विनाश, वस्तु के धर्म है, वस्तु नही हैं। एक धर्म दूसरे को ग्रहण करता है। इसलिए केवल वस्तु के स्वरूप मे परिवर्तन होता है, वस्तु मे नही। इसी परिवर्तन को 'परिणाम' तथा 'विवर्त' कहा गया है और इसी बात को सिद्ध करने के लिए साख्य दर्शन मे 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसलिए साख्य के उक्त पच्चीस तत्त्वो का विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व 'सत्कार्यवाद' से परिचित हो जाना आवश्यक है।

सत्कार्यवाद

'सत्कार्यवाद' साख्य दर्शन का अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त है। 'सत्कार्यवाद' के अनुसार कार्य की सत्ता, उसकी उत्पत्ति से पूर्व, कारण मे विद्यमान रहती है। किन्तु दर्शन के कुछ अन्य संप्रदाय इस मत को नही मानते हैं। उनमे प्रमुखता बौद्धो की है। बौद्धो का अभिमत है कि 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न होता है। उनके मत से समस्त भाव पदार्थ क्षणिक है और इसलिए उन क्षणिक भाव पदार्थो मे कार्य-कारण-भाव हो ही नही सकता है। न्याय और वैशेषिक भी यही मानते है। उनका कहना है कि यदि कार्य की सत्ता, उसकी उत्पत्ति से पूर्व, कारण मे विद्यमान रहती है तो फिर कार्य के उत्पन्न होने का आशय ही क्या रह जाता है? उदाहरण के लिए यदि मिट्टी मे घड़ा पहले ही विद्यमान था तो फिर कुम्हार तथा चाक घुमाने की आवश्यकता क्यो होती है; और

कार्य तथा कारण के भेद को बताने के लिए हमारे पास क्या आधार रह गया है; क्यों नहीं मिट्टी को ही घडा कह लिया जाता है और घडे से जो कार्य लिया जाता है, मिट्टी से ही वह क्यों नहीं संपन्न किया जाता ? यदि घट और मृत्तिका मे स्वरूप तथा आकार की भिन्नता है तब भी यही बात सिद्ध होती है। घडे (कारण) में कुछ ऐसी विशेषता का सन्निवेश हो गया है, जो मिट्टी (कार्य) में नही थी। इसलिए यह मानना सर्वथा युक्तिसंगत और व्यावहारिक है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसमे कारण विद्यमान नही था। यही 'असत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है।

किन्तु साख्यकार ऐसा नहीं मानते हैं। साख्यकारो का कहना है कि यद्यपि 'कारण' से 'कार्य' भिन्न दिखायी देता है और नाम भी दोनो का एक ही नही है, फिर भी वस्तुतः 'कारण' से 'कार्य' भिन्न नही है, भिन्नता तो धर्म की है। इसी कारण-कार्य-अभिन्नता और धर्म-भिन्नता की दृष्टि से साख्यकारों को 'भेदसहिष्णु अभेदवादी' कहा जाता है। उनकी दृष्टि से 'सत्' सनातन और अभावरहित है; और इसलिए 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न हो ही नही सकता है। ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' मे 'असत्कार्यवाद' के खण्डन और 'सत्कार्यवाद' की स्थापना के लिए जो युक्तियाँ दी गयी है उनका निष्कर्ष इस प्रकार है · (१) जो नही है (असत् है) उसमे उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी नही है (अकारण है), जैसे खरगोश के सीग। अर्थात् यदि कार्य, कारण में न रहे तो इसका यह आशय है कि असत् जो शून्य है उससे किसी सत् वस्तु की उत्पत्ति होनी संभव हो जाती, जैसा कि सर्वथा असभव है। (२) यदि कारण मे कार्य की सत्ता विद्यमान न होती तो कर्ता के समस्त प्रयत्नो के बावजूद भी कार्य की उत्पत्ति न होती। उदाहरण के लिए तिल के पेरने से ही तेल निकाला जा सकता है, बालू को पेरने से नही। अतः किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष उपादान कारण को देखना पड़ता है। कार्य से असंबद्ध कारण तो वस्तुतः कारण है ही नही। इसलिए यह मानना सर्वथा उपयुक्त है कि कार्य की सत्ता, उसको उत्पत्ति से पूर्व कारण मे विद्यमान रहती है। (३) यदि कारण से कार्य सम्बद्ध न होता तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती थी, जैसा कि संभव नही है। संभव यही दिखायी देता है कि किसी खास कारण से ही किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे दही, दूध से ही बन सकता है: घडा, मिट्टी से ही बन सकता है। इसके विपरीत मिट्टी से दही नही बन सकता और न ही दूध से घड़ा बन सकता है। (४) किसी कारण मे कोई शक्ति है, जिससे

कोई विशेष कार्य उत्पन्न होता है। कारण में इस शक्ति के संबद्ध रहने से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। इससे ज्ञात होता है कि कार्य सूक्ष्मरूप से अपने कारण में पहले ही से विद्यमान रहता है। (५) सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कार्य और कारण, दोनों में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध है। एक ही वस्तु की अव्यक्त अवस्था को हम कारण और व्यक्त अवस्था को कार्य कहते हैं। मिट्टी का घडा (कार्य) मिट्टी (कारण) से अलग नहीं है और पत्थर की मूर्ति (कार्य) पत्थर (कारण) से अलग नहीं है।

इन्हीं युक्तियों के आधार पर साख्य के 'सत्कार्यवाद' की स्थापना हुई, जिसके आधार पर यह माना जाता है कि यह समस्त संसाररूप जो 'कार्य' है वह मूल प्रकृतिरूप 'कारण' में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है।

परिणामवाद और विवर्त्तवाद

'परिणाम' और 'विवर्त्त' सत्कार्य के ही दो भेद हैं। पहले भी संकेत किया जा चुका है कि वस्तु के स्वरूप में (वस्तु में नहीं) जो परिवर्तन होता है उसी को 'परिणाम' तथा 'विवर्त्त' कहा जाता है। इसी परिवर्तन को साख्य में 'परिणामवाद' और वेदान्त में 'विवर्त्तवाद' कहा गया है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु में रहने वाली शक्ति को अथवा उस वस्तु या तत्त्व का जो स्वरूप है उसको 'धर्म' कहा जाता है। यह धर्म परिवर्तनशील है। प्रत्येक व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों में यह धर्म सतत बदलता रहता है। उदाहरण के लिए दूध का दही बन जाना और मिट्टी का घडा तैयार हो जाना ही दूध और मिट्टी के धर्म में परिवर्तन हो जाना है। दूसरे शब्दों में दूध का परिणाम दही और मिट्टी का परिणाम घड़ा कहा जायगा। वस्तु के धर्म की इसी परिवर्तन-क्रिया को साख्य में 'परिणामवाद' के नाम से कहा गया है और उसी के आधार पर 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

किन्तु वेदान्त में इसी रूपान्तर तथा विकार को 'विवर्त्त' के नाम से कहा गया है। 'विवर्त्त' उसको कहते हैं जो अपने वास्तविक स्वरूप को न छोडकर भी रूपान्तर-जैसा भासित होता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि जैसे शुक्ति में रजत का और रज्जु में सर्प का आभास होता उसी प्रकार सत् ब्रह्म असत् प्रपंच से भासित होता है। इस 'विवर्त्त' का हेतु सारूप्य होता है, वैरूप्य नहीं है। जैसे शुक्ति और रजत में सारूप्य होने से 'विवर्त्त' है; रज्जु और सर्प में सारूप्य होने से 'विवर्त्त' है, किन्तु शुक्ति में सर्प का और रज्जु में रजत का विवर्त्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उनमें सारूप्य नहीं वैरूप्य है। इसलिए अद्वैत वेदान्त के मत

से कार्य, कारण का वास्तविक रूपान्तर नही, 'विवर्त्त' मात्र है। अर्थात् नाना रूपात्मक यह प्रपंचमय जड जगत्, चित्स्वरूप ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तर नही है, 'विवर्त्त' मात्र है। वही वेदान्त का 'विवर्त्तवाद' है।

प्रकृति

सात्कार्यवाद और उसके दो रूपो परिणाम तथा विवर्त्त का विवेचन करते हुए यह बताया जा चुका है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व भी कारण मे उसको सत्ता का आवास सूक्ष्म रूप मे वर्तमान रहता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि, शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि कार्यरूप पदार्थों से बनी है। इस कार्यरूप पदार्थों के मूल मे निश्चित ही कोई कारणरूप मूलतत्त्व ऐसा विद्यमान है, जिसके संयोग से उनकी उत्पत्ति होती है। साख्य दर्शन मे इसी मूल कारण को 'प्रकृति' कहा गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' मे इस 'प्रकृति' को उत्पत्तिरहित (अजा), एका, त्रिगुणात्मिका, सरूपा, समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने वाली (बह्वी प्रजा) कहा गया है। वह 'प्रधान', 'अव्यक्त' और 'शाश्वत' है।

प्रकृति अचेतन है। इसलिए लोक व्यवहार की दृष्टि मे यह शका होती है कि अचेतन प्रकृति बिना चेतन की सहायता से महदादि कार्यो को उत्पन्न करने मे कैसे प्रवृत्त हो सकती है? इसलिए उसका अधिष्ठाता तथा प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। वेदान्त मे जिसको परमानन्द कहा गया है, चैतन्य उससे भिन्न है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की परमानन्द अवस्था ही अन्तिम अवस्था है, किन्तु साख्य के अनुसार आत्मा एक निरपेक्ष द्रष्टा है, जो प्रकृति की सीमाओं से विमुक्त है। हमारे समक्ष जो सुख-दु.ख उपस्थित होते हैं वे शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और मन के विषय है, आत्मा को न तो उनका अनुभव होता है और न उस पर उनका प्रभाव पडता है। यह सुख-दुःख की अनुभूति तो अज्ञात का कारण है। आत्मा तो स्वयं ज्ञानपुज, नित्य और सर्वव्यापी हैं। अज्ञान उसमे रहता ही नही।

पुरुष की सिद्धि

ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' मे आत्मा की सिद्धि के लिए कहा गया है :

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

इस कारिका का आशय है कि संसार के जितने भी सुख-दुःखादि कार्य होते है वे दूसरे के लिए होते है। वह 'दूसरा' आत्मा है, क्योकि वह चेतन है। जड़

पदार्थों के लिए सुख-दुःख नहीं होते। सत्त्व, रज, तम, तीनों गुण जड हैं। इसलिए भी पुरुष अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना पडा। उदाहरण के लिए जिस प्रकार बिना सारथी के रथ नही चल सकता उसी प्रकार शरीरादि जड पदार्थों का आत्मा के अधिष्ठान के बिना, शरीरादि के कार्यों मे प्रवृत्ति नही हो सकती है। इसलिए पुरुष (आत्मा) को त्रिगुणो का अधिष्ठाता स्वीकार करना पडा। आत्मा भोक्ता है और उसके बिना भोग्य पदार्थों के सुख-दुःख का भोग नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त अत्रिगुण आत्मा या पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। अत. आत्मा (पुरुष) की सिद्धि निर्विवाद है।

पुरुष की अनेकता

पुरुष एक है या अनेक, इस संबंध मे दर्शनो का मतभेद है। वेदान्ती आत्मा को एक मानते है; किन्तु साख्यकारो का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग आत्मा का अधिवास है। यदि अलग-अलग शरीरो मे एक ही आत्मा का होना स्वीकार किया जायगा तो एक शरीर के नष्ट हो जाने पर ससार के सभी शरीरो को नष्ट हो जाना चाहिए; अथवा एक शरीर के जन्म धारण करने पर सभी शरीरो को उत्पन्न हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक शरीरधारी व्यक्ति के लूला-लंगडा हो जाने पर सभी शरीरधारी व्यक्तियो पर उसकी प्रतिक्रिया होनी चाहिए। किन्तु साख्यकार इस तर्क को स्वीकार नही करते है। उनका कहना है कि बिना चेतन की सहायता एवं प्रेरणा से संसार मे अचेतन की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए बछडे के संवर्धन के लिए माता के स्तनो मे अचेतन दूध की और लोकोपकार के लिए अचेतन मेघ की जल-वर्षण प्रवृत्ति, बिना किसी चेतन की सहायता से, लोक मे देखने को मिलती है। ठीक वैसे ही अचेतन प्रकृति महदादि कार्यो के उत्पादन के लिए स्वयमेव प्रवृत्त होती है। प्रकृति की यह प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के निमित्त होती है, अकारण नही।

प्रकृति का स्वरूप

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वे तीन गुण है सत्त्व, रज और तम। इन्ही तीन गुणो की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त है। इन तीनो का अलग-अलग कोई अस्तित्व नही है, क्योंकि उनमे क्रिया नही होती है। वे अलग-अलग तीन तत्त्व न होकर त्रिगुणात्मक एक ही तत्त्व है। ये तीनों पुरुष के भोग-साधनमात्र हैं। उन्हे धर्म भी नही कहा जा सकता है और वे वस्तुतः गुण भी नहीं है। गुणीभूत होने के कारण उन्हे गुण कहा गया है। पृथ्वी का गुण

गन्ध है, जो कि पृथ्वी से अलग है; किन्तु ये तीनो, गुण से भिन्न गुणी का ही स्वरूप हैं। वे तीनों प्रकृतिस्वरूप हैं। प्रकृति से भिन्न उनका कोई स्वरूप है ही नही। अत. वे द्रव्यरूप है। जिस प्रकार वृत्तो के समुदाय से भिन्न कोई वन नही होता, बल्कि वृक्ष-समुदाय को ही वन कहा जाता है उसी प्रकार इन तीनो के अतिरिक्त प्रकृति का कोई अस्तित्व न होने पर भी वे प्रकृति के ही गुण है। वे नित्य है और उनकी साम्यावस्था प्रकृति भी नित्य है।

गुणों का स्वरूप

गुणों का स्वरूप प्रत्यक्ष नही देखा जा सकता है, क्योकि प्रकृति प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नही है, किन्तु उनसे प्रभावित सासारिक क्रिया-कलापो को देखकर उनका अनुमान किया जा सकता है। संसार के जितने भी दिखायी देने वाले क्रिया-कलाप है वे सभी सुख, दु.ख, और मोह को उत्पन्न करने वाल है। यह सुख, दु ख एवं मोहानुभूति भी व्यक्ति-व्यक्ति की दृष्टि से अलग-अलग हैं। एक का दु ख दूसरे का सुख और तीसरे का मोह हो सकता हैं। ये सुख-दु खादि सासारिक कार्य जिस प्रकार किसी कारणविशेष से पैदा होते है उसी प्रकार कारणभूत मूल प्रकृति मे रहने वाले जो सुख-दु खादि धर्म है वे भी अपने कार्यभूत पञ्चमहाभूतो मे सुख-दु खादि कार्यों के उत्पादक होते है। इसी अनुमान से हम गुणो का स्वरूप जान सकते है।

गुणों का स्वभाव

सत्त्व, रज और तम, इन तीनो गुणो का अलग-अलग स्वभाव होता है। 'साख्यकारिका' के एक श्लोक मे इन तीनो गुणो का स्वभाव इस प्रकार बताया गया है :

> **सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्ज रजः।**
> **गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥**

अर्थात् सत्त्वगुण का स्वभाव लघु, प्रकाशक, इष्ट (आनन्दस्वरूप), रजोगुण का स्वभाव गतिशील (चंचल), उत्तेजक (उपष्टम्भक), और तमोगुण का स्वभाव गुरु (भारी) एवं अवरोधक होता है।

गुणों का संयोग और रूपान्तर

ये तीनों गुण विरुद्धकोटिक हैं; किन्तु जब वे संयुक्त होकर एक-दूसरे के सहयोगी होते है तभी विषयो को उत्पन्न करते है। उनमे रजोगुण क्रियाशील है किन्तु तमोगुण प्रकृति का अवरोधक होकर उसे कार्य करने में बाधा उपस्थित करता है। जन्मान्तर से संचित कर्म, जो जीवो के साथ अदृष्ट

रूप में बने रहते है, उनका परिपाक हो जाने पर वे सासारिक जीव को सुख-दुःखादि का उपभोग कराते हैं। ऐसी स्थिति मे तमोगुण का प्रभाव दूर हो जाता है और रजोगुण से प्रकृति मे चाचल्य उत्पन्न होकर अव्यक्त कर्म 'महत्', 'अहंकार' आदि व्यक्त तत्त्वो के रूप मे प्रकाशित होते हैं। संसार की प्रत्येक छोटी-सी छोटी और बडी-सी-बडी वस्तु मे तीनो गुण न्यूनाधिक रूप मे विद्यमान रहते हैं। उनमे जो गुण अधिक प्रबल होता है वह, शेष दोनो गुणो को दबाकर, वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इस प्रकार ये तीनो गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से उसी प्रकार सांसारिक विषयो को प्रकाशित करते है, जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग, इन विरुद्धकोटिक वस्तुओ के सहयोग से दीपक जल उठता है। किन्तु जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग, इन तीनो मे से एक का अभाव होने पर दीपक नही जलता उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम, इन तीनो गुणो मे एक का अभाव होने पर विषय उत्पन्न नही होते।

ये तीनो गुण निरन्तर परिवर्तनशील हैं। उनमे क्षण-क्षण विकार या परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। यह विकार या परिणाम दो प्रकार का होता है: सरूप और विरूप। सरूप परिणाम उसको कहते है, जब प्रत्येक गुण, अन्य गुणो से, अपने-अपने अस्तित्व को खीचकर अपने मे ही समा लेता है। ऐसी स्थिति मे सत्त्व सत्त्व मे, तम तम मे और रज रज मे समाहित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे समस्त कार्योत्पत्ति क्षीण पड जाती है। इसी को प्रलयावस्था कहते है विरूप परिणाम उसको कहते है जब तीनो गुणों मे से एक गुण प्रबल होकर शेष दो गुणो को अपने अधीन कर लेता है। इसी अवस्था मे सृष्टि का आरंभ होता है। सृष्टिरचना मे पूर्व ये तीनो गुण अव्यक्त रूप मे वर्तमान रहते है। उनकी यही साम्यावस्था ही साख्य की 'प्रकृति' है।

पुरुष

पुरुष का स्वरूप

प्रकृति और पुरुष, साख्य दर्शन के दो मुख्य तत्त्व है। प्रकृति के स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है। पुरुष कहते है आत्मा के लिए वह सजीव होता है, प्राणवान् होता है और सवेदनशील होता है। साख्य में यदि पुरुष की योजना न की गयी होती तो प्रकृति और महदादि पदार्थों की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता न रह जाती। सचेतन और संवेदनशील होने के कारण पुरुष ही अन्य अचेतन

पदार्थों का उपभोक्ता होता है। लोक-व्यवहार मे हम कहते है कि 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मैं हूँ'। दर्शन की दृष्टि से समस्त सासारिक जीव, चाहे वे कृमि-कीट हो चाहे मनुष्य हों, किसी का कोई अस्तित्व नही है, किन्तु उनके भीतर जो सर्वव्यापी चेतन है, जिसको हम अन्तरात्मा, या अन्तश्चेतना कहते है, वस्तुतः यही सब कुछ है। यह देह निर्जीव है। इसके भीतर जब तक आत्मा (पुरुष) का आवास है तभी तक हम अपने-पराये का अनुभव करते हैं। उसके निकल जाने से यह शरीर मिट्टी-पाषाण से बढ़कर कुछ नही है।

यह तो हुआ पुरुष के अस्तित्व का लौकिक दृष्टिकोण। साख्य की दृष्टि से आत्मा ज्ञान का ग्रहिता और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है; किन्तु वह स्वयं न तो ज्ञान है और न केवल चेतन ही। ज्ञान उसका विषय और चेतन उसका गुण है।

सांख्य के विपरीत अन्य दर्शन कुछ तो शरीर को ही आत्मा मानते है और कुछ इन्द्रियो को, कुछ प्राण को और कुछ मन को। भाट्ट मीमासक और वेदान्ती आत्मा की सत्ता को कुछ दूसरे ही रूप मे लेते है। जहाँ प्रभाकर आदि मीमासक आत्मा को कुछ विशेष स्थितियो मे ही चेतन का आधार स्वीकार करते है, वहाँ भाट्ट मीमासकों का अभिमत है कि आत्मा सचेतन पदार्थ है, किन्तु कभी-कभी अज्ञान से आवृत होकर उसके द्वारा हमारी ज्ञानोपलब्धि अधूरी रह जाती है। शाकर वेदान्त भी आत्मा की एकता को मानता है और उसको शुद्ध, बुद्ध, नित्य तथा आनन्दस्वरूप स्वीकार करके यह सिद्धान्त रखता है कि एक होकर भी वह विभिन्न शरीरो मे अवस्थित है।

इसलिए भाट्ट मीमासको और शाकर वेदान्तियो की आत्मा-सम्बन्धी व्यवस्था से साख्य का दृष्टिकोण आशिक रूप मे मेल खाता है, किन्तु वस्तुत. उनमें मौलिक भिन्नता है।

आत्मा ज्ञाता है। वह न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ, न मस्तिष्क और न बुद्धि। वह चैतन्यस्वरूप है। मीमासा का भी यही मत है।

इस अवस्था को दृष्टि मे रखकर साख्य मे अनेक पुरुषो की सत्ता स्वीकार की गयी। देखा यह जाता है कि ससार मे कुछ मनुष्यों की धर्म मे प्रवृत्ति होती है; कुछ की अधर्म में। कुछ अज्ञानी होते हैं; कुछ ज्ञानी होते है। इसी प्रकार सत्त्व, रज और तम, इन तीनो गुणो के परिणाम (विपर्यय) भेद से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए देवात्माओ मे सुख, मनुष्यात्माओं में दु:ख और नारकीयात्माओं मे मोह पाया जाता है। संसार के ये अनेकानुभव

यह बताते है कि विभिन्न शरीरो मे विभिन्न आत्मायें है । इसलिए सांख्य अनेकात्मवादी दर्शन है ।

आत्मा की मध्यस्थता

चेतन (आत्मा) देखने वाला होता है । वही साक्षी होता है । जिस प्रकार लोक व्यवहार मे वादी और प्रतिवादी, दोनो अपने-अपने विवाद को साक्षी के सामने रखते हैं उसी प्रकार प्रकृति अपने चरित्र (विषय) को पुरुष के सामने प्रस्तुत करती है । इसलिए पुरुष साक्षी होता है । वह द्रष्टा है, उदासीन है और सुखदु:खत्रयाभाव रूप कैवल्य का अधिकारी है ।

संसार की उत्पत्ति

प्रकृति और आत्मा का सयोग

प्रकृति और पुरुष, अर्थात् आत्मा के अस्तित्त्व की पृथक्ता, उन दोनो के विवेचन मे सिद्ध हो चुकी है । फिर उन दोनो के सयुक्त होने का कोई आधार या कारण नही दिखायी देता है, किन्तु कहा जाता है कि 'मै करता हूँ', 'मै खाता हूँ'। इसी को प्रकृति और आत्मा (पुरुष) का सयोग (सन्निधान) कहते है । सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मिका प्रकृति मे वास्तविक कर्तृत्व अवस्थित रहता है, किन्तु पुरुष के सन्निधान से ही 'मै करता हूँ', ऐसी प्रतीति उदासीन आत्मा (पुरुष) मे होती है । ससार की उत्पत्ति का एक कारण यह भी है ।

प्रकृति और आत्मा के संयोग के कारण

प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के सयोग का कारण होता है कैवल्य, मोक्ष । मनुष्य को मोक्ष को उपलब्धि बिना प्रकृति और पुरुष के सहयोग से हो ही नही सकती है । प्रकृति भोग्य है और पुरुष भोक्ता । भोक्ता पुरुष, भोग्य प्रकृति के साथ मिलकर उसके परिणामो को अपने परिणाम मानता हुआ कैवल्य के लिए यत्न करता है । पुरुष को प्रकृति की इसलिए आवश्यकता होती है क्योकि उसके बिना मुक्ति हो ही नही सकती है । प्रकृति और पुरुष, दोनो का पंगु-अध-सम्बन्ध है । 'साख्यकारिका' मे कहा गया है :

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

जिस प्रकार पैर वाले अंधे को रास्ता तय करने के लिए आँख वाले लंगडे की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जड प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष दोनो मिलकर अपना कार्य सम्पादित करते है । भोग और अपवर्ग, दोनो कार्य प्रकृति-पुरुष के सयोग के बिना सम्भव नही है ।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का एक बहुत बडा प्रयोजन सृष्टि-रचना का भी है। साख्य की दृष्टि से सृष्टि-रचना का क्रम सर्वथा भिन्न और सूक्ष्म है। सांख्य के अनुसार सृष्टि से पूर्व सत्त्व, रज और तम, ये तीनो गुण साम्यावस्था मे वर्तमान रहते हैं। जब प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संयोग होता है तब इन त्रिविध गुणो की साम्यावस्था मे क्षोभ (विकार) उत्पन्न होता है। इसी को 'गुण क्षोभ' कहते है। पहले क्रियाशील रजोगुण मे स्पन्दन होता है और उसके बाद सत्त्व तथा रज आन्दोलित होते है। फलत. प्रकृति मे भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है। ये तीनो गुण एक-दूसरे को अपने भीतर समाहित करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति मे गुणो मे न्यूनाधिक्य की स्थिति पैदा होती है और गुणो के उसी न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध सासारिक विषयों की उत्पत्ति होती है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व (महतत्त्व) का प्रादुर्भाव होता है, बुद्धितत्त्व से अहंकार और अहंकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच तन्मात्रायें पैदा होती है। अन्त मे पाँच तन्मात्राओ से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत उत्पन्न होने है। यही सृष्टिक्रम कहा जाता है। सृष्टि-रचना के विकासक्रम को इस चार्ट द्वारा अवगत किया जा सकता है :
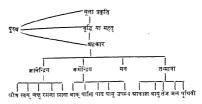
पुरुष (जीवात्मा, परमात्मा) और प्रकृति का प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है। जो प्रत्यक्ष है वह प्रकृति का परिणाम है। उसे ही विकृति कहा गया है। शरीर मे रहने से पुरुष को जीवात्मा और संसार मे व्यापक होने से परमात्मा कहा गया है। न्याय मे जो स्थान आत्मा को प्राप्त है साख्य मे वही स्थान पुरुष का है।

बुद्धितत्त्व

बुद्धितत्त्व का ही अपर नाम महतत्त्व है। इसको 'महत्' इसलिए कहा जाता है कि धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट (महान्) गुणों का उसमे आवास रहता है। किसी विषय के सम्बन्ध का निर्णय हम बुद्धि के द्वारा ही कर सकते है। उसमे सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है, किन्तु तम और रज उसमे तिरोहित रूप मे रहते हैं। बुद्धि के साथ मन और अहंकार को मिलाकर अन्त करण की निष्पत्ति होती है। अन्त करण मे उदित निश्चयात्मक वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। बुद्धि का धर्म होता है अपने सहित दूसरी वस्तुओ को प्रकाशित करना।

बुद्धि के दो प्रकार है सात्विक और तामसिक। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—सात्विक बुद्धि के गुण है और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तामसिक बुद्धि के गुण है। बुद्धि, जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन है। भोग और मुक्ति जो कि क्रमश: प्रकृति और पुरुष के स्वभाव है, बुद्धि के ही द्वारा प्रकाशित एवं प्राप्त होते है।

अहंकार

बुद्धितत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है, इसको पहले बताया जा चुका है। बुद्धि मे जब 'मैं' और 'मेरो' यह अहंभाव पैदा होता है तब उसको 'अहंकार' कहा जाता है। बुद्धि मे यह अहंभाव इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। पहले इन्द्रियो के द्वारा विषयो का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर मन उनके स्वरूप को निर्धारित करता है। विषयो का स्वरूप निर्धारित होने के बाद नाना प्रकार के सासारिक व्यवहारो मे हमारी प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति हमारे भीतर 'मैं' और 'मेरा' इस अहंकार को जन्म देती है। यह अहंकार मनुष्य को मिथ्या भ्रम मे डालता है।

अहंकार के प्रभेद

अहंकार तब पैदा होता है, जब बुद्धितत्त्व मे अवस्थित रजोगुण प्रबल होता है। इसी कारण अहंकार को बुद्धि का विकार माना जाता है। क्योकि बुद्धितत्त्व की भाँति अहंकार मे भी सत्त्व, रज और तम तीनो गुण वर्तमान रहते है, इसलिए सात्विक, राजस और तामस, दृष्टि से अहकार के तीन प्रभेद होते है। जिस अहंकार मे सात्त्विक गुण की प्रधानता होती है उसे 'वैकृत', जिसमे तमोगुण की प्रधानता होती है उसे 'भूतादि' और जिसमे रजोगुण की प्रधानता होती है उसे 'तैजस' कहते है। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियो (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच

कर्मेन्द्रिय और एक मन) की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। राजस अहंकार शेष दोनों अहंकारों का सहायक होता है और वह उन्हें शक्ति प्रक्ति प्रदान करता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। इनके विषय हैं क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श। ये पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ अहकार का परिणाम हैं और पुरुष के निमित्त उनकी उत्पत्ति होती है।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमश जो कार्य सम्पादित होते हैं उनके नाम हैं वर्णोच्चारण, आदान, गमन, मलत्याग और सन्तानोत्पत्ति।

ये दसों इन्द्रियाँ सात्विक अहकार से पैदा हुई हैं। आत्मा अर्थात् पुरुष इनका अधिष्ठाता है। इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष अवयवों में रहती हुई भी अप्रत्यक्ष रहती है। इसी लिए वे अनुमेय होती हैं।

मन

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है। इसलिए मन वस्तुत लोचदार इन्द्रिय है। सकल्प और विकल्प उसके विषय हैं, धर्म हैं, स्वरूप है। 'किसी कार्य को किया जा यया न किया जाय' इसको सकल्प विकल्प कहते है, जो मन की क्रिया है।

पाँच तन्मात्रायें

'तन्मात्र' शब्द का अर्थ होता है **'तदेव इति तन्मात्रम्'**; अर्थात् ज्ञानेन्द्रियो के जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पाँच विषय हैं वे ही पाँच तन्मात्रायें है, किन्तु ज्ञानेन्द्रियो की अपेक्षा तन्मात्राओ मे कुछ विशेषता होती है, अन्यथा उनकी आवश्यकता को ज्ञानेन्द्रियाँ ही पूरा कर लेती।

अहकार मे जो तामस अश होता है उससे पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है। वे तन्मात्रायें इतनी सूक्ष्म है कि उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अनुमान के द्वारा ही उनको जाना जा सकता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच तत्त्व अहकार से उत्पन्न होते है, किन्तु वे स्थूल हैं। उनसे जो पाँच तन्मात्राये अभिव्यक्त है वे 'अविशेष' और सूक्ष्म है।

पाँच महाभूत

सांख्य के पाँच महाभूत यद्यपि स्थूल है, किन्तु न्याय-वैशेषिक के महाभूतो से वे सूक्ष्म है, अर्थात् न्याय-वैशेषिक के ये परमाणु है। पाँच तन्मात्राओ को 'अविशेष' (सूक्ष्म) और पाँच महाभूतो को 'विशेष' (स्थूल) कहा गया है :

'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च'

पाँच तन्मात्राओ से पाँच महाभूतो की स्वतंत्र रूप से सृष्टि होती है। शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है कान से सुनना। स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है शब्द। रूप तन्मात्रा से तेज (अग्नि) की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है स्पर्श। रस तन्मात्रा से जल की अभिव्यक्ति होती है, जिसका गुण है रस। गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है गन्ध।

सृष्टि के विकास की साभिप्रायता

सृष्टि का विकास केवल सैद्धान्तिक निर्वाह के लिए नही होता; बल्कि वह साभिप्राय होता है और उसका विशेष उद्देश्य होता है। प्रकृति से लेकर पाँच महाभूतो तक उत्पत्ति के जिस क्रम को ऊपर दिखाया गया है उसकी दो अवस्थाये होती है . प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग और तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था मे बुद्धि, अहकार और एकादश इन्द्रियो का आविर्भाव होता है और दूसरी अवस्था मे पंच तन्मात्राओ, पच महाभूतो तथा उनके विकारो का आविर्भाव होता है।

प्रमाण विचार

साख्य दर्शन के पच्चीस तत्त्वो का विवेचन किया जा चुका है। साख्य के यही पदार्थ है। इन पच्चीस पदार्थों को प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और न प्रकृति न विकृति—इन चार भागो मे विक्त किया जा चुका है। चार भागो मे विभक्त इन पच्चीस तत्त्वो को स्वरूप की दृष्टि से 'अव्यक्त', 'व्यक्त' और 'ज्ञ', इन तीन वर्गो मे रखा जा सकता है। इस कार्यरूप जगत की उत्पादक 'प्रकृति' ही 'अव्यक्त' कहलाती है। महतत्त्व, अहंकार, पंच तन्मात्रायें, एकादश इन्द्रिय और पंच महाभूत, प्रकृति के ये तेईस विकार 'व्यक्त' पदार्थ कहलाते है। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष या आत्मा है। उसको 'ज्ञ' कहा गया है।

प्रकृति से लेकर पुरुष तक परिगणित उक्त पच्चीस पदार्थ या तत्त्व ही प्रमेय कहे जाते है। इन प्रमेयो की सिद्धि प्रमाण के बिना नही हो सकती है। इसलिए

सांख्य में प्रमाण-विचार की आवश्यकता हुई। सांख्य में तीन प्रकार के प्रमाण माने गये हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (शब्द)। प्रमाण के जितने अवान्तर भेद अन्य दर्शनों में बताये गये हैं उनका समावेश सांख्यकारों ने इन तीनों के अन्तर्गत किया है।

प्रमा

प्रमाण वस्तु क्या है, इसको जानने के लिए 'प्रमा' का जानना आवश्यक है। विषय के निश्चित ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसी ही समझना प्रमा है। इसके विपरीत जो वस्तु जैसी नहीं है उसको भ्रमवश या अज्ञानवश कुछ दूसरी ही समझना 'अप्रमा' है। उदाहरण के लिए सीप को सीप समझना और सर्प को सर्प समझना 'प्रमा' है, और सीप को मोती समझना तथा सर्प को रज्जू समझना 'अप्रमा' है।

सांख्य दर्शन में बुद्धि आदि विषयों को जड माना गया है और पुरुष (आत्मा) को चैतन्य, किन्तु आत्मा को स्वत. विषयों का ज्ञान नहीं होता है। जब बुद्धि पर चैतन्य आत्मा का प्रकाश पड़ता है तब हमें उन विषयों का ज्ञान होता है। वस्तुओं के इसी यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं।

प्रमाता और प्रमेय

प्रमाता और प्रमेय के बिना प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का विषय अधूरा रह जाता है। प्रमा का अस्तित्व एवं उपयोगिता प्रमाता तथा प्रमेय पर निर्भर हैं। ज्ञान के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता होती है। ज्ञान का आधार होता है विषय, जिसको प्रमेय कहा जाता है। ज्ञेय (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) के बिना ज्ञान (प्रमा) की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता ही नहीं है।

प्रमाण

प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा पुरुष को ज्ञान की उपलब्धि होती है। न्याय दर्शन में कहा गया है कि प्रमा का जो करण है वही प्रमाण कहलाता है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, ये तीनों प्रमा के हेतु हैं। सांख्य के अनुसार बुद्धिवृद्धि के द्वारा जिस विषय का ज्ञान पुरुष को होता है उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

जो विषय आँखों के सामने है, इन्द्रियाँ जिसको प्रत्यक्ष देख रही हैं सामान्यतः वही 'प्रत्यक्ष' है। इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग (सन्निकर्ष) से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। उसको निर्विवाद और निरपेक्ष माना गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमें आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कानों की आवश्यकता होती है।

न्याय, वैशेषिक की अपेक्षा साख्य का प्रत्यक्ष प्रमाण भिन्न है। साख्य के मतानुसार बुद्धि, अहंकार और मन—इन तीनो अन्त करण तथा ज्ञानेन्द्रिय, जिसके विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान दृष्ट है, इन चारो का प्रयोजन होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को जानने के लिए 'प्रतिविम्बवाद' का जानना आवश्यक है। उससे प्रत्यक्ष ज्ञान की सारी प्रक्रिया सरलता से समझ मे आ सकती है। जैसे दर्पण में दीपक का प्रतिबिम्ब पडकर उससे समीपस्थ अन्य वस्तुएँ आलोकित होती है उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि मे पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़कर उसमे विषय प्रकाशित होते है, अर्थात् विषयो का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है . सविकल्प और निर्विकल्प । काई वस्तु जब हमारे समक्ष आकार और प्रकार, दोनो रूपो मे उपस्थित होती है, तब उस वस्तु का जो ज्ञान होता है उसको 'विकल्प' कहते हैं। इसमे मन के द्वारा विषय का विश्लेषण, संश्लेषण और रूप-निर्धारण होता है। 'निर्विकल्प' प्रत्यक्ष मे केवल विषय की प्रतीति मात्र होती है, विषय के आकार-प्रकार की नही। निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे वस्तु अनाख्यात (अव्यक्त) और सविकल्प प्रत्यक्ष मे वस्तु आख्यात (व्यक्त) होती है। यही इन दोनो मे मौलिक अन्तर है। संक्षेप मे कहा जाय तो घटपटादिविशिष्ट ज्ञान को 'सविकल्प' और ससर्ग से असबद्ध ज्ञान को 'निर्विकल्प' कहते है।

अनुमान प्रमाण

साख्य के और न्याय के अनुमान-विचार मे विशेष अन्तर नही है। अनुमान कहते हैं पश्चात् ज्ञान के लिए। एक बात से दूसरी बात को जान लेना या एक बात को जान लेने के बाद दूसरी बात को जानना (अनुमितिकरण) ही 'अनुमान' कहलाता है। धूम को देखकर अग्नि के होने का ज्ञान ही पश्चाद्ज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष वस्तु के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु का निर्धारण करना ही 'अनुमान' कहलाता है।

अनुमान की सम्यक् जानकारी के लिए न्याय दर्शन के अनुमान खण्ड मे लिंग, लिगी, साध्य, साधन, पक्ष, व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श और अनुमिति आदि पारिभाषिक शब्दो के आशय तथा अभिप्राय को जान लेना आवश्यक है।

साख्य मे अनुमान के प्रमुख दो भेद माने गये है : वीत और अवीत । जो अनुमान व्यापक विधिवाक्य पर आधारित रहता है वह 'वीत' और जो अनुमान व्यापक निषेधवाक्य पर अवलम्बित रहता है वह 'अवीत' कहलाता है। साख्य

का 'वीत' अनुमान दो प्रकार का माना गया है : पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। साख्य का यही 'अवीत' अनुमान न्याय का 'शेषवत्' या 'परिशेष' कहलाता है। न्याय दर्शन के प्रसग मे पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्ट और शेषवत्, अनुमान के इन तीन अवान्तर भेदो पर विस्तार से विचार किया गया है। इसलिए यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

शब्द प्रमाण

साख्य मे प्रत्यक्ष और अनुमान नामक जो दो प्रमाण बताये गये है उनसे सम्पूर्ण विषयो का ज्ञान नही हो सकता है। इसलिए जिन विषयो का ज्ञान उक्त दोनो प्रमाणो से नही हो सकता उनके ज्ञान के लिए साख्यकारो को शब्द प्रमाण की योजना करनी पड़ी।

आप्त व्यक्ति का उपदेश ही शब्द प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय की जो जानकारी प्राप्त होती है उसे 'न्याय' की भाषा मे 'आप्तत' कहते है। इस दृष्टि से आप्त व्यक्ति वह हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी पदार्थ का स्वय साक्षात्कार किया हो। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी कहता है वह माननीय और प्रामाणिक होता है।

साख्य के मतानुसार शब्द दो प्रकार का होता है, लौकिक और वैदिक। इन्ही को क्रमश दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भी कहा जाता है। माननीय या विश्वासपात्र व्यक्तियो द्वारा कहे गये लौकिक शब्दो को साख्य प्रामाणिक नही मानता, क्योकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होते है। इसके अतिरिक्त श्रुति या वेद के वाक्य शब्द प्रमाण की कोटि मे आते है। इन वैदिक वाक्यो से हमे उन अगोचर विषयो का ज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित नही होते। ऐसे वाक्यो मे वे त्रुटियाँ और दोष नही होते जो लौकिक वाक्यो मे होते है। वे अभ्रान्त और स्वत. प्रमाण है।

मोक्ष या कैवल्य

पुरुष मे चेतनत्व और अविषयत्व धर्म होते है। अत वही द्रष्टा और साक्षी है। जिस प्रकार लोकव्यवहार मे वादी और प्रतिवादी, दोनो अपने विवाद का विषय साक्षी को दिखाते है उसी प्रकार प्रकृति के सभी कार्यों का साक्षी पुरुष होता है। पुरुष मे सुख-दु.ख और मोह, ये तीनो गुण नही होते है। इसलिए उसका मध्यस्थ होना भी सिद्ध होता है। सुख से सुखी, दु:ख से दु.खी और मोह से मोहाविष्ट होने वाला मध्यस्थ (उदासीन) नही हो सकता है।

इस दृष्टि से प्रश्न यह होता है कि पुरुष यदि द्रष्टा, साक्षी और उदासीन है तो फिर कैवल्य का सम्बन्ध किससे है, अर्थात् मोक्ष किसको होता है ?

कैवल्य का स्वरूप दर्शाते हुए ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' मे लिखा गया है कि त्रिगुणरहित होने से पुरुष का ही कैवल्य सूचित होता है (**अत्रैगुण्याच्च कैवल्यम्**)। कैवल्य नाम है दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति (**आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्**)। यहाँ यह शका होती है कि यदि पुरुष त्रिगुणरहित है तो उसके लिए दुःखत्रयाभाव का प्रश्न ही नही उठता। इसका कारण प्रकृति-पुरुष का सयोग बताया गया है। पुरुष विवेकी न होने के कारण कर्ता नही है। इसलिए चैतन्य, जो पुरुष का स्वभाव है और कृतित्व, जो प्रकृति का स्वभाव है, इस दृष्टि से वे दोनों अलग-अलग हैं। चैतन्य और कृतित्व का एक ही मे आश्रित होना प्रकृति-पुरुष के सयोग के कारण प्रतीत होता है। वह भ्रम है, वास्तविक नही। प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही यह भ्रमात्मक प्रतीति होती है।

प्रकृति पुरुष के सयोग का कारण

प्रकृति-पुरुष का यह संयोग अविद्या के कारण है; किन्तु अविद्या के अनादि होने से यह सयोग भी अनादि है। यह संयोग तब तक बना रहेगा, जब तक कि पुरुष मे भोगवृत्ति बनी रहेगी। इस संयोग के अन्त के लिए ही कैवल्य की आवश्यकता होती है। कैवल्य की प्राप्ति विवेक से होती है। विवेक के द्वारा जब तक पुरुष, प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उससे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नही करता तब तक कैवल्य की उपलब्धि संभव नही है।

किन्तु कैवल्य के लिए पुरुष को प्रकृति का संयोग आवश्यक है, क्योकि जिस प्रकार अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को पुरुष की आवश्यकता है उसी प्रकार कैवल्यप्राप्ति के लिए पुरुष को प्रकृति का संयोग आवश्यक है। किन्तु यह संयोग भोग-सयोग से सर्वथा भिन्न है (**अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः सयुज्यते, इति युक्तम्**)। प्रकृति-पुरुष का एक प्रकार का संयोग तो यह है कि वह भोग के द्वारा प्रकृति की अभिव्यक्ति का माध्यम होकर प्रकृति का उपकार करता है; किन्तु भोग के द्वारा कृतकर्मों का क्षय (उपभोग) हो जाने के बाद पुरुष कैवल्य की ओर प्रवृत्त होता है। इस कैवल्यप्रवृत्ति मे प्रकृति, पुरुष की सहायता करती हैं। इसको प्रकृति-पुरुष का 'नव संयोग' कहा गया है (**यद्यपि तस्य हेतुरविद्या, इति योगसूत्रेणानादिविपर्ययज्ञानवासनैव संयोगनिदानमभिहितं तथाप्यवान्तरं संयोगप्रयोजकं परस्परोपकारमाह**)।

प्रकृति-पुरुष के इस पारस्परिक उपकार को ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में 'अंध-पंगु-संयोग' कहा गया है। इस रूप मे प्रकृति के साथ संयुक्त पुरुष अपने दुःखादि त्रिविध परिणामो की निवृत्ति के लिए कैवल्य की इच्छा करता है। यह कैवल्य पुरुष को तब प्राप्त होता जब वह प्रकृति से अलग अपने स्वरूप को पहचानता है।

ईश्वरकृष्ण की 'साङ्ख्यकारिका' मे कहा गया है कि जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन है वही बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय होता है। ऐसा तत्त्वज्ञान ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधनभूत विवेक (ज्ञान) का कारण है (**यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते, इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थ साधनहेतुत्वात्**)। इस विवेक (ज्ञान) के लिए शास्त्रजिज्ञासा का होना आवश्यक है और तभी विवेकबुद्धि पर छाये रहने वाले विविध दुःखो को दूर करने की ओर प्रवृत्ति होती है।

त्रिविध दुःख

दुःख तीन प्रकार का है : आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। जीव के शरीर, मन मे उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, द्वेष, मोह, रोग, क्षुधा, सताप आदि शारीरिक तथा मानसिक व्याधिया आध्यात्मिक, वाह्य भौतिक पदार्थों तथा प्राणियो से उत्पन्न होने वाले सर्पदश, काँटा गडना, युद्ध आदि आधिभौतिक; और अग्नि, वायु, जल आदि दैवी शक्तियो से उत्पन्न होने वाले दुःख आधिदैविक कहलाते है।

दुःख जीव का स्वभाविक नही नैमित्तिक गुण है, दुःखनाश के कथन से ही प्रतीत होता है कि वह जीव से अलग है। जीव अल्पज्ञ है। उसका प्रकृति के साथ संयोग होता है और वह अपनी अल्पज्ञता तथा मिथ्याज्ञान के कारण बद्ध हो जाता है।

दुःख का कारण अविवेक है। प्रकृति का संयोग भी अविवेक से ही होता है। जीव की अल्पज्ञता ही उस अविवेक का कारण है। जिस प्रकार अंधकार के भ्रम से सीप को चाँदी या रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है और प्रकाश के द्वारा वह भ्रम दूर हो जाता है उसी प्रकार अविवेक से उत्पन्न होने वाले बन्धन का उच्छेद, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने से होता है। जीव मे स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारण प्रकृति का विवेक नही रहता, जिसके कारण उसे प्राकृतिक पदार्थों मे मिथ्याज्ञान की प्रतीति होती है और मिथ्याज्ञान से रागद्वेष, उनसे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से बन्धन (त्रिविध दुःख) उत्पन्न होते हैं। जिस समय जीव

में प्रकृति का मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है उस समय उसका प्रकृति के पदार्थों का अविवेक भी दूर हो जाता है और वह दु.खमय बन्धन से छूट जाता है ।

दु:ख का उपभोक्ता जीवात्मा है, क्योंकि वह चैतन्य है । जिस प्रकार किसानों द्वारा उत्पन्न अन्नादि का भोग राजा करता है, जैसे सेना की विजय या पराजय का सुख-दु.ख राजा को होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा किये कर्मों का फल जीवात्मा को भोगना पडता है । चैतन्य जीवात्मा को अल्पज्ञता के कारण दु.ख भोगना पड़ता है । इसी अल्पज्ञता के कारण जीव शरीरादि के विकारों को अपने मे मानता हुआ सुख-दु.ख का अनुभव करता है ।

इस दु खानुभूति को जोव योग, वैराग्य के द्वारा दूर करके मोक्ष का अधिकारी बन सकता है । विवेक के साक्षात्कार से मुक्ति और विवेक का साक्षात्कार योग से किया जा सकता है ।

ज्ञान के साधन

ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, किन्तु तत्त्वज्ञान के साधन कौन है, उनका जानना आवश्यक है । विवेक-साधन से ही प्रकृति का भेद जाना जा सकता है । विवेक-साधन से विषयो का उसी प्रकार परित्याग हो जाता है, जैसे साँप पुरानी केंचुली को छोड देता है ।

विवेक-साधन के लिए योग और वैराग्य आवश्यक है । विवेक एकाकी रह कर ही प्राप्त किया जाता है, दो होकर नही । उसके लिये आशाओं का परित्याग और मन का एकाग्र होना आवश्यक है । मन की एकाग्रता से समाधि मे किसी प्रकार के विघ्न की आशंका नही रहती । शौच आदि आचार के नियमो का सम्यक् पालन भी आवश्यक है । तत्त्वज्ञान केवल उपदेश श्रवण से ही नही होता, बल्कि उसके लिए चिन्तन-मनन भी आवश्यक है । गुरु से नम्र बने रहना, सदा गुरु की सेवा मे तत्पर रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और वेदाध्ययन के लिए नित्यप्रति गुरु के समीप जाना, विवेक-सिद्धि के लिए आवश्यक है । ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय और वेदो का अनुशीलन विवेकप्राप्ति के सर्वोच्च साधन है ।

जीवन्मुक्त

विवेकप्राप्ति के बाद जीव सशरीर रहते हुए भी मुक्त कहा जाता है । प्रश्न है कि शरीरधारी जीव को मुक्त कैसे कहा जा सकता है, इसका उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार कुम्हार दण्ड से एक बार चाक का घुमा देता है और वर्तनो के बन जाने के बाद भी बहुत समय तक वह चलता ही रहता है उसी प्रकार

ज्ञान के प्राप्त हो जाने से यद्यपि फिर नये कर्म पैदा नही होते तथापि कर्मों के वेग से मुक्त जीव शरीर को धारण किये रहता है।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध मे साख्यकारो के दो मत है। कुछ विचारक तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नही समझते और कुछ ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

जिन साख्यकरो ने ईश्वर की कोई आवश्यकता न समझी उन्होने ईश्वर के विरोध मे जो तर्क दिये है उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता नहीं है

संसार मे देखा जाता है कर्म कोई करता है और उसका फल कोई देता है। इस दृष्टि से इस कर्मप्रधान जगत् मे कार्यो का अधिष्ठाता कोई अवश्य है, जो कि मनुष्य के कर्मो के अनुसार उसको फल देता है। इस पर साख्यकारो का कहना है कि कर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर नही हो सकता है। ईश्वर को नित्य, निर्विकार तथा अक्षर कहा गया है। अत ऐसा ईश्वर कर्मों का फल देने वाला नही हो सकता है। इस परिवर्तनशील जगत् का कारण भी कोई नित्य तथा परिणामी (परिवर्तनशील) ही होना चाहिए। वह प्रकृति ही हो सकती है।

प्रकृति की क्रियाशक्ति ईश्वर नहीं है

जो कि यह कहा जाता है कि जड प्रकृति मे गति या क्रिया उत्पन्न करने के लिए कोई ऐसी अनन्तबुद्धि युक्त चेतन सत्ता होनी चाहिए, जो प्रकृति का संचालन कर सके। ऐसी व्यापक सत्ता ईश्वर की ही हो सकती है। इसके विपक्ष मे ईश्वर-विरोधी साख्यकारो का कथन है कि स्वयं ईश्वरवादियो ने ईश्वर को किसी क्रिया मे प्रवृत्त होने वाली सत्ता नही माना है। इसके विपरीत प्रकृति के द्वारा सृष्टि का जो संचालन और नियमन होता है वह भी तो एक क्रिया ही है। इसलिए क्यो न प्रकृति को ही सचालक और नियामक माना जाय ?

ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है

यदि ईश्वर को प्रकृति का सचालक तथा नियामक मान भी लिया जाय तो ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठता है कि वह ऐसा करता क्यो है ? ईश्वर तो पूर्णकाम है। उसका अपना कोई भी अधूरा मनोरथ नही है। यदि यह कहा जाय कि जीवो के हितार्थ ईश्वर प्रकृति का संचालन करता है तो इस दृष्टि से ईश्वर सकाम सिद्ध होता है, क्योकि 'हितार्थ' भी एक कामना ही है। यदि ईश्वर ऐसा करता भी है तो ईश्वर की बनायी हुई यह सृष्टि पापो तथा कष्टो से मुक्त

होनी चाहिए और जिस जीव के हितार्थ सृष्टि की रचना की गयी है वह सुतरां आनन्दित तथा सुखी होना चाहिए, जैसा कि नहीं है ।

सृष्टि की सिद्धि में ईश्वर नियतकारण भले ही हो, उपादानकारण नही है । यदि उसको उपादानकारण मानते है, अर्थात् यदि यह मानते है कि ईश्वर से संसार बना है तो जिस प्रकार परमेश्वर सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियो को भी ऐश्वर्यो से सम्पन्न होना चाहिए, किन्तु ऐसा दिखायी नही देता ।

जीवो मे अमरत्व की भावना नहीं बनती

यदि ईश्वर को जगत् का कारण मान लिया जायगा तो जीवो मे अमरत्व तथा मुक्त के लिए जो भावना होती है वह नही होनी चाहिए थी । क्योकि यदि जीवो को ईश्वर का अंश मान लिया जायगा तो उनमे भी ईश्वर का अमरत्व स्वीकार करना पडेगा ।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति है

जगत् का उपादानकारण ईश्वर न होकर प्रकृति है । इसीलिए 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' मे कहा गया है कि जो जन्मरहित और सत्व, रज, तथा तम, इन तीन गुणो का स्वरूप प्रकृति है वही परिणामिनी (परिवर्तित) होकर भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे परिणत हो जाती है (**अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपा:**) । इसके विपरीत ईश्वर अपरिणामी तथा असग है और इसी लिए उसको आद्याशक्ति प्रकृति का योग नही हो सकता है ।

वेदान्त का खण्डन

यदि कहा जाय कि अविद्या के योग से जगत् की उत्पत्ति होती है तो कहना पडेगा कि जगत् की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को अविद्या की और अविद्या को ईश्वर की अपेक्षा होगी । इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को विद्या का नाश करने वाली कहा जाय तो वह विद्यामय ब्रह्म का भी नाश करने वाली सिद्ध होगी । इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या दो स्वतंत्र तत्त्व मानने पडेंगे, जो कि अद्वैतवाद के विपरीत है ।

इसलिए साख्य की दृष्टि से अविद्या नाम की कोई वस्तु नही है । वह बुद्धितत्त्व की एक वृत्तिमात्र है ।

ईश्वरवादी सांख्यकार

बाद के विज्ञान भिक्षु आदि कुछ साख्यकारो ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ भी प्रस्तुत

की हैं। उनका कहना है कि यद्यपि ईश्वर ने प्रकृति के सहयोग से जगत् को उत्पन्न नही किया है; फिर भी ईश्वर का अस्तित्व हमे इसलिए स्वीकार करना चाहिए कि उसी की प्रेरणा से जड प्रकृति मे क्रिया का उन्मेष होता है। प्रकृति और ईश्वर का लौह-चुम्बक जैसा सम्बन्ध है। जैसे चुम्बक के समीप रखे हुए जड़ लोहे मे गति या क्रिया पैदा हो जाती है वैसे ही ईश्वर के सान्निध्य से प्रकृति मे क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता प्रकृति की सत्ता से भी ऊँची है। वह ईश्वर पूर्णकाम, नित्य और जीवो मे अन्तर्यामी होकर उनके कार्यों का साक्षी बना रहता है।

दोनो मतो के साख्यकारो का ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व-सम्बन्धी विचारों का यही आशय है। यद्यपि ईश्वर के विरोध मे साख्यकारो ने जो शंकायें तथा कारण प्रस्तुत किये हैं वे अधिक तर्कसंगत नही है, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने वाले साख्यकारो की युक्तियो की अपेक्षा वे अधिक स्थायी है।

*

योग दर्शन

★ ★ ★ ★

योग का तात्पर्य

वस्तुत देखा जाय तो योग, योग दर्शन का ही विषय नही है। जितने भी ग्रास्तिक दर्शन है उन सब का एक ही उद्देश्य है—भगवान् को पा लेना। यही भगवत्स्वरूप हो जाना ही 'योग' है। इसलिए ग्रन्य दर्शनो का ग्रध्येता विद्वान् योग दर्शन के उद्देश्य को सरलता से ग्रहण कर सकता है।

युज् धातु से करण ग्रौर भाव मे 'घञ्' प्रत्यय जोड देने से 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका ग्रर्थ होता है समाधि। समाधि कहते है सम्यक् प्रकार से भगवान् मे मिल जाना। यह जीव भगवान् से तब मिल सकता है, जब वह कामना, वासना ग्रासक्ति ग्रौर संस्कारो का परित्याग कर दे। इसी लिए कहा गया है कि जीव ग्रौर ब्रह्म के बीच जो स्वजातीय, विजातीय ग्रौर स्वगत ग्रादि भेद है उनका विमोचन करके एक हो जाना ही 'योग' है। हमारी वाणी, हमारे कार्य ग्रौर हमारी सारी सत्ता जब उक्त दृष्टि से भगवन्मय हो जाती है उसी ग्रवस्था को जीव-ब्रह्म का मिलन (योग) कहा जाता है।

यह योग (मिलन) भी दो प्रकार का है। एक योग तो वह है, जिसमे साधक ग्रपने ग्रस्तित्व को पूर्णतया खो देता है; जैसा कि शकराचार्य का शुद्धाद्वैत। दूसरा योग है ग्रपनी ग्राशिक सत्ता को भी बचाये रखना, जैसा कि रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

योग दर्शन के 'योग' शब्द का शंकर ग्रौर रामानुज की ग्रपेक्षा कुछ भिन्न ग्रर्थ है। उसका ग्राशय है चित्तवृत्ति का निरोध करके चित्त को वृत्तिशून्य करना ग्रौर चित्तवृत्तियो के निरोध के लिए जो भी उपाय किये जा सकते है उनको

करना। अतः 'योग' शब्द का भाववाच्य में मुख्य अर्थ हुआ साधित भगवत् मिलन, और करणवाच्य में गौण अर्थ हुआ साधित भगवान् से मिलने के लिए समस्त साधन-प्रणाली को अपनाना।

'अमरकोश' मे 'योग' शब्द के अनेक पर्यायवाची है। जैसे 'सन्नहन', 'उपाय', 'ध्यान', 'संगति' और 'युक्ति'। कवच पहनकर तथा हथियारो से सन्नद्ध होकर युद्ध के लिए उद्यत हो जाना ही 'सन्नहन' योग है। आयुर्वेदशास्त्र मे रोग को दूर करने के योग को 'उपाय' कहते है। मन को एकाग्र करके समाधि मे बैठ जाना ही 'ध्यान' योग है। 'सगति' कहते है सगम, अर्थात् दो वस्तुओं के मिलन को। 'युक्ति' का अर्थ होता है उपाय तथा तर्क।

सामान्यतः कहा जा सकता है शरीर और चित्त की वह क्रिया या अभ्यास 'योग' है जिसके करने से कोई विशेष सिद्धि प्राप्त होती है।

योग मार्ग

वेदो के अध्येता विद्वान् जानते है कि संपूर्ण वेदमत्र तीन काण्डो (भागो) मे विभक्त है : कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म भाग मे 'सुकोशल' योग, उपासना भाग मे 'चित्तवृत्तिनिरोध' योग और ज्ञानभाग मे 'जीवात्मा-परमात्मा-ऐक्य' का योग विवेचित है।

कर्म करते हुए कर्मबन्धन से छुटकारा पाना ही कर्मकाण्ड का उद्देश्य है। इसी प्रकार उपासना या साधना द्वारा अन्त करण की वृत्तियो का निरोध करके परमात्मा के स्वरूप को समझना ही उपासना का लक्ष्य है। ज्ञानकाण्ड का लक्ष्य है अविद्याजनित अज्ञान को दूर कर आत्मज्ञान प्राप्त करके परमात्मा मे समा जाना। यही वेदान्त है।

कर्म, उपासना और ज्ञान, मोक्षप्राप्ति के इन तीन भागो के सम्बन्ध मे अनेक दर्शन अनेक तरह की युक्तियाँ प्रस्तुत करते है, किन्तु योग की दृष्टि से उनका विवेचन सर्वथा पृथक् है।

सान्निध्य कहते है समीपता के लिए। ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना ही योग का चरम लक्ष्य है। इस सान्निध्य-प्राप्ति के जो साधन है उनको 'उपासना' कहते है। योग की सार्थकता ही इसमे है कि उपासक भगवानोन्मुख हो। यही 'उन्मुख' होना 'भक्ति' है। उपासना के जितने भी साधन है उनमे भक्ति और योग का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बना रहता है।

योग की चार साधनायें और भगवान् तक पहुँचने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं। योग के चार साधनो के नाम है : मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

इसी प्रकार आठ सीढियो के नाम है . यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योग दर्शन का सार

योग दर्शन के व्यापक सिद्धान्तो को समझने से पूर्व उनका सक्षिप्त परिचय और उनका पारस्परिक समन्वय समझ लेना आवश्यक है।

आगे कहा जायगा कि चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है। ये वृत्तियाँ पाँच है · प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण भी तीन है प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाण के इन अवान्तर भेदो का अन्य दर्शनो मे विस्तार मे विवेचन किया जा चुका है। अन्य चार वृत्तियो मे मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय', ज्ञेय पदार्थ के सत्तारहित ज्ञान को 'विकल्प', अभाव-प्रत्यय-अवलम्बित वृत्ति को 'निद्रा' और अनुभूत विषय का ध्यान ही 'स्मृति' है।

इन चित्तवृत्तियो का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है। चित्त को स्थिर, अविचल करने वाले प्रयत्न ही 'अभ्यास' और ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विमुक्त हो जाना ही 'वैराग्य' है।

समाधि लाभ के लिए ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है। पंचविध क्लेशों, कर्म, कर्मफल और आशय (वासनाओ) से दूर रहने वाला पुरुषविशेष ही योग का ईश्वर है। ईश्वर का प्रणिधान, उसके वाचक 'ओ३म्' का जप करने से होता है। जिन पाँच क्लेशो का ऊपर जिक्र किया है उनके नाम है · अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

योगाभ्यास के आठ अगो का नाम है : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य,• अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच 'यम' है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पाँच 'नियम' कहलाते है।

उद्देश्य

योग दर्शन का उद्देश्य है कि योग द्वारा मनुष्य पंचविध क्लेशो और नानाविध कर्मफल से विमुक्त होकर मोक्ष (कैवल्य) प्राप्त करे। योग दर्शन मे चित्त की पाँच प्रवृत्तियाँ बतायी गयी है . क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र, जिनका नाम वहाँ 'चित्तभूति' है। अन्त की दो चित्तभूतियो को वहाँ योग की सच्ची अधिकारिणी माना गया है। उनके लिए 'संप्रज्ञात' और 'असंप्रज्ञात', इन दो योगो का विधान बताया गया है। 'असप्रज्ञात' योग से पचविध क्लेशो का

विनाश हो जाता है और 'संप्रज्ञात' योग को सिद्ध करके साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

योग दर्शन के अनुसार यह संसार दुःखमय है। जीवात्मा के मोक्ष का एकमात्र उपाय योग है। ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।

योग दर्शन के इसी साराश का आगे विस्तार से विवेचन किया गया है। योग दर्शन के तात्विक विश्लेषण से पहले उसके आचार्यों और उनकी कृतियां का परिचय जान लेना आवश्यक है।

योग दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियाँ

योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतंजलि हुए, जिन्होने विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के योग-विषयक विचारो का संग्रह करके तथा उनको अपनी प्रतिभा मे व्यवस्थित करके 'योगसूत्र' का निर्माण किया। 'योगसूत्र' के अध्ययन से स्वत ही उसके निर्माता के असाधारण पाण्डित्य का परिचय मिल जाता है। ऐसा विशुद्ध तर्क-संमत, गंभीर और सर्वांगीण ग्रन्थ सभव ही दूसरा हो। उसमे प्रतिपादित न्यायानु-सारिणी लक्षण, युक्तिशृंखला तथा प्राजल दृष्टिकोण बडे ही वैज्ञानिक ढग से विवेचित है। प्राचीन भारत की दार्शनिक महिमा का दर्शन करने के लिए उसमे यथेष्ट सामग्री समन्वित है।

कुछ दिन पूर्व 'पातजल योग दर्शन' के संबंध मे जो असंगत अफवाहे प्रचारित की गयी थी, जो प्रवाद चलाया गया था कि उसकी रचना ४५० ई० मे हुई है, उनका खण्डन कर आधुनिक गवेषकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी रचना बौद्धयुग से पहले हो चुकी थी।

योग दर्शन, पतंजलि की देन होने के कारण उनके 'योगसूत्र' को 'पातजल दर्शन' भी कहा जाता है। पतजलि का यह सूत्र-ग्रंथ चार पादो (अध्यायो) मे विभक्त है, जिनके नाम है समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। प्रथम समाधि पाद मे योग का उद्देश्य, उसका लक्षण तथा उसके साधन वर्णित हैं, द्वितीय साधन पाद मे क्लेश, कर्म एव कर्मफलो का विवेचन है, तृतीय विभूति पाद मे योग के अग, उनका परिणाम तथा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के प्रकार वर्णित है, और चतुर्थ कैवल्य पाद मे मोक्ष का विवेचन है।

पतंजलि के उक्त 'योगसूत्र' के अतिरिक्त योग-विषयक दूसरे विद्वानो के अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों का इतिहासकारो ने उल्लेख किया है, जो अप्रकाशित है। इस प्रकार के ग्रन्थों मे जनक की 'योगप्रभा', अगिरा का 'योगप्रदीप', कश्यप का 'योगरत्नाकर', कौत्स का 'योगविलास', मरीच के 'योगसिद्धान्त',

'भोगविलास', संजय का 'प्रदर्शन योग', कौशिक का 'योगनिदर्शन' और सूर्य का 'योगमार्तण्ड' उल्लेखनीय है।

जिन ग्रन्थकारो का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी बहुत प्राचीनकाल मे हुए। इससे हमे यह विदित होता है कि अन्य दर्शनो के समान ही योगदर्शन पर भी बहुत प्राचीन काल से विचार किया जाने लगा था और उसको एक स्वतंत्र शास्त्र की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।

फिर भी पतंजलि का 'योगसूत्र' ही हमारे समक्ष आज ऐसी कृति है, जिसको योग दर्शन का स्तंभ कहा जाता है। 'योगसूत्र' पर सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य व्यास का माना जाता है। 'व्यास-भाष्य' के सम्बन्ध मे डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील का कथन है कि उसमे जिस दशमलव गणना का ज्ञान अंकित है, भारत मे उसका आविष्कार-समय चौथी शताव्दी ई० है। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण की 'सारूयकारिका' मे 'व्यास-भाष्य' का कही भी उल्लेख नही है, जब कि इस प्रामाणिक एवं लोकप्रिय भाष्यग्रन्थ के उल्लेख का संवरण उसका परवर्ती कोई भी दार्शनिक न कर सका। ईश्वरकृष्ण का स्थितिकाल ४०० ई० निश्चित है। अत 'व्यासभाष्य' के निर्माण का समय इससे भी पहले का होना चाहिए।

इसी 'व्यास-भाष्य' के आधार पर महाराज भोज ने 'योगसूत्र' पर 'भोज-वृत्ति' लिखी।

तदनन्तर 'व्यास-भाष्य' पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी', और विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक' इस परम्परा के प्रसिद्ध एव प्रामाणिक ग्रंथ है।

हठयोग, योगदर्शन की ही एक शाखा है, जिस पर लिखे गए प्राचीन ग्रन्थो मे 'शिवसंहिता' का नाम उल्लेखनीय है। हठयोग के विख्यात आचार्य मच्छंदर नाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ, जिन्होने नाथ संप्रदाय की प्रतिष्ठा कर हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया।

योगसूत्र

पतंजलि का 'योगसूत्र' जैसा कि संकेत किया जा चुका है, चार पादो मे विभक्त है समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद।

पहले समाधिपाद मे प्रस्तावना के अनन्तर योग की परिभाषा, चित्तवृत्तियो के निरोध का उपाय और समाधि के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

दूसरे साधनपाद मे चित्त की स्थिरता के लिए अतरंग और बहिरंग साधनों का निरूपण किया गया है। योग के अतरंग साधनो के नाम है : धारणा, ध्यान

तथा समाधि और बहिरंग साधनों के नाम हैं . यम, नियम, आसन, प्राणायाम, तथा प्रत्याहार ।

तीसरे विभूतिपाद मे अन्तरंग साधनो के अवान्तर फल और अनेक प्रकार की सिद्धियों का विवेचन है । वहाँ बताया गया है कि धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों का सम्मिलित नाम 'संयम' है । जन्मान्तर का ज्ञान, भूत-भविष्य का ज्ञान और अन्तर्धान आदि अनेक प्रकार की सिद्धियो का वर्णन करके इस पाद को समाप्त कर दिया गया है ।

चौथे कैवल्यपाद मे जन्म, औषधि आदि पाँच प्रकार की सिद्धियो का वर्णन और उपासना के द्वारा समाधिरूप फल की प्राप्ति के बाद प्रकृति तथा पुरुष का भेद बताया गया है । प्रकृति तथा पुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था को ही मोक्ष कहा गया है, जब कि दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है ।

सांख्य और योग का सम्बन्ध

साख्य शब्द का अर्थ होता है गिनानेवाला । कपिल के 'साख्यसूत्र' मे पच्चीस तत्त्वो को गिनाया गया है । इसी लिए इस तत्त्वविशिष्ट दर्शन को 'साख्य' कहा गया . **सख्यया कृतमिति सांख्यम्** । 'साख्यसूत्र' मे हमे जो सिद्धान्त देखने को मिलते है वे वेदो, उपनिषदो और 'गीता' मे भी बिखरे हुए है । इस दृष्टि से साख्य दर्शन की प्राचीनता निर्विवाद है । जिस युग के साख्य को स्वतंत्र दर्शन की कोटि मे मान्यता प्राप्त हुई उस युग मे उक्त पूर्ववर्ती प्राचीन सिद्धान्तो या विचारो को एक सूत्र मे पिरोकर यह कहा गया कि समस्त कर्मों से संन्यास लेकर ब्रह्मज्ञान मे निमग्न हो जाना ही जीव का लक्ष्य है । इसी को 'साख्य योग', 'ज्ञानयोग', या 'संन्यासयोग' कहा गया । यह वही अवस्था है, जिसको 'गीता' मे कहा गया है:

भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मि् दृष्टे परावरे ॥

साख्य और योग, दोनो समान विद्यायें है । कहा भी गया है कि साख्य और योग को अलग-अलग जानना अविवेक है, पाण्डित्य नही :

'साख्ययोगो पृथग्बाला, प्रवदन्ति न पण्डिताः'

योग दर्शन को वस्तुतः कपिल के सांख्य दर्शन का परिशिष्ट कहा जाना चाहिए । उसको 'उत्तर साख्य' कहा जाय तो अनुचित न होगा । कपिल ने जिन पच्चीस तत्त्वों का विवेचन किया है, योग दर्शन भी उन्हीं को मानता है ।

निरीश्वरवादी सांख्य से योग की एक ही बात मे भिन्नता है। उसमे 'ईश्वर' नामक छब्बीसवाँ तत्त्व माना गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से साख्य और योग दोनो परिणामवादी दर्शन है, जिनके अनुसार न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। योग दर्शन के अनुसार पुरुष (ईश्वर) में ज्ञान, इच्छा, सुख, दु ख, धर्म, अधर्म आदि कोई भी गुण नही रहते है, वे प्रकृति मे रहते है। अनादिकाल से प्रकृति के साथ पुरुष का तादात्म्य भ्रम चला आ रहा है। यही भ्रम जीव के बन्धन का कारण है। विवेक द्वारा जीव को जब इस भेद का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी वह मुक्तिलाभ प्राप्त करता है। मुक्तावस्था की वृत्ति अनन्तकाल तक निरुद्ध रहती है। जितने भी प्रारब्ध कर्म है वे मुक्त हो जाते है और जितने भी सचित कर्म है वे ज्ञान से दग्ध हो जाते है। आगे वे होते ही नही है। इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष सदैव ही अपने वास्तविक स्वरूप मे अवस्थित रहता है। इसी को योग मे मोक्ष कहा गया है।

साख्य दर्शन के मतानुसार विवेक या ज्ञान को मुक्ति का साधन बताया गया है। योग की मोक्षावस्था भी ज्ञानमूलक है, किंतु उसका यह ज्ञान या विवेक-सिद्धान्त, साख्य के विवेकसिद्धान्त की अपेक्षा कुछ स्थूल है।

फिर भी, दोनो दर्शनो की कुछ सैद्धान्तिक भिन्नता के फलस्वरूप यह मानने मे तनिक भी सन्देह नही होना चाहिए कि साख्य दर्शन के जो सूक्ष्म सिद्धान्त है उनको व्यावहारिक जीवन मे परिणत करने का कार्य योग दर्शन ने ही किया है।

दोनो दर्शन-सप्रदायो की समानता का यह सिद्धान्त अतर्क्य है। उनकी इस वास्तविकता को खण्डित नही किया जा सकता है। इन दोनो दर्शनो के परवर्ती ग्रंथकारो ने अपनी कृतियो के लिए एक-दूसरे के भावो को ग्रहण करके तथा एक साथ ही दोनो दर्शनो के विचार ग्रथित करके दोनो दर्शनो के सबध को अधिक स्पष्ट कर दिया है।

चित्तवृत्तियों के निरोध का उद्देश्य

विश्व के प्रायः समस्त देशो के साहित्य मे अध्यात्मविद्या का विशेष महत्त्व माना गया है। अध्यात्मविद्या का एक अंग, जिसे यहाँ हम योग कह रहे है, उस पर अनेक विद्वानो ने अनेक प्रकार से विचार किया है। क्योंकि व्यावहारिक तथा भौतिक दृष्टि से भी योग की उपयोगिता है। इसलिए पश्चिम के आधुनिक विद्वान् आज भी उस पर गवेषणा कर रहे है।

भारतीय योग दर्शन के आचार्य पतंजलि का कथन है कि 'चित्तवृत्तियों

का निरोध ही योग है' (**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**)। इसलिए पतंजलि के योग-विषयक दृष्टिकोण को जानने के लिए चित्तवृत्तियाँ और उनके निरोध के तरीको का जानना आवश्यक है। किन्तु पातंजलि योग के इस दृष्टिकोण को समझने से पूर्व यह जिज्ञासा होती है कि चित्तवृत्तियो और उनका निरोध जानने की आवश्यकता क्यो हुई ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमे योग की तात्त्विक भूमि मे प्रवेश करना होगा।

जैसा कि आगे विस्तार से बताया जायगा, योग के तीन तत्त्व हैं : ईश्वर, जीव और प्रकृति। इन तीन तत्त्वो मे 'जीव' वह तत्त्व है, जिसके कार्यों मे सहायता करने तथा जिसके उपायो को बताने के लिए योग दर्शन के निर्माण की आवश्यकता हुई।

प्रकृति मे सत् ; जीव मे सत्, चित् और ईश्वर मे ये तीनो एक साथ विद्यमान रहते है। इसी लिए तो उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। इन तीन तत्त्वो का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर यह प्रश्न उठता है कि सत्-चित्-स्वरूप जीव को अपने कर्तृत्व का उद्देश्य प्रकृति को बनाना चाहिए या ईश्वर को ? प्रकृति का गुण सत् है, जीव का सत्-चित् और ईश्वर मे इस त्रिगुणत्व मे जिस आनन्द का निवास है वह न तो प्रकृति को प्राप्त है और न जीव को ही। इसलिए जीव का अन्तिम लक्ष्य सत्स्वरूप प्रकृति से न होकर आनन्दस्वरूप ब्रह्म से है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि जीव का उद्देश्य ईश्वर से है।

जीव के स्वाभाविक गुण है ज्ञान और कर्म (प्रयत्न)। ये गुण बाहरी भी है और भीतरी भी। जब जीव बाहरी गुणो या स्वभावो मे लिप्त रहता है तब उसे 'बहिर्मुखी वृत्ति' और जब भीतरी स्वभावो मे निमग्न रहता है तब उसको 'अन्तर्मुखी वृत्ति' कहा जाता है।

पतंजलि का योग हमे यह बताता है कि संसार को तथा उसकी प्रत्येक वस्तु को इस ढग से उपयोग मे लाना चाहिए, जिससे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और उसी के द्वारा जीव को, अन्तिम लक्ष्य, ईश्वर प्राप्ति भी, सिद्ध हो।

इस संसार से उक्त दोनो लक्ष्यो की सिद्धि के लिए ही पतजलि ने चित्तवृत्तियो के निरोध का विधान किया है। जब तक चित्त एकाग्र रहता है तब तब समस्त चित्तवृत्तियाँ अपने-अपने कार्यों मे तल्लीन रहती है। इस एकाग्रता से हमारी आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति मजबूत होती है, उनमे कार्यक्षमता तथा सामर्थ्य आती है। किन्तु आत्मा के अन्त.स्वरूप को पहचानने तथा पाने के

लिए उस समय हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम इन बाहरी चित्तवृत्तियो पर लगाम लगाकर उन्हे भीतर की ओर प्रवृत्त करें। जब ये बाहरी वृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती है तब अपने-आप भीतरी वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती है। क्योकि इस चित्त का एक किनारा तो बुद्धि से और दूसरा आत्मा से जुडा हुआ है। इन बाहरी और भीतरी वृत्तियो मे भी निरोध नही है। ऐसा नही है कि बाहरी वृत्तियो का निरोध करने से भीतरी वृत्तियाँ साधक के विपरीत हो जायें।

चित्त की जितनी भी भली-बुरी वृत्तियाँ है उनका समावेश प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (आप्तोपदेश), मिथ्याज्ञान, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अन्तर्गत हो जाता है।

पातंजल योगदर्शन का एकमात्र यही उद्देश्य है कि निरोध के द्वारा आत्मा की बाहरी वृत्तियो को बन्द करके आत्मा की भीतरी वृत्ति को जगा दिया जाय। जब आत्मा की यह भीतरी वृत्ति जग जाती है तब साधक को कुछ करने के लिए शेष नही रह जाता है। उसी को योगावस्था, सान्निध्यावस्था, कैवल्यावस्था और परमानन्द की अवस्था कहा जाता है।

समाधि का स्वरूप और उसके भेद

समाधि का स्वरूप

संपूर्ण सकल्प-विकल्पो, आशाओ, अभिलाषाओ और तितिक्षाओ से मन को शून्य (विमुख) कर देना ही 'समाधि' है। ऐसी समाधिस्थ अवस्था मे मन अचंचल हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद मिट जाता है। यह परमात्मा 'प्रत्यक् चैतन्य' या 'परम अहम्' कहा जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा को 'बाह्य प्रपच' या 'क्षुद्र अहम्' कहा गया है। जीवात्मा मे यह परम अहम्, क्षुद्र अहम् से ढका रहता है। ऐसा तब होता है जब मनुष्य मे देहाभिमान और बौद्धिक बल का प्राबल्य होता है। यह देहाभिमान और बौद्धिक प्रक्रिया जब विध्वस्त हो जाती है तब जीवात्मा मे 'क्षुद्र अहम्' का आवरण छिन्न होकर 'परम अहम्' का उदय होता है। इसी परमोच्च स्थिति को पाने के लिए समाधि की आवश्यकता है।

वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि विद्याओ या शास्त्रो मे 'समाधि' की अनेक तरह से व्याख्या की गयी है, किन्तु उन सब की व्याख्याओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य है: जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता। इसी लिए 'समाधि'

को ज्ञान का उदय, मन के संकल्पो की क्रिया का विनाशक और चित्तवृत्तियों को विस्मरण कर देने वाली कहा गया है।

समाधि के भेद

पातंजल योग दर्शन मे समाधि के दो भेद बताये गये है : संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। उनमे भी संप्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद किये गये हैं, जिनके नाम है : वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

वितर्कानुगम : आकाशादि पचभूतो और शब्दादि पंचतत्त्वो से सम्बन्धित समाधि का नाम ही 'वितर्कानुयोग' हैं। उसके भी दो भेद हैं : 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क'। (१) सवितर्क वितर्कानुयोग समाधि का अपरनाम 'सविकल्प' भी है। ग्रहण करने योग्य जो आकाशादि स्थूल पदार्थ है उनमे शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पो से चित्तवृत्ति को निर्मल करके साधक जब अपने स्वरूप-ज्ञान को भुलाकर ध्येयज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है तब उसको 'निर्वितर्क' समाधि कहते हैं। इस समाधि मे विकल्पो का अभाव होने के कारण इसको 'निर्विकल्प' समाधि भी कहते हैं।

विचारानुगम : पॉच सूक्ष्म तन्मात्राये, मन, बुद्धि, अहकार, प्रकृति और दस इन्द्रियो मे होने वाली समाधि का नाम 'विचारानुगम' है। उसके इन सूक्ष्म विषयो की सीमा इन्द्रिय से लेकर अलिग (प्रकृति) पर्यन्त है (**सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्**)। इस समाधि के भी दो अवान्तर भेद है . 'सविचार' और 'निर्विचार'।

आनन्दानुगम : अन्त करण की निर्मलता से उत्पन्न होने वाले जो हर्ष, आमोद, आह्लाद आदि प्रवृत्तियाँ है उनमे धारण की जाने वाली समाधि को 'आनन्दानुयोग' कहते हैं। इसके सबध मे इतना जान लेना आवश्यक है, 'वितर्क' और 'विचार' दोनो जड (दृश्य) पदार्थों मे और 'आनन्द' समाधि का क्षेत्र जड तथा चेतन (आत्मा) दोनों मे है।

अस्मितानुगम : पुरुष (चेतन) और बुद्धि की एक रूपात्मकता प्रतीत होना ही 'अस्मिता' है। (**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता**)। अत बुद्धिवृत्ति और पुरुष की चेतनशक्ति के रूप मे जिस एकात्मप्रतीतभाव से समाधि की जाती है उसी का नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। इस समाधि के आश्रय से पुरुष और प्रकृति के स्वरूपो का अलग-अलग ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब पुरुष-प्रकृति का भेद मिट जाता है तभी से पदार्थों के ज्ञातृत्व का बोध होता है। उसके बाद ही साधक स्पष्ट ही कैवल्यावस्था को प्राप्त करता है।

असंप्रज्ञात : संप्रज्ञात समाधि के जो अनेक तरीके (भेद) ऊपर बताये गये हैं उनसे आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थों की वास्तविकता का बोध हो जाता है। जब उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब सभी विषयो से चित्त का सम्बन्ध छूट जाता है। यही परम योग की अन्तिम अवस्था 'असंप्रज्ञात' समाधि है। इस अन्तिम अवस्था पर पहुँचकर योगी इस विषयापन्न ससार से अपना नाता तोड़ लेता है और मुक्तावस्था का आनन्द प्राप्त करता है। जीवन की इस चरम पुरुषार्थ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर पुरुष दु ख-दैन्य से छुटकारा पा लेता है।

कैवल्य की प्राप्ति में समाधि का योग

यह जो दृश्यमान चराचर जगत् है उसका एकमात्र कारण या नियन्ता चेतन ब्रह्म है, जिसके दो रूप है . व्यक्त और अव्यक्त। उसका अव्यक्त रूप ही व्यक्त जगत् को अनुप्राणित करता है। वह व्यक्त रूप इन्द्रियगोचर है और उसी का अपर नाम 'वाह्य प्रपंच' है। उसका अव्यक्त रूप अतीन्द्रिय है और उसी को 'प्रत्यक् चैतन्य' कहा गया है। 'बाह्य प्रपंच' परिणामी (परिवर्तनशील) होता है, जबकि 'प्रत्यक् चैतन्य' अपरिणामी (नित्य) होता है।

दूध मे मक्खन की भाँति बाह्य प्रपंच और प्रत्यक् चैतन्य का सम्बन्ध है। दूध के अणु-अणु मे मक्खन व्याप्त है, किन्तु जब तक उसको मथा नही जाता तब तक हम उसके व्यक्त रूप मे विद्यमान मक्खन को नही देख पाते है। समाधि एक प्रकार की मथानी है। जब तक समाधि का आश्रय नही लिया जाता तब तक बाह्य प्रपंच और प्रत्यक् चैतन्य का ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता। यह समाधि क्या है ? इन्द्रियो को निगृहीत करना और मन के समस्त संकल्पो को शून्य कर लेना ही समाधि है। निरुद्ध मन से ही परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। उस समाधिस्थ अवस्था मे समस्त इन्द्रिय-व्यापार निश्चेष्ट एवं निरपेक्ष हो जाते है और इसीलिए सारा बाह्य प्रपंच तिरोहित । जब इन्द्रिय निश्चेष्ट हो जाती हैं और समस्त बाह्य प्रपंच तिरोहित हो जाता है तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है। अतः कैवल्य की प्राप्ति मे समाधि का सहयोग सर्वोपरि है।

योग के आठ अंग

पहले भी कहा गया है कि इस चंचल चित्त को एकाग्र करना ही 'योग' है। जिन तरीको से उसको एकाग्र किया जाता है उन्हे ही 'अष्टांगयोग' कहा गया है। ये आठो अंग ऐसे परस्पर जुडे हुए हैं कि उन सबकी सर्वांगीण सिद्धि के बिना योगविद्या का महान् उद्देश्य प्राप्त नही किया जा सकता है। इस महान्

उद्देश्य, अर्थात् योगदर्शन मे जिनको 'सिद्धियाँ' कहा गया है, को प्राप्त करने के लिए जिन आठो अंगो का विधान बताया गया है उनके नाम है : १. यम, २. नियम, ३ आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, और ८. समाधि। इनमे से प्रथम पाँच बहिरंग और अन्तिम तीन अतरंग योग कहलाते हैं। 'योगसूत्र' (३।४) मे इन अन्तरग तीन योगों को 'सयम' कहा गया है, क्योकि उनके प्रयोग से ही यह मन-मानस सयमित होकर सिद्धि का अधिकारी बनता है।

बहिरग साधन

१. **यम** : सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सम्मिलित नाम ही 'यम' है।

किसी भी प्राणि को मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना ही '**अहिंसा**' है। हित की कामना से कपटरहित अन्त करण के द्वारा किया गया प्रिय शब्दो का प्रयोग ही 'सत्य' है। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का किसी दूसरे व्यक्ति के अधिकार का अपहरण न करना ही 'अस्तेय' है। मन, वचन और इन्द्रिय के काम-विकारो का सर्वथा परित्याग करना ही '**ब्रह्मचर्य**' है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श आदि किसी भी भोग-सामग्री का सचय न करना ही 'अपरिग्रह' कहलाता है।

इस पंचावयव यम को 'सार्वभौम महाव्रत' कहा जाता है। किसी देश, काल तथा जीव के साथ व किसी भी उद्देश्य से हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि का आचरण न करना तथा परिग्रह (आसक्ति) से विलग रहना ही '**सार्वभौम महाव्रत**' है।

२. **नियम** : पवित्रता, सतोष, तप., स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान मे एकचित्त रहना ही 'नियम' है।

बाह्य व्यवहार तथा आचरण से सात्त्विक पदार्थों को पवित्रतापूर्वक आचरण करना और ममता, राग, द्वेष आदि भीतरी अवगुणो का परित्याग करना ही 'पवित्रता' है। सुख-दुःख, लाभ-हानि की स्थितियो मे भी सर्वदा प्रसन्नचित्त बने रहना ही 'सतोष' है। मन तथा इन्द्रियो के निग्रह के लिए जो धर्माचरण और व्रत किये जाते है उन्हीं को 'तप' कहते है। कल्याणकारी शास्त्रो मे प्रवृत्ति और एकान्त मन से इष्टदेव का गुणानुवाद ही 'स्वाध्याय' है। मन, वचन और कर्म से ईश्वर की भक्ति करने का नाम ही 'ईश्वरप्रणिधान' है।

इनके विपरीत हिंसा, द्वेष, दु.ख और अज्ञानादि की जनक प्रवृत्तियो को

बारम्बार अपनाना, उनसे लगाव रखना ही 'प्रतिपक्षभावना' कहलाती है। हिंसा का आश्रय लेना, भोग पदार्थों का संग्रह करना, असंतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर के प्रति बुरे विचार लाना ही 'वितर्क' है।

उक्त हिंसादियो को स्वयं करने का नाम 'कृत', दूसरो के द्वारा कराने का नाम 'कारित' और दूसरो के द्वारा किये जाने पर उनका समर्थन करना 'अनुमोदन' कहलाता है। क्रोध, लोभ और मोह इनके हेतु होते हैं। इस दृष्टि से इनके लगभग २७ भेद हो जाते है, जिनके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है।

३. आसन : आसन अनेक प्रकार के होते है, किन्तु आत्मसंयमी के लिए सिंहासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन, ये तीन आसन बताये गये है। प्रत्येक आसन का प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि मेरुदण्ड, मस्तक तथा ग्रीवा सीधे रहे और दृष्टि नासिकाग्र भाग पर या भृकुटि पर अवस्थित रहे। जिस आसन से सुखपूर्वक अधिक से अधिक समय तक अवस्थित रहा जा सके वही 'आसन' है (**स्थिरसुखमासनम्**)।

मन की प्रकृत उत्कठाओ के नाश करने और मन को परमेश्वर मे लगा देने से ही आसन की सिद्धि होती है।

४, प्राणायाम : 'योगसूत्र' मे लिखा है कि आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छिन्न हो जाना ही 'प्राणायाम' है। बाहरी वायु का अन्त. प्रवेश ही 'श्वास' और भीतरी वायु का बहिर्गमन ही 'प्रश्वास' है। इन दोनो को जब रोक लिया जाता है तभी प्राणायाम की सिद्धि होती है। बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ, इनके तीन प्रभेद है।

प्राणो (श्वास-प्रश्वासो) के अवरोध से मन संयमित होता है। प्राणायाम की सिद्धि हो जाने पर जीव मे पाप तथा अज्ञान का नाश होकर पुण्य तथा विवेक का उदय होता है। तभी मन मे स्थिरता और उसमे धारणाओ का ग्रहण करने की योग्यता आती है (**धारणासु च योग्यता मनसः**)।

५. प्रत्याहार : इन्द्रियो द्वारा अपने-अपने विषयो का परित्याग कर चित्त मे अवस्थित हो जाने का नाम ही 'प्रत्याहार' है (**स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**)। इन्द्रियो द्वारा विषयो का साथ छोडने के कारण साधक बाह्यज्ञान से विरत हो जाता है। इन्द्रियो को अपने वश मे कर लेने के बाद साधक 'प्रत्याहार' की स्थिति मे स्वयं पहुँच जाता है।

योग के उक्त पाँच अंग बाह्य समाधि से सम्बन्धित है।

अंतरंग साधन

योग के आठ अंगो की भूमिका मे कहा जा चुका है कि उनमे तीन अंतरंग और पाँच बहिरंग साधन होते हैं। आदि के अंतरंग साधनों का वर्णन किया जा चुका है। अन्त के तीन बहिरंग साधनो मे 'धारणा' का पहला स्थान है।

६. धारणा : 'योगसूत्र' (३।१) मे कहा गया है कि चित्त को किसी एक देश मे स्थिर कर देने का नाम ही 'धारणा' है (**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**)। स्थूल हो, सूक्ष्म हो, भीतर हो, बाहर हो, किसी भी एक ध्येय मे चित्त को एकनिष्ठ कर देना ही 'धारणा' है।

७. ध्यान : ध्यान का धारणा से अभिन्न सम्बन्ध है। 'धारणा' के प्रसंग मे जिस ध्येय वस्तु का उल्लेख लिया गया है उसी मे चित्तवृत्ति की एकाग्रता को, तैलधारा या गंगा-प्रवाह की भाति, अविच्छिन्न रूप से अनवरत रूप मे लगाये रखना ही 'ध्यान' है। व्यावहारिक दृष्टि से ध्यान का जो आशय ग्रहण किया जाता है, योग की दृष्टि उससे भिन्न नही है।

८. समाधि : जिस समय केवल ध्येय वस्तु ही आभासित होती है और अपने स्वरूप का ज्ञान भी नही रहता उस समय वही ध्यान 'समाधि' कहलाता है। ध्यान मे ध्यास, ध्यान तथा ध्येय तीनो वस्तुओ का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु समाधि मे उनका अन्तर मिटकर वे एकाकार हो जाती हैं।

यह समाधि दो प्रकार की है 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार'। पहली समाधि स्थूल पदार्थो मे और दूसरी सूक्ष्म पदार्थो मे होती है। ये पदार्थ भौतिक भी हैं और आध्यात्मिक भी। सासारिक पदार्थों की समाधि सासारिक दृष्टि से और आध्यात्मिक पदार्थों की समाधि आध्यात्मिक दृष्टि से फलप्रद है। मुक्ति के इच्छुक साधक को आध्यात्मिक पदार्थों मे समाधिलाभ करना चाहिए। तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार योग दर्शन के ये आठ अंग साधक की सद्गति के कारण हैं। इनके सम्यक् अनुष्ठान से पाप का विनाश, ज्ञान का उदय और विवेक की प्राप्ति होती है (**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**)। यही इनका प्रयोजन है।

भूतविजय और सिद्धियों का स्वरूप

भूतविजय

योग की आठ सिद्धियो का निरूपण एवं उनके प्रयोजन का स्वरूप

प्रतिपादन करने से पूर्व भूतिविजयी (योगी) के स्वरूप का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। भूतविजय और उक्त आठ सिद्धियों का ऐसा सम्बन्ध है कि उनकी योजना की सार्थकता के लिए हमें पहले भूतविजय को जानना आवश्यक हो जाता है।

पतंजलि के सूत्र-ग्रन्थ मे कहा गया है कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थत्व, इन पाँच अवस्थाओं मे संयमप्रयोग करने से ही 'भूतविजय' का रहस्य स्पष्ट हो सकता है (**स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतविजयः**)।

नामरूपात्मक वस्तु को ही 'स्थूल' कहते हैं; जैसे घट-पट। मृत्तिक उपादान 'स्वरूप' के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। गन्ध आदि तन्मात्रायें 'सूक्ष्म' हैं। प्रकाश; प्रवृत्ति और स्थिति, 'ये तीनों गुण 'अन्वय' कहे जाते है, जो सभी पदार्थों मे अवस्थित रहते है। आत्मा का भोगापवर्ग लीलाविलास ही 'अर्थवत्त्व' कहलाता है।

प्रत्येक दृश्य वस्तु के ये पाँच रूप हैं। क्रमश इन पाँचो रूपो मे संयम-प्रयोग करना ही 'भूतविजय' कहलाता है। इनके संयम-प्रयोग से इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस क्रिया मे जब योगी प्रवृत्त होता है, तब वस्तुओं के पाँचो रूप, एक के बाद दूसरा, दृष्टिपथ मे आ जाता है। उदाहरण के लिए नाम-रूपात्मक घट मे संयम-प्रयोग करने से उसका स्वरूप उपादान (पृथ्वी), गन्ध आदि तन्मात्रायें सत्त्वादिगुण और उसकी लीलाविलासमात्र, जो अज्ञातावस्था है, स्वयमेव साधक के समक्ष खुल जाती है।

इन भूतो के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान से यह होता है कि उनके प्रति साधक के हृदय मे जो आसक्ति, विरक्ति और ग्लानि आदि है वह सदा के लिए मिट जाती है। उसी को भूतविजयी या योगी कहते है।

इन भूतादियों से सम्बन्ध स्थापित करके जब तक हमें यह ज्ञान नहीं हो जाता कि वे स्वप्न मे देखे गये पदार्थों की भाँति असत्य एवं निरर्थक है और उनसे अनुराग-विराग करके चित्त को व्यर्थ मे नही भरमाना चाहिए, तब तक हम भूतविजयी (योगी) नही कहे जा सकते। एक वास्तविक योगी को यह सारा जगत् स्वप्नमय लगता है और इसलिए संसार की समृद्धि और विनाश, दोनो से वह विचलित नही होता।

उक्त पंच महाभूतो का जो स्वरूप दिखाया गया है वह बाह्य है। उसके पाँच ही अभ्यान्तर रूप भी है। जब बाह्य रूपों पर योगी विजय प्राप्त कर लेता है तब आभ्यन्तर रूप भी उसके वशवद हो जाते है। यही 'भूतविजय' या योगावस्था है।

सिद्धियाँ

भूतविजय के प्रतिपादन के बाद अगला सूत्र, सिद्धियों का स्वरूप प्रस्तुत करता है। वहाँ बताया गया है कि भूतविजय के बाद ही सिद्धियों (विभूतियों) का प्रादुर्भाव होता : (**ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसंपत् तद्धर्मानभिघातश्च**)। इन आठ सिद्धियो या विभूतियो के नाम है : अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्रकामावसायित्व। इन आठ सिद्धियों का प्रयोजन अपने मे चमत्कार पैदा करना न होकर, योगाभ्यास मे निरत रहकर मुक्तिलाभ प्राप्त करना है। यह मुक्तिलाभ, सिद्धियो पर विजय करना नही है, बल्कि योगी के लिए मुक्ति तक पहुँचाने का उपाय है। इन सिद्धियों को योगी के लिए इस हेतु आवश्यक बताया गया है कि वह आत्मदर्शन करके अन्तिम ध्येय मोक्ष को प्राप्त कर सके।

१. **अणिमा** : 'अणु' शब्द से 'अणिमा' सिद्धि निष्पन्न हुई है। किसी भी वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म हिस्से को 'अणु' कहते है। उसका उपयुक्त पर्यायवाची शब्द है सूक्ष्म। स्थूल देह की अपेक्षा, इंद्रिय सूक्ष्म है, उनसे मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा सूक्ष्म है। सूक्ष्म की पराकाष्ठा आत्मा मे समाप्त हो जाती है। इसलिए 'मै' जो आत्मा का वाची है, 'अणिमा' कहलाता है। 'मै ही वह सूक्ष्म हूँ, मुझ मे ही वह परम सूक्ष्म निहित है और अभिन्नसत्तास्वरूप मे हो वह सूक्ष्म हूँ', इस प्रकार की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ही 'अणिमा' है। वह मुक्ति की सन्निहित अवस्था है। उसको प्राप्त करने के लिए शास्त्र और उपदेश तो उपयोगी है ही, उनमे भी साधना सर्वोपरि है।

२. **लघिमा** : 'लघु' शब्द से 'लघिमा' सिद्धि निष्पन्न हुई है। लघु कहते है हलके को, जैसे पक्षी के रोयें और रुई के रेशे। लघुत्व का यह बोध जब उस पराकाष्ठा को पहुँच जाता है कि उससे लघु कुछ हो ही नही सकता, उसी स्थिति का नाम 'लघिमा' है। यह लघिमा आत्मा मे विद्यमान है। 'परम लघु मुझ मे हो नित्य निवास करता है' यह प्रत्यक्ष अनुभव ही 'लघिमा' विभूति कहलाती है।

३. **महिमा** . महत्त्व की जो पराकाष्ठा है, अर्थात् जिससे महत् कुछ हो ही नहीं सकता है उसे 'महिमा' कहते है। यह महतत्त्व देश-काल की अपेक्षा भी महत्तर है। यह तो आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित और आत्मा को सत्ता से सत्तावान् हैं। इसलिए आत्मा ही महतत्त्व कहलाता है। परम महत्त्व एकमात्र आत्मा मे ही नित्य विद्यमान रहता है, उसी का नाम 'महिमा' है। महिमा, परमात्मा का ही अपर नाम है। 'मै ही वह परम महिमा हूँ, मुझ मे ही वह परम

महत् विराजमान हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को ही 'महिमा' विभूति कहा जाता है।

४. **प्राप्ति :** सब तरह के पदार्थों की सुलभता का नाम ही 'प्राप्ति' है। 'मै सत्स्वरूप हूँ और जहाँ भी जिस वस्तु का अस्तित्व है वहाँ-वहाँ मै ही व्याप्त हूँ', यह प्रत्यक्षानुभव ही 'प्राप्ति' विभूति है। भूतजयी (योगी) के अतिरिक्त इस 'प्राप्ति' विभूति के अभाव मे सारे मनुष्य क्लेश का अनुभव करते है।

५ **प्राकाम्य** . का अर्थ है इच्छा का अनभिघात् (सकल्पसिद्धि)। जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय का अधीश्वर है, जो आत्मा मे 'मै' रूप से विद्यमान है उसी को इच्छाशक्ति कहते है। इस इच्छाशक्ति का अनुवर्तन करने अर्थात् ईश्वर प्रणिधान करने के बाद फिर इच्छा नाम की कोई वस्तु नही रह जाती है। जो छोटी-छोटी अगणित इच्छाये है वे उस महती इच्छा मे मिल जाती है, जिससे योगी के मन मे किसी भी इच्छा या कामना का उदय नही होता है। यही 'प्राकाम्य' विभूति का आशय है।

६. **वशित्व** . 'वश' कहते है 'आधीन' को। भूत और भौतिक रूप मे यह जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है वह सब आत्मा से प्रकाशित है। 'मै आश्रय तथा आधार हूँ, यह सब-कुछ आश्रित तथा आधेय है' इसी प्रत्यक्षानुभूति को 'वशित्व' विभूति कहा जाता है।

७. **ईशित्व :** जितनी भी स्थूल, सूक्ष्म आदि विभिन्न वस्तुएँ है उनको स्वयं मे सुनियोजित करना ही 'ईशित्व' है। 'मै ही इस स्थूल, सूक्ष्म आदि जागतिक तथा पारमार्थिक वस्तुओ का नियन्ता हूँ, इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड पर मेरा शासन है' इस प्रकार की प्रत्यक्षानुभूति को 'ईशित्व' कहते है।

८. **यत्र कामावसायित्व :** जितनी भी मनोभिलाषाये है उनका सर्वथा अन्त हो जाना ही '**यत्र कामावसायित्व**' है। यह वह विभूति है जिसकी प्राप्ति मे कहा गया है '**पूर्णकामोऽस्मि सवृतः**' मेरी सभी कामनाये पूर्ण हो गयी है। इसलिए जिस सिद्धि या विभूति के बाद साधक यह प्रत्यक्षानुभव करता है कि 'मै पूर्ण काम हो गया हूँ, अब मेरे लिए कुछ भी करना शेष नही है, मुझे आत्मा के दर्शन हो गये है' यह आत्मज्ञान की अवस्था ही 'यत्र कामावसायित्व' है।

सिद्धियों का लक्ष्य

भूतविजय के प्रसग मे स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व, इन पाँच भूत-स्वभावो का उल्लेख किया गया है। उनके स्थूल स्वभाव मे संयम करने से अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति ये चार सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इसी

प्रकार 'स्वरूप' में संयम करने से 'प्राकाम्य', सूक्ष्म मे संयम करने से 'वशित्व' और 'अन्वय' मे संयम करने से 'कामावसायित्व' सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इन सिद्धियों का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य है प मेश्वर की प्राप्ति में साधक को सहायता देना। इन सिद्धियों के प्रयोग से योगी लोग भूत-भौतिक पदार्थों का अपनी इच्छानुसार उपयोग अवश्य कर सकते हैं, किन्तु उनके वे उपयाग यदि ईश्वरविमुख हुए तो उनका वास्तविक प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह कि सिद्धावस्था को प्राप्त योगी को भी यह अधिकार और योग्यता प्राप्त नही है कि यह प्रकृत स्वरूप मे अवस्थित ईश्वरेच्छा के अनुरूप ससार के मूल प्रवाह को रोक दे।

इसलिए यह सिद्ध है कि विभूतियो का सदुपयोग ही साधक को कैवल्य तक पहुँचाने मे सहायता करना है।

मोक्ष का स्वरूप

योग दर्शन के अनुसार मोक्ष का स्वरूप जानने के लिए चित्त, जगत् और आत्मा के स्वरूपो एव सम्बन्धो पर विचार करना अपेक्षित है। चित्त और जगत् मे क्या भिन्नता है और चित्त तथा आत्मा का क्या सम्बन्ध है, इन तात्त्विक बातों को जाने बिना मोक्ष का स्वरूप नही जाना जा सकता है।

चित्त और जगत्

जगत्, जगत् के पदार्थ और चित्त के सम्बन्ध मे प्राचीन दर्शन-सम्प्रदायो मे बडा विवाद रहा है। बौद्धो का अभिमत है कि जगत् और जागतिक पदार्थों की स्वतत्र सत्ता है ही नही। वे चित्त से प्रसूत हैं। इसके विपरीत वेदान्तियों का कहना है कि जगत् की सृष्टि मन से हुई और वह मन मे ही लीन हो जाता है।

आचार्य धर्मकीर्ति की युक्ति है कि बुद्धि (ज्ञान) से कोई भी अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नही है। अर्थात् ग्राहक से ग्राह्य भिन्न नही है, केवल बुद्धि (ज्ञान) ही स्वय प्रकाशित है। जिस ज्ञान (बुद्धि) मे जो पदार्थ जाना जाता या ग्रहण किया जाता है उस ग्राहक ज्ञान से वह ग्राह्य पदार्थ भिन्न नही है। उदाहरण के लिए आत्मा की जानकारी ज्ञान से होती है। अत. ज्ञान, आत्मा से भिन्न नही है। बौद्धो का यह भी कथन है कि यह संसार कल्पित है, चित्त ने इसकी रचना की है।

चित्त और जगत् सम्बन्धी इस प्रकार के विरोधी विचारो का योग दर्शन

में बड़ा ही युक्ति-युक्त उत्तर दिया गया है, और वह भी व्यावहारिक दृष्टि से सबको समझने योग्य भाषा में। पतंजलि ने कहा है कि यदि यह जगत् मनः कल्पित है तो एक ही वस्तु में अनेक ज्ञानों तथा अनुभूतियों का क्या कारण हो सकता है? उदाहरण के लिए धर्मात्मा व्यक्ति जिस कार्य को सुखकारक समझता है, पापात्मा व्यक्ति उसी कार्य को दुःखकारक क्यों समझता है? इसी भाँति मूढ उसकी उपेक्षा क्यों कर देता है?

इन युक्तियों एवं सदैव दृष्टि में आने वाले तथ्यों से ज्ञात होता है कि ज्ञान और पदार्थों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न है। उन दोनों में बड़ा अन्तर है। यदि हम इस जगत् को कल्पित मानते हैं तो हमारे व्यवहारों में इसकी प्रत्यक्षानुभूति होनी चाहिए कि देवदत्त के मन में जिस कल्पना का उदय हुआ है, वही कल्पना उसी रूप में यज्ञदत्त आदि के मन में भी उदित हो। किन्तु ऐसा होता नही है। अतः पदार्थ और ज्ञान, दोनों भिन्न हैं, मन से इस जगत् की उत्पत्ति नही हुई है और जो ये दृश्यमान पदार्थ हैं ये स्वप्नवत् नहीं हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों और दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों के समक्ष योग दर्शन के आचार्यों ने जगत् और जागतिक पदार्थों की वस्तुस्थिति जानने के लिए बड़ी ही सुन्दर युक्ति प्रस्तुत की है। व्यास के 'योगभाष्य' में कहा गया है कि जब हमारे समक्ष कोई वस्तु उपस्थित होती है तो हम एक ही काल में उस वस्तु के सारे अंगों को नही देख पाते। उदाहरण के लिए हम पहले घट का बाहरी और तब भीतरी तथा नीचे का भाग देखते हैं। इसके अतिरिक्त यदि चित्त और अन्य जागतिक पदार्थों को अलग-अलग न माना जायगा तो घटज्ञान से पटज्ञान का हो जाना भी संभव होगा।

इसलिए लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि घटज्ञान और पटज्ञान की भाँति ही चित्त और जगत् भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार मन से बाह्य पदार्थों की सृष्टि नही हुई है, बल्कि बाह्य जगत् और उसके घट-पटादि पदार्थों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

चित्त और आत्मा

बौद्धों के मतानुसार चित्त या बुद्धि ही सत्तावान् है। उसी की प्रेरणा से जगत् का सारा कार्य-व्यापार संचालित होता है। उसके अतिरिक्त आत्मा नामक वस्तु का कोई अस्तित्व है ही नहीं। योग दर्शन में, बौद्धों के उक्त मत के विरुद्ध, चित्त से आत्मा को भिन्न माना गया है और यह स्थिर किया गया है कि केवल चित्त (बुद्धि) से ही कार्य नहीं चल सकता है। चित्त की वृत्तियों का भोक्ता एवं

ज्ञाता पुरुष (आत्मा) है, क्योंकि वह अपरिणामी है और इसलिए चित्त के परिणामों का साक्षी तथा विभु भी है (**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्**)। इस मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त (बुद्धि) में परिणाम (परिवर्तन) होते है, आत्मा मे नही। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता। चित्त, आत्मा के अधीन है, आत्मा उसका अधिष्ठाता या स्वामी है।

क्योंकि चित्त परिणामी पदार्थ है। अत वह जड और अनित्य है। जड और अनित्य होने से वह स्वभावत ज्ञेय है, और इसीलिए उसको स्वभावतः ज्ञाता आत्मा की आवश्यकता होती है। चित्त मे जब भी जो परिणाम होते है उनको आत्मा जानता रहता है।

किन्तु बौद्ध दार्शनिक चित्त को परिणामी स्वीकार करते हुए भी यह नहीं मानते कि उसके परिणामों का साक्षी आत्मा है। उनका कथन है कि जड होते हुए भी चित्त स्वप्रकाश हो सकता है। जैसे जड अग्नि घटादि दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करती है और स्वयं को भी। किन्तु आचार्य पतंजलि के मतानुसार घटादि पदार्थों की भाँति चित्त भी पर-प्रकाश्य है। वह दृश्य है। अग्नि जो जड है, दूसरे घटादि पदार्थों को तथा स्वयं को प्रकाशित करती हुई भी यह नही जानती है कि वह प्रकाश कर रही है। इसलिए प्रकाशक अग्नि मे ज्ञान न होने के कारण उसको भी द्रष्टा (आत्मा) का आवश्यकता होती है।

अत. आत्मा की चित्त से पृथक् एव परमोच्च सत्ता है। आत्मा, चित्त (बुद्धि) का अधिष्ठाता या स्वामी है।

इस प्रकार चित्त और जगत् तथा चित्त और आत्मा की सत्ता एवं वास्तविकता को जानने के बाद ही मोक्ष का स्वरूप जाना जा सकता है।

जितने भी दर्शन-सम्प्रदाय है उन सब का एक ही अन्तिम ध्येय है दु ख और बन्धन से छुटकारा पाना। इसी बात को महर्षि गौतम ने कहा है '**तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग.**' अर्थात् दु ख की सर्वथा निवृत्ति ही मोक्ष (अपवर्ग) है। न्याय दर्शन का यह 'अपवर्ग' शब्द बडा ही प्रभावोत्पादक एवं युक्तियो के द्वारा परीक्षित है। वेदान्त मे मोक्ष की परिभाषा करते हुए दु ख को आत्यन्तिक निवृत्ति को तो स्वीकार किया गया है, किन्तु वहाँ परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। वेदान्तियो की इस परिभाषा के विपक्ष मे नैयायिको का कथन है कि दुःखनिवृत्ति तो यत्नसाध्य (पुरुषार्थसाध्य) है, किन्तु आनन्द प्राप्ति नही।

वह तो आत्मा को स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसके लिए अलग से चेष्टा करने की आवश्यकता नही होती है।

बौद्धो के अनुसार 'निर्वाण' ही मोक्ष है। वहाँ 'निर्वाण' को दुःखनिवृत्ति का पर्याय नही माना गया है, बल्कि उसका आशय है 'बुझ जाना'। 'बुझ जाना' अर्थात् शून्य हो जाना। शून्यवादी बौद्धो का यही निर्वाण, मोक्ष है। परिणामवादी जैनो का आत्मा, शरीर-परिणाम का होता है।

योग दर्शन के वरिष्ठ आचार्य पतंजलि का मोक्ष-विषयक सिद्धान्त कुछ भिन्न है। पतंजलि ने 'मोक्ष' के लिए 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग किया है। कैवल्य अर्थात् 'केवल उसी का होना'। अर्थात् आत्मा अपने-आप मे अवस्थित हो, किसी के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो। इसी लिए 'कैवल्य' शब्द न तो 'मोक्ष' शब्द की अविकल अनुकृति है और न 'अपवर्ग' शब्द की ही।

पतंजलि ने आत्मा-सम्बन्धी अनेक दर्शनो की उक्त मान्यताओ का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि आत्मा परिणामशून्य तथा सचेतन है। उन्होने लिखा है 'पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त करने के बाद मन और बुद्धि का जो अपने कारण मे लीन हो जाना है, अर्थात् चेतनशक्ति (आत्मा) का अपने प्रकृत स्वरूप मे अवस्थित हो जाना है, वही मोक्ष है' (**पुरुषार्थ शून्याना गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति**)।

योग के अनुसार गुणो मे कार्य-कारण-भाव उत्पन्न होकर कार्यक्षमता आ जाती है। ये गुण जब अपवर्ग प्राप्त कराने मे प्रवृत्त होते है तब अपने-अपने कारणो मे लीन हो जाते है। व्युत्थान-निरोध संस्कारो का मन मे, मन का अस्मिता मे, अस्मिता का बुद्धि मे और बुद्धि का अव्यक्त प्रकृति मे लीन हो जाने की सिद्धि को ही 'कैवल्य' कहा गया है। तदनन्तर सम्पूर्ण योग समाप्त हो जाते है और मनः, बुद्धि, चित्त, अहंकार का कोई सम्बन्ध नही रहता। आत्मा में इनका सम्बन्ध बने रहना ही तो 'बन्धन' है और इनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाना ही 'कैवल्य' है।

महर्षि पतंजलि के 'कैवल्य' मे परमानन्दप्राप्ति और ब्रह्मसाक्षात्कार आदि अन्य दर्शन-मान्यताओ पर कोई विचार नही किया गया है। पतंजलि ने बिना किसी करण या करण की क्रिया के, आत्मा के स्वरूप की स्थिति को 'कैवल्य' कहा है। इस प्रकार के कैवल्य मे दुःखात्यन्तिकनिवृत्ति और परमानन्दप्राप्ति का स्वतः अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए कैवल्य मे केवल चेतनारूप स्थिति होती है। पतंजलि का यह कैवल्य जड भाव नही है, बल्कि प्रकाशरूप है। जैसे दीपक

अपने आप को तथा अपने आस-पास के घटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है वैसे ही कैवल्य की स्थिति है ।

योग दर्शन के अनुसार यही मोक्ष का स्वरूप है ।

ईश्वर

सभी दर्शनो की भाँति योग दर्शन मे भी अपने ढंग से ईश्वर के स्वरूप को सिद्ध किया गया है । 'योग' की परिभाषा मे बताया गया है कि जिस अवस्था मे परमेश्वर की सत्ता, चैतन्य और आनन्द, ये तीनो स्वत. ही हमारी वाणी, हमारे भाव तथा कर्मो के द्वारा प्रकट हो जायँ, अर्थात् परमेश्वर की इच्छा पूरी करने के अतिरिक्त हमारे जीवन का दूसरा लक्ष्य ही न [illegible] जाय, जीव और परमेश्वर की उसी सान्निध्य अवस्था का नाम 'योग' है । इस परिभाषा के अनुसार योग दर्शन मे ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान ज्ञात होता है ।

किन्तु इस दृष्टि से यदि हम पतंजलि के 'योगसूत्र' के उस प्रसंग को देखते है, जहाँ ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है, तो हमे ज्ञात होता है कि वहाँ ईश्वर का, सैद्धान्तिक दृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टि मे मूल्य आँका गया है । किन्तु यह दृष्टव्य है कि 'व्यासभाष्य' और उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए नयी युक्तियाँ भी दी है ।

ईश्वर का स्वरूप

पतंजलि के 'योगसूत्र' (समाधिपाद २३) मे कहा गया है कि ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि आसन्न (सिद्ध) होती है । प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष । हृदय मे परमेश्वर का अनुभव करके अपना सब कुछ उसी पर निछावर करने के लिए तैयार रहना ही भक्ति है । इस भक्तिविशेष (प्रणिधान) के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है । ईश्वर का लक्षण देते हुए अगले सूत्र मे कहा गया है . **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है । अविद्यादि ही क्लेश है, पाप-पुण्य ही कर्म हैं, कर्मों का फल ही विपाक है और उस फल (विपाक) से पैदा हुई वासनायें ही आशय हैं । इन सबसे जो अपरामृष्ट (अप्रभावित) है उसी को योग मे ईश्वर कहा गया है । ईश्वर अनादि, मुक्त और ऐश्वर्यशाली है । ईश्वर के ऐश्वर्य के समान दूसरा ऐश्वर्य है ही नही ।

ईश्वर मे सर्वज्ञबीज निरतिशयता है; अर्थात् उससे अधिक गुणसम्पन्न कोई नही है । जो निर्माण की इच्छा लिए ज्ञान-संपन्न होकर प्राणियों पर अनुग्रह करता

है वही ईश्वर है। उसका वाचक प्रणव (ओम्) है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि 'ओम्' अक्षर है, अर्थात् कभी न नाश होने वाला ब्रह्म है, वही परब्रह्म है। उसके ज्ञान से उपासक जिस पदार्थ की इच्छा करता है उसको वह प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार योग का ईश्वर एक शब्दमयी भावना है। उस भावना का स्मरण किये बिना ईश्वर का बोध नहीं हो सकता है। ईश्वर के सम्बन्ध में जो समस्त शब्दमय चिन्तन है उसी को 'ओम्' शब्द के द्वारा कहा गया है। इस शब्द का यथार्थ संकेत याद आने से ईश्वर-विषयक भाव मन में प्रकाशित होते हैं। जब 'ओम्' शब्द के उच्चारण से मन में 'ईश्वर' शब्द का अर्थ भली-भाँति प्रकाशित हो जाय तब प्रणिधान की सफलता समझनी चाहिए।

निर्विचार एवं निर्वितर्क अर्थात् शब्दशून्य भाव से भी ईश्वर का स्मरण किया जा सकता है, किन्तु व्यापक-ब्रह्म की भावना शब्दों के बिना संभव नहीं है। वाह्याभाव से ईश्वर का चिन्तन करने के लिए ईश्वर को सगुण तथा साकार मानना आवश्यक है।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधान को समाधि का सर्वोच्च साधन माना गया है, क्योंकि ईश्वर केवल ध्यान मात्र का विषय नहीं, वरन् वह महाप्रभु है, जिसकी कृपा से उपासक के सब पाप दूर हो उसका मार्ग सुगम भी हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान, अर्थात् भक्तिविशेष द्वारा ईश्वर की परम कृपाओं को प्राप्त किया जा सकता है। प्रिय जन के स्मरण करने से जिस प्रकार हृदय को सुख होता है और हृदय में उसको बार-बार स्मरण करने की इच्छा होती है, उसी प्रकार ईश्वर के स्मरण से भी जब हृदय को सुख और उस सुख को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए ईश्वर का बार बार चिन्तन करने की उत्सुकता होती है तभी ईश्वरप्रणिधान (भक्ति) की सफलता है। प्रियजन के स्थान पर ईश्वर को रखकर उसका चिन्तन करने से भी भक्तिभावना को उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। ऐसे भक्त को परमपिता परमेश्वर की सर्वोच्च विभूति हृदय की शुद्धता और बुद्धि का प्रकाश मिलता है।

भक्तिभाव से उस प्रत्यक् (चेतन) का साक्षात्कार होता है और व्याधि, प्रमाद, अकर्मण्यता, संताप, आलस्य, तृष्णा और विपर्यय ज्ञान आदि जितने अन्तराय है वे सब नष्ट हो जाते हैं। प्रत्यक् कहते है पुरुष या चेतन को। केवल पुरुष कहने से बद्ध, मुक्त पुरुष का बोध होता है। प्रत्यक् चेतन से विशिष्ट पुरुष का बोध होता है। आत्मा को 'प्रत्यक् चेतन' कहते हैं। दृष्टि को अन्तर्मुखी करके

आत्मा में ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इसको 'स्वरूपाधिगम' कहते हैं, अर्थात् अपने ही रूप में ईश्वर को पा लेना।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योग दर्शन के आचार्यों ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है : १—वेद और उपनिषदो मे ईश्वर की अनादि सत्ता को स्वीकार किया गया है और उसको प्राप्त करना जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इसलिए श्रुतिसंमत होने से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। २—जिस वस्तु का परिमाण मात्रा के द्वारा जाना जाता है उसकी अल्पतम और अधिकतम, दो सीमायें होती है। संसार मे जो अल्पतम परिमाण देखने मे आते है उन्हे 'अणु' और जो अधिकतम परिमाण देखने मे आते हैं उन्हे 'आकाश' कहते है। इसी प्रकार ज्ञान और शक्ति की भी सीमायें होती है। सर्वाधिक ज्ञान और सर्वाधिक शक्ति जिस पुरुष मे हो वही परम पुरुष ईश्वर है। इस दृष्टि से भी ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ३—प्रकृति और पुरुष के सयोग से सृष्टि होती है और उनके विच्छेद से प्रलय। प्रकृति-पुरुष, दोनों अलग-अलग तत्त्व है। इसलिए बिना किसी मध्यस्थ के न तो दोनो का मिलन सभव है न विछोह ही। यह मध्यस्थ ही प्रकृति-पुरुष के संयोग-वियोग का निमित्तकारण है और क्योंकि वह जीवो के अदृष्ट के अनुसार ही संसार की रचना तथा सहार करता है अत वह सर्वज्ञ होना चाहिए। ऐसा सर्वज्ञ, ईश्वर ही हो सकता है। अत ईश्वर की सत्ता प्रमाणित है।

इस तरह से योग दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया गया है। किन्तु उसको जिन प्रमाणों से समर्थित किया गया है उन से योग दर्शन का ईश्वर हमे किसी महत्वपूर्ण पद का अधिष्ठाता नही दिखायी देता। सांख्य मे जो स्थान विवेक को दिया गया है वही स्थान योग मे ईश्वर को दिया गया है।

*

मीमांसा दर्शन

★ ★ ★ ★

नामकरण

महर्षि जैमिनि ने विधिरूप अर्थ को धर्म कहा है **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**। जब तक धर्म का ज्ञान नही होता तब तक विधि को ठीक-ठीक नही पहचाना जा सकता है। धर्म के समुचित ज्ञान के लिए ही जैमिनि ने अपने दर्शन मे विधि की मीमासा की है। इसीलिए जैमिनि के दर्शन का नाम 'मीमासा दर्शन' पडा।

मीमासा का विषय

मीमासा दर्शन का विषय है वैदिक विधि-निषेधो का आशय समझाना, उनकी पारस्परिक संगति बैठाना और युक्तियो के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धातों का प्रतिपादन करना।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक विषयो के धर्म-ग्रंथो से विदित है कि धर्माचरण से ही इच्छित फल की प्राप्ति होती है। यह इच्छित फल लौकिक भी हो सकता है और पारलौकिक भी। इस इच्छित फल की उपलब्धि तभी संभव है, जब हम धर्म का वास्तविक स्वरूप जान लें।

जैमिनि के मीमासा दर्शन का पहला सूत्र है **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**। अर्थात् *जन्म-जन्मान्तर के इच्छित कार्यो की उपलब्धि और नानाविध दुःखो की* आत्यन्तिक निवृत्ति के अनन्तर परमानन्द की प्राप्ति जिस धर्म के द्वारा सुलभ होती है ऐसे धर्म को जानने की अभिलाषा का होना स्वाभाविक ही है। विधि-विधान-पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्मान्तर मे परमानन्द की प्राप्ति हो उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत् कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है। संक्षेप मे मीमांसा दर्शन का विषय यही है।

मीमांसा दर्शन के आचार्य और उनकी कृतियां

महर्षि जैमिनि

मीमासा दर्शन के आदि आचार्य महर्षि जैमिनि हुए। उनके ग्रन्थ का नाम 'मीमासासूत्र' है। इस सूत्रग्रंथ का निर्माण विक्रम के लगभग ५०० वर्ष पहले हो चुका था।

महर्षि जैमिनि ने अपने 'मीमासासूत्र' मे भगवान् बादरायण व्यास का अनेक बार उल्लेख किया है। ऐसे स्थलो की व्याख्या करते हुए शबर स्वामी ने लिखा है कि महर्षि जैमिनि ने भगवान् बादरायण को प्रामाणिक आचार्य के रूप मे पूजाभाव म स्मरण किया है। उधर बादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' मे लगभग तीन बार जैमिनि का उल्लेख किया गया है और एक स्थल पर तो बादरायण ने जैमिनि के मत को प्रमाण रूप मे भी उद्धृत किया है। इस पारस्परिक समान और सद्भाव के होते हुए भी इन दोनो महर्षियो ने अनेक स्थलो पर एक-दूसरे के मतो की आलोचना भी की है।

ऐसी स्थिति मे यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि इन दोनो मे कौन पहले हुआ और इन दोनो का आपसी सबध क्या था ?

इस प्रश्न को लेकर आधुनिक विद्वानो मे बडा मत-भेद रहा है। विद्वानो का बहुमत है कि व्यास द्वारा उद्धृत जैमिनि, वस्तुत. पूर्व-मीमासा के कर्ता जैमिनि से भिन्न था। वह व्यास का शिष्य और ब्रह्मविद्या का ज्ञाता था। इसी प्रकार जैमिनि ने जिस बादरायण को उद्धृत किया है वह उत्तर मीमासाकार से भिन्न, पूर्व मीमासा का ही कोई आचार्य था।

इसलिए, सामवेद का प्रवर्तक, मीमासा गृह्यसूत्रो का रचयिता, योगाचार्य और ज्योतिषी आदि अनेक रूपो मे जब हम जैमिनि का नामोल्लेख हुआ पाते है तो निश्चित ही इस नाम के एक ही व्यक्ति होने के विषय मे सशय होता है।

मीमासाकार जैमिनि के संबंध मे अधिकतर इतिहासकारो की यही राय है कि वे ५०० ई० पूर्व के लगभग पाणिनि के समकालीन थे। 'पचतंत्र' के एक श्लोक मे वैयाकरण पाणिनि और मीमासाकार जैमिनि का साथ-साथ उल्लेख हुआ है। वहाँ लिखा है कि महर्षि जैमिनि को हाथी ने कुचल डाला था।

उन्होने 'मीमासासूत्र' मे लिखा है कि मीमासा दर्शन की परम्परा उन्हें बादरायण, बादरि, ऐतिशायन, कार्ष्णाजिनि, लघुकायन, कामुकायन, आत्रेय और आलेखन प्रभृति आचार्यो से प्राप्त हुई थी। ये सभी व्यक्ति इतिहासमान्य हैं,

जिनकी चर्चायें वेदो से लेकर पुराणों तक बिखरी हुई मिलती है। उनके नाम से विभिन्न विषयो पर अनेक ग्रंथ मिलते है।

इसलिए ज्ञात होता है कि मीमासा दर्शन की परम्परा जैमिनि से भी पहले की है, किन्तु उसके बिखरे हुए सिद्धान्तों को वैज्ञानिक ढंग से सग्रथित करने एवं रचने का श्रेय जैमिनि को ही है।

शबर स्वामी

यद्यपि पतंजलि (२०० ई० पूर्व) के 'महाभाष्य' मे आचार्य काशकृत्स्न के मीमासाग्रंथ का उल्लेख मिलता है और इसी प्रकार दूसरी शताब्दी ईसवी मे वर्तमान आचार्य उपवर्ष और भावदास के मीमासा-विषयक वृत्तिग्रथो का भी उल्लेखमात्र मिलता है, किन्तु महर्षि जैमिनि के बाद मीमासा दर्शन के क्षेत्र मे आचार्य शबर ही ऐसे मीमासक हुए, जिनके भाष्यग्रंथ के द्वारा मीमासा दर्शन की क्षीण परम्परा पुनरुज्जीवित हुई।

शबर स्वामी से पूर्व यद्यपि मीमासा दर्शन का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका था, फिर भी अन्य दर्शनो की ओर से मीमासा पर जो आरोप एव आक्षेप लगाये गये थे उनका निराकरण पहले-पहल 'शाबरभाष्य' मे ही किया गया।

जहाँ तक शबर स्वामी की ऐतिहासिक जानकारी का सबध है, कहा जाता है कि उनका वास्तविक नाम आदित्यदेव था, किन्तु जैनो और बौद्धो के निरन्तर आक्रमणों के कारण उन्होने अपनी जीवनचर्या मे आमूल परिवर्तन कर दिया था। वे ज्ञान की खोज मे भील का रूप धारण कर जंगल मे चले गये और वही उन्होंने आत्म-साक्षात्कार किया। तभी से उन्हे शबर कहा गया।

जनश्रुति है कि शबर स्वामी पहले राजा थे और उन्होंने चारो वर्णों की स्त्रियो से विवाह किया था। उनमे क्षत्रिय पत्नी से सम्राट् विक्रमादित्य पैदा हुए थे। किन्तु इतिहास की दृष्टि से ये बाते कल्पित जान पड़ती है।

शबर स्वामी के स्थितिकाल के संबंध मे विद्वान् एकमत नही है। विद्वानो का एक मत उनके स्थितिकाल की प्रामाणिकता मे 'शाबरभाष्य' का (१०।८।४) यह सूत्र उद्धृत करता है :

'इति भगवान् कात्यायनो मन्यते स्म, नेति भगवान् पाणिनिः'

इस सूत्र मे उन्होने पाणिनि और कात्यायन, इन दो शब्दशास्त्रियो को उद्धृत किया है, तीसरे आचार्य पतंजलि (महाभाष्यकार) को उन्होने छोड़ दिया है। अतः शबर स्वामी का समय कात्यायन (४०० ई० पूर्व) के बाद और

पतंजलि (२०० ई० पूर्व०) के पहले (३०० ई० पूर्व) के लगभग होना चाहिए।

इसके विपरीत विद्वानो के एक वर्ग का कहना है कि 'शाबरभाष्य' के कुछ आंतरिक प्रमाणो से विदित है कि उसकी रचना गुप्तकाल मे हुई। उसमे शून्यवाद, विज्ञानवाद जैसे परवर्ती बौद्ध सिद्धान्तो के अतिरिक्त महायान संप्रदाय का भी उल्लेख हुआ है। महायान संप्रदाय की प्रामाणिक जन्मतिथि कनिष्क की चौथी 'बौद्ध संगीति' है। अत' उसका स्थितिकाल ईसवी की पहली शताब्दी के बाद होना चाहिए।

उनकी जन्मभूमि के सबंध मे भी पर्याप्त विवाद है। किन्तु उनके भाष्यग्रंथ से जो आन्तरिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे दाक्षिणात्य थे। उन्होने काश्मीर, पंजाब, उत्तर भारत, बिहार आदि भारत के विभिन्न अचलो का भ्रमण किया था, जिसका संकेत उनके भाष्य मे देखने को मिलता है। उनके भाष्यग्रंथ का यदि भाषा विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो तत्कालीन भारत को आचलिक संस्कृतियो पर नया प्रकाश पडता है।

मीमांसा की तीन शाखायें

जैमिनि के सूत्रो के बाद 'शावरभाष्य' का ही दूसरा स्थान है। उसी के द्वारा मीमासा दर्शन को स्वतत्र दर्शन का स्थान प्राप्त हुआ और बाद मे जितनी भी कृतियाँ मीमामा पर लिखी गयी उन सबका आधार वही ग्रथ रहा है। जैमिनि के द्वादशलक्षणी 'मीमासासूत्र' की अपेक्षा 'शावरभाष्य' की अधिक लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि रही है।

'शाबरभाष्य' के तीन प्रख्यात टीकाकारो ने तीन नवीन संप्रदायो की प्रतिष्ठा की, जिनके नाम है : भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत। भाट्टमत के प्रवर्तक कुमारिल स्वामी हुए। कुमारिल जैसे प्रखरबुद्धि तार्किक का ही कार्य था कि उसने बौद्ध-न्याय से मीमासा की रक्षा कर दार्शनिक सिद्धान्तो की युक्तियो एवं प्रमाणो से धर्म का प्रतिपादन किया। दूसरे गुरुमत संप्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य प्रभाकर हुए। नयी मान्यताओं ने इस पुराने सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है कि प्रभाकर, कुमारिल के शिष्य थे और गुरु की उपाधि भी उन्हे कुमारिल से ही मिली थी। तीसरे मुरारिमत संप्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र थे, जिनके मत को गंगेश उपाध्याय जैसे प्रखर एवं प्रसिद्ध विचारक ने अपनी 'तत्त्व-चिन्तामणि' मे प्रामाणिकता से उद्धृत किया है।

भाट्टमत और गुरुमत की विभिन्नता के आधार

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर, दोनों की ख्याति का मूल आधार एक ही

ग्रंथ, 'शाबरभाष्य' रहा है, तथापि अपनी-अपनी व्याख्याओं द्वारा दोनों ने अपने-अपने विचारों का दो विभिन्न दिशाओं मे विकास किया। प्रभाकर ने 'बृहती' नाम से 'शाबरभाष्य' की जो व्याख्या लिखी है। उसमे सर्वत्र ही भाष्यकार के मत तथा सिद्धान्त का मण्डन किया गया है, किन्तु कुमारिल ने अनेक स्थानो पर भाष्यकार के मत की अवहेलना एवं आलोचना भी की है। यहाँ तक कि कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जिनकी सिद्धि में प्रभाकार, भाष्यकार का समर्थन करते हुए अपनी स्वीकृति दे चुके है, कुमारिल ने उनका भी खण्डन कर दिया है। कुमारिल की व्याख्या मे प्रभाकर के मत का भी खण्डन किया गया है।

कुमारिल की व्याख्या का आधार, भाष्य के अतिरिक्त मूल सूत्रग्रंथ भी रहा है। कुमारिल के 'तन्त्रवार्तिक' से ज्ञात होता है कि उसको कुछ ऐसे नये सूत्रो का भी पता था, जो न तो 'शाबरभाष्य' मे है और न प्रभाकर की व्याख्या मे ही। संख्या १ से १६ तक के सूत्रो के संबंध मे कुमारिल ने कहा है कि या तो भाष्यकार उनकी व्याख्या करना भूल गया था, या वह भाष्य-अंश ही नष्ट हो गया, अथवा भाष्यकार ने अनावश्यक या अप्रामाणिक जानकर उनको छोड दिया। इसके विपरीत प्रभाकर ने अपने किसी भी ग्रंथ मे ऐसा कोई भी संकेत नही किया है।

इस दृष्टि से दोनो व्याख्याकारो के मन्तव्य का यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रभाकर मे जहाँ भाष्यकार का अविकल अनुकरण किया है, वहाँ कुमारिल ने आवश्यकतानुसार भाष्यकार और प्रभाकर के सिद्धान्तो की अवहेलना करके अपने स्वतंत्र मत की पुष्टि की है।

कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट मीमासा दर्शन के वरिष्ठ आचार्य हुए। शबर स्वामी ने अपने भाष्य के द्वारा मीमासा की जिस परम्परा का श्रीगणेश किया उसको वैज्ञानिक ढग से आगे बढाने का कार्य किया कुमारिल ने। उनका आदर्श यद्यपि 'शाबरभाष्य' ही रहा है, तथापि उनकी व्याख्या मे ऐसे नये दृष्टिकोण भी देखने को मिलते है, जो 'शाबरभाष्य' मे नही है। वैदिक मत के विरोध मे और विशेष रूप से मीमांसा दर्शन के खण्डन मे बौद्धो ने जिन नये तर्कों को प्रस्तुत किया था उनका पांडित्यपूर्ण ढंग से निरसन किया कुमारिल ने।

उनके देश-काल के संबंध मे विद्वान् एकमत नही है। कोई उन्हें, 'शंकर-दिग्विजय' के उल्लेखानुसार, मिथिला का बताते हैं तो कोई दक्षिण या उत्तर भारत का। उनके संबंध मे आज का सामान्य मत यह है कि वे दक्षिण के निवासी

थे। कहा जाता है कि अपने गुरु को शास्त्र मे पराजित करने के प्रायश्चित्त मे कुमारिल ने प्रयाग आकर सगम पर अग्निकुण्ड मे शरीरान्त किया था। वे जिस समय अग्नि मे समाधिस्थ होकर जल ही रहे थे कि शकराचार्य ने वहाँ आकर उनके जीवित रहने के लिए बडा आग्रह किया। किन्तु कुमारिल ने जीवित रहना स्वीकार नही किया।

इस दृष्टि से इतिहासकारो ने उनका स्थितिकाल शकराचार्य के समय सातवी शताब्दी (६००-६६० ई०) मे निर्धारित किया है।

'शावरभाष्य' पर उन्होने तीन व्याख्यान ग्रंथ लिखे, जिनके नाम हैं 'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय के प्रथम तर्कपाद पर), 'तन्त्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के दूसरे तथा तीसरे पाद पर) और 'टुप्टीका' (चतुर्थ अध्याय से अन्त तक) इसके अतिरिक्त उन्हे 'बृहट्टीका' तथा 'मध्यम टीका' का रचयिता भी माना जाता है। वे दार्शनिक होने के साथ-साथ एक सफल कवि भी थे। 'श्लोकवार्तिक' मे उनकी कवित्व दृष्टि का भी अच्छा परिचय मिलता है।

उनके 'श्लोकवार्तिक' पर उम्बेक भट्ट ने 'तात्पर्य', पार्थसारथि मिश्र ने 'न्यायरत्नाकर' और सुचरित मिश्र ने 'काशिका' नाम से टीकाये लिखी। उनमे पार्थसारथि मिश्र की टीका ही सपूर्ण रूप मे उपलब्ध है। उसी को विद्वत्समाज मे मान्यता प्राप्त है। कुमारिल अपने इस ग्रथ को पूरा करने से पहले ही दिवगत हो चुके थे। गागाभट्ट ने, अपने आश्रयदाता वीर शिवाजी के आग्रह पर इस ग्रथ को पूरा किया था।

उनके 'तन्त्रवार्तिक' पर सोमेश्वर की 'न्यायसुधा', रामकृष्ण तथा कमलाकर भट्ट की 'भावार्थटीका', गोपाल भट्ट की 'मिताक्षरा', परितोष मिश्र की 'अजिता', अन्नभट्ट की, 'सुबोधिनी' और गंगाधर मिश्र का 'न्यायपारायण' का नाम उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार उनकी तीसरी कृति 'टुप्टीका' पर पार्थसारथि मिश्र का 'तंत्ररत्न', वेकटेश का 'वार्तिकाभरण' और उत्तम श्लोकतीर्थ की 'लघु न्यायसुधा' नामक उपटीकाये लिखी गयी।

कुमारिल और प्रभाकर

मीमासा दर्शन के प्राणसर्वस्व इन दोनों आचार्यों के सबंध में उनके अनुयायियो एवं अध्येताओ ने अनेक प्रकार की कहावतें गढी हैं।

एक जनश्रुति ऐसी प्रचलित है कि प्रभाकर मिश्र, कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। कहा जाता है कि एक बार मृत्यु-संबंधी सस्कार को लेकर दोनो गुरु-शिष्यों

मे मतभेद हो गया । प्रभाकर ने अपने गुरु कुमारिल के संमुख ऐसे तर्क उपस्थित किये, जिनका वे संतोषजनक उत्तर न दे सके । इसी बीच कुमारिल ने चारो ओर अपनी मृत्यु का समाचार फैला दिया । उनकी अन्त्येष्टि के लिए जब विचार किया गया तो प्रभाकर ने कुमारिल की संस्कार-विधि को ही उचित एवं लोक-सम्मत बताया और अपने विचारो को विवादग्रस्त रूप मे स्वीकार किया । प्रभाकर के मुख से ऐसा सुनते ही कुमारिल मृतशय्या से उठ खडे हुए और उन्होंने प्रभाकर से अपने विचारो को स्वीकार करने के लिए कहा । इसके उत्तर मे प्रभाकर ने कहा 'आपके विचारो को मैने स्वीकार अवश्य किया, किंतु आपके जीवनकाल मे नही ।'

दूसरी अनुश्रुति इस प्रकार बतायी जाती है कि किसी कारिका को पढ़ाते समय कुमारिल उसको स्पष्ट न कर सके थे । गुरु की इस समस्या को प्रभाकर ने तत्काल हल कर दिया । अपने कुशाग्रबुद्धि शिष्य की इस प्रवीणता को देखकर कुमारिल ने उनको 'गुरु' की पदवी से सम्मानित किया । इसी लिए प्रभाकर की परम्परा को 'गुरुमत' से कहा गया ।

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर का यह गुरु-शिष्य-संबध सर्वथा कल्पित है, फिर भी उनके परवर्ती कुछ ग्रंथकारो ने इन दोनो विद्वानो को इसी रूप में स्वीकार किया है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि दोनो विद्वानो की कृतियो और स्थितियों का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि दोनो विद्वान् समसामयिक थे । श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री तथा डॉ० गंगानाथ झा प्रभृति विद्वानो ने प्रभाकर का समय ६१० से ६६० ई० तथा कुमारिल का समय ६०० से ६६० ई० के बीच निर्धारित किया है ।

दोनो विद्वानो के अनुयायियों और उनके द्वारा लिखे गये ग्रथो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'गुरुमत' की अपेक्षा 'भाट्टमत' को अधिक अपनाया गया । उसका कारण यह था कि भाट्टमत की पदार्थ-विवेचन प्रणाली प्रौढ और वैज्ञानिक है ।

मण्डन मिश्र

मण्डन मिश्र, कुमारिल की परम्परा मे प्रख्यात विद्वान् हुए । मीमांसा और वेदान्त, दोनो दर्शनो पर उनका समान अधिकार था । अपने युग के वे सर्वश्रेष्ठ मीमासक हुए और उसके बाद शंकराचार्य के प्रभाव से उन्होने वेदान्त को अपनाया । मीमासा के क्षेत्र मे उनके असाधारण पांडित्य को शंकराचार्य ने भी

स्वीकार किया है। उन्होने कुमारिल के सिद्धान्तो का समुचित प्रवर्तन किया।

शंकराचार्य के साथ हुए मराडन मिश्र के शास्त्रार्थ मे उनकी विदुषी पत्नी भारती की मध्यस्थता का वृत्तान्त प्रायः प्रसिद्ध ही है। मराडन मिश्र ७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध (६२०-७१० ई०) मे, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के समय हुए। डॉ० उमेश मिश्र ने उनको मिथिला के माहिष्मती (भागलपुर) का निवासी बताया है।

शास्त्रार्थ के बाद मराडन मिश्र ने शंकराचार्य का शिष्यत्त्व स्वीकार कर लिया था। उसके बाद उन्होने सुरेश्वराचार्य के नाम से अद्वैत वेदान्त पर ग्रंथ लिखे। पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा पर उनकी लिखी कृतियो के नाम है: 'विधिविवेक', 'विभ्रमविवेक', 'भावनाविवेक', 'मीमासानुक्रमणिका', 'स्फोटसिद्धि', 'ब्रह्मसिद्धि', 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'वृहदारणयक-भाष्य' और 'तैत्तिरीयोपनिषद-भाष्य'।

इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त के प्रसग मे भी मराडन मिश्र के संबंध मे प्रकाश डाला गया है।

उम्बेक

भाट्टमत के अनुयायियो मे उम्बेक का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि उन्होने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर भी टीका लिखी, किन्तु उनकी ख्याति मराडन मिश्र के व्याख्याता के रूप मे अधिक है।

यद्यपि 'शकरदिग्विजय' मे मराडन मिश्र और उम्बेक को एक ही व्यक्ति बताया गया है, तथापि उनके ग्रथो के अन्त साक्ष्यो से और उनके अध्येताओ के मतानुसार सिद्ध होता है कि विख्यात नाटककार भवभूति या नीलकराठ भट्ट ही का अपर नाम उम्बेक था। वे ७वी श० ई० मे, कन्नौज के राजा अवन्तिवर्मा के समय हुए।

पार्थसारथि मिश्र

भाट्ट-परम्परा के मीमासकों मे पार्थसारथि मिश्र का नाम इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उन्होने अन्य विरोधी दर्शन संप्रदायो के सिद्धान्तो एवं आक्षेपो का सयुक्तियुक्त निराकरण करके मीमासा मे कुछ नये सिद्धान्तो की पहले-पहल स्थापना की। वे अद्भुत तार्किक थे।

उनके पिता का नाम प्रज्ञात्मा था। पिता ही उनके गुरु भी थे। संभवतः वे मिथिला के निवासी थे। उनका स्थितिकाल लगभग ११वी शताब्दी के आस-पास था।

मीमांसा पर उनकी लिखी हुई चार कृतियाँ उपलब्ध है, जिनके नाम है : 'न्यायरत्नमाला', 'तंत्ररत्न', 'शास्त्रदीपिका' और 'न्यायरत्नाकर'। उनकी 'शास्त्रदीपिका' भाट्ट मीमासा की प्रसिद्ध कृति है। उसकी असाधारण लोकप्रियता का पता उस पर लिखी गयी इन १४ टीकाओ से चलता है। ये सभी टीकाएँ उपलब्ध है। टीकाओ का विवरण इस प्रकार है :

सोमनाथ	मयूखमालिका	वैद्यनाथ :	प्रभा
अप्पय दीक्षित	मयूखावली	रामकृष्ण .	सिद्धान्तचन्द्रिका
राजचूडामणि ·	कर्पूरवर्त्तिका	शंकर भट्ट .	प्रकाश
दिनकर भट्ट	व्याख्या	कमलाकर भट्ट :	आलोक
यज्ञनारायण	प्रभामण्डल	नारायण भट्ट :	व्याख्या
अनुभवानंद यति :	प्रभामण्डल	भीमाचार्य :	व्याख्या
चंपकनाथ	प्रकाश	सुदर्शनाचार्य ·	प्रकाश

माधवाचार्य

पार्थसारथि मिश्र के बाद यद्यपि अनेक भाट्ट मीमासक प्रकाश मे आये, किन्तु, उनमे माधवाचार्य ही ऐसे विद्वान् हुए, जो पाण्डित्य एवं ख्याति की दृष्टि मे अधिक लोकसंपूजित है। वे अनेक विषयों के अधिकारी विद्वान् थे।

उनकी माता का नाम श्रीमती और पिता का नाम मायण था। सायण और भोगनाथ उनके दो अनुज हुए। वे महाराज बुक्क (१३वी श०) के कुलगुरु और मत्री थे। अत उनका समय १२वी, १३वी शताब्दी ई० मे होना चाहिए।

सायण और माधव, इन दोनो भाइयो को वैदिक साहित्य के अनुसंधाता के रूप मे विशेष ख्याति है। उन्होने अनेक विषयो पर ग्रंथ लिखे। उनके ग्रथो के नाम है 'पाराशर-स्मृति-व्याख्या', 'काल-निर्णय', 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर', 'यजुर्वेदभाष्य', 'ऋग्वेदभाष्य', 'सामसंहिताभाष्य', 'पंचविशतिब्राह्मणभाष्य', 'षडविशब्राह्मणभाष्य' और 'सर्वदर्शनसंग्रह'।

भाट्ट परम्परा के अन्य आचार्य

भाट्ट-परम्परा के अन्य आचार्य मे वाचस्पति मिश्र और अप्पय दीक्षित का नाम प्रमुख है, जिनका परिचय यथास्थान अन्यत्र दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त देवस्वामी (११वी श०), सुचरित मिश्र (१२वी श०), सोमेश्वर भट्ट (१२वी श०), वेदान्तदेशिक (१२वी श०), रघुनाथ भट्टाचार्य (१६वी श०), जयनारायण भट्ट (१७वी श०), नीलकण्ठ दीक्षित (१७वी श०), अनन्त भट्ट (१७वी श०), गागा भट्ट (१७वी श०), खण्डदेव (१७वी श०), राजचूडामणि

दीक्षित (१७वी श०), भास्कर राय (१८वी श०), राघवानन्द सरस्वती (१८वी श०) और रामेश्वर (१९वी श०) आदि अनेक विद्वानो ने सैकडों कृतियों की रचना कर भाट्ट-परम्परा को आगे बढाया।

इस प्रकार ७वी शताब्दी ई० से लेकर १९वी श० और उसके बाद आज तक, अनेक विद्वानो ने इस क्षेत्र मे प्रवेश किया और अपनी पाण्डित्यपूर्ण कृतियो के द्वारा मीमासा दर्शन के अंग-उपागो का विस्तार से विवेचन किया।

प्रभाकर मिश्र

कुमारिल भट्ट के प्रसग मे प्रभाकर मिश्र के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। मीमामा दर्शन मे भाट्टमत की भाँति गुरुमत के अधिष्ठाता होने के कारण प्रभाकर का नाम विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। 'शाबरभाष्य' पर कुमारिल की पाण्डित्यपूर्ण एवं विद्वत्सपूजित व्याख्या के रहते हुए भी प्रभाकर की व्याख्या को स्वतन्त्र एवं समानित स्थान प्राप्त हुआ और उसके विचारो को व्यापक समर्थन भी मिला। यह तथ्य ही प्रमाणित करता है कि मौलिकता की दृष्टि से कुमारिल की अपेक्षा प्रभाकर के विचार किसी भी भाँति हलके नही थे।

पहले बताया जा चुका है कि प्रभाकर और कुमारिल, दोनो समकालीन थे। प्रभाकर का समय ६१०-६६० ई० के बीच निर्धारित है।

प्रभाकर ने 'शाबरभाष्य' पर 'विवरण' (या लघ्वी) और 'बृहती' या (निबन्धन) नाम से व्याख्यायें लिखी। माधव सरस्वती ने अपनी 'सर्वदर्शनकौमुदी' मे लिखा है कि 'विवरण' मे छह हजार और 'बृहती' मे बारह हजार पद्य थे। यह 'बृहती' छठे अध्याय के मध्य तक ही 'ऋजुविमला' नामक टीका के सहित उपलब्ध एवं प्रकाशित है। प्रभाकर के शिष्य शालिकानाथ ने इन दोनो पर क्रमश. 'दीपशिखा' एव 'ऋजुविमला' नाम की टीकाये लिखी हैं।

शालिकानाथ मिश्र

शालिकानाथ का नाम प्रभाकर की परम्परा के प्रौढ एवं प्रख्यात विद्वानो मे है। वे प्रभाकर के शिष्य थे और उन्होने प्रभाकर के सिद्धान्तो को बडे ही पाण्डित्य पूर्ण एव समुचित ढंग से प्रस्तुत करके मीमासा दर्शन मे अपनी परम्परा के विकास के लिए ठोस भावभूमि का निर्माण किया। उन्होने प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो की पुष्टि मे उपयुक्त तर्क एवं युक्तियाँ प्रस्तुत कर विपक्षियों के आरोपों का खण्डन किया।

वे गौडदेशीय (बंगाल के निकट) थे और वाचस्पति मिश्र के पहले तथा मण्डन मिश्र के बाद लगभग ९वी श०ई० मे हुए।

शालिकानाथ ने प्रभाकर की 'लघ्वी' तथा 'बृहती' पर क्रमशः 'दीपशिखा' एवं 'ऋजुविमला' नामक टीकायें लिखीं। इन दोनों का संयुक्त नाम शालिकानाथ ने 'पंचिका' दिया है। उनकी तीसरी कृति का नाम 'प्रकरणपंचिका' है। उनका यह तीसरा ग्रंथ गुरुमत की परम्परा का प्रख्यात ग्रंथ माना जाता है।

भवनाथ मिश्र

इसी परम्परा में, लगभग ११वीं शताब्दी के आस पास, भवनाथ या भवदेव मिश्र हुए। वे मिथिलावासी थे। उन्होंने जैमिनीय सूत्रों पर 'न्यायविवेक' नाम से स्वतन्त्र व्याख्या लिखी। उनकी यह व्याख्या अपने क्षेत्र में पर्याप्त रूप से संमानित है। इस पर लगभग चार टीकायें लिखी गयी, जिनके नाम हैं वरदराज की 'दीपिका', गोविन्द उपाध्याय के शिष्य की 'शकादीपिका', दामोदर सूरि की 'अलंकार' और रतिदेव की 'विवेकतत्त्व'। इसी से भवनाथ के 'न्यायविवेक' का महत्त्व तथा प्रचार जाना जा सकता है।

भवनाथ के बाद गुरुमत के विद्वानों में गुरुमताचार्य (११वीं श०), नंदीश्वर (१४वीं श०), भट्ट विष्णु (१४वीं श०) और वरदराज (१६वीं श०) का नाम उल्लेखनीय है।

मुरारि मिश्र

मीमांसा दर्शन में मुरारि मिश्र का ऐतिहासिक महत्त्व है। भाट्टमत और गुरुमत के अतिरिक्त तीसरे पंथ (**मुरारेस्तृतीयः पन्थाः**) के निर्माण के रूप में मुरारि मिश्र का नाम विख्यात है। वे 'अनर्घराघव' नाटक के निर्माता मुरारि मिश्र से भिन्न थे।

मुरारि की परम्परा का मीमांसा साहित्य यद्यपि नष्ट हो गया है, तथापि उसके उपलब्ध अंशों को देखकर उसके प्रवर्तक मुरारि मिश्र की विद्वत्ता का सहज ही में पता चल जाता है।

मुरारि मिश्र का स्थितिकाल ११वीं या १२वीं शताब्दी ई० के आस-पास था।

मुरारि मिश्र के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने के लिए दूसरे ग्रंथों में सुरक्षित उद्धरण ही अब तक एकमात्र संबल माने जाते थे; किन्तु डॉ० उमेश मिश्र ने 'त्रिपादनीतिनय' और 'एकादशाध्यायाधिकरण' नाम से मुरारि मिश्र के दो ग्रंथों की पहले-पहल सूचना देकर बड़े महत्त्व का कार्य किया है। ये दोनों ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। पहले में जैमिनीय सूत्रों की चतुर्थ पाद तक की व्याख्या और दूसरे में जैमिनीय सूत्रों के एकादशाध्याय के कुछ अंशों की व्याख्या है।

मुरारि मिश्र की परम्परा का कोई मीमासक या तत्संबंधी ग्रंथ उपलब्ध नही है।

जैमिनि का मीमांसासूत्र

महर्षि जैमिनि मीमासा दर्शन के प्रवर्तक और उनका 'मीमामासूत्र' मीमामा दर्शन का आधार स्तभ है। यह ग्रंथ बारह अध्यायो मे विभक्त है। इसी लिए उसको 'द्वादशलक्षणी' भी कहा जाता है। उसके बारह अध्याय कई पादो मे विभक्त है और प्रत्येक पाद कई अधिकरणो मे। सपूर्ण पादो की सख्या ६० और संपूर्ण अधिकरणो की सख्या ९०७ है। उसमे कुल २,७४५ सूत्र है।

'मीमासासूत्र' के प्रथम अध्याय मे विधि, अर्थवाद, मत्र और स्मृति आदि प्रामाण्यो पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय मे उपोद्घात, कर्मभेद, प्रामाण्यापवाद, और नित्य तथा काम्य प्रयोगभेदो पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय मे श्रुति, लिग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि के पूर्व-पूर्व प्राबल्य का प्रतिपादन किया गया है। चौथे अध्याय मे यज्ञ से सबधित शकाओ का समाधान वर्णित है। पाँचवे अध्याय मे श्रुति का क्रम, वृद्धि-अवृद्धि, प्राबल्य-दौर्बल्य पर विचार किया गया है। छठे अध्याय मे कर्म, धर्म तथा यज्ञ के प्रयोजनो और यज्ञ की क्रियाओ पर प्रकाश डाला गया है। सातवे अध्याय मे अतिदेशो का वर्णन है। आठवे अध्याय मे भी अतिदेशो और उनके अपवादो का परिचय दिया गया है। नवम अध्याय मे ऊहो पर विचार किया गया है। दशम अध्याय मे बाध तथा समुच्चय आदि का निर्देश है। अंतिम बारहवें अध्याय मे प्रसंग, तंत्री, निर्णय, समुच्चय और विकल्प पर विचार किया गया है

कुमारिल के अनुसार अधिकरणो का स्वरूप

कुमारिल भट्ट ने महर्षि जैमिनि की अधिकरण-स्थापना को बडे वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। उनका अधिकरण-समन्वय बडा ही पाण्डित्यपूर्ण है। उन्होने प्रत्येक अधिकरण के पाँच अवयव माने है : विषय, सशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त। प्रत्येक सूत्र को समझने के लिए इन पचावयवो को समझना आवश्यक बताया गया है। किसी वस्तु पर जिस उद्देश्य से विचार किया जाता है वही उसका विषय कहलाता है, जैसे 'वेद पढना चाहिए' (**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**)। यही अधिकरण का उद्देश्य एवं विषय है। विषय की दो कोटिक ज्ञान को 'संशय' कहते है, जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष ?' वादो जिस मत को उपस्थित करता है, वह 'पूर्वपक्ष' कहलाता है। 'उत्तरपक्ष' का अपर नाम 'संगति' भी है, जो तीन प्रकार

की होती है : अधिकरण संगति, पाद संगति और अध्याय संगति। उदाहरण के लिए अमुक विचार को समुचित ढंग से सुनिश्चित अधिकरण, पाद तथा अध्याय मे समाप्त कर देने को ही 'संगति' कहते हैं। भाट्ट मतानुयायी 'संगति' के स्थान पर 'उत्तरपक्ष' को मानते है। निर्णय का नाम ही 'सिद्धान्त' है।

प्रभाकर के अनुसार अधिकरणों का स्वरूप

आचार्य प्रभाकर ने अधिकरणस्वरूप पर विशेष विचार नही किया है। उनके मत से श्रुति अध्यापन का विधान करती है। विधि ही नियोग है। जिसके प्रति नियोग (विधान) किया जाता है यह 'नियोज्य' कहलाता है। नियोग को नियोज्य की अपेक्षा होती है। नियोज्य कौन है, इस आकाक्षा से जिसको आचार्यत्व की कामना होती है वही 'नियोज्य' समझा जाता है। उपनयन मे जो नियोज्य है, वही अध्यापन मे भी नियोज्य होगा, क्योकि इन दोनो क्रियाओ का एक ही प्रयोजन है।

जो ब्राह्मण, शिष्य को उपनीत कर अंग और रहस्य के सहित वेद पढाता है, उसी को 'आचार्य' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उपनयन पूर्वक अध्यापन करने मे ही अध्यापक मे एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उसी से वह 'आचार्य' कहा जाता है।

'मीमामासूत्र' के तात्पर्य-निर्णय के लिए उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (समाप्ति), अभ्यास (बार-बार कथन), अपूर्न्ता (नवीनता), फल (उद्देश्य), अर्थवाद (सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त, उपमा आदि की योजना) और उपमिति (साधक प्रमाणो द्वारा सिद्धि), इन सात बातो का ज्ञान आवश्यक बताया गया है।

प्रमाण विचार

किसी दर्शन का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त निर्धारित किये गये है। मीमासा दर्शन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रमा, प्रमाण और प्रामाण्य आदि की आवश्यकता बतायी गयी है।

प्रमा का स्वरूप

प्रमा कहते है ज्ञान के लिए। वह दो प्रकार का होता है . प्रमा और अप्रमा। जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप मे अनुभव करना प्रमा है। प्रमा, अर्थात् ज्ञान के द्वारा किसी अज्ञात पदार्थ की सत्यता का निश्चय हो जाना। इसके विपरीत जहाँ पर वस्तु का अभाव रहते हुए भी उसके ज्ञान की प्रतीति है उसको अप्रमा

या अयथार्थ ज्ञान कहते हैं। उदाहरण के लिए साँप को साँप और रस्सी को रस्सी समझना प्रमा है और साँप को रस्सी तथा रस्सी को साँप समझना अप्रमा है।

प्रमाण

अतिशय उपकारक प्रकृष्टतम साधन को प्रमाण कहा गया है। उदाहरण के लिए अंधकार के कारण रस्सी में साँप को प्रतीति हो जाने पर प्रकाश (प्रमाण) के द्वारा रस्सी के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाना यथार्थ ज्ञान है। इसी लिए प्रमाण को ज्ञान की कसौटी कहा गया है। वह सभी पदार्थों का निश्चयात्मक और सभी प्रकार के ज्ञानों का निर्णायक है।

प्रमाण के भेद

विभिन्न दर्शनों में सख्या-भेद से प्रमाण के भिन्न-भिन्न प्रकार बताये गये हैं। चार्वाक ने प्रत्यक्ष को ही केवल प्रमाण माना है। इसी प्रकार वैशिषिक में प्रत्यक्ष तथा अनुमान, दो, सांख्य में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, तीन, न्याय में प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द तथा उपमान, चार; और वेदान्त में भी यही चार प्रमाण माने गये हैं।

मीमासा की प्रमाण-परीक्षा में मतभेद हैं। सूत्रकार जैमिनि ने तीन प्रकार के प्रमाण माने हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। किन्तु जैमिनि के बाद मीमासा पर जो प्रौढ ग्रंथ लिखे गये उनमें प्रमाणों पर नये ढंग से विचार किया गया है। मीमासक प्रभाकर ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान तथा अर्थापत्ति, पाँच प्रकार के प्रमाण माने हैं। दूसरे मीमासक कुमारिल भट्ट ने प्रभाकर के पाँच प्रमाणों में अनुपलब्धि को भी छठा प्रमाण स्वीकार किया है।

स्मृति प्रमाण नहीं है

प्रभाकर के मतानुसार 'स्मृति' प्रमाण नहीं है। प्रमाण, अनुभूतिजन्य ज्ञान है, जो स्मृतिगम्य ज्ञान से भिन्न है। स्मृति में पूर्वज्ञान की अपेक्षा होती है। अतः उसको प्रमाण नहीं माना जा सकता है। प्रभाकर के कथनानुसार स्मृतिगम्य ज्ञान में भ्रम की सभावना बनी रहती है।

(१) प्रत्यक्ष

मीमासा के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण सविकल्प और निर्विकल्प भेद से दो प्रकार का होता है। प्रभाकर के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प, दोनों प्रकार का ज्ञान, प्रमाण है; क्योंकि दोनों ही ज्ञाता को व्यवहार में लगा सकते हैं। इस नानारूपात्मक जगत् का ज्ञान प्रत्यक्ष के ही द्वारा सभव है। निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था

मे यद्यपि विषय स्पष्ट नही होते, तथापि बीज रूप में उनका अस्तित्व बना रहता है। सविकल्प ज्ञान की अवस्था मे विषय स्पष्ट रहते है। प्रभाकर का कहना है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान मे 'मेय', 'माता' और 'प्रमाता' ये तीनो रहते है। उदाहरण के लिए 'मैं' (मेय) 'देवदत्त' (माता) और 'जानना' (प्रभा), इन तीनो का एक साथ ज्ञान होता है। इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस सबंध को प्रभाकर ने 'सन्निकर्ष' कहा है।

सन्निकर्ष

पदार्थों के साथ इन्द्रियो के संबंध को 'सन्निकर्ष' कहते है। प्रभाकर के मत से इन्द्रिय और अर्थ के बीच जो संबंध होता है, वह दो प्रकार का है : ज्ञान का विषयो के साथ इन्द्रिय के संयोग से, और विषय मे संयुक्त समवाय तथा समवेत समवाय से।

कुमारिल के मत से निर्विकल्प ज्ञान मे वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नही होती है। कुमारिल का कथन है कि 'अहं' प्रत्यय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु प्रभाकर के मतानुसार ज्ञाता कभी अपना ज्ञेय नही हो सकता है। आत्मा ज्ञाता है और प्रत्येक ज्ञान मे वह ज्ञाता के रूप मे ही प्रकाशित होता है।

'मीमासासूत्र' के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नही है। वह स्वतःप्रकाश है। बुद्धि अर्थ-विषयक होती है, बुद्धि-विषयक नही (**अर्थविषये हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्धिविषये**)। आशय यह है कि प्रत्यक्ष, पदार्थो का होता है, न कि पदार्थो के ज्ञान का। 'संवित्' कभी 'संवेद्य' नही होती। जब किसी सत् पदार्थ का किसी इन्द्रिय के साथ संपर्क होता है तब उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को होता है।

(२) अनुमान

मीमासा का अनुमान-प्रकरण न्याय के अनुमान से मिलता है। न्याय मे अनुमान का शब्दार्थ किया गया है पश्चाद्ज्ञान। एक बात से दूसरी बात को देख लेना (अनु + ईक्षा), या एक बात को जान लेने के बाद दूसरी बात को जान लेना (अनुमितिकरण) पश्चाद्ज्ञान या अनुमान कहलाता है। धूम को देखकर वहाँ अग्नि के होने का अनुमान लगाना पश्चाद्ज्ञान है। इसलिए पश्चाद् वस्तु (धूम) के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु (अग्नि) का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान की प्रक्रिया का आधार है।

(३) उपमान

उपमान ज्ञान का विषय न्याय दर्शन में विस्तार से समझाया गया है। किसी

जानी हुई वस्तु के सादृश्य से किसी न जानी हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही न्याय का 'उपमान' है। उदाहरण के लिए घर पर देखी हुई गाय के सादृश्य से जंगल मे न देखी हुई नीलगाय का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान' है। न्याय मे इसको 'उपमिति' ज्ञान कहा गया है। अर्थात् एक वस्तु की उपमा या समानता के आधार पर दूसरी सदृश वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेना।

किन्तु मीमासा की दृष्टि से 'उपमान' को इसलिए स्वतंत्र प्रमाण माना गया है, क्योंकि व्याप्ति दूषित होने के कारण यह ज्ञान न तो अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के हो। इसलिए न्याय की अपेक्षा, मीमांसा मे उसका स्वतंत्र विवेचन किया गया है।

मीमासा मे कहा गया है कि 'अमुक जन्तु गाय के समान है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और 'गाय के सदृश गवय है' यह ज्ञान शब्द प्रमाण की स्मृति होता है। इसलिए मीमासा की इस धारणा के अनुसार, नैयायिक जिसे स्वतंत्र प्रमाण मानते है, वह यथार्थत स्वतत्र नही है। इसके विरुद्ध शबर स्वामी की अपनी उपमान-व्याख्या तर्कशास्त्र के सादृश्यात्मक ज्ञान पर आधारित है।

इस सबंध मे विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि मीमासा मे 'सादृश्य' को एक स्वतंत्र पदार्थ माना गया है।

(४) शब्द

उपनिषद्, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र', इस 'प्रस्थानत्रयी' मे ब्रह्म को शब्दस्वरूप कहा गया है। सभी दर्शन उसकी सत्ता को मतान्तर से स्वीकार करते है। व्याकरण और काव्यशास्त्र के ग्रथो मे भी शब्द या शब्दशक्ति पर गंभीरता से प्रकाश डाला गया है।

मीमासा दर्शन के प्रामाण्य प्रकरण मे शब्द का बडा महत्व बताया गया है। मीमामा के मत से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जिन स्वर्गादि अलौकिक विषयो का ज्ञान प्राप्ति नही होता उन विषयो मे अपौरुषेय वेद ही प्रमाण माना जाता है। इसी को शब्दनित्यवादी मीमासको ने 'शब्द प्रमाण' कहा है।

शब्द नित्य है या अनित्य

न्याय

न्याय दर्शन मे शब्द को आप्तवाक्य कहा गया है और उसको आकाश का गुण स्वीकार किया गया है। न्याय के मत से शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सादि और कारणवान् है; अर्थात् वह उत्पत्ति, विनाशयुक्त है। जो पदार्थ उत्पत्ति धर्म वाले होते है, अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, न्याय मे उन्हे अनित्य कहा

गया है। इसके विपरीत जो पदार्थ उत्पत्ति-विनाश रहित एवं तीनों कालों में स्थिर होते हैं उन्हें नित्य कहा जाता है। ध्वंस और प्राग्भाव भी क्रमशः उत्पत्ति-विनाशयुक्त होने के कारण अनित्य है। जैसे जल की एक लहर, दूसरी लहर को पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार एक शब्द, दूसरे शब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। उच्चारण होने से पूर्व और उच्चरित होने के बाद उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतएव उसको विनश्वर कहा गया है। उसकी जितनी भी क्रियाएँ हैं वे नित्य वस्तु के विपरीत हैं। इसलिए न्याय मे उसको अनित्य माना गया है।

सांख्य

साख्य की दृष्टि से जो शब्द (उपदेश वाक्य) योग्य (आप्त) होते हैं उनके सुनने से बोधरूप जिस अन्त करण की वृत्ति का उदय होता है उसी को शब्द प्रमाण कहते है।

मीमासा

किन्तु मीमासा दर्शन मे शब्द को नित्य माना गया है। न्याय मे शब्द को उत्पत्ति कण्ठ-तालु के संयोग से मानी गयी है, किन्तु मीमासा मे उसको श्रोत्र इन्द्रिय की ग्राह्य वस्तु माना गया है। वह वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक, दो प्रकार का होता है। वर्णनात्मक शब्द नित्य और विभु है। वह स्वतत्र द्रव्य है, गुण नहीं; क्योकि गुण पराश्रित होता है। ध्वन्यात्मक शब्द हो वायु का गुण तथा अनित्य है। वर्णनात्मक शब्द नित्य है। प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन के क्रिया-कलापो मे शब्द की जो उपयोगिता एवं असाधारणता दिखायी देती है उससे भी उसकी नित्यता सिद्ध होती है।

शब्द और अर्थ

न्याय

नैयायिको की दृष्टि से शब्द की भाँति शब्दार्थ भी अनित्य है। वहाँ अर्थबोध के लिए आप्त पुरुष के उपदेश की योजना की गयी है। उस अर्थबोध का नाम शाब्दि प्रमा है। हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि, शाब्दि प्रमा के फल हैं। न्याय मे दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्द को दो प्रकार का माना गया है। जिसका फल इस लोक मे देखा जाता है उसको दृष्टार्थ और जिसका फल इस लोक मे नहीं देखा जाता उसका अदृष्टार्थ फल कहते हैं।

न्याय की दृष्टि से शब्द के साथ अर्थ का संबंध नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा इस संबंध का ज्ञान होना संभव ही नहीं है। यदि शब्द

और अर्थ का संबंध होता तो 'अन्न' शब्द के उच्चारण से मुंह भर जाना चाहिए था; किन्तु ऐसा होता नही। इसलिए यह मानना युक्तिसंगत है कि शब्द और अर्थ का कोई संबंध नही है। इस दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि किसी पुरुष-विशिष्ट ने शब्द तथा अर्थ मे संबंध स्थापित किया और उनका (शब्दों का) व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए वेदो की रचना की। शब्दार्थ मे किसी के द्वारा संबंध स्थापित किया गया है, यह इस उदाहरण से भी सिद्ध होता है कि जैसे 'पीन देवदत्त दिन को भोजन नही करता'। इस वाक्य का लक्ष्यार्थ यह हुआ कि देवदत्त रात को भोजन करता है। इसलिए सबंध एक कार्य है, जो बिना कर्ता के संपन्न नही हो सकता है। शब्द और अर्थ मे न तो कार्य-कारण-भाव संबध है और न नित्य-नैमित्तिक, न जन्य-जनकत्व, बल्कि उनमे सामूहिकत्त्व तथा सांकेतिकत्त्व सबध होता है। इसलिए जिस शब्द के साथ जिस अर्थ का सांकेतिक सबध होता है, उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है, दूसरे अर्थ का नही।

वेदान्त

वेदान्त मे असन्निकृष्ट याथार्थ ज्ञान को ही 'शब्दज्ञान' कहा गया है। यह शब्दज्ञान वहाँ एक प्रकार से अभिज्ञा का ही अपर स्वरूप है।

सांख्य

साख्य की दृष्टि से शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-लक्षण सबध है। शब्द वाच्य और अर्थ वाचक है। आप्तोपदेश द्वारा, लौकिक शब्द से पुरुष को वेदार्थ का ज्ञान होता है। वेद नित्य नही है, क्योकि उनमे ऐसी श्रुतियाँ पायी जाती है, जो उनकी उत्पत्ति का इतिहास बताती है। वेद, पुरुषनिर्मित भी नही है, क्योकि मुक्त या अमुक्त किसी भी पुरुष मे इतनी योग्यता नही कि वह वेद की श्रुतियो का निर्माण कर सके। इसलिए साख्य की दृष्टि से वेद अपौरुषेय तो है, किन्तु नित्य नही।

मीमासा

किन्तु मीमासा मे शब्द की भाँति शब्द-अर्थ का सबंध भी नित्य माना गया है। वहाँ कहा गया है कि शब्द और अर्थ का ऐसा ही सबध है, जैसा जल और तरंग का, जीव और ब्रह्म का तथा शकर और पार्वती का। जैसे इन युग्मो मे एक के बिना दूसरे की कोई स्थिति नही है, वैसे ही शब्द और अर्थ का पारस्परिक सबंध है। जिस शब्द का कोई अर्थ नही उसको शब्द कहा ही नही जा सकता है; और इसी प्रकार अर्थ की यह स्थिति है कि वह शब्द के बिना रह ही नही सकता है।

शब्द और अर्थ दोनो मे संज्ञा-संज्ञी-भाव-संबंध है । शब्द संज्ञा (अर्थबोधक) है और अर्थ संज्ञी (शब्द से उत्पन्न बोध) । एक प्रत्यय है दूसरा प्रत्यय । शब्द को प्रथम बार सुनने से हमे जो अर्थबोध नही होता वह शब्द का दोष नही, हमारे अज्ञान का दोष है । उदाहरण के लिए यदि अंधेरे मे रखी हुई वस्तु किसी सुन्दर आँख वाले को नही दिखायी देती तो लोक मे इसका यह अर्थ नही लगाया जाता कि वहाँ वस्तु है ही नही, अथवा आँखो मे देखने की शक्ति नही है । हम यदि प्रत्येक शब्द का अर्थज्ञान नही प्राप्त कर सकते तो वह शक्तिग्रह का अभाव कहा जायगा, ठीक वैसे ही, जैसे वस्तु के न मिलने का कारण अंधकार (प्रकाशाभाव) है । यदि नैयायिकों के कथनानुसार शब्द-अर्थ मे सम्बन्ध स्थापित करने की बात को कुछ देर के लिए मान भी लिया जावे तो ऐसा वह पहला व्यक्ति कौन था जिसने यह नियमन किया ?

मीमासा दर्शन मे शब्द और अर्थ मे नित्य सम्बन्ध होने के कारण वेद वाक्य को नित्य माना गया है (**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्**) । अतः वेद स्वत. प्रमाण है, और इससे यह सिद्ध है कि शब्द की भाँति शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य एवं अपौरुषेय है ।

पद और अथ

वैयाकरण (स्फोटवाद)

वैयाकरणो का मत है कि अर्थ के बोधक वर्ण नही, स्फोट है । स्फोट, अर्थात् जिस (पद) मे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, या अर्थबोध होता है (**स्फुटयति अर्थः अस्मात्**) । उदाहरण के लिए 'गाय' इस पद मे गकार, आकार और यकार तीन वर्ण है, किन्तु उनके मेल मे, उनसे भिन्न जो चौथी वस्तु 'गाय' (पद) की निष्पत्ति हुई है उसी से लोक मे या वेद मे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । वैयाकरणो के मत से यही चौथी वस्तु 'गाय' (पद) स्फोट है । इसीलिए वैयाकरणो ने अर्थज्ञान के लिए आठ प्रकार के स्फोट स्वीकार किये है । किन्तु इसके विपरीत कुछ वैयाकरण ऐसे भी हुए है, जिन्होने वर्णों को ही मूल कारण माना है और स्फोट को बौद्धिक व्यायाम कहकर छोड दिया ।

मीमांसा

मीमांसा का मत इससे विपरीत है । उसके अनुसार पदार्थ से वाक्यार्थ बनता है, पदो से पदार्थ और वर्णों से पद बनते है । इस प्रकार वर्ण ही अर्थ के मूल हेतु सिद्ध होते है । यदि वर्ण न हों तो पद, पदार्थ और वाक्यार्थ का सगठन हो ही नही

सकता है। 'गाय' इस पद की निष्पत्ति तभी हो सकती है, जब गकार, आकार और यकार, इन तीन वर्णों का सयोग होगा। एक सामान्य-सी बात है कि जब वर्णों के सयोग से शब्द निष्पन्न होगा तभी तो उसके उच्चारण से अर्थबोध होगा।

मीमासा के अनुसार वर्णों से संस्कार उत्पन्न होते हैं और तदनन्तर अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। संस्कारो के माध्यम से ही वर्ण अर्थबोध मे समर्थ होते हैं।

वाक्य और अर्थ

वैयाकरण

पदार्थज्ञान के बाद वाक्यार्थज्ञान का क्रम आता है। वैयाकरणों के अनुसार 'एक क्रिया वाले पद को वाक्य' कहते हैं। इसी वाक्य से उनका स्फोट सिद्धान्त बनता है। उनकी दृष्टि से वर्ण नश्वर है और वाक्य अखण्ड।

बौद्ध

विज्ञानवादी बौद्धो के मत से वाक्य और वाक्यार्थ क्रमश शब्दात्मक ज्ञान और अर्थात्मक ज्ञान के परिचायक हैं। उन दोनो मे कार्य-कारण-भाव-सबंध है। वाक्य कारण है और वाक्यार्थ कार्य।

नैयायिक वैशेषिक

नैयायिको और वैशेषिको के अनुसार प्रत्येक वर्ण, पदार्थ का वाचक नही हो सकता है, अपितु पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न सस्कार अन्तिम वर्ण मे जाकर पूर्ण होता है। वही अन्तिम वर्ण, पदार्थ का बोधक है। इसी प्रकार पूर्व पदार्थ के अनुभव से उत्पन्न संस्कार अन्तिम पद मे पूर्ण होता है और तभी वाक्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे वर्णों और पदो का क्रम नियत होता है।

मीमासा

मीमासा मे उक्त तीनो मतो का खण्डन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि वाक्य न तो अखण्ड है, न वाक्य-वाक्यार्थ मे कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध है, और न ही अन्तिम पद, वाक्यार्थ का वाचक है। बल्कि ऐसा पदार्थ, जो पदो के समुदाय से बना हो, वाक्यार्थ का वाचक होता है, जैसे 'मोहन हँसता है' यह एक वाक्य है, और इस सपूर्ण वाक्य के कथन किये बिना अर्थ की अभिव्यक्ति हो ही नही सकती। यहाँ यह वाक्य, पदो से और पद, वर्णों मे बने हैं। अत वाक्य के अनेक खण्ड होते हैं।

शब्दार्थ जाति है या व्यक्ति

शब्दार्थ जाति है या व्यक्ति, इस सम्बन्ध मे भी मीमांसा का अन्य दर्शनो से

मतभेद है। 'गाय' एक शब्द है। उसके उच्चारण से हमें पहले गोत्व जाति का बोध होता है और शब्द में व्यक्ति विशेष गाय का। इसलिए जाति ही शब्द का *अभिप्रेत अर्थ है, व्यक्ति नहीं। क्योंकि जाति का अभिधान किये बिना व्यक्ति का* अभिधान व्यावहारिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। जाति सामान्य के बिना व्यक्तिविशेष का ग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः शब्दार्थ जाति है, व्यक्ति नहीं।

शब्द में विकार नहीं होता

मीमांसा दर्शन में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध प्रतिपादित करने के बाद वेदों की प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता पर विचार किया गया है। शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए ऊपर विभिन्न दर्शनों की संक्षेप में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी है, मीमांसा में उनका आमूल युक्ति-प्रमाण-पूर्वक खण्डन किया गया है, और यह सिद्ध किया गया है कि शब्द नित्य है, वेदवाक्य प्रामाणिक एवं अपौरुषेय है।

मीमांसा में जिज्ञासुओं की ओर से यह शंका उपस्थित की गयी है कि वेद स्वतः प्रमाण कैसे हो सकते है, क्योंकि वेदों में ही हमें यह देखने को मिलता है कि वसु, इन्द्र आदि के अर्थ उत्पत्ति-युक्त होने के कारण अनित्य है। यदि वे अनित्य है तो वसु, इन्द्र आदि उसके वाचक शब्द भी अनित्य है। इसके अतिरिक्त लोक व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि शब्द का उच्चारण करने के बाद वह नष्ट हो जाता है। शब्द में आगम-लोप (प्रकृति-विकृति) होना भी उसकी अनित्यता बताते है। वह पुरुष प्रयत्नज भी है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसको इच्छानुसार कम या अधिक बोल सकता है।

इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'गो' आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य, गुण, कर्म से उत्पन्न होता है, उसकी आकृति उत्पन्न नहीं होती है। इसी आकृति के साथ शब्द का संबध होता है। व्यक्तियों के अनन्त होने पर भी आकृति के एक और नित्य होने से देश-काल के अनुसार शब्द में कोई निरोध या विकृति नहीं आने पाती। 'ई' के स्थान पर 'य' कर देने से शब्द की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आने पाता, क्योंकि व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से 'आगम' तथा 'आदेश' विकार नहीं माना जाता। वह तो केवल शब्दान्तरमात्र है। शब्द निरवयव तथा यथार्थ है। अतः वह पुरुष प्रयत्न से घटाया या बढाया नहीं जा सकता।

इसलिए शब्द नित्य है और अर्थज्ञान का कारण होने से शब्दोच्चारण की व्यवस्था तो एकमात्र श्रोता की सुविधा के लिए की गयी है।

वेद

वेद अपौरुषेय, नित्य और उसकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। मीमासा के इस मन्तव्य के बावजूद भी अन्य दर्शनो मे वेदो के अपौरुषेय, नित्य और स्वतः प्रमाण होने पर सन्देह किया गया है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न दर्शनो का अभिमत संक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

नास्तिक दर्शन

नास्तिक दर्शन मे वेद को व्यर्थ का वाग्जाल और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा रचा गया एक जाली ग्रंथ माना गया है। आचार्य चार्वाक ने तो उसको बुद्धिहीन और निष्क्रिय लोगो की जीविका का साधन (**बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका**) बताया है।

न्याय

इसके विपरीत आस्तिक दर्शनो मे वेदो की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। जहाँ तक न्याय दर्शन का सम्बन्ध है, वहाँ वेद की सत्ता पर तो विश्वास किया गया है, किन्तु उसको पौरुषेय, अर्थात् पुरुष का रचा हुआ माना गया है। इस सम्बन्ध मे अनुमान प्रमाण द्वारा वहाँ कहा गया है कि

वेद पौरुषेय है
वाक्य होने के कारण
जैसे 'महाभारत' आदि

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन मे कहा गया है कि ईश्वर का वचन होने के कारण वेद प्रमाण है (**तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्**)। वैशेषिक दर्शन मे वेदो को इसलिए प्रमाण नही माना जाता है कि वे अपौरुषेय है, जैसा कि साख्य मे माना गया है। बल्कि उनको इसलिए प्रमाण माना जाता है कि वे ईश्वरवचन है और उनमे धर्म का प्रतिपादन है। वैशेषिक की दृष्टि से धर्म और अधर्म इनका लौकिक प्रत्यक्ष नही होता। इनके अस्तित्व के एकमात्र प्रमाण वेद है। वैशेषिक मे वेदो को प्रमाण तो माना गया है, किन्तु अपौरुषेय नही। वहाँ वेदो को पुरुष रचित माना गया है; क्योकि उनका प्रतिपाद्य विषय अर्थ है, जो कि पुरुषप्रयत्नज है।

सांख्य

साख्य निरीश्वरवादी दर्शन होने पर भी वेदो के सनातन स्वरूप को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि मे वेद अनित्य होने पर भी अपौरुषेय है। इसी एक आधार पर साख्य की नास्तिक दर्शनो की कोटि मे परिगणित होने से रक्षा हो गयी। साख्य

के इस मन्तव्य से यह भी स्पष्ट हो गया कि ईश्वर की अपेक्षा वेद का अधिक महत्त्व है और इसी लिए यह सिद्धान्त निर्धारित हो गया कि ईश्वर विरोधी, किन्तु वेद अविरोधी आस्तिक; और वेद विरोधी, किन्तु ईश्वर अविरोधी नास्तिक है ।

योग

ईश्वर का लक्षण करते हुए पतंजलि के 'योगसूत्र' में कहा गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है । वह अनादि, मुक्त और ऐश्वर्यशाली है । निर्माण की इच्छा के लिए ज्ञानसंपन्न होकर वह प्राणियों पर अनुग्रह करता है । उसका वाचक प्रणव (ओ३म्) है । ईश्वरप्रणिधान, अर्थात् भक्तिविशेष के द्वारा ईश्वर की परम कृपाओं को प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार सांख्य में जो स्थान विवेक को दिया गया है वही स्थान योग में ईश्वर का है ।

वेदान्त

वेदान्त दर्शन मे वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है । उन्हे नित्य और अपौरुषेय माना गया है, किन्तु मीमासा की अपौरुषेयता से भिन्न । वेदान्तियो की दृष्टि से पौरुषेय उसको कहते है, जो किसी पुरुष के द्वारा दूसरे प्रमाणों की सहायता से बताया जाता है । इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत नही है, बल्कि ईश्वर द्वारा उच्चरित एवं निश्वसित है । वे कल्पान्त में भी स्थायी एवं एकरूप मे बने रहते है । उनके वाक्यार्थ ज्ञान के लिए वेदान्त मे 'उपक्रम' आदि छह साधन बताये गये है ।

मीमांसा

मीमासा दर्शन मे नित्य, अपौरुषेय और स्वत प्रमाण वेदो पर गभीर एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया गया है । उसको इसी लिए वैदिक दर्शन कहा गया है । उसमे वेदो के सनातन, अनादि, अनन्त रूप पर संदेह करने वाले अन्य दर्शनों का युक्ति-पूर्वक खण्डन किया गया है । उसको ईश्वर अथवा परमेश्वर की क्रिया या रचना कहना असंगत है । अन्य दर्शनो, विशेष रूप से न्याय दर्शन, मे वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिए जिस अनुमान का पहले उल्लेख किया जा चुका है, मीमासा मे उसको उपाधिग्रस्त (दोष-ग्रस्त) कहकर उसका खण्डन किया गया है ।

जिन विचारको ने वेदो को सादि, ऋषिप्रणीत कहा है उनके अनुसार अन्य सांसारिक वस्तुओ की भाँति वेदों को भी प्रलयकाल मे विनष्ट होने वाला माना गया है । इसके अतिरिक्त वेदो के अनेक सूक्तो तथा ऋचाओ को, उनमे आये ऋषियो के नामों के आधार पर, ऋषियों की रचनाएँ माना गया है । उनमे ऐसे

व्यक्तियों के नाम भी आये है, जो ऐतिहासिक है । विपक्षियो का कहना है कि इसी लिए वेदो को अनित्य कहा जाना चाहिए और इसी हेतु वे अपौरुषेय भी नही है ।

इन विरोधी मतो के खण्डनार्थ मीमासा दर्शन मे विस्तार से विचार किया गया है । वहाँ माना गया है कि वेद तो भगवान् के विश्वास है (**यस्य निःश्वसितं वेदाः**) । प्राणिमात्र मे जैसे श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनायास एवं स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही उस महाभूत के मुख से वेदों का निर्गमन हुआ । वे सदा नित्य और सत्य है । जिन ऋषियो का उन-उन मंत्रो मे नाम आया है वे ऋषि उन-उन मंत्रों तथा सूक्तो के रचयिता न होकर प्रवक्ता एव प्रवचनकार थे । उन्हे जो ऋषिप्रणीत कहा गया है वह हमारे दृष्टिकोण का परिणाम है । शुद्ध बुद्धि मे चिन्तन करने पर यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि सत्यप्रकृति ऋषियो के शुद्ध अन्त करण मे पुराकल्प के अनुभूत सत्यो का प्रकट होना कोई नयी बात नही थी । उनके वे अनुभव, जो कि वेदमंत्रो मे देखने को मिलते है, अनादि है । इसलिए यह कहना कि उन्होने अपनी ज्ञानमेधा से वेदमंत्रो का निर्माण किया या उनमे अपनी ओर से कुछ जोड दिया, उचित नही है ।

अपौरुषेय होने से वेद निष्कलुष एव निर्दोष है । पुरुष सदोष और सकलुष है । इसलिए उनके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य सदोष होगा । शिष्य-परम्परा के द्वारा वेदो का अध्ययन-अध्यापन होता आया । योग दर्शन मे इसी लिए वेद को गुरुओ का भी गुरु कहा गया है ।

वेद अभ्रांतिमूलक है और जहाँ पर कर्मकाण्ड का फल ठीक नही दिखायी देता वहाँ वेद का नही, बल्कि ऋत्विक् क्रिया आदि का दोष समझना चाहिए । अतः वेद अनादि, अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण है ।

जैमिनि के 'मीमासासूत्र' के तीसरे अध्याय मे वेदो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए श्रुति आदि प्रमाणो की योजना बतायी गयी है । उनके नाम है : श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या । इनमे पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व को प्रबल माना गया है ।

'श्रुति' उस वाक्य को कहते हैं जो किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा नही रखता । शब्दो मे अर्थ-प्रकाशन की शक्ति को 'लिंग' कहते है । दूसरे योग्यपद की अपेक्षा रखने वाले पदसमूह को 'वाक्य' कहते है । उस प्रधान वाक्य को 'प्रकरण' कहते है, जो अंगभूत दूसरे गौण वाक्य की अपेक्षा नही रखता । क्रम पठित शब्द के साथ क्रम पठित अर्थ के संबंध को 'स्थान' कहते है । इसी प्रकार संचार-सादृश्य को 'समाख्या' कहते है ।

कर्मकाण्ड के वाक्यार्थ-निर्णय के लिए ही जैमिनि ने धर्म-जिज्ञासुओं के लिए पूर्व मीमांसा दर्शन का निर्माण किया है। धर्म-जिज्ञासा ऐसी वस्तु है जहाँ प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए अनुभव का आश्रय नही लिया जाता; बल्कि वहाँ श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन्ही को प्रमाण माना गया है। मीमांसा मे इन छह प्रमाणो पर विस्तार एवं बारीकी से विचार किया गया है।

५. अर्थापत्ति

किसी श्रुत या दृष्ट विषय की सिद्धि जिस अर्थ के बिना नही होती उसे 'अर्थापत्ति' कहते है। अर्थात् जब कोई घटना ऐसी देखने को मिलती है, जिसका निश्चय हम किसी दूसरे विषय को देखे बिना नही कर पाते, ऐसी संभावना या कल्पना को अर्थापत्ति के अन्तर्गत माना गया है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त दिन मे कुछ नही खाता, फिर भी मोटा है', इस वाक्य मे 'कुछ न खाना' और 'मोटा दिखायी देना' इन दोनो वाक्यो मे विरोधाभास है। इस विरोधाभास का हम ऐसी कल्पना करके समाधान करते है कि 'देवदत्त रात को भोजन करता है, इसलिए मोटा है'। हमारा यही अनुमान या कल्पना 'अर्थापत्ति' का मूलाधार है। इसलिए यह सिद्ध है कि अर्थापत्ति मे दृष्ट अर्थ की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार की कल्पना के द्वारा उन सभी विरुद्ध कोटिक वस्तुओ का समन्वय तथा समाधान हो जाता है।

प्रभाकर का कहना है कि केवल दृष्ट और श्रुत से ही 'अर्थापत्ति' का संबध नही है, बल्कि किसी भी उत्पत्ति के लिए 'अर्थापत्ति' का आश्रय लिया जा सकता है।

अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण है। इसके द्वारा हमे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको न तो प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से उपलब्ध किया जा सकता है। इसी लिए मीमासको को 'अर्थापत्ति' नामक स्वतंत्र प्रमाण की आवश्यकता हुई।

अर्थापत्ति से भेद

अर्थापत्ति के दो भेद किये गये है. दृष्टार्थ और श्रुतार्थ। दृष्टार्थ का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। श्रुतार्थ वह है, जैसे 'सुनने मे आता है कि देवदत्त, जो जीवित है, घर पर नही है'। इसमे यह अनुमान होता है कि वह दूसरे किसी स्थान पर है, अन्यथा जीवित होने पर भी उसका घर पर न रहना, इन दोनो विरुद्ध कोटिक अर्थों मे समन्वय स्थापित नही हो सकता है।

६. अनुपलब्धि या अभाव

अनुपलब्धि या अभाव को भी मीमासा मे स्वतंत्र प्रमाण मान गया है। प्रत्यक्ष आदि जितने भी प्रमाण बताये गये है उनके द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान

नही होता तब हमें 'अनुपलब्धि' का आश्रय लेना पडता है। वस्तु के अभाव का ज्ञान 'अनुपलब्धि' प्रमाण से ही होता है।

यद्यपि कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' मे 'अभाव' को पदार्थों की श्रेणी मे नही रखा गया है, किन्तु बाद के वैशेषिको ने 'अभाव' को 'भाव' का प्रतियोगी मान कर स्वीकार किया है। न्याय दर्शन मे भी इसको इसी रूप मे स्वीकार किया गया है।

मीमांसको ने भी यद्यपि 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' को स्वतंत्र प्रमाण माना है, किन्तु उसको उतनी गंभीरता मे नही समझा सका, जितना कि अन्य प्रमाणो के विषय मे कहा है। आचार्य प्रभाकर तो उसको इसी लिए स्वीकार नही करते हैं, क्योकि उसकी कोई आवश्यकता हो नही। उसको उन्होंने 'अधिकरण' के रूप मे माना है।

'अनुपलब्धि' को प्रमाण मानने की प्रेरणा मीमासको को वैशेषिक दर्शन मे मिली। अत इस प्रमाण और इसके प्रभेदो के लिए वैशेषिक दर्शन का 'अभाव' प्रमाण देखना चाहिए।

प्रामाण्य विचार

ऊपर प्रमाणो पर विचार किया गया है। प्रमाणो के भाव अर्थात् धर्मविशेष को 'प्रामाण्य' कहते है। यथार्थ ज्ञान के प्रमात्व को 'प्रामाण्य' कहते है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो भ्राति तथा संशय से रहित, निश्चयात्मक या यथार्थ अनुभव मे विद्यमान धर्मविशेष को 'प्रामाण्य' कहते है। जो पदार्थ जिस रूप मे अवभासित या अवस्थित है वह अव्यभिचरित होना चाहिए और उसकी वास्तविकता उसके अवभास से अलग नही होनी चाहिए।

इस प्रामाण्यवाद को लेकर दर्शनो मे अनेक तरह के सिद्धान्त स्थिर किये गये है। 'स्वत.' और 'परत' प्रामाण्य को लेकर विभिन्न दर्शन सप्रदायो मे जो मतभेद रहा है उसका आशय इस श्लोक मे समझाया गया है:

प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परत· सौगताश्चरमं स्वतः ॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

अर्थात् साख्यकारो की दृष्टि से प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व, दोनो की उत्पत्ति स्वत से, नैयायिको की दृष्टि में परत से, बौद्धो के मत मे अप्रामाण्य का जन्म स्वत तथा प्रामाण्य का परत से, और मीमासको के मत मे प्रामाण्य का जन्म

स्वत तथा अप्रामाण्य का परतः से है । इसका यह आशय हुआ कि (१) प्रामाण्य स्वत. उत्पन्न होता है, या (२) वह अपने आश्रय ज्ञान से उत्पन्न होता है; अथवा (३) वह ज्ञान की कारण सामग्री से उत्पन्न होता है, किंवा (४) ज्ञान के जितने साधारण कारण है उनसे उत्पन्न विशेष ज्ञान मे प्रामाण्य निहित रहता है ।

प्रामाण्यवाद को लेकर नैयायिको और मीमासको मे बडा मतभेद रहा है । नैयायिक 'परत प्रामाण्य' को और मीमासक 'स्वत प्रामाण्य' को मानते है । एक जनक कारण विषयक और दूसरा ज्ञापक कारण विषयक है । 'जनक कारण' उसको कहते है, जिससे कार्य उत्पन्न होता है, और 'ज्ञापक कारण' वह है, जिससे कार्य का ज्ञान प्राप्त होता है ।

प्रामाण्य का कारण 'स्व' है या 'पर' इस प्रकार का जो सशय या द्विविधा है उसी का समाधान तथा स्पष्टीकरण प्रामाण्यवाद की आधारभूमि है । 'स्व' शब्द से प्रामाण्य, प्रामाण्य का आश्रयज्ञान तथा ज्ञानकारण की सामग्री का ग्रहण किया जाता है, और 'पर' शब्द से इन तीनो से भिन्न का आशय ग्रहण किया जाता है ।

यहाँ हम अन्य दर्शनो के मन्तव्यो को छोडकर केवल मीमासकों और नैयायिको के प्रामाण्यवाद पर ही विचार करेंगे ।

परतः प्रामाण्यवाद का खण्डन

नैयायिक परत प्रामाण्यवादी है । उनके मतानुसार प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिता के लिए अतिरिक्त कारणो का होना आवश्यक है । नैयायिको का कहना है कि जब एक ज्ञान व्यक्ति अपने विषय का प्रामाण्य व्यक्त करता हो, जैसे 'यह पुस्तक है', या दूसरा ज्ञान व्यक्ति अपने विषय का अप्रामाण्य प्रकट कर रहा है, जैसे 'शुक्ति मे रजत है', तो व्यक्ति भेद से यह मूलभेद यद्यपि संभव है, किन्तु उसमे अनवस्था उत्पन्न होती है । क्योंकि जब एक ज्ञान व्यक्ति से 'पुस्तक' ज्ञान मे प्रामाण्य प्रतिपादित है तो स्वनिष्ठ (स्वत.) होने के कारण उसमे अप्रामाण्य क्यो नही रह सकेगा ? ऐसी अवस्था मे किस ज्ञान मे प्रामाण्य और किसमे अप्रामाण्य माना जायगा ? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ये दोनो स्वाभाविक नही है । इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि परत· प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य तर्कसंगत है ।

मीमासकों का कहना है कि यदि प्रामाण्य मे परतः माना जायगा तो ज्ञान अपनी सत्ता को प्राप्त न कर पायेगा और उसका मूल तक उच्छिन्न हो जायगा ।

नैयायिकों के अतिरिक्त कारणों (नेत्र की निर्विकारता) को मीमासक कारण सामग्री का ही अंग मानते है । नैयायिकों का यह भी कहना है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा निश्चित होता है । इसके विरोध मे मीमासको का कहना है कि ऐसा कहने मे अनवस्था दोष आ जायगा और कोई भी प्रामाण्य निश्चित न हो पायेगा । उदाहरण के लिए बाघ या शेर देखकर यदि हम उनका प्रमाण सिद्ध करने के लिए दूसरे उपायो (प्रमाणो) का आश्रय लेगे तो निश्चित ही जीवन गवॉं बैठेगे । किन्तु वास्तविकता यह है कि बाघ या सिंह को देखते ही, बिना प्रमाणों की खोज किये ही हम वहाँ से भाग जाते है ।

इसलिए, मीमासको के अनुसार, नित्य अपौरुषेय वेद स्वत प्रमाण है । उनका प्रमाण स्वत सिद्ध है, किसी अनुमान पर निर्भर नही है । वेदार्थ को समझने के लिए मन के संशयो को तर्क के द्वारा परिमार्जित करने का उद्देश्य दूसरा है । इससे तो वेदार्थ की सत्यता ही सिद्ध होती है ।

स्वतः प्रामाण्यवाद

मीमासको के मतानुसार नित्य एवं अपौरुषेय वेदो का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया जा चुका है । वेद उनकी दृष्टि से स्वत प्रमाण है । जिसको 'शब्द प्रमाण' या 'आगम' कहा गया है, मीमासकों की दृष्टि से वही वेद एकमात्र प्रमाण है । व्यावहारिक दृष्टि से, मीमासको का अभिमत है कि, जन सामान्य अपनी आँखो द्वारा दूर ही से जल को देखकर 'इस स्थान पर जल है' इस यथार्थ ज्ञान का निश्चय करके वहां जल लाने के लिए जाता है । प्रभाकर और कुमारिल का कहना है कि 'ज्ञान' और 'मिथ्या' ये दोनों बातें एक साथ नही रह सकती है ।

आचार्य प्रभाकर ज्ञान को 'स्वत प्रमाण' और 'स्व प्रकाश' मानते हैं । उनका कथन है कि स्व प्रकाश होने से ज्ञान का स्वत प्रमाण भी अपने आप सिद्ध हा जाता है । ज्ञान, क्योंकि यथार्थ होता है, अत उसके प्रामाण्य के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा होती ही नही । यही 'स्वतः प्रमाण्यवाद' है ।

आचार्य कुमारिल का अभिमत है कि बिना ज्ञान के ज्ञातता की कोई स्थिति नही है । उदाहरण के लिए जब आँखे घट को नही देखती है तभी यह कहा जाता है **'अय घट.'** । दूसरे भाट्ट मीमासक इससे बढकर यह तर्क उपस्थित करते है 'मुझसे यह घट देखा गया' (**मया ज्ञातो अय घटः**) । इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि 'घट ज्ञान' के पहले 'घट' को जानना आवश्यक है । यही भाट्ट मीमासको का 'स्वतः प्रमाण' है ।

तीसरे मीमासक मुरारि मिश्र के मत से, इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न

'घट ज्ञान' अनुव्यवसाय होता है । इसी अनुव्यवसाय के द्वारा 'घट ज्ञान' का मान तथा प्रामाण्य सिद्ध होता है । यही मुरारि मिश्र का 'स्वत प्रमाण' है ।

मीमासको के स्वतः प्रमाण के ज्ञातव्य सूत्र है :

(१) ज्ञान की प्रामाणिकता (प्रामाण्य), उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री मे ही विद्यमान रहती है, कही बाहर से नही आती ।

(२) ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है ।

भ्रान्तिज्ञान

प्रभाकर के मत से

प्रभाकर के मत से 'भ्राति' और 'ज्ञान' के दोनो शब्द परस्पर विरोधी है । वस्तु की अन्यथा भ्राति और वस्तु की यथार्थ जानकारी ज्ञान है । सीपि मे रजत का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नही, भ्रमज्ञान है । यह ज्ञान दृष्टिदोष के कारण है । यह न तो 'प्रत्यक्ष' और न 'अनुमान' के अन्तर्गत आता है । जो लोग यह कहते है कि सीपि, चक्षु का विषय है और चक्षु आत्मा से सम्बन्धित है तथा संस्काररूप में विद्यमान रजत मन का विषय होने के कारण उन दोनो का ज्ञान भिन्न है और इसलिए यथार्थ है, उन लोगो के लिए प्रभाकर का कथन है कि सीपि और रजत दोनो अलग-अलग वस्तुएँ है । उनको एक रूप मे जान लेना ही तो भ्राति का कारण है ।

कुमारिल के मत से

कुमारिल भट्ट इस मिथ्या ज्ञान को 'अन्यथाख्याति' के नाम से कहते हैं । उनका कहना है कि जिस समय कोई व्यक्ति रज्जु मे सर्प का ज्ञान करता है उस समय उसका वह ज्ञान सच्चा होता है, क्योकि सर्प को देखकर जो भय तथा कम्पन होता है उसको वह व्यक्ति अनुभव करता है । बाद मे भले ही वह व्यक्ति अपने इस मिथ्याज्ञान को भ्रम समझ ले, किन्तु पहले तो उसमे भ्रम की कोई आशका थी ही नही ।

पक्षधर के मत से

आचार्य पक्षधर मिश्र और उनके उत्तरवर्ती मीमासको ने इस सर्प-रज्जु-ज्ञान को भ्रान्तिज्ञान कहा है । उनका कहना है कि सर्पत्व तो सदैव सर्प मे रहता है, रज्जु मे नही । रज्जु मे जो सर्प का 'आरोप' किया जाता है वही अयथार्थ ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान है ।

तत्त्व विचार

पदार्थ

मीमांसा में न्याय और वैशेषिक की भाँति जगत् और जगत् के कारणभूत पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ये पदार्थ प्रभाकरमत, भाट्टमत, मुरारिमत से भिन्न-भिन्न है, जिसका स्वरूप नीचे स्पष्ट किया जाता है।

गुरुमत

'मीमांसासूत्र' के 'शाबरभाष्य' में द्रव्य, गुण, कर्म और अवयव, इन चारो का उल्लेख किया गया है। आचार्य प्रभाकर ने 'प्रकरण पञ्चिका' में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, सख्या, शक्ति और सादृश्य, इन आठ पदार्थों को माना है। प्रभाकर ने नौ प्रकार के द्रव्य माने है, जिनके नाम है क्षिति, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन और दिक्। इन द्रव्यो का स्वरूप प्राय न्याय-वैशेषिक के अनुसार है। प्रभाकर के मत मे गुणों की संख्या इक्कीस है। वे वैशेषिक के सख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष, इन चारो के स्थान पर 'वेग' नामक एक ही गुण को मानते है। शेष बीस गुण वैशेषिक के अनुसार है। कर्म प्रत्यक्ष गोचर न होकर अनुमेय है। वस्तु के सयोग और विभाग के द्वारा कर्म का अनुमान लगाया जा सकता है। सामान्य, समवाय और सादृश्य का स्वरूप वैशेषिक की भाँति है। नैयायिको के अभाव और गुण क्रमश शक्ति और सादृश्य है। फिर भी 'शक्ति' पदार्थ को प्रभाकर की विशिष्ट सूझ कहा जा सकता है। अग्नि मे रहने वाली दाहकता, अग्नि की शक्ति है जिसके अभाव मे अग्नि का कोई अस्तित्व नही है। प्रभाकर के मत से सभी क्रियाशील पदार्थों के मूल मे रहने के कारण 'संख्या' भी एक भिन्न पदार्थ है।

कुमारिलमत

कुमारिल के मत से पदार्थ की प्रमुख दो श्रेणियाँ है : भाव और अभाव। भाव पदार्थ के चार अवान्तर भेद है : द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य। इसी प्रकार अभाव भी चार प्रकार है : प्राग् अभाव, अत्यन्त अभाव, ध्वस अभाव और अन्योन्य अभाव। पुन भाव पदार्थ द्रव्य के ग्यारह भेद हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, अन्धकार तथा शब्द।

मुरारिमत से अंधकार और आकाश को भी स्वतंत्र द्रव्य माना गया है क्योंकि उन्होंने 'अंधकार' को चलते हुए तथा नील गुण से युक्त देखा और लोक व्यवहार मे 'नीलं तमश्चलति' इस उक्ति का प्रचलन सुना है। इसी प्रकार आकाश

भी स्वतंत्र द्रव्य है। इन दोनो का ज्ञान, चक्षुओ से होता है। भाट्टमत मे आत्मा और मन, दोनो विभु है। वहाँ गुणों की सख्या तेरह मानी गयी है : रूप, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह। कर्म उनकी दृष्टि मे प्रत्यक्षगोचर है।

मुरारिमत

मुरारिमत मे एकमेव पदार्थ माना गया है 'ब्रह्म'। इस एक पदार्थ को मानने के कारण परवर्ती मीमासको ने मीमासा दर्शन को 'ब्रह्म मीमासा' के नाम से कहा है। लोक-व्यवहार के सचालन के लिए मुरारिमत मे चार प्रकार के पदार्थ माने गये है : धर्म (घट), धर्मि (घटत्व), आधार (अनियत आश्रय) और प्रदेशविशेष (दैशिक आधार)।

जगत् और जागतिक विषयों की सत्यता

जगत् और जागतिक विषयो के सम्बन्ध मे मीमासा दर्शन का सिद्धान्त सर्वथा निजी है। मीमासा का मत है कि वाह्य वस्तुओ की उपलब्धि के साधन हमारी इन्द्रियो द्वारा जिस रूप मे जगत् का प्रत्यक्ष होता है उसी रूप मे जगत् की सत्यता सिद्ध है। सृष्टि-रचना के सम्बन्ध मे मीमासा का साख्य से लगभग एकमत है। मीमासाकारो ने आत्मा तथा परमाणु को नित्य माना है और सृष्टि-रचना के मूल के कर्मो के संचय को कारणस्वरूप स्वीकार किया है। मीमासा के मत से इस जगत् मे तीन प्रकार की वस्तुओ का हमे ज्ञान होता है : (१) इस भोगायतन शरीर मे आत्मा अपने संचित पूर्वकर्मो का फलोपभोग करता है, (२) ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय आत्मा के सुख-दुःखो के फलोपभोग के साधन है, और (३) जितने भी वाह्य पदार्थ है वे आत्मा के भोग के विषय है। भोगायतन, भोगसाधन और भोगविषय यह नानारूप ससार आदि तथा अनन्त है। साख्य के विपरीत मीमासक प्रलय को नही मानते, बल्कि उनकी दृष्टि मे जगत् की सत्ता नित्य है। जीवात्माओ के उपभोग के लिए परमाणु स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होते रहते है। कर्मो के फलोन्मुख होने पर अणु सयोग से जीव उत्पन्न होते है और फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है। हमारे नेत्र-गोचर कण ही परमाणु है। उनसे सूक्ष्म कणो की कल्पना का कोई आधार नही है। इसलिए जगत् और परमाणु अनुमानगम्य न होकर प्रत्यक्षगम्य है। वे ईश्वर के द्वारा भी संचालित नही होते। इस दृष्टि से मीमासा वस्तुवादी दर्शन है।

शक्ति

कार्य-कारण के सम्बन्ध मे मीमांसा का नवीन दृष्टिकोण है। संसार के सभी

पदार्थों की उत्पत्ति के मूल मे एक अदृष्ट शक्ति है, जो कि अतीन्द्रिय होने के कारण अनुभवगम्य है। यह अदृष्टि शक्ति कारणरूप है। जितने भी कार्यरूप जागतिक पदार्थ है उनके मूल मे यह कारणरूप अदृष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। इस शक्ति के नष्ट हो जाने पर कार्य को उत्पत्ति भी बंद हो जाती है। बीज मे एक अदृष्ट शक्ति है, जिससे उसमे अकुर उगता है, किन्तु उस अदृष्ट शक्ति के नष्ट हो जाने पर अंकुर नही उग सकता। कारणरूप इस अदृष्ट शक्ति के बिना कार्यरूप पदार्थ की उत्पत्ति सभव है ही नही। संसार के सभी वाह्य पदार्थ इस अदृष्ट शक्ति के कारण सत्तावान् है। अग्नि मे दाहकता शक्ति, शब्द मे अर्थबोधक शक्ति और प्रकाश मे दीप्ति शक्ति विद्यमान है। तभी अग्नि, शब्द और प्रकाश की सत्ता है।

कर्म और कर्मफल के व्यवधान को जाडने के लिए मीमासा मे जिस 'अपूर्व' को स्थापना की गयी है, वह अदृष्ट शक्ति का ही एक रूप है। यह अदृष्ट शक्ति न केवल पदार्थों की वर्तमानकालिक उत्पत्ति का कारण ह, अपितु वह त्रिकालव्यापी है। जीव के भूतकालिक कर्मों का फल वर्तमान काल मे, वर्तमानकालिक कर्मों का फल भविष्य मे फलित होने का कारण भी यह अदृष्ट है। वर्तमान मे किये गय कर्मों और कालान्तर मे होने वाली फलोत्पत्ति के बीच यह 'अपूर्व' शक्ति एक सूत्र का ःकार्य करती है। इस अदृष्ट शक्ति मे ही मीमासा मे 'अपूर्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जिसस हमारे द्वारा किये गये इस जीवन के यज्ञादि शुभकर्मों और पापादि दुष्कर्मा का परिणाम हमारे पारलौकिक जीवन म घटित होता है। कर्मों का संचय ही 'अपूर्व' है, जो कि अदृष्ट शक्ति के द्वारा जन्मान्तर मे फलित होता है। इसी के आधार पर स्वर्ग, नरक की सत्यता सिद्ध होती है।

आत्मा

मीमासा वस्तुवादी दर्शन है, अर्थात् उसमे जगत्, जागतिक विषय, परमाणु और आत्मा को नित्य माना गया है। आत्मा नित्य है। शरीर, इन्द्रिय आदि से वह भिन्न है। श्रुति मे कहा गया है कि '**यजमानः स्वर्ग लोक याति**' यजमान यज्ञ करने के बाद स्वर्ग को जाता है। वस्तुतः यजमान का शरीर तो यही दग्ध हो जाता है। इसलिए शरीर स्वर्ग नही जाता। स्वर्ग जो जाता है वही आत्मा या जीवात्मा है। जीव के नष्ट हो जाने पर, जीव के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का सचय जीवात्मा या आत्मा मे होता है। उन्ही कर्मो को लेकर आत्मा, जीव के पुनर्जन्म मे पुनः जीव के साथ संयुक्त होकर उसे पूर्वाजित कर्मों के फलोपभोग मे प्रवृत्त

करता है। नित्य होने से वह जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त है। वह कर्ता और भोक्ता भी है। वह विभु है, क्योंकि 'अहं' भाव के रूप मे वह सर्वत्र विद्यमान है और 'अह' प्रत्यक्षगम्य है। अत वह ज्ञाता और ज्ञेय, दोनो है।

जैन दर्शन की भाँति मीमासा भी जीवात्मवादी दर्शन है। उसके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरो मे भिन्न-भिन्न आत्माओ का निवास है। चैतन्य, आत्मा का औपाधिक गुण है। यह गुण इन्द्रियो और विषयो के संयोग से उसमे आता है। जब जीव मोक्षावस्था या सुषुप्तावस्था मे होता है तब आत्मा मे ये औपाधिक गुण नही होते। इसलिए आत्मा जड है और जड होने से बोधस्वरूप है।

आत्मा का ज्ञान

ज्ञान के सम्बन्ध मे प्रभाकर और भाट्ट मीमासकों मे मतभेद है। मीमासको का कथन है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश भी है और ज्ञाता तथा ज्ञेय का प्रकाश भी है। उदाहरण के लिए 'मै' ज्ञाता, 'घट' ज्ञेय और 'घटविषयक जानकारी' ज्ञान, विषय के ये तीनों अग एक साथ जाने जाते है। यह ज्ञान का ज्ञान भी है और साथ-साथ ज्ञाता तथा ज्ञेय का भी ज्ञान है। इसको 'त्रिपुटी ज्ञान' कहा गया है।

प्रभाकर मीमासकों का कहना है कि प्रत्येक वस्तुज्ञान मे उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान भी कर्ता के रूप मे प्रकाशित होता है। 'मै घडे को जानता हूँ' यहाँ क्रिया के कर्ता के रूप मे आत्मा ही आलोकित है। प्रभाकर का कथन है कि जीव (भोक्ता), शरीर (भोगायतन), इन्द्रिय (भोगसाधन), सुख-दु खादि (भोग्य) और ज्ञाता (मै) इन, पाँचो के रहने पर ही ज्ञान होता है।

इसके विपरीत भाट्ट मीमासको का कथन है कि ज्ञान, अपना विषय स्वयं उसी प्रकार नही हो सकता जसा अगुलि का अग्रभाग स्वयं अपने को स्पर्श नही कर सकता है। इसलिए ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नही, बल्कि अनुमानगम्य है।

भाट्ट मीमासकों का कहना है कि हमे आत्मा का ज्ञान 'अह वित्ति' (मै हू) या 'आत्मसवित्ति' (मै जानता हूं) के आधार पर होता है, प्रत्येक विषयज्ञान के साथ नही। 'मै अपने को जानता हूं' इस ज्ञान मे आत्मा, ज्ञान का कर्ता और ज्ञान का कर्म दोनो है। 'मै हूँ' का जो विषय है वही आत्मा है। आत्म-ज्ञान, विषयज्ञान का नित्य सहचर नही, बल्कि दोनों अलग-अलग है।

इसके विपरीत प्रभाकर मीमासकों का कथन है कि 'अहं वित्ति' का आधार उचित नही है। एक ही क्रिया मे एक ही वस्तु कर्ता और कर्म, दोनो नही हो सकती है। एक ही आत्मा को ज्ञाता और ज्ञेय, दोनो नही माना जा सकता है; क्योकि एक ही अन्न भोक्ता तथा भोज्य नही हो सकता है।

प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता

प्रायः सभी मीमासक भिन्न-भिन्न शरीरो में भिन्न-भिन्न आत्माओ का निवास मानते हैं। उदाहरण के लिए यदि ऐसा न होता है तो देवदत्त का देखी हुई वस्तु का ज्ञान यज्ञदत्त को भी बिना देखे हो जाना चाहिए, क्योंकि दोनो के शरीर मे एक ही आत्मा है। किन्तु ऐसा होता नही है। इसलिए आत्मा एक है, विभु है, नित्य है, और प्रति शरीर वह भिन्न-भिन्न है। इसी लिए उसको नानारूप कहा गया है।

यदि हम प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता (अनेकता नही) नही स्वीकार करते है तो देवदत्त की आत्मा द्वारा किये गये कर्मों का फल यज्ञदत्त को भी मिलना चाहिए, क्योंकि दोनो मे एक ही आत्मा है। अतः कर्म और कर्मफल की व्यवस्था के लिए, जो कि मीमासा का मुख्य विषय है, प्रति शरीर आत्मा की भिन्नता स्वीकार करनी ही पडेगी।

शरीर से आत्मा भिन्न है। जिस प्रकार शरीर से शरीर उत्पन्न होता है उस प्रकार आत्मा से आत्मा की उत्पत्ति नही होती। वह उत्पत्ति-विनाश आदि धर्मो से रहित है। क्योंकि नित्य है। वह 'अहम्' प्रत्यय द्वारा जाना जाता है।

धर्म विचार

धर्म का लक्षण : विशेषण : स्वरूप

मीमासा दर्शन का मुख्य विषय है धर्म का प्रतिपादन करना। विभिन्न दर्शनो मे धर्म की जो अनेक परिभाषाये स्थिर की गयी है, मीमासा मे उनका खण्डन करके धर्म की व्यापक सत्ता को सर्वोपरि रूप मे स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनि ने धर्म का लक्षण करते हुए लिखा है कि वेद के बोधित होने पर साक्षात् या फल के द्वारा, जो अनर्थ के परे एव इष्ट को सिद्ध करने वाला हो वही धर्म है। संक्षेप मे कहा जाय तो मीमासा मे विधिरूप अर्थ को धर्म कहा गया है। उसका प्रयोजन अनर्थ निवृत्ति और इष्ट साधन है। वह अलौकिक होता हुआ भी लोकानुचरण एवं लोकनुभव से लौकिक भी है।

मीमासा मे धर्म के तीन विशेषण बताये गये है : प्रयोजन, वेदबोधिता और अर्थता। उसका प्रयोजन ऊपर बताया गया है। वेदबोधित, अर्थात् विधि, अर्थवाद, मंत्र और नामधेय उसके बोधक है। अर्थता, अर्थात् उसका अनर्थो के साथ सबंध नही है। उदाहरण के लिए किसी की हत्या कर देने के बाद धर्म मे ऐसा नही बताया गया है कि अमुक अनुष्ठान से उसकी शुद्धि हो जाती है। अनर्थ का आशय हिंसा

से है। यद्यपि यज्ञ में पशु को मारने का भी विधान है : किन्तु वह हिंसा न होकर यज्ञफल मे परिगणित है।

धर्म के प्रमाण

महर्षि जैमिनि ने धर्म का स्वरूप समझाने के बाद उसके सत्यासत्य के लिए प्रमाणों द्वारा उसकी परीक्षा भी की है। ऐसा इसलिए किया कि उसको अन्यथा न समझा जाय।

धर्म, क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है, अत. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसके प्रमाणों का स्वरूप सर्वथा निजा है। उसके आठ प्रमाण माने गये है, जिनके नाम है : विधि, अर्थवाद, मत्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य। ये आठो वेद के ही भाग है। अतः मीमांसा मे धर्म की सिद्धि के लिए वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

धर्म का स्वरूप

धर्म क्या है ? जिससे जन्म-जन्मान्तर मे इच्छित कार्यों की उपलब्धि और नानाविध दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति के अनन्तर परमानन्द की प्राप्ति होती है वही धर्म है। धर्मज्ञान के लिए विधि का जानना आवश्यक है। इसलिए वैदिक विधि-वाक्यो का निरूपण ही धर्म है। मीमासा की दृष्टि से वेद नित्य, शाश्वत तथा अन्तिम प्रमाण है और वैदिक विधियाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जीवन को सर्वोपरि निधियाँ है। उनके अनुसार आचरण करने का नाम 'कर्तव्यता' है और इसी कर्तव्यता के द्वारा हमे अकर्तव्यता का भी स्वतः ज्ञान हो जाता है। कर्तव्यता का अनुसरण और अकर्तव्यता का परित्याग ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है, जिसको वेद या वैदिक विधिवाक्यो से जाना जा सकता है।

कर्तव्यता

वैदिक विधिवाक्यो के अनुसार आचरण करना ही 'कर्तव्यता' है। समस्त मानवता के कर्तव्यो और अनुशासनो का निरूपण वैदिक विधियो मे निहित है। किसके लिए क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य है, और क्या सभोग्य है, क्या परिहार्य है, ये सभी बाते कर्तव्यता के अन्तर्गत आती है।

यद्यपि वेदो मे विभिन्न देवताओ और अन्य अनेक प्रकार के रहस्यो का वर्णन है, किन्तु मीमासा दर्शन मे उनको गौण तथा वैदिक प्रक्रियाओ अर्थात् कर्मकाण्ड को, प्रमुख माना गया है। मीमासा मे वेद के कर्मभाग का विवेचन है। वैदिक विधियों के अनुसार उन कर्मों का पालन करना ही कर्तव्यता है। इन कर्मों का पालन करना

हमारा इसलिए धर्म है कि उन्ही के कारण हमारा कल्याण होता है । ये कर्म तीन प्रकार के है : काम्य, प्रतिसिद्ध और नैमित्तिक । स्वर्गप्राप्ति की कामना से किये गये कर्म काम्य, अनर्थकारी कार्यों का परित्याग प्रतिसिद्ध, और संध्या-वन्दनादि, श्राद्ध-हवनादि अहेतुक कार्यों का नियमित रूप के करते रहना नैमित्तिक कर्म कहलाते है ।

स्वर्ग : मोक्ष

उक्त तीन प्रकार के कर्मों का फल होता है स्वर्गप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति । मीमांसा मे कहा गया है कि स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिए (**स्वर्गकामो यजेत**) । निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है । किन्तु स्वर्गप्राप्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं उन्हे सकाम कर्म कहा जाता है, क्योकि उनका उद्देश्य कामनापरक होता है और कामनायुक्त कर्मों का जो फल होता है वह अपर जन्म मे उपलब्ध होता है । इस दृष्टि से काम्य कर्मों की प्राप्ति के लिए पुन-पुन जन्म लेना पडता है । इसलिए मीमासको की एक श्रेणी स्वर्ग की अपेक्षा नि श्रेयस को श्रेष्ठ समझती है । इन मीमासको का मत है कि निष्काम भाव से कर्मों को करते रहना चाहिए । उससे नि.श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । इस दृष्टि से सकाम कर्मों की अपेक्षा निष्काम कर्म श्रेष्ठ है ।

मोक्ष क्या है ? इन जागतिक प्रपचो से आत्मा का सबध टूट जाना ही मोक्ष है (**प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः**) । आत्मा के साथ जगत् का यह प्रपंच-सम्बन्ध तीन प्रकार से है । वे है शरीर (भोगायतन), इन्द्रियाँ (भोगसाधन) और विषय (भोज्य) । इन तीनो से जकडा हुआ जीवात्मा अनादिकाल से बन्धन मे कसा हुआ दु.ख-सुख का भोग करता आ रहा है । इन्ही तीनो का आत्यन्तिक विनाश ही 'मुक्ति' है । निष्काम भाव से कर्म करने से आत्मज्ञान होता है और पूर्व जन्म के सभी सचित कर्म क्षीण होकर फिर जन्म-मृत्यु के बंधन से जीव को छुटकारा मिल जाता है । जन्म और मृत्यु शरीर, इन्द्रिय और मन, इन तीनो के कारण होते है । वे ही सुख-दु खानुभव के आश्रय है । जब आत्मा से इन तीनो का नाता टूट जाता है तब स्वभावत उसको सुख-दु.खानुभूति नही होती । आत्मा की यह बन्धनरहित अवस्था ही मुक्तावस्था है ।

ईश्वर

ईश्वर के संबंध में मीमांसा दर्शन का रहस्यमय मौन बडा ही विचित्र है । उसका ईश्वर संबंधी मतव्य स्पष्ट नही है । स्पष्ट इसलिए कि मीमांसा मे ईश्वर के अस्तित्व का न तो विरोध किया गया है और न समर्थन ही । किन्तु इसका यह

आशय नहीं है कि मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहा जाय और उसको नास्तिक दर्शन की कोटि मे रखा जाय, जैसा कि कुछ समीक्षको का मत है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानो ने यद्यपि दो-एक दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि परवर्ती मीमासको ने ईश्वर को कर्मफलों के प्रदाता के रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु अन्य ईश्वरवादी दर्शनो की भाँति मीमासा मे ईश्वर या परमात्मा का स्वतंत्र रूप से विवेचन नही किया गया है। वेद मंत्रो की प्रामाणिकता पर विश्वास करने और अनेक देवतावाद का समर्थक होने के कारण मीमासा न तो निरीश्वरवादी है और न नास्तिक ही।

जहाँ तक जन्मान्तर मे कर्मफलो के उपभोग का प्रश्न है, वादरायण ने ईश्वर को एक सचेतन सर्वोपरि सत्ता के रूप मे माना है और उसको समस्त कर्म-फलो का अधिष्ठाता स्वीकार किया है, किन्तु जैमिनी का कहना है कि यज्ञानुष्ठान से स्वतः कर्म-फलो की प्राप्ति हो जाती है। उसके लिए किसी अधिष्ठाता या माध्यम की आवश्यकता नही है।

शबर स्वामी ने भी सृष्टिकर्ता के रूप मे या कर्मफलो के प्रदाता के रूप मे ईश्वर नाम की किसी भी परमोच्च सत्ता को स्वीकार नही किया है। जहाँ तक मीमासा के प्रकाण्ड एवं प्रख्यात विद्वान् कुमारिल भट्ट के मन्तव्य का प्रश्न है, वे न तो सृष्टि मानते और न प्रलय ही। उनके मत से ईश्वर नाम की कोई सचेतन सर्वज्ञ सत्ता नही है। उन्होने 'सर्वज्ञ' का जो खण्डन किया ह उसका लक्ष्य ईश्वर ही था, क्योकि वहाँ सर्वज्ञ का जो स्वरूप बताया गया है वह ईश्वर से मिलता जुलता है।

अपने इस मन्तव्य के मूल मे कुमारिल का दूसरा उद्देश्य था। उन्होने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही किया और बुद्ध को ईश्वर के ही रूप मे मानने वाले बौद्धो का खण्डन किया है। वस्तुत कुमारिल इस विचार से ही असहमत थे कि उस परमोच्च सत्ता को ईश्वर या बुद्ध माना जाय। कुमारिल की भाँति आचार्य प्रभाकर ने भी ईश्वर के सबंध मे कुछ नही कहा है।

कुछ मीमासको के ईश्वरवादी दृष्टिकोण के सबंध मे कुमारिल का कहना है कि लोक-व्यवहारमात्र के लिए यदि ईश्वर को स्वीकार किया जाय तो कोई आपत्ति नही, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता नही है।

यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर की परम्परा के कुछ विचारको, जैसे खण्डदेव, शालिकानाथ तथा नन्दिकेश्वर आदि ने, ईश्वर की सत्ता को स्वाकार किया है, फिर भी अन्य अनेक मीमासको ने इस मत को स्वीकार नही किया।

जहाँ तक अन्य दर्शनो के परवर्ती आचार्यों पर मीमांसा दर्शन के ईश्वर संबंधी मन्तव्य के प्रभाव का प्रश्न है, ऐसा विश्वास होता है कि उनमे भी कुमारिल और प्रभाकर को ही स्वीकार किया गया है। वस्तुत· मीमांसको का ईश्वर विषयक विचार सर्वथा अपूर्व था। उसके सूत्र इस प्रकार है :

(१) इस अपूर्वता का पहला कारण तो यह था कि मीमांसा दर्शन की विचारधारा इतनी वैज्ञानिक थी कि उसके लिए ईश्वर के ऐश्वर्य की आवश्यकता ही न हुई। अन्य दर्शनो मे ईश्वर की इसलिए आवश्यकता हुई कि उनमे सृष्टि को सादि और सान्त माना गया है (साख्य को छोडकर), और सृष्टिस्वामी के रूप मे ईश्वर को माना गया है किन्तु मीमासा मे जब सृष्टि को ही अनादि तथा अनन्त माना गया है तब जगत्पिता (ईश्वर) के संबध मे मीमासको की उदासीनता अस्वाभाविक नही है।

(२) वेदान्त आदि अन्य दर्शनो मे वेदो को ईश्वर का श्वास-प्रश्वास कहा गया है। उनके मत से सनातन पुरुष (ईश्वर) मे सनातन रूप वेदो की सृष्टि हुई। किन्तु मीमासा मे सृष्टि की ही भाँति वेदो को भी अनादि कहा गया है। उनको ईश्वरकृत नही माना गया है। अत मीमासको को ईश्वर की आवश्यकता न हुई।

(३) तीसरा महत्वपूर्ण आधार कर्मफलो का है। अन्य दर्शनो मे जीव को कर्मों का भोक्ता और ईश्वर को कर्मफलो का दाता कहा गया है। किन्तु मीमासा मे कर्म को अपूर्व (अनादि) कहा गया है और कर्मो मे यह शक्ति स्वीकार की गयी है कि उनसे सीधे फल मिल जाता है। इस प्रकार मीमासा मे जब कर्म और कर्मफल के बीच किसी तीसरे माध्यम की आवश्यकता नही समझी गयी तब ईश्वर के संबध मे मीमासको का मौन रहना अस्वाभाविक नही है।

देवताओ में ईश्वरभाव नहीं

मीमासको ने यज्ञो के प्रसग मे देवताओ का अस्तित्व स्वीकार किया है और इस दृष्टि से मीमासा बहु देवतावादी दर्शन है, किन्तु उन देवताओ को वहाँ इतना भी महत्व नही दिया गया है, जितना कि ऋषियो ने उनको वेदो मे दिया है। मीमासा मे उनकी इतनी ही आवश्यकता मानी गयी है कि उनके नाम से हवि डाली जाती है। मीमासा मे यज्ञो का विधान देवताओं की संतुष्टि के लिए न होकर आत्मा की शुद्धि के लिए है। नित्य वेदो मे वर्णित होने से देवताओ को भी मीमासा मे नित्य शाश्वत माना गया है। उनमे पवित्रता, आदर्श और ऐश्वर्यादि गुणो की संपन्नता तो है, किन्तु ईश्वरभाव नहीं।

•

अद्वैत वेदान्त

* * * *

वेदान्त दर्शन

परा विद्या होने के कारण वेदान्त उत्तम अधिकारी के चिन्तन का विषय है। उत्तम अधिकारी वह है जिसका अन्त.करण ऐहिक तथा जन्मान्तर के कर्म, उपासना द्वारा शुद्ध हो चुका है। वही इस परमार्थ ज्ञान मे प्रवृत्त हो सकता है। कर्मकाण्ड मे विहित यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय आदि कर्मों से जिनका हृदय विशुद्ध है, जो योग-साधन द्वारा जितेन्द्रिय तथा विषयादिरहित हो गये है, ऐसे उत्तम मुमुक्षु पुरुषो के लिए अध्यात्म विद्या के उपदेश की इच्छा से प्रस्तुत दर्शन वेदान्त का निर्माण हुआ।

जगत्, जीव और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूपो का विवेचन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो की मीमासा करना प्रस्तुत दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। सर्व साधारण की स्थूल दृष्टि के अनुसार न्याय और वैशेषिक मे जीव, जगत् तथा परमाणु, इन तीनो तत्त्वो का विवेचन करके ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध किया गया है, वैशेषिक ने मूलरूप नित्य परमाणु के साथ ब्रह्म-सयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। साख्य ने कुछ आगे बढकर पुरुष-प्रकृति के द्वारा सृष्टि के विकास का क्रम निर्धारित किया है। साख्य के इस स्वयं-सृष्टि जगत् विषयक मत का न्याय ने यह कहकर खण्डन किया कि पुरुष, जगत् का द्रष्टा है, कर्ता नही।

वेदान्त ने साख्य के प्रकृति-पुरुष रूपी द्वैधीभाव को मिटाकर उनका समावेश एक ही परम तत्त्व ब्रह्म मे किया। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, जगत् का निमित्त भी है और उपादान भी। इसी एकीभाव के कारण ही वेदान्त को अद्वैतवादी दर्शन कहा जाता है।

इस नाना-नाम-रूपात्मक भासमान जगत् के मूल मे अधिष्ठित होकर रहने

वाले इस नित्य और निर्विकार ब्रह्म तत्त्व के स्वरूप का निरूपण भी वेदान्त में है। वेदान्त के अनुसार जगत् मे जो नाना दृश्य दिखायी दे रहे हैं, वे सब परिणामी और अनित्य है। वे बदलते रहते है; किन्तु उनका ज्ञान करने वाला या दृष्टा आत्मा सदा एकस्वरूप रहता है। ब्रह्म नित्यस्वरूप या आत्मस्वरूप है। नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञाता के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं ऐसा जानकर ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का वेदान्त समाधान कर देता है।

सृष्टि विषयक ज्ञान के लिए वेदान्त मे तीन सिद्धान्त हैं . विवर्तवाद, दृष्टिसृष्टिवाद और अवच्छेदवाद। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है। उदाहरणार्थ रस्सी को यदि हम सर्प समझें तो रस्सी सत्यवस्तु है और सर्प उसका विवर्त या उसकी भ्रातिजन्य प्रतीति। इसी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए दृष्टिसृष्टिवाद को आवश्यकता है। इसके अनुसार माया या नाना रूप मे मन की प्रवृत्ति है। मन से ही ये सृष्ट है। ये नाना नामरूप, वृत्तियो से पृथक् कोई दूसरी वस्तु नही है। इस जड चित्त के बाहर की कोई वस्तु नही है। इन वृत्तियो का शमन करना ही मोक्ष प्राप्ति है।

एक तीसरा वाद अवच्छेदवाद, उक्त दोनो वादो की कमी को पूरा करने के लिए सृष्ट हुआ, जिसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है वह एकरस या अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद या परिमिति के आरोप के कारण होती है।

वेदान्तियों का एक सम्प्रदाय उक्त तीनो वादो के स्थान पर एक ही 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' का अनुयायी है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, प्रकृति या माया के बीच अनेक प्रकार से प्रतिबिंबित होता है, जिससे नाना रूपो की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त एक पाँचवाँ 'अज्ञातवाद' है, जिसे 'प्रोढ़िवाद' भी कहते है। यह 'वाद' उक्त सृष्टिविषयक मतो को नही मानता है। उसके अनुसार जो जैसा है वह वैसा है और सब ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह शब्दातीत है। हमारे पास जो भाषा है वह द्वैत की है, उसमे भेद बुद्धि है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म यद्यपि स्वगत, सजातीय, विजातीय, इन तीनो भेदों से परे है, तथापि, व्यक्त और सगुणत्व भी उसके बाहर नही है। इस सम्बन्ध मे 'पंचदशी' मे कहा गया है कि रजोगुण की प्रवृत्ति से प्रकृति दो रूपो मे विभक्त होती है सत्त्वप्रधान और तम-प्रधान। सत्त्वप्रधान प्रकृति के भी दो रूप हैं : शुद्ध सत्त्व और अशुद्ध सत्त्व। प्रकृति के इन्ही भेदो मे प्रतिबिंबित होने के कारण ब्रह्म मे 'जीव' का स्वरूप दर्शन हुआ है।

यही कारण है कि एक ही वेदान्त विषय को लेकर निर्गुण और सगुण, दोनों सम्प्रदायो के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदायो का प्रतिपादन किया। अद्वैत रूप निर्गुण ब्रह्म के प्रधान आचार्य शंकर और सगुण, सोपाधि ब्रह्म के प्रधान आचार्य बल्लभ तथा रामानुज हुए, जिन्होने भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया।

नामकरण

वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम उत्तर मीमांसा भी है जैसा कि प्रायः सभी ग्रन्थकारो ने लिखा है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषदों की ज्ञान-भावना के आधार पर विरचित इस दर्शन का नाम वेदान्त पड़ा। 'वेद' और 'अन्त' का अर्थ हुआ उपनिषद्, क्योंकि वेद (ज्ञान) का अन्त (समाप्ति, पूर्णता, पारमिता, पराकाष्ठा) उपनिषदो का ही प्रतिपाद्य है। अतः वेदान्त का 'अन्त' शब्द पारिभाषिक है। उसको सिद्धान्त, मन्तव्य तथा तात्पर्य के रूप मे ग्रहण किया गया है। वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान ब्रह्म ज्ञान मे समाहित है, जिसका प्रतिपादन वेदान्त दर्शन मे हुआ है।

वेद (मन्त्र संहिताओं) का अन्तिम भाग होने के कारण इस दर्शन का 'वेदान्त' नामकरण नही हुआ है, बल्कि यहाँ 'वेद' शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न 'ज्ञान' का पर्यायवाची है। अन्त (मोक्ष) क्या है और उसकी उपलब्धि के साधन क्या हैं, इसका विवेचन वेदान्त दर्शन मे है।

यह अन्त, जिसको कि मोक्ष कहा गया है, लौकिक प्रतिमानो के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार अनेको नदियाँ सहस्रो मील से चलकर अन्त मे समुद्र मे समा जाती है, ठीक उसी प्रकार इस नाना रूपात्मक जगत् की विभिन्न स्थितियो या मंजिलो को लाँघकर यह व्यष्टिगत आत्मा परम सत्य विश्वात्मा या ब्रह्म मे लीन हो जाता है। देहधारी मनुष्य को इतनी दूरी पार करके उस सुन्दर लक्ष्य तक पहुँचाने के साधन ही वेदान्त दर्शन में वर्णित है।

ऊपर लौकिक प्रतिमानो के आधार पर जीवात्मा और परमात्मा की एकता का जो संकेत किया गया है उसका आधार 'मुण्डकोपनिषद्' (३।२।८) का यह श्लोक है :

> यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे
> अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
> तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
> परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

अद्वैत वेदान्त के आचार्य और उनकी कृतियाँ

अद्वैत वेदान्त की आचार्य-परम्परा का अध्ययन यदि ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाय तो उसको तीन भागो मे विभक्त किया जाना अधिक युक्तिसगत जान पडता है । पहले भाग मे शकर के पूर्ववर्ती आचार्यों, दूसरे भाग मे अकेले शकर और तीसरे भाग मे शंकर के उत्तरवर्ती आचार्यों को रखा जा सकता है ।

शंकर के पूर्ववर्ती आचार्य

भारतीय षड्दर्शनो मे वेदान्त को श्रेष्ठ एवं सम्मानित स्थान प्राप्त है । वेदान्त दर्शन के विचारको की परम्परा बहुत लम्बी है । 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन बादरायण ने किया । इनके पूर्व बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि और काश्यप आदि ऐसे विचारक हुए, जिन्होंने वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्तो पर गंभीरता से विचार किया और जिनके विचारो का सकलन बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से किया ।

बादरि

आचार्य बादरि को पूर्व मीमासा और वेदान्त, दोनों दर्शनो मे एक प्रामाणिक विचारक के रूप मे उद्धृत किया गया है । 'मीमासासूत्र' के कई स्थानों पर जैमिनि ने अपने सिद्धान्तो के समर्थन मे बादरि के विचारों को उद्धृत किया है । इसी भाँति बादनारायण ने भी अपने मत की पुष्टि के लिये बादरि के सिद्धान्तो को उद्धृत किया । मीमासा और वेदान्त दोनों दर्शनो मे सुरक्षित आचार्य बादरि के विचारो को देखकर विदित होता है कि उनका दोनों दर्शन-सम्प्रदायों पर समान अधिकार था और उनके मन्तव्य को लोकदृष्टि मे अधिक सराहा जाता था ।

उनके स्थितिकाल के बारे मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे बादरायण एवं जैमिनि से पूर्व हुए और बादरायण तथा जैमिनि के समय तक उनके विचारों की इतनी लोकविश्रुति हो चुकी थी कि उन्हे विद्वत्समाज मे भी प्रामाणिक माना जाने लगा था ।

कार्ष्णाजिनि

आचार्य कार्ष्णाजिनि, आचार्य बादरि के बाद हुए, क्योंकि उन्होने बादरि के सिद्धान्तो का समर्थन किया है । मीमासा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि ने स्व-पक्ष मण्डन और पर-पक्ष खण्डन के लिए कार्ष्णाजिनि को उद्धृत किया है । इसी प्रकार बादरायण ने भी 'ब्रह्मसूत्र' में उनको उद्धृत किया है । इस दृष्टि से ऐसा

ज्ञात होता है कि काष्र्णाजिनि ने मीमांसा और वेदान्त दोनों पर सूत्रग्रन्थ लिखे थे।

आत्रेय

आचार्य आत्रेय मुख्यतया पूर्व मीमांसा दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और उसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आत्रेय का मत है कि यज्ञ के अंगभूत उपासना की फलोपलब्धि यजमान को होती है, ऋत्विक् को नहीं। इसलिए समस्त उपासनायें यजमान को स्वयं ही सम्पादित करनी चाहिएँ। आत्रेय के इस मत का खण्डन बादरायण व्यास ने, आचार्य औडुलोमि के मत को उद्धृत करके, किया है। इसके विपरीत वेदान्ती काष्र्णाजिनि के मत का खण्डन करने के लिए जैमिनि ने आत्रेय का सिद्धान्त उद्धृत करके अपने पक्ष को पुष्ट किया है। इससे यह विदित होता है कि आत्रेय, जैमिनि और बादरायण से पूर्व हुए।

औडुलोमि

आचार्य औडुलोमि विशुद्ध वेदान्ती थे। वे भेदाभेदवादी दार्शनिक थे, जिनके मतानुसार जीव और ब्रह्म में भेद तो है, किन्तु मुक्ति प्राप्त हो जाने पर यह भेद मिटकर अभेदावस्था में परिवर्तित हो जाता है। जैमिनि के विपरीत औडुलोमि का मत है कि ब्रह्मत्व की प्राप्ति का अधिकार चैतन्य को ही है।

बादरायण ने औडुलोमि के मत को प्रामणिक माना है और मीमांसक आत्रेय के मत का खण्डन करने के लिए औडुलोमि के मत को उद्धृत किया है।

आश्मरथ्य

आश्मरथ्य, जैमिनि और बादरायण से पहले हुए। उनके मतानुसार आत्मायें दो हैं विज्ञानात्मा और परमात्मा, जिनमें भेदाभेद संबन्ध है। उनका यह भी कहना है कि उपासक के अनुग्रहार्थ ब्रह्म का आविर्भाव होता है। संभवतः इसी कारण शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र ने आश्मरथ्य को विशिष्टाद्वैतवादी कहा है। जैमिनि के मीमांसा दर्शन में भी इनको उद्धृत किया गया है।

काशकृत्स्न

आचार्य काशकृत्स्न के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वे विशुद्ध वेदान्ती थे और बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में बड़े सम्मान के साथ उनके मत का समर्थन किया है।

जैमिनि

मीमांसा दर्शन के प्रसंग में आचार्य जैमिनि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। 'मीमांसासूत्र' और 'ब्रह्मसूत्र' के सिद्धान्तों का पारस्परिक आदान-प्रदान

होने के कारण दोनो का समकालीन होना सिद्ध होता है। जैमिनि के सिद्धान्तों का बादरायण ने और बादरायण के सिद्धान्तों का जैमिनि ने खण्डन किया है। पुराणो में उद्धृत साक्ष्यो से जैमिनि को बादरायण का शिष्य माना जाता है। इसलिए मीमासा के प्रसंग मे इन दोनों आचार्यों की वस्तुस्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

काश्यप

आचार्य शाण्डिल्य ने 'भक्तिसूत्र' मे काश्यप और बादरायण के मतो को उद्धृत करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। उन्होंने काश्यप को भेदवादी और बादरायण को अभेदवादी कहा है। इससे विदित होता है कि काश्यप भी वेदान्त दर्शन के प्राचीन आचार्य थे और उन्होने भी किसी सूत्रग्रंथ की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नही है।

वेदान्त के अन्य प्राचीन आचार्य

वेदान्त के अन्य प्राचीन आचार्यों मे असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु आदि ऋषियो का नाम लिया जा सकता है; किन्तु उनकी आज कोई भी ऐसी उल्लेखनीय कृति उपलब्ध नही है, जिसके आधार पर उनके सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त किया जा सके।

वेदान्त दर्शन की परम्परा को आचार्य शंकर तक पहुँचाने वाले विद्वानो मे ब्रह्मनंदि, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, दाडिमाचार्य और ब्रह्मदत्त का नाम प्रमुख है। 'मध्वविजयभावप्रकाशिका' से ज्ञात होता है कि भारतीविजय, सच्चिदानंद, ब्रह्मघोष, शतानंद, उदवर्त, विजया, रुद्रभट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपंच, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णुकांत, वादीन्द्र और मध्वदास आदि अनेक आचार्यो ने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे थे। किन्तु इन आचार्यो के ग्रंथो, सिद्धान्तो और जीवनी वृत्तो पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का अभाव है। उनके संबंध मे इतना निश्चित है कि वे बादरायण के बाद हुए।

इन पुरातन ऋषियों एवं आचार्यों का नामोल्लेख मात्र करने के बाद शंकराचार्य के दादागुरु आचार्य गौडपाद से इस परम्परा का विशेष महत्त्व है।

गौड़पाद

अद्वैत वेदान्त के इतिहास मे भी गौडपादाचार्य का नाम इसलिए बडे सम्मान से स्मरण किया जाता है कि उन्होने शंकराचार्य जैसे असमान्य प्रतिभा के विद्वान् प्रशिष्य को दिया। यद्यपि महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने

'श्रीविद्यार्णव' नामक एक अप्रकाशित तंत्र-विषयक ग्रंथ के आधार पर 'कल्याण' के 'वेदान्तांक' मे शंकराचार्य की गुरु-परम्परा और शिष्य-परंपरा का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि शंकराचार्य, गौडपाद के प्रशिष्य नही थे, फिर भी उक्त तंत्र-विषयक ग्रंथ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तब तक विश्वासपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता है, जब तक उस पर व्यापक विचार प्रकाश मे नही आ जाते। आज इस संबंध मे सर्वसामान्य की धारणा यही है कि आचार्य शंकर ने जिस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसका सीधा संबन्ध गौडपाद के विचारो से है। गौडपाद को श्री शुकदेव जी का शिष्य बताया जाता है।

गौडपाद के सम्बन्ध मे शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' से इतना मात्र पता चलता है कि वे गौडदेशीय, अर्थात् बंगवासी या उसके समीपस्थ किसी प्रदेश के निवासी थे।

अद्वैत, वेदान्त विषयक गौडपाद के ग्रंथ का नाम है 'माण्डूक्योपनिषत्कारिका'। इस कारिका ग्रथ मे जो विचार बीजरूप मे विद्यमान है, शकर के विचारो मे उनकी विशद व्याख्या देखने को मिलती है। गौडपाद का दार्शनिक सिद्धान्त 'अजातवाद' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति नही हुई है; बल्कि एक चिद्घन सत्ता ही मोहवश प्रपचवत् भास रही है। जिसका यह द्वैत दिखायी दे रहा है, सब मन की कल्पना है। क्योंकि मन के शून्य हो जाने पर सारी द्वैत भावनाये परमार्थ अद्वैत मे बदल जाती है। माया के कारण रज्जु में सर्प और शुक्ति मे रजत की प्रतीति होती है। गौडपादाचार्य की कारिका मे प्रतिपादित इन मन्तव्यो को परवर्ती सभी वेदान्तियो ने स्वीकार किया है। उनकी कारिका पर 'मिताक्षरा' नाम से एक सुन्दर टीका लिखी गयी। उनके अन्य ग्रंथो के नाम है 'साख्यकारिका भाष्य' और 'उत्तरगीताभाष्य'।

गोविन्द भगवत्पाद

आचार्य गोविन्दपाद, गौडपाद के शिष्य और शंकराचार्य के परम गुरु थे। शंकराचार्य की जीवनी से ज्ञात होता है गोविन्दपाद का जन्म कही नर्मदा नदी के किनारे हुआ था। शंकराचार्य जैसे शिष्य को देकर वेदान्त मे उनका नाम अमर है। यद्यपि उनके द्वारा लिखे गये किसी ग्रथ का पता नही चलता है, फिर भी यह निश्चित है कि वे उद्भट विद्वान् और सिद्ध पुरुष थे। उनके सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि वैयाकरण पतंजलि उनका अपर नाम था, किन्तु यह असगत जान पडता है।

शंकराचार्य

भारतीय षड्दर्शनों मे अद्वैत वेदान्त का विशिष्ट स्थान है। अद्वत वेदान्त को

शंकराचार्य के पर्यायार्थ में कहा जाता है। न केवल भारतीय दर्शन मे, बल्कि विश्व के सर्वोच्च दार्शनिको मे शंकराचार्य का नाम एक अद्भुत विचारक के रूप मे स्वीकार किया गया है। उनके कारण भारतीय दर्शन मे युगान्तर उपस्थित हुआ। उनकी प्रतिभा और उनके प्रौढ विचारो का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके भाष्य पर सबसे अधिक भाष्य और टीकायें लिखी गयी। भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि करके उन्होंने जो यश कमाया, उसके अतिरिक्त भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय की दिशा मे उनके द्वारा किये गये कार्यों का कम महत्व नही है। उनका स्थितिकाल ६८८–७२० ई० के बीच माना जाता है। ३२ वर्ष की यह अल्पायु कुछ भी नही है, किन्तु उन्होंने इसी थोडे से समय मे जो कार्य किये उनको दृष्टि में रखकर हमे यही ज्ञात होता है कि उनमे दैवी प्रतिभा थी। उनके बाल्यकाल के सबध मे कहा गया है कि जब वे आठ वर्ष के थे, तभी उन्होंने समस्त वेदो का अध्ययन एवं मनन कर डाला था। ऐसी विलक्षणता सामान्य व्यक्ति मे नही हो सकती है।

आरभ मे ही उन्होंने सन्यास धारण कर लिया था और इस प्रकार एकान्त होकर वे ज्ञान की विभिन्न शाखाओ के तारतम्य पर विचार करते रहे। उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता यह भी थी कि सन्यासी होते हुए भी उनका हृदय बडा कोमल था। उसमे माता के लिए बडी श्रद्धा थी। कहा जाता है कि संन्यासावस्था मे भी अपनी मृतक माता का दाह संस्कार उन्होंने हिन्दू कर्मकाण्ड के अनुसार सपन्न किया था।

जैसा कि पहले भी सकेत किया जा चुका है, आचार्य शकर ने भारत की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने मे भी महत्वपूर्ण कार्य किया। भारत के विभिन्न अचलो का उन्होंने भ्रमण किया। उस युग के सभी प्रख्यात विद्वानो के पास जाकर उन्होंने उनके विचारो को जाना और अपने विचारो से उन्हे अवगत कराया। उनका उद्देश्य, किसी विद्वान् को शास्त्रार्थ मे पराजित करके उसको नीचा दिखाना और अपनी कीर्ति को फैलाना नही था। 'शकरदिग्विजय' ग्रथ की बहुत-सी बाते बाद मे जोडी गयी। शंकर जैसे समदृष्टि संपन्न विद्वान् के सबध मे इस प्रकार की संकीर्णता को सोचा तक नहीं जा सकता है।

उन्होंने भारत के सभी तीर्थस्थानो का अवगाहन किया; किन्तु जीवन के अन्तिम दिनो मे वे तपोभूमि केदारनाथ मे रहने लगे। वही उन्होंने शरीर त्याग किया। वहाँ भी उनका एक आश्रय या पीठ है।

आचार्य शंकर ने वस्तुत कितने ग्रंथ लिखे, इस संबंध मे आज भी विवाद है। किन्तु इतना निश्चित एवं सर्वमान्य है कि उन्होंने प्रमुख उपनिषदो, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' पर भाष्य लिखे। 'उपदेशसाहस्री' और 'शतश्लोकी' आदि उनकी दार्शनिक प्रतिभा के ज्वलन्त प्रमाण हैं। वे उच्चकोटि के कवि भी थे। 'दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र', 'हरिमीडेस्तोत्र', 'आनन्दलहरी', और 'सौन्दर्यलहरी' आदि मे उनके कवि हृदय एव भक्त हृदय के सरस उद्‌गार देखते ही बनते हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य मे एक ओर तो हमे दार्शनिक नीरसता दिखायी देती है और दूसरी ओर भावुकतापूर्ण भक्तहृदय भी। इन दोनो विरोधी बातो को यदि हम सामान्य व्यक्ति के जीवन मे एक साथ देखते है तो हमे आश्चर्य होता है, किन्तु आचार्य शकर जैसे सर्वज्ञ महात्मा मे इन दोनो का होना कुछ असंभव नही है। बाहर से विरोधी समझे जाने वालो उनकी विचारधारा मे एक ही लक्ष्य था परमार्थ का।

आचार्य शकर द्वारा प्रवर्तित सप्रदाय या पंथ को 'दशनामी' नाम से कहा जाता है। इस दशनामी संप्रदाय की शिष्य-परम्परा का विवरण इस प्रकार है :
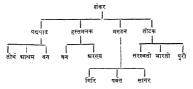
शंकराचार्य के ये दस प्रशिष्य इन चार मठो मे विभक्त है।

१. शृंगेरी मठ	पुरी, भारती, सरस्वती
२. शारदा मठ	तीर्थ, आश्रम
३ गोवर्द्धन मठ	वन, अरण्य
४. जोशी मठ	गिरि, पर्वत, सागर

शंकर के उत्तरवर्ती आचार्य

शंकराचार्य के बाद वेदान्त दर्शन के क्षेत्र ने आने वाले विद्वानो की संख्या

गणनातीत है। इसलिए यहाँ कुछ प्रमुख आचार्यों और उनकी कृतियों का ही संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

पद्मनाभ (सनन्दन)

शंकराचार्य के ये प्रथम शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण के चोल प्रदेश में हुआ। इनका वास्तविक नाम सनन्दन था। शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद वे पद्मनाभ के नये नाम से प्रसिद्ध हुए। वे पुरी के गोवर्धन मठ के अध्यक्ष थे। इनके संबंध में कहा जाता है कि इनके मामा मीमांसक प्रभाकर ने इनकी वेदान्त-विषयक पुस्तक को जलाने के लिए अपने घर में ही आग लगा दी थी। ग्रंथ के जल जाने से आचार्य पद्मनाभ जब खिन्न होकर गुरु के समीप आये तो उनकी दशा देखकर गुरु ने उनसे कहा 'एक बार तुमने मुझे अपना वह ग्रंथ सुनाया था। मुझे अब भी वह कण्ठाग्र है। मैं बोलता हूँ और तुम उसको लिपिबद्ध करते जाओ।' इस प्रकार अपने गुरु शंकराचार्य के मुख से सुनकर पद्मनाभ ने पुनः अपना ग्रंथ लिखा।

आचार्य पद्मनाभ के उस ग्रंथ का नाम है 'पंचपादिका', जो अधूरा ही उपलब्ध है। इस ग्रंथ पर प्रकाशात्म मुनि की 'विवरण' नामक टीका और उस पर भी अखण्डानन्द मुनि का 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्य मुनि का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नामक उपटीकाएँ प्रसिद्ध हैं। अपने गुरु की आज्ञा से पद्मनाभ ने 'शारीरक भाष्य' का व्याख्या लिखना भी आरम्भ किया था, जो कि केवल चार सूत्रों तक ही लिखी गयी। इन्होंने 'आत्मानात्मविवेक', 'प्रपंचसार' और सुरेश्वराचार्य कृत 'लघुवार्तिक' पर टीका, आदि ग्रंथ लिखे।

आश्रम और अरण्य इन्हीं की शिष्य-परम्परा के विद्वान् हुए।

सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र)

रेवा नदी के तट पर अवस्थित प्राचीन माहिष्मती नगरी सुरेश्वराचार्य की जन्मभूमि था। इस नगरी को कुछ विद्वान् राजगृह या उसके आस-पास भागलपुर बताते हैं और कुछ विद्वानों का कथन है कि वह नगरी नर्मदा नदी के तट पर कहीं इन्दौर के समीप विद्यमान थी।

मण्डन मिश्र अपने युग के प्रसिद्ध मीमांसक हुए। वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे और प्रयाग में भेंट होने के समय कुमारिल भट्ट ने ही शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के पाण्डित्य का परिचय दिया था। उसके बाद ही शंकराचार्य शास्त्रार्थ करने के लिए माहिष्मती गये। माहिष्मती के निकट रेवा नदी के तट पर शंकराचार्य ने जब मण्डन मिश्र की दासी से उनके घर का पता पूछा तो उसने कहा :

'स्वत. प्रमाण और परत. प्रमाण वेदो के सम्बन्ध में, कर्मफल की मीमांसा के सम्बन्ध मे और जगत् की नित्यता-अनित्यता के संबध मे व्याख्यान करती हुई पंजरस्थ मैनाएँ जिस घर के द्वार पर आपको दिखायी दे, हे महानुभाव, उसी को मण्डन मिश्र का घर जानिये।' इस प्रकार शकराचार्य, विस्मितावस्था मे जब मण्डन मिश्र के घर पहुँचे तो वहाँ का वातावरण उन्हे सचमुच ही वैसा लगा। बाद मे शंकराचार्य की मण्डन मिश्र से भेट हुई। दोनो विद्वानों मे गंभीर शास्त्रार्थ हुआ और अन्त मे मण्डन मिश्र ने शकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। सन्यास धारण करने के बाद उनका नया नाम विश्वरूप या सुरेश्वराचार्य हुआ। वे शृंगेरी मठ के अध्यक्ष नियुक्त किये गये।

आचार्य शंकर के शिष्यो मे सुरेश्वराचार्य जैसा अद्वैत वेदात का उद्भट विद्वान् दूसरा नही हुआ। चित्सुख, विद्यारण्य, सदानद, गोविन्दानद और अप्पय दीक्षित प्रभृति विख्यात विद्वानो ने सुरेश्वराचार्य के अभिमत को प्रमाणरूप मे बार-बार उद्धृत किया है।

सुरेश्वराचार्य क्योकि मीमासा के भी आचार्य रहे, अतः इस विषय पर उनकी लिखी हुई कृतियो के नाम है : 'आपस्तम्बीय मण्डनकारिका', 'भावनाविवेक' तथा 'काशामोक्षनिर्णय'। अद्वैत वेदान्त पर उन्होने 'तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक', 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'इष्टसिद्धि', 'पचीकरण वार्तिक', 'बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक', 'ब्रह्मसिद्धि', 'ब्रह्मसूत्र-भाष्यवार्तिक', 'विधिविवेक', 'मानसोल्लास', 'लघुवार्तिक', 'वार्तिकसार' और 'वार्तिकसार-सग्रह' नामक अनेक ग्रथो का निर्माण किया। शाकर मत को लोक प्रचारित करने के लिए सुरेश्वराचार्य का नाम अपनी परम्परा मे अग्रणी है।

सर्वज्ञात्म मुनि

इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ८वी श० ई० के उत्तरार्ध मे शृंगेरी मठ की गद्दी पर सर्वज्ञात्म मुनि अध्यक्ष नियुक्त हुए। शाकर मत की मान्यता मे इन्होने 'सक्षेपशारीरक' नाम से एक व्याख्याग्रथ लिखा। इस ग्रथ मे इन्होने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। 'संक्षेपशारीरक' के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थ स्वामी ने सुरेश्वराचार्य का ही अपरनाम देवेश्वराचार्य स्वीकार किया है। आज भी यही माना जाता है। शृंगेरी मठ के शिलालेखो के आधार पर विद्वानो ने सर्वज्ञात्म मुनि का स्थितिकाल ८१४-९०५ ई० के बीच निर्धारित किया है।

वाचस्पति मिश्र

सर्वदर्शनविद्, प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे। साख्य दर्शन के प्रसग मे बताया जा चुका है कि वे ९वी श० ई० मे हुए; क्योंकि अपने 'न्यायसूची निबंध' की रचना उन्होने ८९८ वि० (८४१ ई०) मे की थी।

शाकर-भाष्य पर उन्होने एक टीका लिखी, जिसकी प्रसिद्धि 'भामती' के नाम से है। भामती उनकी पत्नी का नाम था। सती, साध्वी उस भारतीय ललना ने अनेक वर्षों तक अपने पति की जो एकान्त सेवा की उसी के परिणाम स्वरूप आचार्य मिश्र ने अपनी उक्त टीका का 'भामती' नामकरण करके अपनी सहचरी के त्याग-तप का उचित ही मूल्याकन किया। 'भामती' एक टीका होते हुए भी स्वतत्र ग्रन्थ का महत्त्व रखती है।

छहो दर्शनो पर आचार्य मिश्र का समान अधिकार था। यह मन्तव्य उनकी कृतियो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। 'भामती' के अतिरिक्त उन्होने सुरेश्वर की 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'ब्रह्मतत्त्व-समीचा', 'साख्यकारिका' पर 'तत्त्वकौमुदी', पातजल दर्शन पर 'तत्त्ववैशारदी', न्याय पर 'न्यायवार्तिक तात्पर्य', पूर्व मीमामा पर 'न्यायसूची निबन्ध', भाट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' और मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' पर 'न्याय-वार्तिक' आदि प्रमुख टीकाएँ लिखी।

प्रकाशात्म यति

वेदान्त दर्शन के मुख्य विद्वानो मे प्रकाशात्म यति का नाम है। १२वीं शताब्दी ई० के लगभग रामानुजाचार्य का आविर्भाव (जन्म) हुआ। उन्होंने शाकरमत का खण्डन करके अपने स्वतत्र मत की स्थापना की। रामानुज मत के अनुयायिया के विरोध मे शाकरमत के समर्थक विद्वानो मे प्रकाशात्म यति या प्रकाशात्मा का नाम उल्लेखनीय है। गृहस्थ से वे सन्यासी हुए। उनके गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था। इसी आधार पर प्रकाशात्मानुभव भी इनका एक नाम पड़ा। पद्मपादाचार्य के ये प्रबल समर्थक थे। १२वी श० ई० इनका स्थितिकाल था।

इनके टीकाग्रन्थ से इनके पाडित्य का अच्छा परिचय मिलता है। यह टीका ग्रथ पद्मपादाचार्य की 'पचपादिका' पर 'विवरण' नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस टीका को बड़े संमान के साथ प्रामाणिक रूप मे उद्धृत किया है।

अद्वैतानन्द

दक्षिण मे कावेरी नदी के तट पर अवस्थित पंचनद नामक स्थान मे इनका

जन्म हुआ। पिता का नाम प्रेमनाथ और माता का नाम पार्वती देवी था। सीतानाथ इनका वास्तविक नाम था। काची के शारदा मठ के अध्यक्ष आचार्य भूमानन्द सरस्वती (चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती) इनके गुरु थे। १७ वर्ष की अल्पायु मे ही ये संन्यासी हो गये थे और तभी से अद्वैतानंद के नाम से कहे जाने लगे। इनका जन्म १२०६ वि० मे हुआ। एक सुयोग्य उत्तराधिकारी जानकर इनके गुरु ने १२२३–२५ वि० के लगभग इनको मठाधीश नियुक्त कर दिया था। अद्वैतानन्द संन्यास ग्रहण करने के पूर्व ही न्याय और मीमासा का अध्ययन कर चुके थे। मठाधीश होने के बाद उन्होने आचार्य रामानन्द सरस्वती से 'शारीरकसूत्रभाष्य' का गंभीर अध्ययन किया। बाद मे वे देशाटन को निकले और बडी योग्यता के साथ उन्होने शाकरमत का प्रचार-प्रसार किया। ३३ वर्ष तक अध्यक्ष पद पर आसीन रहने के बाद ५० वर्ष की अवस्था मे उन्होने समाधि ग्रहण की।

आचार्य अद्वैतानंद के लिखे हुए तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनके नाम है : 'ब्रह्मविद्याभरण', 'शातिविवरण' और 'गुरुप्रदीप'। पहले ग्रंथ मे 'ब्रह्मसूत्र' के चारो अध्यायो की व्याख्या है। यह ग्रंथ 'शांकरभाष्य' की वृत्ति के रूप मे विख्यात है।

श्रीहर्ष

सस्कृत-साहित्य मे श्रीहर्ष का नाम महाकवि के रूप मे विश्रुत है, किन्तु दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे भी उनको अद्वैत वेदान्त का मौलिक विद्वान् माना जाता है। मौलिक इस दृष्टि से कि सुरेश्वराचार्य के बाद १२वी शताब्दी तक अद्वैत वेदान्त के जितने भी आचार्य हुए उन्होने भाष्य, व्याख्या तथा वृत्ति आदि विषयो पर ही ग्रथ लिखे। प्रमेयबहुल प्रकरण ग्रन्थ इस बीच नही लिखे गये। इस दृष्टि से श्रीहर्ष ने स्वतत्र प्रकरणग्रथ की रचनाकर अपने मौलिक एवं स्वतंत्र पाडित्य का परिचय दिया।

श्रीहर्ष के समय (१२वी शता०) न्याय दर्शन बडी उन्नति पर था। नव्य न्याय के प्रवर्तक विद्वान् गगेश उपाध्याय का समय भी यही था। उधर दक्षिण और उत्तर भारत मे रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के द्वारा वैष्णव धर्म का बडी व्यापकता से प्रचार-प्रसार हो रहा था। श्रीहर्ष ने एक ओर तो न्याय दर्शन के बढ़ते हुए प्रभाव को दबाने के लिए उदयनाचार्य जैसे विख्यात नैयायिक के सिद्धान्तो का खण्डन किया और दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों का भी प्रबल विरोध किया।

श्रीहर्ष के ग्रंथ का नाम 'खण्डनखण्डखाद्य' या 'अनिवर्चनीय सर्वस्व' है। उनके दूसरे ग्रंथो के नाम है 'नैषधीय चरित', 'अर्णववर्णन', 'शिवभक्तिसिद्धि',

'नवसाहसांकचम्पू', 'छिन्दप्रशस्ति', 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति', 'विजयप्रशस्ति' और 'स्थैर्यविचारप्रकरण'।

आनन्दबोध

अपने 'न्यायमकरंद' नामक प्रौढ ग्रंथ मे आनन्दबोध ने वाचस्पति मिश्र (९ वी श०) और प्रकाशानन्द (१२ वी श०) का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त १३ वी शताब्दी मे वर्तमान चित्सुखाचार्य ने इनके उक्त ग्रंथ पर व्याख्या लिखी। इस दृष्टि से आचार्य आनन्दबोध का स्थिति काल १२ वी शताब्दी ई० निश्चित है। वे सन्यासी थे और उन्होने तीन ग्रथो का निर्माण किया, जिनके नाम है 'न्यायमकरंद', 'प्रमाणमालामकरद' और 'न्यायदीपावली'। ये तीनो ग्रंथ अद्वैत वेदान्त पर है। 'न्यायमकरद' एक सग्रह होते हुए भी प्रमाणिक रचना मानी जाती है।

अमलानंद

आचार्य अमलानद का निवासस्थान दक्षिण मे देवगिरि के निकट बताया जाता है। इनका दूसरा नाम व्यासाश्रम था। इनके गुरु का नाम अनुभवानंद था। देवगिरि के यादववशीय राजा महादेव (१३१७-१३२८ वि०) के शासन-काल मे इन्होने अपने ग्रथ 'वेदान्तकल्पतरु' का निर्माण-किया, जिसमे इनका स्थिति काल १३ वी श० ई० निश्चित है। 'शास्त्रदर्पण' और 'पंचपादिकादर्पण' को मिलाकर इन्होने अद्वैत वेदान्त पर तीन ग्रथ लिखे। 'वेदान्तकल्पतरु' वाचस्पति मिश्र की 'भामती' की व्याख्या, 'शास्त्रदर्पण', 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या और 'पचपादिकादर्पण' पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका' की व्याख्या है। भाषा, विचार और प्रचार की दृष्टि से इन तीनो व्याख्या ग्रथो को वेदान्त के क्षेत्र मे बडा सम्मान प्राप्त है।

चित्सुखाचार्य

अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार के लिए जो कार्य श्रीहर्ष ने किया उसी को अधिक ठोस रूप मे आगे बढाया चित्सुखाचार्य ने। आचार्य चित्सुख १३ वी श० ई० मे हुए।

'तत्वदीपिका' नामक इनकी वेदान्त-विषयक प्रौढ कृति 'चित्सुखी' के नाम से प्रसिद्ध है, जो कि आचार्य आनन्दबोध के 'न्यायमकरंद' की टीका है। इसके अतिरिक्त इन्होने 'शारीरक भाष्य' पर 'भावप्रकाशिका', 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'अभिप्रायप्रकाशिका' और 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पर 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नाम से अनेक टीकाएँ लिखीं।

भारतीतीर्थ

भारतीतीर्थ और विद्यारण्य को कुछ दिन पूर्व एक ही व्यक्ति माना जाता था; किन्तु अब अनेक ग्रन्थो के प्रकाश मे आ जाने से प्रामाणिक रूप मे यह सिद्ध हो गया है कि विद्यारण्य, भारतीतीर्थ के शिष्य थे और भारतीतीर्थ के गुरु का नाम विद्यातीर्थ था। इस दृष्टि से भारतीतीर्थ का स्थितिकाल १३वी श० ई० ठहरता है।

आचार्य भारतीतीर्थ कृत 'वैयासिक न्यायमाला' नामक ग्रथ शाकर भाष्य का तात्पर्य समझने के लिए बडा ही उपयोगी है। इसकी सरल, सुगम-भाषा-शैली और गंभीर विषय को साररूप मे प्रतिपादित करने का ढंग बड़ा ही सुन्दर है।

शकरानद

आचार्य शकरानद के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही है। विद्यारण्य स्वामी ने 'पंचदशी' और 'विवरणप्रमेयसंग्रह' के मंगलाचरण श्लोक मे शंकरानद को अपने गुरु के रूप मे स्मरण किया है, जिससे इनका स्थितिकाल १३वी श० के अन्त मे या १४वी० श० के आदि मे प्रतीत होता है।

ये अद्वैत वेदान्त के आचार्य थे। अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा और शाकरमत की पुष्टि के लिए उन्होंने जिन पाण्डित्यपूर्ण कृतियो का निर्माण किया उनके नाम है : 'ब्रह्मसूत्रदीपिका', 'गीताटीका' (शंकरानंदी) और १८ उपनिषद्-ग्रंथों की टीका। 'आत्मपुराण' नाम से अद्वैत वेदान्त—संबंधी ग्रंथ भी इन आचार्यपाद के नाम से उपलब्ध हुआ है।

माधवाचार्य (विद्यारण्य)

माधवाचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। 'पराशरमाधव' के उल्लेखानुसार इनके पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती और दो भाइयो के नाम सायण तथा भोगनाथ था। तुगभद्रा नामक नदी तट पर अवस्थित हाम्पी नामक नगर के निकट एक गाँव मे इनका जन्म हुआ। इनके ग्रंथो से विदित होता है कि सायण इनका कुल नाम था। इनके कनिष्ठ भाई वेदभाष्यकार सायण कुलनाम से ही प्रसिद्ध थे। विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और शकरानंद, के तीनो आचार्य, माधव के गुरु थे।

माधवाचार्य विजयनगर राज्य के संस्थापक थे। १३८२ वि० मे महाराजा वीर बुक्क को विजयनगर के राज्य सिंहासन पर विराजमान करके माधवाचार्य स्वय उसके प्रधानमत्री बने। इस आधार पर १३२४ वि० के लगभग उनका पैदा होना सिद्ध होता है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी आचार्य वेदान्तदेशिक, माधवाचार्य के समकालीन एवं बालसखा थे।

माधवाचार्य की सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रमाण उनकी कृतियाँ हैं। वे कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्त्वज्ञ, त्यागी, प्रबंधक और संग्रहकार थे। संन्यास धारण करने के उपरान्त उनको श्रृंगेरी मठ का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था और तभी से उनकी ख्याति विद्यारण्य के नाम से हुई। लगभग शतायु प्राप्त करने पर उन्होंने शरीर त्यागा। उन्होंने वेद, व्याकरण, पुराण, उपनिषद और जीवनी आदि अनेक विषयों पर १६ ग्रंथ लिखे। 'पंचदशी', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'अनुभूतिप्रकाश', 'अपरोक्षानुभूतिटीका' और 'जीवन्मुक्तिविवेक' आदि उनके अनेक ग्रंथ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

आनन्दगिरि

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में आचार्य आनन्दगिरि को एक निष्णात टीकाकार के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त है। कुछ विद्वान् उन्हें शंकराचार्य का शिष्य मानते हैं, किन्तु अब ऐसे अनेक प्रमाण प्रकाश में आ चुके हैं, जिनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि आचार्य आनन्दगिरि १५वीं शताब्दी में हुए। 'शारीरक भाष्य' पर लिखा हुआ उनका 'न्यायनिर्णय' ग्रंथ पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। विद्यारण्य के बाद, उन्होंने भी 'शंकर दिग्विजय' नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। सुरेश्वराचार्य के 'तैत्तिरीय श्रुतिवार्तिक' और 'बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक' पर उन्होंने टीकायें लिखीं। उनके संबंध में यह उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर के सभी भाष्य-ग्रंथों पर आचार्य आनंदगिरि ने टीकायें लिखीं।

प्रकाशानंद

इनके संबन्ध में विस्तार से कुछ भी विदित नहीं है। इनके गुरु का नाम ज्ञानानंद था। अपने ग्रंथ 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में उन्होंने विद्यारण्य को 'पंचदशी' को उद्धृत किया है और अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेश' में इनके उक्त ग्रंथ का उद्धृत किया है। इस दृष्टि से प्रकाशानंद का स्थितिकाल १५वीं शताब्दी के आस-पास सिद्ध होता है।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' नाम से उनका एक ग्रंथ उपलब्ध है। इस ग्रंथ की भाषा बड़ी सरल, विचार बड़े सुथरे और शैली बड़ी प्राजल है। इस पर अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धांतदीपिका' नामक वृत्ति लिखी।

अखण्डानंद

इनके गुरु का नाम अखण्डानुभूति था। प्रकाशात्म यति के 'पचपादिकाविवरण' पर इन्होंने 'तत्त्वदीपन' निबंध लिखा। इस निबंध का उल्लेख नृसिंहाश्रम ने अपनी 'भावप्रकाशिका' टीका में किया है। अतः आचार्य अखण्डानंद

का समय १५वी, १६वी शताब्दी के मध्य मे रखना उचित जान पडता है। 'तत्त्वदीपन' के अतिरिक्त इनकी कोई दूसरी रचना उपलब्ध नही है।

मल्लनाराध्य

इनका जन्म दक्षिण मे हुआ। १६वी श० ई० मे इनका स्थितिकाल निर्धारित किया गया है। द्वैतवादी आचार्यों के विरोध मे इन्होंने 'अद्वैतरत्न' और 'अभेद रत्न' नामक दो प्रकरण ग्रंथो का निर्माण किया। 'अद्वैतरत्न' पर इन्होंने स्वयं ही 'तत्त्वदीपन' टीका लिखी है।

नृसिहाश्रम

इनके गुरु का नाम जगन्नाथाश्रम था। अद्वैत संप्रदाय के उद्भट विद्वानो मे इनकी गणना की जाती है। अप्पय दीक्षित इनमे बहुत प्रभावित थे। इनके 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रंथ की पुष्पिका मे उसका समाप्तिकाल १६०४ वि० दिया गया है। अत ये १६वी शताब्दी मे हुए। इनके लिखे हुए ग्रंथो के नाम है 'भावप्रकाशिका' ('पचदशी-विवरण' की टीका), 'तत्त्वविवेक' (सटीक), 'भेदाधिकार', 'अद्वैतदीपिका', 'वैदिक सिद्धान्तसंग्रह' और 'तत्त्वबोधिनी' (सर्वज्ञात्म मुनिकृत 'सक्षेपशारीरक' की व्याख्या)।

नारायणाश्रम

ये नृसिंहाश्रम के शिष्य तथा उन्ही के समय हुए। उन्होने अपने गुरु के ग्रंथो पर 'भेदाधिक्कारसत्क्रिया' नामक टीका और 'अद्वैतदीपिकाटीका' का निर्माण किया, इनकी 'सत्क्रिया' नामक टीका पर बाद मे 'उज्वला' नामक उपटीका लिखी गयी।

रगराजाध्वरी

इनके पिता का नाम आचार्य दीक्षित और पुत्र का नाम अप्पय दीक्षित था। काची इनकी जन्मभूमि थी। इनका उपनाम वक्षस्थलाचार्य था। विजयनगर के राजा कृष्णदेवराज के ये सभाविद्वान् थे। इन्होने अपने 'अद्वैतविद्यामुकुर' और 'विवरणदर्पण' आदि ग्रथो मे न्याय, वैशेषिक तथा साख्य आदि दर्शनो के मतो का खण्डन और अद्वैतमत का पाडित्यपूर्ण ढंग से मण्डन किया है।

अप्पय दीक्षित

अनेक विषयो के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण अप्पय दीक्षित का नाम संस्कृत साहित्य के इतिहास मे बडे सम्मान से स्मरण किया जाता है। अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र मे मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और मधुसूदन सरस्वती जैसे सर्वोच्च विद्वानो की कोटि मे अप्पय दीक्षित का नाम लिया जाता है। अपने पिता

रंगराजाध्वरी से ही अप्पय दीक्षित ने वेदान्त का अध्ययन किया था। उनके छोटे भाई का नाम अच्चा दीक्षित था। अप्पय दीक्षित, शाहँशाह अकबर तथा जहाँगीर के शासनकाल मे हुए। उनका जन्म १६०८ वि० में और देहावसान ७२ वर्ष की आयु भोगने के बाद १६८० ई० में हुआ।

अप्पय दीक्षित ने विभिन्न विषयो पर लगभग १०४ ग्रंथ लिखे; किन्तु संप्रति उनके कुछ ही ग्रंथ उपलब्ध हैं। ये ग्रंथ काव्यशास्त्र, कोश, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त, मध्वमत, रामानुजमत, श्रीकराठमत और शैवदर्शन आदि विभिन्न विषयों से संबद्ध हैं। वेदान्त पर लिखे गये उनके ग्रंथो 'परिमल', 'न्याय रक्षामणि', 'सिद्धान्तश्लेष-संग्रह', और 'न्यायमंजरी' का प्रमुख स्थान है। 'ब्रह्मसूत्र' के मध्व, रामानुज तथा श्रीकराठ आदि आचार्यो के भाष्यो पर अप्पय दीक्षित ने क्रमश: 'न्यायमुक्तावली', 'नियमयूथमालिका' और 'शिवार्कमणिदीपिका' आदि ग्रंथ लिखे।

भट्टोजि दीक्षित

भट्टोजि दीक्षित की ख्याति एक वैयाकरण के रूप मे अधिक है। किन्तु वेदान्त के क्षेत्र मे भी उन्होने 'तत्त्वकौस्तुभ' तथा 'वेदान्ततत्त्वविवेक टीकाविवरण' नामक दो ग्रंथ लिखे। अप्पय दीक्षित उनके वेदान्त गुरु थे। वही इनका स्थितिकाल भी है।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, भट्टोजि दीक्षित के समकालीन थे। संभवत वे कॉंची में कामकोटिमठ के अध्यक्ष भी रहे। उनके रचे हुए ग्रंथो मे 'अद्वैतविद्याविलास', 'बोधार्यात्मनिर्वेद', 'गुरुरत्नमालिका' और 'ब्रह्मकीर्तनतरंगिणी' का उल्लेख किया गया है, संभवत: जो अभी तक अप्रकाशित हैं।

सदानंद योगीन्द्र

इनके ग्रन्थ पर श्रीनृसिंह सरस्वती ने 'सुबोधिनी' नामक टीका को १५१८ शक सम्वत् मे लिखकर पूरा किया था, जिससे इनका स्थितिकाल १६वी शताब्दी का आरंभ विदित होता है। इनके ग्रंथ का नाम 'वेदान्तसार' है। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र मे बडा ही लोकप्रिय है। इस पर कई टीकाये लिखी गयी और अब तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके है। इसके अतिरिक्त 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रंथ का रचयिता भी सदानन्द योगीन्द्र को ही बताया जाता है।

मधुसूदन सरस्वती

आचार्य मधुसूदन सरस्वती की गणना अद्वैत वेदान्त के शीर्षस्थ विद्वानो मे की जाती है। उनका जन्म बंगाल मे हुआ। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। वाराणसी

मे उन्होने विद्याध्ययन किया। उनके विद्या गुरु का नाम माधव सरस्वती और दीक्षा गुरु का नाम विश्वेश्वर सरस्वती था। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या १७वीं श० के पूर्वार्ध मे इनका स्थितिकाल था। ये अद्भुत तार्किक और शास्त्रार्थपटु थे।

इनके वेदान्त विषयक ग्रंथों के नाम है : 'सिद्धान्तविन्दु, 'सक्षेपशारीरकव्याख्या', 'अद्वैतसिद्धि', 'अद्वैतरत्नरक्षण', 'वेदान्तकल्पलतिका', 'गीताटीका' (मधुसूदनी) और 'प्रस्थानभेद'। इनके ये सभी ग्रन्थ बडे ही लोकप्रिय है।

परवर्ती आचार्य

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास मे अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की परम्परा १८वी शताब्दी तक निरन्तर बनी रही। अद्वैत वेदान्त पर जितने ग्रन्थ रचे गये उतने किसी दूसरे दर्शन संप्रदाय मे देखने को नही मिलते है। इस प्रकार के परवर्ती आचार्यो मे धर्मराज अध्वरी, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती सदानदयति, रंगनाथ, ब्रह्मानंद सरस्वती, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती और आपन्न दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है।

प्रस्थानत्रयी

दर्शनशास्त्र का अभिज्ञ व्यक्ति प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत परिगति होने वाले तीन ग्रंथो से अपरिचित न होगा। एक ही वैदिक विचारो पर आधारित इन तीनो ग्रंथो के निर्माण की आवश्यकता का उद्देश्य क्या रहा है, इस पर विद्वानो ने अनेक प्रकार से विचार किया है।

वैदिक धर्म तत्रप्रधान धर्म था। उसके रहस्यमय एवं गूढ तत्त्वो का विवेचन भिन्न-भिन्न ऋषियो ने विभिन्न युगो मे उपनिषद् ग्रन्थो को रचकर किया। एक ही उद्देश्य के व्याख्याता विभिन्न ऋषियो की असमान विचारधारा मे एकता प्रतिपादन करने के उद्देश्य से बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' को रचना की।

किन्तु वैदिक धर्म के प्रवृत्तिविषयक ज्ञान का वास्तविक प्रतिपादन न तो उपनिषद् ही कर सके और न 'ब्रह्मसूत्र' ही। उसकी गंभीर चिन्तना पर 'गीता' मे प्रकाश डाला गया। किन्तु उपनिषदो और 'ब्रह्मसूत्र' मे तत्त्वज्ञान पर जो विचार प्रकाश मे आ चुके थे उन पर 'गीता' मे कोई भी आक्षेप नही किये गये। इसलिए वे परस्पर एक दूसरे के प्रपूरक ही कहे जाने लगे, जिससे उन तीनो को मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से कहा जाने लगा। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है वैदिक धर्म के आधारभूत तीन ग्रन्थ। उनमे वैदिक धर्म के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, दोनों पक्षो का विस्तार से प्रतिपादन है।

वेदान्त दर्शन का मोटा-सा सिद्धान्त है कि बहुसंख्यक देव, मनुष्य, पशु-पक्षी और स्थावर-जंगमात्मक यह समग्र विश्व-प्रपंच ब्रह्म से पृथक् नही है। जो कुछ भी नाना रूपधारी दृश्यमान जगत् है, वह ब्रह्म-समाविष्ट है। वेदान्त दर्शन के इन तीन प्रमुख ग्रन्थो मे उपनिषद् श्रुतिप्रस्थान, 'ब्रह्मसूत्र' न्यायप्रस्थान और 'गीता' स्मृतिप्रस्थान है। इन तीनो ग्रंथो मे सारा वैदिक धर्म समाया हुआ है। वैदिक धर्म के अनुयायी समाज के लिए वे सभी ग्रन्थ अमान्य थे, जिनमे प्रस्थानत्रयी को स्वीकार न किया गया हो। यही कारण था कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारत मे धार्मिक प्रतिस्पर्धा का जो प्रवाह चला उसके फलस्वरूप जो अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक धार्मिक संप्रदायो तथा चिन्तन की विभिन्न विधाओ का जन्म हुआ उनके प्रवर्तक सभी आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखे। अपने-अपने धार्मिक तथा दार्शनिक सप्रदायो के प्रचारार्थ एवं लोकप्रियता के लिए उक्त तीनों धर्मग्रथो के सिद्धान्तो को अपनाना उस युग के धर्माचार्यों के लिए आवश्यक हो गया था।

ब्रह्मसूत्र

'ब्रह्मसूत्र' मे चार अध्याय है और प्रत्येक अध्याय चार-चार पादो मे विभक्त है। विभिन्न भाष्यकार आचार्यो ने इन सूत्रो की अर्थ-मार्गना और उनका विषय-वाचन अनेक ढंग से किया है। उदाहरण के लिए विभिन्न भाष्यो मे अधिकरणो की संख्या एक जैसी नही है। शकर के अनुसार 'ब्रह्मसूत्र' की अधिकरणसख्या १९१, बलदेव भाष्य के अनुसार १९८, श्रीकंठीय भाष्य के अनुसार १८२, रामानुज भाष्य के अनुसार १५६, निम्बार्क भाष्य के अनुसार १५१, बल्लभ के 'अणुभाष्य' के अनुसार १६२ और मध्व भाष्य के अनुसार २२३ है। भास्कराचार्य और विज्ञानभिक्षु ने अधिकरणो की ओर कोई ध्यान नही दिया है।

जहाँ तक सूत्रसंख्या का संबंध है, ऐसा अपवाद है कि 'ब्रह्मसूत्र' मे ५५६ सूत्र थे। किन्तु विभिन्न भाष्यकार आचार्यो के भाष्य मे सूत्रों की जो सख्या मिलती है उसका परिचय इस विवरण से प्राप्त किया जा सकता है

शकर	रामानुज	बल्लभ	भास्कर	मध्व	निम्बार्क	विज्ञानभिक्षु	श्रीकण्ठ	बलदेव
५५५	५४५	५५५	५४७	५६२	५४९	५५६	५४५	५५६

इस सूची को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आचार्यों की दृष्टि मे सूत्रो की संख्या एक जैसी नही है। सूत्रो के इस संख्याभेद का कारण वर्गीकरण

की असमानता है। उदाहरण के लिए शंकर और रामानुज ने अपने भाष्यों में 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' इनको दो सूत्र माना है, जब कि बल्लभाचार्य ने 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' यह एक ही सूत्र माना है। इसी प्रकार पाठभेद में भी दृष्टिकोणों की असमानता देखने को मिलती है।

जैसा कि आरंभ में संकेत किया जा चुका है कि 'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय हैं। उसके प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है, जिसमें ब्रह्म-निरूपण और विभिन्न श्रुतियों का समन्वय वर्णित है। दूसरे अध्याय का नाम 'अविरोध' है, जिसमें विरोधी दर्शनों का खण्डन करके युक्ति और प्रमाण से वेदान्त मत का मण्डन किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधन' है, जिसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का प्रतिपादन करने के उपरान्त मुक्ति के बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की मीमांसा और कर्मफलों का विवेचन है। चौथे अध्याय का नाम 'फल' है, जिसमें जीवन्मुक्ति, सगुण-निर्गुण उपासना के फल पर तुलनात्मक प्रकाश डालने के उपरान्त मुक्त पुरुष का स्वरूप बताया गया है।

ब्रह्मजिज्ञासा (**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**) से 'ब्रह्मसूत्र' का आरंभ होता है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म वह है, जिसके द्वारा इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय है (**जन्माद्यस्य यतः**)। सूत्रकार के इस कथन को लेकर आचार्यों ने उसकी अनेक तरह से व्याख्या की है। भाष्यकारों ने प्रत्येक सूत्र की व्याख्या तीन प्रमुख आधारों पर की है। शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति और पादसंगति। 'ब्रह्मसूत्र' का प्रत्येक अधिकरण पंचावयव है: विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार

'ब्रह्मसूत्र' के प्रमुख भाष्यकार हुए शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी यद्यपि उस पर भाष्य लिखे, किन्तु उनकी अधिक प्रसिद्धि न हुई। उन सभी भाष्यकार आचार्यों और उनके भाष्यों का विवरण इस प्रकार है:

नाम	समय	भाष्य	मत
१. शंकराचार्य	८०० ई०	शरीरकभाष्य	अद्वैत
२. भास्कराचार्य	१००० ई०	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३. रामानुजाचार्य	१२०० ई०	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४. मध्वाचार्य	१३०० ई०	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५. निम्बार्काचार्य	१३०० ई०	वेदान्तपारिजातभाष्य	द्वैताद्वैत

६. श्रीकण्ठाचार्य	१३०० ई०	शैवभाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७. श्रीपति आचार्य	१४०० ई०	श्रीकरभाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८. बल्लभाचार्य	१५०० ई०	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९. विज्ञान भिक्षु	१६०० ई०	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
१०. बलदेव स्वामी	१८०० ई०	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद

इन भाष्यों में आज शंकर का 'शारीरक भाष्य', रामानुज का 'श्रीभाष्य' और बल्लभ का 'अणुभाष्य' ही अधिक प्रचलित हैं।

शारीरक भाष्य

यद्यपि वेदान्त विषय को लेकर अनेक वादों तथा संप्रदायों का जन्म हुआ; फिर भी वेदान्त के नाम से आज शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद ही अधिक लोक प्रचलित है। शंकर के 'शारीरक भाष्य' को ही 'ब्रह्मसूत्र' का प्रामाणिक भाष्य माना जाता है।

शारीरक (शरीरे भवः, शरीरेण व्यज्यते, इति शरीरः; शरीरवान् ब्रह्म); अर्थात् छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े, अनंत असंख्य जगत् के पदार्थों में व्यक्त अमूर्त होते हुए भी मूर्त, उस ब्रह्म के विषय में जो भाषण किया जाय उसी का नाम 'शारीरक भाष्य' है। कर्म और देह का अभेद, देह और चित्त का अभेद, चित्त और जीव का अभेद, जीव और ब्रह्म का अभेद ब्रह्म और कर्ममय समष्टि का अभेद, समुद्र और वीचि का अभेद—इस अच्छेद्य, अभेद्य द्वन्द्व और सर्वसंग्रही, सर्वव्यापी 'सूत्र' का कि

'सर्वं सर्वेण सम्बद्धं, नैव भेदोऽस्ति कुत्रचित्'

'मैं चेतन हूँ, सब चेतन जीवों में मैं ही हूँ' प्रतिपादन करना ही अद्वैत का विषय है।

माया, सृष्टि, जीव, ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष और जगत् आदि तत्त्वों की भिन्नता तथा अभिन्नता का वास्तविक आधार क्या है, इस पर अद्वैत वेदान्त में विशद एवं गंभीर विचार किया गया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा अद्वैत का यह तात्त्विक विवेचन अपना मौलिक एवं वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जगत् का यह सारा प्रपंच माया के कारण सृष्ट है। इस अपरिहार्य माया शक्ति का क्या स्वरूप है, इसके विवेचन से शाकर वेदान्त का तत्त्व-विचार आरंभ होता है।

माया

माया, ब्रह्म की शक्ति है। उससे संयुक्त होकर ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति करता

है और तब वह ईश्वर कहलाता है। इसीलिए **'कारणोपाधिरीश्वरः'** इस श्रुति में कहा गया है कि आत्मा अपने कारणशरीर माया से मिलकर ईश्वर कहलाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा गया है कि 'माया को प्रकृति जानना चाहिए और माया से युक्त आत्मा को ईश्वर'! माया की उपाधि से उपहित होकर ब्रह्म निर्गुण नहीं रह जाता, सगुण हो जाता है। उसकी संज्ञा ईश्वर हो जाती है। माया के सहयोग से सक्रिय होकर वह जगत् की सृष्टि करता है। इस जगत् के समस्त कार्यव्यापारो की कारण शक्तियो का सामूहिक रूप माया है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त (अवास्तविक या भ्रामक आभास का कारण) है; किन्तु माया का परिणाम (रूपान्तर) है। रज्जु मे सर्प के आभास (विवर्त) की भाँति यह जगत् अज्ञान का परिणाम है। दूध का दही मे, मिट्टी का घड़े मे और सुवर्ण का आभूषणो मे रूपान्तरित हो जाना ही परिणाम है।

सृष्टि-रचना के लिए ईश्वर, माया पर अवलम्बित है और ईश्वर का ईश्वरत्व सृष्टि पर आधारित है। माया, परमेश्वर की बीजशक्ति है। वही अनेक नाम-रूपो का कारण है। उसी के कारण एक ही ब्रह्म अनेक नाम-रूपो मे भासित होता है (**एक एव परमेश्वरः कूटस्थ नित्यो नामधातुः अविद्यया मायाविवत् अनेकधा विभाव्यते**)।

ब्रह्म को इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहा गया है। किन्तु ब्रह्म तो निर्विकार, एवं निष्क्रिय है। उससे सृष्टि की उत्पत्ति कैसे संभव है। इसलिए माया को ब्रह्म की शक्ति कहा गया और उसके सहयोग से इस जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी। किन्तु इस दृष्टि से यह न समझना चाहिए कि माया और ब्रह्म दो विभिन्न सत्तायें है। वस्तुत. ब्रह्म के अतिरिक्त इस विश्व मे माया का या किसी अन्य वस्तु का कोई अस्तित्व ही नही है। आग की दाहिका शक्ति जिस प्रकार आग से अलग नही है, उसी प्रकार माया भी ब्रह्म से अलग नही है। *व्यावहारिक दृष्टि से भी हम पाते है कि व्यक्ति की इच्छाशक्ति* के बिना कोई क्रिया संपन्न नही हो सकती है। व्यक्ति इस इच्छाशक्ति के बिना भी रह सकता है; किन्तु इच्छाशक्ति बिना व्यक्ति के नही रह सकती है।

अत· माया ईश्वर की इच्छाशक्ति है, एक मानसिक क्रिया है। जिस प्रकार स्वप्न मे हम से मानसिक सृष्टि पैदा होती है उसी प्रकार यह विश्व ईश्वर की मानसिक शक्ति माया द्वारा प्रसूत है। इस दृष्टि से मायायुक्त ब्रह्म विश्व का कारण होकर ईश्वर कहा जाता है। माया से प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म, माया

को अपने अधीन रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है। अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं।

माया का स्वरूप

जगत् के कारणभूत ब्रह्म से जिसकी सत्ता है, जो आकाश आदि कार्यभूत पदार्थों से पहचानी जाती है और जो आकाशादि कार्यों के उत्पादन में समर्थ, सद्वस्तु (ब्रह्म) की शक्तिरूपा है, वह माया है। जिस प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति अग्निरूप नहीं, अग्नि से भिन्न है उसी प्रकार सद्वस्तु की शक्ति माया सद्वस्तु से भिन्न है। वह न तो नरशृंग की भाँति नि:स्वरूप ही है और न अबाध्य (सत्य) ही है। उसका निर्वचन सत् और असत् दोनों शब्दों से नहीं हो सकता है इसलिए वह सदसद् निर्वचनीय है।

वह न तो सत् है, न असत् है और न उभयरूप हो। वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न उदयरूप ही। वह सदसद्विलक्षण तथा भिन्नाभिन्नविलक्षण है। वह न तो साग है और न अंगरहित ही। अत वह 'अनिर्वचनीय' है। सत्-असत् से विलक्षण होने पर भी माया अभावरूप नहीं है। वह ज्ञान का अभाव (अज्ञान) भी नहीं है। वह भावरूप' है, क्योंकि उसमे जगद्रूपी महाप्रपंच की उत्पत्ति होती है। वह जगत् की सृष्टि का कारण होने से सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से युक्त है। ये तीनों गुण यद्यपि उसके विशेषण है, साथ ही उसके स्वरूप भी हैं। अत माया 'त्रिगुणात्मिका' है। भावरूप होते हुए भी वह ब्रह्मज्ञान के बाद वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे सूर्य के उदय होने के बाद अधकार। तर्क से उसका ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अतः वह 'ज्ञानविरोधी' है। माया की सत्ता न व्यावहारिक है, न पारमार्थिक और न प्रातिभासिक। उसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। जीवों से वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिपा लेती है।

श्रुति में माया को तुच्छ कहा गया है। युक्ति के द्वारा वह अनिर्वचनीय है और लोकदृष्टि से वास्तविक (सत्य)। शंकराचार्य ने माया को इस जगत् की उत्पत्ति का कारण बताते हुए उसके विशेषणों को इस प्रकार गिनाया है :

> **अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः**
> **अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।**
> **कार्यानुमेया सुधियैव माया**
> **यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥**

माया की शक्तियाँ

माया की दो शक्तियाँ मानी गयी है : आवरण और विक्षेप। माया को इन्हीं शक्तियो के कारण ब्रह्म का वास्तविक रूप छिप जाता है और उसमे अवस्तुरूप जगत् की प्रतीति होती है। आवरण शक्ति तमोरूपा और विक्षेप शक्ति रजोरूपा है। ये दोनो शक्तियाँ एक-दूसरी की पूरक है। आवरण का शब्दार्थ है वास्तविकता पर परदा डाल देना और विक्षेप का अर्थ है उसकी जगह दूसरी वस्तु को रख देना। सदानन्द के 'वेदान्तसार' मे कहा गया है कि "माया की आवरण शक्ति जीव के ज्ञान नेत्रो के आगे आकर ब्रह्म के वास्तविक रूप को उसी प्रकार ढक लेती है, जैसे एक छोटा-सा मेघ का टुकडा द्रष्टा के नेत्रो को ढककर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को छिपा लेता है।" इस प्रकार आवरण शक्ति के द्वारा जब ब्रह्म का वास्तविक रूप ढक जाता है तब "विक्षेप शक्ति नानाविध जगत् प्रपच को उत्पन्न करके जीव को उसमे उसी प्रकार भ्रमा देती है, जैसे रज्जु मे सर्प की उद्भावना होती है।"

शकराचार्य ने भी 'विवेकचूडामणि' मे इन दोनो मायावी शक्तियों का चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि 'जैसे दुर्दिन मे मेघो से सूर्य छिप जाने पर हिमवर्षा तथा शीतल एवं तीखी हवा जीवो को व्यथित कर डालती है उसी प्रकार ये दोनो शक्तियाँ क्रमश, ब्रह्म को आच्छादित करके संसार को भ्रान्त कर देती है।'

इन शक्तियो के अस्त्र-शस्त्र है काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि, जो विविध रूप धारण करके जीव की आँखो, बुद्धि और दर्शनशक्ति पर शरीर, अस्मिता, अहंकार का पर्दा (आवरण) डाल देते है, जिसके कारण वह समझता है 'मै अनन्त अनादि, अजर, अमर परमात्मा नही हूँ, मै हाड-मास का एक पुतला मात्र हूँ; नश्वर शरीर हूँ।' यह आवरण उसको अंधा बना देता है और उसको सासारिक शरीरक्षोभो से विक्षिप्त कर देता है, अर्थात् उसे सत्य-प्रिय-हित के मार्ग से बहका कर असत्य-अप्रिय-अहित की ओर ले जाता है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् मायावी ईश्वर का एक खेल है। इस खेल मे माया एक ऐसी सुषुप्ति है, जिसमे संसारी जीव अपने स्वरूप को भूलकर सो जाते है। यह सारा खेल केवल जीव के लिए है। माया और ईश्वर उससे प्रभावित नही होते। यह माया ही जीव के भ्रम का कारण है। उसको सीधी राह से उलटी राह मे ले जाती है। इसी लिए माया को अविद्या तथा अज्ञान कहा गया है।

माया के कार्य

जिस प्रकार दीवाल पर पोते हुए नीले, पीले आदि रंग दीवाल पर अनेक

प्रकार के चित्र अंकित कर देते हैं वैसे ही सत् तत्त्व में रहने वाली माया उस सत् तत्त्व से विविध कार्यों (विक्रियाओं) को उत्पन्न किया करती है।

माया (शक्ति) का पहला विकार आकाश है। आकाश, ब्रह्म का विवर्तरूप कार्य है। सद्वस्तु एक स्वभाव वाली है और आकाश दो स्वभाव वाला। सद् वस्तु में आकाश नहीं है, सत्स्वभाव ही है। किन्तु आकाश में सत्स्वभाव भी है और आकाशस्वभाव भी। उदाहरण के लिए जैसे मिट्टी, घटाकर हो जाती है उसी प्रकार सत् आकाशभाव को प्राप्त हो जाता है।

माया के विपरीत प्रतीति का कारण भ्रांति है, सीपी आदि जो वस्तु जिस रूप म है उसकी यथार्थता तो प्रमाण से जानी जाती है, किन्तु उसके अयथार्थ रूप का कारण भ्रांति है।

रामानुज के मतानुसार माया की वास्तविकता

शकराचार्य के मत के विपरीत रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर की मायावी सृष्टि वास्तविक है। वे माया का ईश्वर को वास्तविक शक्ति आर उसके द्वारा सृष्ट इस जगत् की रचना को भी वास्तविक मानते है। शकराचार्य भी माया को ब्रह्म की शक्ति मानते है, किन्तु उनके अनुसार वह ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं है, बल्कि इच्छा मात्र है, जिसको वह जब चाहे त्याग सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य इस माया जजाल को छिन्न कर देता है और शुद्ध परब्रह्म मे लीन हो जाता है।

रामानुज माया को ईश्वर को सर्जना शक्ति मानते है और उसका ईश्वर मे नित्य निवास स्वीकार करते है। शकर उसको ईश्वर की इच्छाशक्ति मानते है और ईश्वर मे उसका अनित्य निवास स्वीकार करते है। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म मे अवस्थित अचित् तत्त्व मे और इसलिए ब्रह्म मे भी वास्तविक परिवर्तन होता है, किन्तु शकर के अनुसार ब्रह्म सदा एक रूप है। उसमे कभी भी कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता है।

माया और अविद्या

चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब (आभास) से युक्त और सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। प्रकाशरूप सत्त्व गुण की शुद्धि और मलिनरूप सत्त्व गुण की अशुद्धि (रज-तम), इन दोनो कारणो से प्रकृति के क्रमश. माया और अविद्या दो भेद होते हैं। विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधान माया और मलिन सत्त्वगुणप्रधान अविद्या है।

श्रुति वाक्यो मे माया को 'एक' और 'अनेक' कहा गया है। माया के इस

एकत्व और अनेकत्व पर विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी' में विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि यह भेद हमारी बुद्धि-कल्पित है। उदाहरण के लिए किसी वन के वृक्षों को जब हम समष्टि रूप में देखते हैं तो हमें वह 'एक वन' दिखायी देता है; किन्तु उसी वन के आम, खदिर, पलाश आदि वृक्षों को जब हम अलग-अलग रूप में देखते हैं तब हमें 'अनेक वृक्ष' होने का बोध होता है। इस प्रकार यह केवल बुद्धि भेद का अन्तर है। माया का विशुद्ध 'सत्व स्वरूप' उसकी सूक्ष्मतम अवस्था है। इस अवस्था में वह सत्व प्रधान और रज तथा तमोगुण अप्रधान है। माया के कारण जब अविच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) में क्रिया उत्पन्न होती है तब उससे अलग-अलग अनेक स्वरूप बनते हैं। इन सभी स्वरूपों को जब हम एक दृष्टि का विषय मानकर एक साथ देखते हैं तब हमें वे सभी वस्तुएँ 'समष्टि रूप' में प्रतीत होती हैं। किन्तु जब हम इन्हें भिन्न-भिन्न बुद्धि का विषय बनाते हैं तब हमें वे 'व्यष्टिरूप' में भान होते हैं। यह उपाधिगत या बुद्धिगत भेद है। माया ब्रह्मगत अज्ञान और भाव-रूप है, जिसको समष्टि अज्ञान कहा गया है। अविद्या जीवगत और अभावरूप है, जो व्यष्टि अज्ञान है। माया का जब इस प्रकार भेद किया जाता है तो समष्टि की दृष्टि से उसे 'माया' और व्यष्टि की दृष्टि से 'अविद्या' शब्दों से कहा गया है। विशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृति को 'माया' और मलिन सत्त्वप्रधान प्रकृति को 'अविद्या' कहते हैं। माया से आच्छन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' और अविद्या में आच्छन्न ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं।

माया और ब्रह्म

माया और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जिस प्रकार लोक में पुरुष और उसकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार माया को भी ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता है।

माया शक्ति, ब्रह्म के एक देश में है, सपूर्ण ब्रह्म में नहीं। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति पृथिवी के एक देश अर्थात् एक अवयव चिकनी मिट्टी में ही रहती है, उसी प्रकार माया शक्ति एकदेशाय है। इसीलिए 'गीता' में कहा गया है:

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'

'मैं इस सपूर्ण जगत् को (अपनी योगमाया के) एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ।'

सृष्टि प्रक्रिया

वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल है। इस सृष्टि-

प्रक्रिया के सम्बन्ध मे श्रुति एक सामान्य-सा अभिमत प्रकट करती है। वह कहती है 'जैसे जीवित मनुष्य के शरीर में केश, नाखून आदि उत्पन्न होते रहते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती रहती है'। शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्पत्ति का कोई विशेष प्रयोजन नही बताया है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है कि "जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर लीलामात्र के लिए स्वभावतः बिना प्रयोजन उसी प्रकार सृष्टि करता है, जैसे मनुष्य शरीर में, किसी बाहरी प्रयोजन के बिना श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं।" (**यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसधाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनानन्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनानन्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति**)।

ब्रह्म नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और चैतन्य है। उसके स्थूल और सूक्ष्म रूप नही होते। ये सूक्ष्म-स्थूल रूप माया या अज्ञान के होते है। इसी लिए सूक्ष्म से लेकर स्थूलपर्यन्त जो परिणाम या विकार दिखायी देता है वह जड माया का मिथ्या विस्तार है, चैतन्य का नही। यह अव्यक्त सृष्टिशक्ति माया पहले सूक्ष्म विषयो के रूप मे व्यक्त होती है और तब स्थूल विषयो का रूप धारण करती है। माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। सत्व, रजस् और तमस्, ये तीनों गुण सतत परिणामी हैं। इनमे जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब माया की विक्षेप शक्ति से युक्त चैतन्य ब्रह्म के द्वारा आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि अग्नि से जल और जल से पृथिवी की क्रमश उत्पत्ति होती है। इन उत्पन्न भूतो मे तीनों गुण, अपने-अपने कारण (माया) से अपने-अपने कार्य मे आ जाते है। इन्ही पांच भूतो को वेदान्त मे 'सूक्ष्म भूत' या 'तन्मात्राये' या 'अपचीकृत भूत' कहा गया है। इन्ही सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतो की उत्पत्ति हुई।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

इन पंच तन्मात्राओ मे जब सात्त्विक अंश की प्रधानता होती है तब आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी से क्रमश श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, जिह्वा और घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इनके द्वारा क्रमश. शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होता है।

ये ज्ञानेन्द्रियाँ कर्ण आदि गोलोक मे रहती है और शब्द आदि गुणो को ग्रहण करती है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ अपंचीकृत भूतो से बनी होने के कारण इतनी सूक्ष्म है कि उनको देखा नही जा सकता है, बल्कि उनके कार्यों से उनके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए रूप का ज्ञान करणजन्य है;

क्योंकि वह क्रिया है। अतः जो-जो क्रिया है वह करणजन्य होती है, जैसे छेदन क्रिया। इसी प्रकार अन्याय गुणो के सम्बन्ध मे है।

ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती है, किन्तु कभी-कभी वे आन्तर विषयो को भी ग्रहण करती है। उदाहरण के लिए कानो को हाथ आदि से ढाँप लेने पर प्राणवायु तथा पेट की अग्नि का शब्द सुनायी देता है।

बुद्धि मन चित्त अहकार की उत्पत्ति

उक्त आकाशादि पाँचो तन्मात्राओ के सयुक्त सात्त्विक अंश से बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार नामक अन्त करण की वृत्तियो की उत्पत्ति होती हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है, मन सकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति है, चित्त अनुसंधानात्मिका वृत्ति है और अहकार अभिमानात्मिका वृत्ति है। ये वृत्तियाँ वाह्य ससार को प्रकाशित (ज्ञान) कराने वाली सत्त्व गुणप्रधान है। विमर्श मे संशय को उत्पन्न कर देने वाली प्रवृत्ति का नाम 'वृत्ति' है। वह मन का ही अपर स्वरूप है। जिस वृत्ति (मन) का स्वरूप निश्चित है उसको 'बुद्धि' कहते है।

मन और उसके गुण

यह मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का प्रेरक होने से उनका अधिपति है। उसका स्थान हृदयकमल मे है। मन, क्योकि वाह्य शब्दादियो मे इन्द्रियो के बिना प्रवृत्ति नही होती, अत उसको आन्तर कहा गया है। इन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषयो मे लगी होती है तब मन अच्छे-बुरे गुण-दोषो का विवेचन करता रहता है।

मन के तीन गुण है, सत्त्व, रज और तम। सत्त्व गुण से वैराग्य, क्षमा तथा औदार्य आदि शात प्रवृत्तियो का उदय होता है, रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर वृत्तियो की उत्पत्ति होती है, और तमोगुण से आलस्य, भ्राति तथा तद्रा आदि मूढ वृत्तियो का जन्म होता है।

पाँच कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति

पाँच भूतो का साधारण कार्य (सब का कार्य) है अन्त करण, और उनके प्रत्येक अश के असाधारण कार्य (एक-एक का कार्य) का परिणाम है पाँच कर्मेन्द्रिय। आकाशादि पच तन्मात्राओ के व्यष्टिरूप रजस् अश से क्रमश वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, इन पाँच कर्मेन्द्रियो की अलग-अलग उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूतो के सत्वगुणविशिष्ट अंश से प्रसूत हुई उसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ रजोगुणविशिष्ट अशो मे उत्पन्न हुई। एक-एक भूत के एक-एक रजोभाग से एक-एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुई।

क्रियाप्रधान होने के कारण उनको 'कर्मेन्द्रिय' कहा गया है। वचन, आदान,

गमन, निसर्ग और आनंद, उनकी ये क्रमश. पाँच क्रियायें हैं। मुख, हाथ, पैर, गुदाच्छिद्र और शिश्नछिद्र, उनके ये क्रमश. स्थान है।

पाँच कोशों की उत्पत्ति

उपनिषदो में ब्रह्म को गुहा मे स्थित (**निहितं गुहायाम्**) बताया गया है। गुहा कहते है गोपन या आच्छादन को। पच-कोश ब्रह्म के आच्छादक होने के कारण 'गुहा' कह गये है। इन पचकोशो मे पहला अन्नमय कोश (देह) है। उसके भीतर प्राणमय कोश, उसके भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय कोश और उसके भी भीतर आनन्दमय कोश है। अन्नमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक की जो शृंखला है उसी को 'गुहा' कहा गया है।

अन्नमय कोश

पंचीकृत भूतो से व्युत्पन्न स्थूल देह का नाम 'मनोमय कोश' है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अन्नजीवो माता-पिता के वीर्य मे उत्पन्न और तदनन्तर क्षीरादि अन्न से जो देह का विकास करता है वह 'अन्नमय कोश' है। वह 'अन्नमय कोश' (देह) आत्मा नही है, क्योकि जन्म से पहले और मृत्यु के बाद वह देह नही रहता है। देह 'कार्य' है, अत घट (कार्य) की भाँति वह भी उत्पत्तियुक्त और विनाशवान् है।

प्राणमय कोश

लिग शरीर मे अवस्थित पाँच वायु और पाँच कर्मेन्द्रिय का नाम 'प्राणमय कोश' है। अर्थात् जो वायु पैर से लेकर शिर तक सपूर्ण देह मे, व्यान रूप मे शक्तिसंचार करता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रेरित करता है उस वायु को 'प्राणमय कोश' कहते है। वह जड है, जैसे घट, और आत्मा से पृथक् है।

मनोमय कोश

मन और कर्ण, त्वक् आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियो का नाम 'मनोमय कोश' है। इसका यह आशय हुआ कि 'मै' और 'मेरा' का ममत्व तथा मान 'मनोमय कोश' का कार्य है। वह काम, क्रोधादि अवस्थाओं से भ्रात तथा अनियमित स्वभाव वाला है। वह बाल्य आदि अवस्थाओ से युक्त होने के कारण विकारी है।

विज्ञानमय कोश

बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रिय के सहयोग से 'विज्ञानमय कोश' की उत्पत्ति हुई। इसको विस्तार से यों समझा जा सकता है कि चेतन के प्रतिबिम्बरूप मे चिदाभास से युक्त जो बुद्धि, सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर मे व्याप्त रहती है तथा

जाग्रतावस्था मे शरीर के रोम-रोम मे प्रकट हो जाती है वह विज्ञानमय कहलाती है। वह बुद्धि, विलयादि अवस्थाओ वाली होने के कारण आत्मा से भिन्न है।

'विज्ञान' का अर्थ है निश्चयरूप वृत्ति और 'मन' का वाच्य है संशयरूप वृत्ति। मन और बुद्धि से अधिष्ठित उक्त दोनो कोशो मे यही अन्तर है।

आनन्दमय कोश

मलिन सत्वगुण अविद्या के कारण प्रिय वस्तु की प्राप्ति से जो प्रमोद (प्रियमोद) अर्थात् सुखानुभव होता है उसको 'आनन्दमय कोश' कहते है। जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल को प्राप्त करते है उस समय हमारी बुद्धि वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उस समय उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पडता है । जब फलोपभोग शात हो जाता है तब वही बुद्धि वृत्ति सस्काररूप मे (निद्रारूप मे विलीन) हो जाती है। यह आनन्द मेघ की भाँति कभी-कभी ही रहता है। अत अनित्य है और आत्मा से अलग है।

अन्वय व्यतिरेक द्वारा पंचकोशो का भेदज्ञान

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रत्येक आत्मा से पंचकोशो का भेदज्ञान प्राप्त कर साधक स्वय को उन कोशो के व्यूह से मुक्त कर लेता है और चिदानन्द स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) हो जाता ह।

स्वप्नावस्था मे साक्षी आत्मा का जो स्फुरण है उसी को 'अन्वय' कहते है और उसी अवस्था मे आत्मा के स्फुरण होने पर भी स्थूल देह को जो उदासीनता तथा अप्रतीति है उसी को 'व्यतिरेक' कहते है। 'अन्वय' कहते है एकता के लिए और 'व्यतिरेक' कहते है भिन्नता के लिए।

ये अन्नादिकोश आत्मा से अलग रहते है, किन्तु वे एकाकार प्रतीत होते हैं उदाहरण के लिए माला मे पिरोये गये फूल जैसे एक-दूसरे से भिन्न होते भी सूत्रबद्ध होने के कारण अभिन्न प्रतीत होते है उसी प्रकार आत्मा भी अन्नमयादिको से भिन्न है, किन्तु अभिन्न प्रतीत होता है।

साधक जब अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पंचकोशो से आत्मा को विविक्त रूप मे पहचान लेता है तब आत्मा के ब्रह्म हो जाने मे कोई सशय नही रहा जाता है।

जीवकी उत्पत्ति

बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियो के योग से विज्ञानमय कोश और उससे घिरे हुए चैतन्य जीवन की उत्पत्ति होती है । यह चैतन्य 'विभु' है । इसको सहायता से विज्ञानमय कोश मे क्रिया उत्पन्न होती है। यही जीव इस लोक और परलोक का सचरण करता है। यह कर्ता और उपभोक्ता है और उसी की मुक्ति होती है।

पाँच प्राणों की उत्पत्ति

आकाशादि पाँच रजोगुण भूतो के पाँच अंश मिलकर जब कारण बनते हैं तो उनसे प्राण की उत्पत्ति होती है । वह पाँच प्रकार का है : प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान । मन की इन पाँच क्रियाओ की भिन्नता के कारण प्राण के ये पाँच प्रकार बनते हैं ।

प्राण : जिसका स्वरूप वायु है; जिसका स्वभाव ऊपर जाना (ऊर्ध्वगामी) है; और जो नासिका के अग्रभाग मे अवस्थित है ।

अपान : जिसका स्वरूप वायु है, जिसका स्वभाव ऊपर जाना (ऊर्ध्वगामी) है, और जो गुदा आदि में स्थित रहता है ।

समान : जिसका स्वरूप वायु है, नाडियो द्वारा अन्न का रस सारे शरीर मे पहुँचाना जिसका स्वभाव है; और जो शरीर के मध्य मे रहता है ।

उदान : जिसका स्वरूप वायु है; जो ऊर्ध्वगामी है, और जिसका स्थान कण्ठ मे है ।

व्यान : जिसका स्वभाव वायु की तरह है, जो नाडियो मे विचरणशील है; और जिसका सारे शरीर मे घर है ।

पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणो का संयुक्त रूप 'प्राणमय कोश' कहलाता है, जो कि चैतन्य को आच्छादित किये रहता है ।

सूक्ष्म शरीर की रचना

उक्त विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश के योग से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई । पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, एक बुद्धि और एक मन—कुल मिलाकर ये सत्रह अवयव उस सूक्ष्म शरीर मे रहते हैं । उपनिषदो मे उसको 'लिंग' कहा गया है । उसमे इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीनो शक्तियाँ विद्यमान रहती है ।

पंचीकृत स्थूल भूतों की उत्पत्ति

पचीकृत भूतो का स्वरूप स्थूल है । वह जड प्रकृति या माया का विकसित स्वरूप है । इन पंचीकृत स्थूल भूतो मे क्रमश. आकाश मे शब्द, वायु मे शब्द, स्पर्श, अग्नि मे शब्द, स्पर्श, रूप, जल मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस; और पृथ्वी मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध अभिव्यक्त होते है । इन्ही अभिव्यक्त पंचीकृत भूतो से क्रमशः स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम कार्यो को उत्पत्ति होकर चौदह भुवनो से युक्त इस 'ब्रह्माण्ड' की रचना और विभिन्न प्राणियो तथा पदार्थों की उत्पत्ति होती है ।

एक-एक स्थूल देह मे अहंभाव से वर्तमान तैजस जीव 'विश्व' कहलाया और देव, पशु पक्षी, मनुष्य आदि उसके कई वर्ग बन गये। 'तेजस' उनको इसलिए कहा गया कि वह अन्त.करण से अभेद का अभिमान करने वाला है। यह देहधारी जोव प्रत्यगात्मा को नही देख पाता और मनुष्यादि शरीरों को धारण करके योग्य कर्मों को करता हुआ देवादिकों का शरीर प्राप्त करता है तथा अपने कर्मफलो को भोगता है।

स्थूल शरीर की उत्पत्ति

स्थूल भूतो से चार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते है, जिनके नाम हैं : जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। इसको 'अन्नमय कोश' कहते है। इन चारो प्रकार के स्थूल शरीरो को समष्टि से घिरा हुआ 'चैतन्य', 'विश्व' कहा जाता है। 'विश्व' और 'वैश्वानर' मे केवल उपाधियों की भिन्नता है, तात्त्विक दृष्टि से दोनो मे वही एक चैतन्य है।

सृष्टिज्ञान की अपेक्षा

इस प्रकार यह दृश्यमान महान् प्रपंच उत्पन्न हुआ । यह दृश्यमान महान् प्रपच, जिसको परता को खोलने के लिए ज्ञान की कुजी चाहिए, अविद्या और अज्ञान से आवृत है। ईश्वर, सूत्रात्मा, वैश्वानर, ये भेद उपाधियों के है। विक्षेप शक्ति के कारण अज्ञान मे आवृत उस अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म मे विभिन्नता और अनेकरसता दिखायी देती है। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियो के परदो को ज्ञान की असि से फाड करके जब देखा जाता है तो स्वय ही एकरसता, एक मात्र चेतन्य ईश्वर का स्वरूप दिखायी देता है। वही एकमात्र सत्ता है, जो सृष्टि के आदि मे भी एकरस थी और महा प्रलय के बाद जब सारी सृष्टि विलय हो जाती है तब भी अखण्ड रूप से बनी रहती है।

यह सृष्टि ईश्वर का ही अपर रूप

सभी शास्त्र इस बात मे एकमत है कि ईश्वर के द्वारा रचित सृष्टि के सभी पदार्थ वास्तव मे उसी के रूप है। '**बहुस्या प्रजायेत**' (मै अनेक बन जाऊँ), अर्थात् मै अपने को अनेक रूपों मे व्यक्त करूँ। इस श्रुति मे ईश्वर ने यह नही कहा है कि 'मै उत्पन्न करूँ'। बल्कि यह कहा है कि 'मै बन जाऊँ'। इस श्रुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा दृश्य महा प्रपच शरीर, इन्द्रिय, मन आदि विभिन्न उपाधियो से उपहित उसी परमात्मा की अभिव्यक्ति है। आचार्य शंकर ने भी मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की भाँति ईश्वर के द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति बतायी है। इसी आशय को दूसरी श्रुति मे कहा गया है 'पहले केवल सत् (ईश्वर)

ही था, दूसरा कुछ भी नहीं था' (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चनमिषत्) उसके बाद सृष्टि का आरंभ हुआ और वह अनेक बन गया। तीसरी श्रुति में कहा गया है कि 'वह (ईश्वर) स्वयं व्यक्त और अव्यक्त जगत् बन गया' (सच्च त्यच्चाभवत्)।

यही अद्वैत का सिद्धान्त है और इसके अनुसार सृष्टि का अर्थ किसी नये पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं है, अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना है। 'सृष्टि' शब्द का अर्थ है 'विसर्ग', अर्थात् भीतर की वस्तु को प्रकट करना। यह भीतर की वस्तु किस प्रकार प्रकट होती है, इस सम्बन्ध में वेदान्त में एक उदाहरण देकर कहा गया है कि 'जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाल की रचना करता है और फिर उसको अपने में ही समेट लेता है, उसी प्रकार अक्षर पुरुष भी सृष्टि काल में जगत् को व्यक्त करता है और सर्ग के अन्त में उसे फिर अपने में लीन कर लेता है।'

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि के विकास का यही रहस्य है।

जीव

जीव का स्वरूप

सृष्टि-प्रक्रिया के प्रसंग में कहा गया है कि बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, अन्तःकरण की इन वृत्तियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से विज्ञानमय कोश और उससे घिरे हुए चैतन्य जीव की उत्पत्ति हुई है। शरीर व आत्मा का नाम जीव है। उसको ईश्वर का अंश अथवा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। 'माया के परिणाम-स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा ही जीव कहलाता है' (कार्योपाधिरयं जीवः)। इसी बात को शंकराचार्य ने 'शारीरक भाष्य' में इस प्रकार कहा है 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर की उपाधियों से घिरा हुआ (परिच्छिद्य-मान) और पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है' (पर एवात्मा देहेन्द्रियमनो बुद्धयाद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालः शारीरं इत्युपचर्यते)। श्रुति में कहा गया है कि 'यह आत्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान एक और अनेक दिखायी देता है।'

जीव, ईश्वर का प्रतिबिम्ब

इस प्रतिबिम्ब का रहस्य समझ लेने के बाद जीव के अस्तित्व की वास्तविकता समझी जा सकती है। प्रतिबिम्ब कहते है छाया के लिए। यह प्रतिबिम्ब सापेक्ष्य होता है, कल्पित अथवा अवास्तविक नहीं। जहाँ कहीं भी प्रतिबिम्ब दिखायी

देगा वहाँ प्रतिबिम्बित मूल वस्तु का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए मुख के प्रतिबिम्ब के लिए मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब, ये तीन वस्तुएँ एक साथ रहती हैं। जीव को जब हम आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हैं तो ऐसी अवस्था मे हमे मानना पडेगा कि मूल बिम्ब ईश्वर है, दर्पण अन्तःकरण है और चेतना या जीव उसका प्रतिबिम्ब है। इससे यह आशय निकलता है कि जीव, ईश्वर से कोई भिन्न नही है, उसी की छाया है। जिस प्रकार बाहर धूप मे रखे हुए स्फटिक मे व्याप्त होने वाला प्रकाश, सूर्य के प्रकाश का ही प्रतिबिम्ब है ठीक उसी प्रकार परमात्मा का प्रकाश, जो अन्त करण पर पडता है, जीव कहलाता है और 'मैं' की चेतना के रूप मे प्रकट होता है। इसी अर्थ मे जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। ये शरीरादि उपाधियाँ अविद्याजनित है, वास्तविक नही है। जब जावगत अविद्या नष्ट हो जाती है तो वह जीव फिर अपने मूलरूप ईश्वर मे आ जाता है (**मायानिर्मितस्य जीवस्य अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य अविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्**)। आचार्य शंकर का यह आशय है।

जीव में उपाधियाँ है

ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष जीव मे है, ब्रह्म से उनका कोई सम्बन्ध नही है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता, कर्ता और आवागमन को क्रियाओ से युक्त है। कामनाओं से पूर्ण कार्यों को करने और उनका फलोपभोग करने के कारण उसमे मृत्यु का आरोप किया जाता है (**तस्मिन् मर्त्यत्वम् अधिरोपितम्**)। 'पंचदशी' मे बन्ध और मोक्ष के कारण प्रतिबिम्बित बुद्धि (चिदाभास) की सात अवस्थाये : अज्ञान, आवरण, मोह, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोक से मुक्ति और निर्वन्ध आनन्द—जीव मे बतायी गयी है। ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष बुद्धियुक्त जीव मे ही अवस्थित रहते है।

किन्तु, क्योकि जीव और आत्मा का अन्तर पारमार्थिक नही, अविद्या की उपाधियो के कारण व्यावहारिक है, अत तात्त्विक दृष्टि से वे दोनो एक है। उपाधियो के विनष्ट हो जाने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है। जिस प्रकार घट के नष्ट हो जाने पर उसके भीतर का आकाश बाहर के आकाश मे मिल जाता है उसी प्रकार उपाधियो के विलीन हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्॥

ईश्वर और जीव

तात्त्विक दृष्टि से जीव और ईश्वर एक है। बुद्धि के ऊपर पडा हुआ ब्रह्म

का प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाता है । ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीवात्मा, ब्रह्म से भिन्न नही है । खुले आँगन मे रखे हुए जलपूर्ण पात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य की आकृति, सूर्य से भिन्न नही है । ईश्वर को जीवो का शासक या नियन्ता और जीवो को शासित कहा गया है, क्योंकि ईश्वर माया के शुद्ध सत्व से युक्त हैं, जब कि जीव, माया की निकृष्ट उपाधियो वाला है । दोनों मे ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है । विशुद्ध सत्व युक्त यह ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और मलिन सत्व युक्त वही जीव हो जाता है । अविद्या (विकृत या मलिन सत्व) से बद्ध जीव के सीमित ज्ञान, सीमित शक्ति और शोक आदि गुणों, तथा मायायुक्त (शुद्ध सत्व से संयुक्त अविद्या) ईश्वर के सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा आनन्दमयता आदि गुणो को निकाल देने पर चेतना का जो शुद्ध रूप शेष रहता है वह दोनों मे एक समान है । इसलिए जीव को भी पूर्ण ब्रह्म कहा जा सकता है । शंकराचार्य ने कहा है **'सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकारणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह."** । वेदान्त की दृष्टि से जीव और ईश्वर मे ऐक्य की स्थापना का यह सिद्धान्त 'जहदजहल्लक्षणा' या 'भागलक्षणा' के द्वारा बड़े ही युक्तियुक्त ढंग से समझाया गया है ।

बुद्धि के ऊपर पड़े हुए ब्रह्म के इस प्रतिबिम्बरूप जीव का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है । वेदान्त मे ज्ञानप्राप्ति के इस साधन को 'वृत्ति' कहा गया है । अन्तःकरण के ज्ञानरूप परिणाम का नाम 'वृत्ति' है । वृत्ति का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति है । वह दो प्रकार की है प्रमारूप और अप्रमारूप । यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ (भ्रम) ज्ञान को अप्रमा कहा गया है । इस वृत्ति के द्वारा ही प्रत्येक जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओ को प्राप्त होता है । वृत्ति मे ही मोक्ष और पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । घटादि के प्रतिबिम्ब को या बुद्धि के ऊपर पड़े ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की सामर्थ्य स्वाभाविक नही है, वृत्ति के सम्बन्ध से है । उदाहरण के लिए दर्पण के सम्बन्ध के बिना दीवाल मे सूर्य का प्रतिबिम्ब नही दिखायी देता, बल्कि दर्पण के सम्बन्ध से दिखायी देता है । इसी प्रकार जीव और चैतन्य (ईश्वर) का विषय से नित्य सम्बन्ध होने पर भी वृत्ति के सम्बन्ध के बिना विषय प्रकाशित नही हो सकता है ।

ईश्वर

माया में चेतन की छाया या आभास और माया का अधिष्ठान चेतन, दोनो को ईश्वर कहते हैं । वह ईश्वर मेघाकाश की तरह है । वह अन्तर्यामी है, क्योंकि

सबके अन्दर वह प्रेरणा करता है। वह सदामक्त (नित्यमुक्त) है, क्योंकि उसका स्वरूप आवृत नही है और उसको जन्म-मरण के बन्धनो की प्रतीति नही होती। वह सर्वज्ञ है, अर्थात् सब पदार्थों का ज्ञाता है।

ईश्वर और जगत्

उत्पत्ति और विलय, दोनो का कर्ता होने के कारण ईश्वर, जगत् का कारण (योनि) कहलाता है। उत्पत्ति और विलय का अर्थ आविर्भाव और तिरोभाव है। यह ईश्वर अपने मे विलयित समस्त जगत् को, प्राणियो के कर्मों के अनुसार, आविर्भूत करता है और वही ईश्वर प्राणियो के कर्मों के क्षीण हो जाने पर सारे संसार को अपने भीतर छिपा लेता है। ये सृष्टि और प्रलय ऐसे ही है, जैसे रात-दिन या जाग्रत-सुषुप्ति।

ईश्वर जगदाकार मे परिणत होता है

अद्वैत की दृष्टि से ईश्वर को अद्वितीय और निरवयव माना गया है। अतः आविर्भाव और तिरोभाव का आशय आरभ और परिणति नही है। ईश्वर, जगत् की अलग से रचना नही करता है, बल्कि इस जगत् की उत्पत्ति वैसे ही होती है, जैसे सीप मे चाँदी और स्वर्ण मे आभूषण की उत्पत्ति होती है। वह एक ही ईश्वर जड तथा चेतन दोनो प्रकार के पदार्थों का उपादानकारण है।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने जड और चेतन का कारण परमात्मा को माना है, ईश्वर को नही। वह परमात्मा भावना (संस्कार), ज्ञान (देवताध्यान) और कर्मो (पुण्यापुण्य) के कारण जब तम प्रधान होता है तब देहो (क्षेत्रो) का कारण होता है जब चित्प्रधान होता है तब चिदात्माओ का कारण होता है।

ईश्वर और ब्रह्म

जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का 'अन्योन्याध्यास' है उसी प्रकार ईश्वर और ब्रह्म का 'अन्योन्याध्यास' सिद्ध है। सत्य-ज्ञान-अनन्त-स्वरूप ब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषधि, अन्न, देह—ये सब उत्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रुति मे इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास सिद्ध है। जैसे मॉडी लगा वस्त्र, घोटने से एक (एकाकार) हो जाता है उसी प्रकार अन्योन्याध्यास रूप यह ईश्वर भी भ्रांति के कारण ईश्वर के साथ एक हो जाता है।

इसीलिए जो लोग भ्रात है वे ब्रह्म और ईश्वर के भेद को नही पहचान पाते। ब्रह्म असंग है और यह मायावी महेश्वर जगत् का कारण। अतएव मायावी ईश्वर जगत् की रचना करता है और इस जगत् मे जीव, माया के वश मे होकर बन्दी बना रहता है। ब्रह्म, जगत् का स्रष्टा नही है।

जब इस आनन्दमय ईश्वर ने 'मैं बहुरूप हो जाऊँ' (एकोऽहं बहुस्याम्) यह विचार किया तो वह समष्टि प्रपंच (हिरण्यगर्भ) हो गया। यह ऐसे ही हुआ जैसे गाढी निद्रा ही स्वप्न बन जाती है। ईश्वर, जीव आदि रूप से जड-चेतन स्वरूप जो यह जगत् है वह अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व मे स्वप्न ही है।

बद्ध और मुक्त

जिसके स्वरूप मे आवरण है वह बद्ध है और जिसके स्वरूप मे आवरण नही है वह मुक्त है। ईश्वर मे आवरण नही है। इसलिए उसको नित्यमुक्त कहा गया है। जीव मे आवरण है। अत वह बद्ध है। जीव इसलिए बद्ध है, क्योकि वह अविद्या से आवृत है। इसलिए चेतन से उसकी जीव संज्ञा हुई।

यद्यपि अविद्या, अज्ञान और माया एक ही वस्तु को कहते है, तथापि माया मे शुद्ध सत्वगुण की प्रधानता है और ज्ञान तथा अविद्या मे मलिन सत्वगुण की प्रधानता है। रजोगुण और तमोगुण मे दबा हुआ जो सत्वगुण है उसको 'मलिन सत्वगुण' कहते है। जीव मे अविद्या है। अत वह बद्ध है। ईश्वर मे नही है। अत वह मुक्त है।

आनन्दमय और विज्ञानमय ही क्रमश: ईश्वर और जीव है, दोनो माया से कल्पित है और इन दोनो से ही सारा जगत् कल्पित है।

कर्मफल का प्रदाता

चेतन चार प्रकार का है : कूटस्थ, जीव, ईश्वर और ब्रह्म। इनमे जीव ही पाप-पुण्य का कर्ता और उनके फलो का उपभोक्ता है। जीव के स्वरूप में चेतन की छाया का आभास ही कर्म है। उसका फल ईश्वराधीन है। जीवरूप अंश ही कर्म करता है और उनका फलोपभोग करता है। ईश्वर उसका फल देता है। जीव और ईश्वर मे जो चेतन भाग है वह अभिन्न है। दोनो मे आभास (जो जीव मे है) के कारण भेद है।

वस्तुत. देखा जाय तो न जीव कर्म करता है और न ईश्वर फल देता है; बल्कि जीव मे ईश्वर का जो आभास अंश है वह कर्म करता है और ईश्वर मे जो आभास अंश है वह फल देता है। जीव-ब्रह्म मे जो चेतन है वह घटाकाश, महाकाश की भाँति एक है। 'मै ब्रह्म हूँ' यहाँ वाच्यार्थ मे भेद है, लक्ष्यार्थ मे नही।

आत्म विचार

आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अद्वैत वेदान्त में किसी प्रकार

के प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी गयी है; क्योंकि वह हमारे प्रत्येक व्यवहार मे अपने अस्तित्व का स्वयमेव प्रमाण उपस्थित करता है। इसके विपरीत आत्मा ही सभी प्रमाणों का आधार है, और इसलिए :

यतः सिद्धि प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति

जो सभी प्रमाणो का आधार है वह प्रमाणो के द्वारा कैसे सिद्ध हो सकता है ? जब हम अपने सम्बन्ध मे अर्थात् अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सम्बन्ध मे बातें करते है तो स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी शरीरादि की तह मे कोई ऐसी सत्ता विद्यमान है, जिसका इन सभी पर आधिपत्य है, स्वामित्व है। वह ज्ञानस्वरूप सत्ता ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। उसी के बल पर हम 'मैं', 'मेरा' आदि शब्दो से अपने अस्तित्व को सूचित करते हैं। ऐसा कोई नहीं कहता है कि '**नाहमस्मीति**' मैं नही हूँ। यह 'मै हूँ' ही ज्ञातारूप सत्ता आत्मा है। जीव-जगत्, जीव-ईश्वर, जगत्-ईश्वर, ज्ञात-ज्ञेय आदि के जितने भी भेद है वे सब माया की सृष्टि है, और इसलिए मिथ्या है।

आत्मा और ब्रह्म की एकता

माया के प्रपंच को भेदकर जब हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रविष्ट होते है तो हमे आत्मा और ब्रह्म की एकता मे किसी प्रकार का सन्देह नही रहता। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, अन्त करण की इन वृत्तियो मे आबद्ध चेतना का नाम ही प्रत्यगात्मा, कूटस्थ या व्यक्तिगत आत्मा है और विशुद्ध, विनिर्मुक्त चेतना का नाम ही ब्रह्म है। माया के वशीभूत हुए अन्त करण की वृत्तियों से आबद्ध ब्रह्म ही आत्मस्वरूप है। जैसे घटाकाश और आकाश मे कोई अन्तर नही है, जैसे कि घट के नष्ट हो जाने पर घट के भीतर का आकाश बाहर के आकाश मे मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नही है। यदि आत्मा और परमात्मा को सत्ता को अलग-अलग माना जायगा तो ब्रह्म की अनन्तता और अद्वैत का सिद्धान्त बन नही सकता है।

'अयमात्मा ब्रह्म', 'आत्मैवेदं सर्वम्' आदि महावाक्य आत्मा और ब्रह्म को एकता के सूचक हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (६।८।७) मे वर्णित 'यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा है, वही सत्य है, हे श्वेतकेतु, वही आत्मा तुम हो' (**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**), इस श्रुति मे स्पष्ट ही आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का प्रतिपादन है। इसी प्रकार 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का एक मंत्र आत्मा और परमात्मा की एकता का सुन्दर साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मंत्र है "**य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरं**

य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" अर्थात् 'जो परमेश्वर आत्मा मे ठहरा हुआ आत्मा से भिन्न है, उसको यह आत्मा नही जानता है और जिस परमेश्वर का आत्मा शरीर है, वह आत्मा के अन्दर है तथा आत्मा का नियमन करता है, अन्तर्यामी है, अमृत है।'

जो ब्रह्म इस जगत् का आधार है वही आत्मा है। आत्मा को ब्रह्म का अंश नही कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म तो अखण्ड है (**न हि आत्मनोऽन्यत्... तत्प्रविभक्तदेशकालं भूते भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते**)। आत्मा के अतिरिक्त इस संसार मे कुछ है ही नही। यह सारा जगत् ही आत्मा है। वह देश काल की परिधियों से विमुक्त है।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, सत् है, कूटस्थ है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ज्ञाता आदि सब कुछ भी वही है। ज्ञेयरूप जगत् मे आत्मा ज्ञातारूप है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनो अवस्थाओ मे उसकी अखण्ड सत्ता एक जैसी रहती है। जाग्रत अवस्था मे मनुष्य शरीर और इन्द्रियों को ही अपना वास्तविक रूप समझता है। स्वप्नावस्था मे भी उसका स्मृति संस्कारजन्य विषय-ज्ञान बना रहता है, किन्तु सुषुप्तावस्था मे उसका ज्ञातृत्व भाव विलुप्त हो जाता है। उसे कुछ भी ज्ञान नही रहता। इस सुप्तावस्था मे भी चैतन्य बना रहता है और जब नीद मे उठकर मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसने अच्छे-अच्छे स्वप्न देखे, वह बडे सुख मे सोया, तो उसका साक्ष्य चैतन्य ही है। इस प्रकार की सुषुप्ति मे मनुष्य जब आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है, विषयो की लिप्सा से मुक्त रहकर सुख का अनुभव करना है तो वह शुद्ध चैतन्य आत्मा के अनन्त आनन्द की ही एक झलक मात्र है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (भृगु० ७) मे इस आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप अंकित करते हुए लिखा है कि 'ब्रह्म को आनन्दस्वरूप जानना चाहिए। उस आनन्दमय ब्रह्म मे ही यह प्राणिमय जगत् उत्पन्न हुआ है, उसी मे यह स्थिर है और अनन्त काल तक आनन्द का उपभोग कर बाद मे उसी मे समा जाता है' (**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति**)।

इसलिए वह सत् है और उसकी सत्ता तीनो कालों, तीन अवस्थाओ मे एक जैसी बनी रहती है। जन्म-मृत्यु से वह रहित है। वह धर्म-अधर्म से भी मुक्त है। वह न तो भोक्ता है न कर्ता ही। यह भोक्तृत्व और कर्तृत्व अविद्या के परिणाम है, जो मायापरिच्छिन्न जीव मे पाये जाते है। जब आत्मा अविद्या को

उपाधि से मुक्त होता है तो उसको जीव कहा जाता है। आत्मा ही ब्रह्म है।

जैसे स्वप्न का अधिष्ठान, साक्षी चेतन है और वही स्वप्न का द्रष्टा भी है उसी प्रकार वही स्वप्न का अधिष्ठान और आधार भी है।

आत्मा के गुण

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और उनके संस्कार ये आठ गुण आत्मा मे चेतना की भाँति निवास करते है। ये गुण अदृष्ट के प्रताप से उत्पन्न होते है और अदृष्ट का क्षय हो जाने पर वे भी नष्ट हो जाते है। ज्ञानगुण वाला होने के कारण तथा इच्छा-द्वेष आदि से युक्त होने के कारण आत्मा, चेतन है। वह धर्म-अधर्म का कर्ता और सुख-दुःखादि का भोक्ता है। कर्ता और भोक्ता होने के कारण आत्मा, ईश्वर नही है।

अन्य दर्शनों का आत्मविषयक मन्तव्य

भारतीय दर्शन शाखाओ मे आत्मतत्त्व का विवेचन अनेक दृष्टियो से किया गया है। अद्वैत वेदान्त के आचार्यो ने इस सम्बन्ध मे जो मौलिक विचार प्रस्तुत किये है वे बडे महत्वपूर्ण है। उन्होने प्रायः सभी पूर्ववर्ती मतो का खण्डन करके एक भिन्न मत की स्थापना की है। यहाँ हम विभिन्न दर्शनों के आत्म-विषयक मत और अद्वैत की दृष्टि से उनके खण्डन का क्रमश. विवरण प्रस्तुत करते है।

चार्वाक् (लोकायतिक)

चार्वाक मत के अनुयायियो ने आत्मा से देह की एकता का समर्थन करते हुए ये युक्तियाँ प्रस्तुत की है :

(१) 'अहं' बुद्धि का विषय आत्मा है। 'मै मनुष्य हूँ', 'मै स्थूल हूँ' आदि मे मनुष्यत्व आदि धर्मविशिष्ट, स्थूल देह की 'अहं' प्रतीति का विषय है। अतः देह ही आत्मा है।

(२) लोक मे व्याप्त परम प्रतीति का विषय आत्मा है। इसीलिए मनुष्य को स्त्री, धन आदि विषय प्रिय है क्योकि वे इस देह के उपकारक है। अतएव यह देह ही परम प्रीति का विषय होने से आत्मा है।

(३) उस देहरूप आत्मा का स्नान, मंजन, वस्त्राभूषण, भोजन और शृंगार आदि भोग ही परम पुरुषार्थ है।

(४) मरण ही मोक्ष है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

(५) श्रुतियो मे भी वाणी आदि इन्द्रियो को संवाद-विवाद करते सुना गया

है। इससे वे चेतन सिद्ध होती हैं। चेतन होने के कारण वे ही आत्मा है, क्योंकि चेतनता ही आत्मा का लक्षण है।

खण्डन

वेदान्त के अनुसार, लोकायतिको की ये युक्तियाँ असंगत है, क्योंकि :

(१) 'अहं' प्रतीति का विषय आत्मा न होकर इन्द्रियाँ है। 'मेरी देह स्थूल या सूक्ष्म है' लोक मे ऐसा कहा जाना, देह के प्रति ममत्व का सूचक है। जो ममता का विषय होता है वह 'अहंता' का विषय नही हो सकता है। अतः स्थूल देह 'अहं' प्रतीति का विषय नही है।

(२) यदि स्त्री, धन के कारण देह से प्रीति होती है तो उनसे अधिक प्रीति इन्द्रियों से होती है। इसलिए देह परम प्रीति का विषय नही हो सकता। यदि देह को परम प्रीति का विषय मान भी लिया जाय तो वह जड है और चेतन आत्मा से उसकी भिन्नता स्वयं सिद्ध है। इसके अतिरिक्त देह जन्ममरणशील होने के कारण अनात्म है।

(३) स्नान, भोजन, शृंगार आदि परम पुरुषार्थ नही हैं। पुरुष की इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ कहलाता है। सुख की प्राप्ति हो और दुःख की निवृत्ति, लोक मे सब की यही इच्छा होती है। इसलिए अधिक सुखप्राप्ति और अत्यन्त दुःखाभाव ही परम पुरुषार्थ है। यह आत्मसुख से ही संभव है।

(४) मृत्यु के पश्चात् देहरूप आत्मा नही रहता, यह तो प्रलापमात्र है। उदाहरण के लिए परदेश मे माता या पिता का मरण, शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है। इसी प्रकार दूसरे प्रमाणो की सिद्धि व्यवहार से होती है। अतएव एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना दुराग्रह है।

(५) इन्द्रियाँ चेतन नही हैं। श्रुतियो मे इन्द्रियो का जो संवाद-विवाद वर्णित है वह इन्द्रियो के अभिमानी देवताओ का है। किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी शरीर बना रहता है। 'मै देखता हूँ', 'मै सुनता हूँ' आदि मे 'अहं' प्रतीति का विषय इन्द्रियाँ नही हैं। बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि 'मै नेत्र वाला देखता हूँ, मै कान वाला सुनता हूँ'। इसलिए अहं प्रतीति का विषय इन्द्रियाँ नही है। ऐसी स्थिति मे आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

क्षणिकवादी बौद्ध

क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धि को आत्मा मानते हैं। उनका मत है कि भीतर और बाहर की सभी वस्तुएँ विज्ञानाकार है और वह विज्ञान बादल में

बिजली की भाँति क्षण मे उत्पन्न और क्षण में नष्ट होता है। अतएव क्षणिक है। अपना और दूसरों का प्रकाशक होने के कारण वह स्वप्रकाश भी है।

विज्ञानवादी बौद्धविचारकों का कथन है कि एक विज्ञान के नष्ट होने पर दूसरा और दूसरे विज्ञान के नष्ट होने पर तीसरा उत्पन्न होता है। इस प्रकार दीपशिखा या नदीप्रवाह की भाँति विज्ञान को धारा निरन्तर बनी रहती है। यह धारा 'आलयविज्ञान धारा' और 'प्रवृत्तिविज्ञान धारा' नाम से दो प्रकार की होती है। 'अहं' आकार वाली पहली धारा बुद्धिरूप है। 'इदं' आकार वाली दूसरी धारा मन आदि वाह्य पदार्थ रूप है। पहली धारा, दूसरी धारा का कार्य है।

यह आलयविज्ञान धारारूप बुद्धि ही आत्मा है। इसमे 'प्रवृत्तिविज्ञान धारा' रूप मन आदि के बोध को विचारने से क्षणिक विज्ञान धारा की स्थिति एकरस हो जाती है। वही मोक्ष है।

खण्डन

आत्मा को क्षणिक मानना असंगत है। जैसे चक्षु आदि स्वरूप ज्ञान के साधन है वैसे ही बुद्धि भी निश्चयरूप ज्ञान का साधन है। अत. बुद्धि, आत्मा नही हो सकती है। बुद्धि का कार्य पदार्थों का निश्चय करना है। उसको जानने वाला आत्मा उससे अलग है। आत्मा प्रकाशस्वरूप है। अतः सदा प्रकाशित रहता है। भास्य बुद्धि, भासक आत्मा से भिन्न है।

जैसे घटादि आकार को प्राप्त हुआ दीपकादि का प्रकाश, मिश्रभाव से भासमान होता हुआ भी वस्तुत भिन्न स्वभाव का है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा, बुद्धिवृत्तियाँ के साथ एकाकार हुआ मिश्रभाव से भासमान, वस्तुतः बुद्धिवृत्तियों से भिन्न है।

इसी प्रकार 'अहं' आकार वाली आन्तर वृत्ति बुद्धि, और 'इदं' आकार वाली वाह्य वृत्ति मन, अन्त करण मे भिन्न नही है। अतः देह, इन्द्रिय और मन की तरह बुद्धि भी भौतिक होने से अनात्म है।

शून्यवादी बौद्ध

माध्यमिक शून्यवादी बौद्धविचारकों का कथन है कि **'असदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** आदि श्रुतियों में जिस शून्य की ओर संकेत किया गया है वही आत्मा है। ज्ञान-ज्ञेय-रूप यह सारा जगत् उस शून्य की भ्रांति से कल्पित है।

खण्डन

वेदान्तियो के मत से वंध्यापुत्र की भाँति शून्य का कोई स्वरूप ही नही है। अतः वह अधिष्ठान नही हो सकता है। यदि आत्मा को शून्य से भिन्न न स्वीकार

किया जायगा तो 'यह शून्य है' इस कथन का आधार बन ही नहीं सकता है। इसलिए शून्य के साक्षी रूप में भी आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है।

'यह जगत् आगे असत् था' यह श्रुतिवाक्य शून्य का प्रतिपादक नहीं है, बल्कि यह उन दर्शन-सिद्धान्तों का निषेध करता है, जिनके अनुसार प्रागभाव आदि को जगत् का कारण माना गया है।

अणुपरिमाणवादी जैन

अणुपरिमाणवादी जैन दर्शनकारों का मत है कि यह आत्मा, बाल के हजारहवें भाग के बराबर सूक्ष्म है और वही समस्त नाडियों में संचरित है। आत्मा के अणु हुए बिना नाडियों का संचार संभव नहीं है।

इसी मत के समर्थन में उन श्रुतियों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है, जिनमें कहा गया है कि 'यह आत्मा अणु से अत्यन्त अणु है, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है', अथवा 'वह जीव इतना सूक्ष्म है कि बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये, जायं और उनमें भी एक-एक के सौ भाग करके जितना अंश बने, उसके बराबर है।

खण्डन

जिन श्रुतियों के आधार पर आत्मा को अणुपरिमाणी सिद्ध किया गया है, वस्तुतः उनका तात्पर्य यह है कि स्थूलबुद्धि पुरुष के लिए वह अणु की भांति दुर्ज्ञेय है। श्रुतियों का उद्देश्य तो आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन करना है।

मध्यम परिमाणवादी जैन

मध्यम परिमाणवादी दिगम्बरीय जैनाचार्यों का मत है कि आत्मा, मध्यम परिमाण वाला है। उदाहरण के लिए जैसे देह के अवयवभूत, दो हाथों का कुर्ते में प्रवेश हो जाने से सारी देह का कुर्ते में प्रविष्ट होना माना जाता है, वैसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का नाडियों में संचार होने से यह माना जाता है कि आत्मा, नाड़ियों में सचरित हो रहा है।

खण्डन

वेदान्तियों के मत से जितनी भी सावयव वस्तुएँ हैं वे घट की तरह नाशवान् हैं। यदि आत्मा को सावयव माना जायगा तो आत्मा की नाशवत्ता सिद्ध होती है, और इस प्रकार 'कृतनाश' तथा 'अकृताभ्यागम' दोषों का उपशमन न हो सकेगा। अर्जित पाप-पुण्यों का उपभोग किये बिना ही नष्ट हो जाना 'कृतनाश' और न किये गये पाप-पुण्यों का उपभोग 'अकृताभ्यागम' कहलाता है।

इसलिए आत्मा न तो अणु है और न मध्यम ही। वह महत्परिमाण वाला (महान्) अथवा विभु है। वह आकाश की भाँति सर्वत्रगामी और निरवयव है।

ब्रह्म विचार

शाकरमत का दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह सारा विश्व-प्रपंच एक ही अद्वितीय तत्त्व मे अन्तर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। इस अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त इस संसार मे किसी की सत्ता नही है। वही सारे दृश्यमान जगत् को प्रकाशित करने वाला, स्वयंप्रकाश, अनन्त, अखण्ड, अनादि, अविनाशी, चेतनस्वरूप और आनन्दमय है। अनेक उपाधियो मे विवर्तित होकर अनेक प्रकार के जड़ (माया, अविद्या) तथा चेतन (जीव) पदार्थों मे वही दिखायी देता है। वह अनुमान से सिद्ध नही होता, बल्कि शब्दप्रमाण द्वारा ही उसको जाना जा सकता है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने की भी आवश्यकता नही है, क्योकि आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म का अस्तित्व स्वत सिद्ध है (**सर्वस्यात्मत्वात् ब्रह्मास्तित्वसिद्धिः**)। उसके अस्तित्व के प्रमाण श्रुतियाँ है।

यह संसार असत्य, जड और दु खात्मक है, जब कि ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। वह 'सत्' है, अर्थात् अपने निश्चित् रूप से कभी भी व्यभिचरित नही होता। वह 'चित्' है; अर्थात् ज्ञानस्वरूप चैतन्य होने के कारण वह सदा 'प्रबुद्ध' है। पूर्णकाम होने के कारण वह 'आनन्दमय' है। इस सृष्टि के पहले भी वही था, इस सृष्टि की सत्ता मे भी वह है और इस सृष्टि की लयावस्था मे भी वह रहेगा। जैसे मिट्टी से बने बर्तन मिट्टी के विकारमात्र है उसी प्रकार यह संसार भी ब्रह्म का विवर्त है। उसको अवाङ्मनसागोचर कहा गया है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी से रहित वह अनन्त, अखण्ड चैतन्यस्वरूप है।

ब्रह्म का तटस्थ और स्वरूप लक्षण

भगवत्पाद शंकराचार्य ने दो दृष्टियो से ब्रह्म का विचार किया जाना बताया है : (१) व्यावहारिक दृष्टि से और (२) पारमार्थिक दृष्टि से। एक को शकराचार्य ने ब्रह्म का तटस्थ लक्षण और दूसरे को स्वरूप लक्षण कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत् और इसके समस्त व्यापार सत्य मानकर ब्रह्म को इस जगत् का कर्ता, पालक और संहारक कहा जा सकता है। इस व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को सगुण मानकर ईश्वर भक्ति का विकास हुआ। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भले ही हम जगत् को सत्य और उसका कर्ता ईश्वर को मान लें; किन्तु उसका यह तटस्थ लक्षण उसका औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नही है। रंगमंच पर राजा की भूमिका का अभिनय करने वाला एक साधारण व्यक्ति नाटक की

समाप्ति तक भले ही राजा समझ लिया जाता है, किन्तु बाद मे वह अपनी वास्तविक अवस्था मे एक साधारण व्यक्ति ही रहता है। जब वह एक अभिनेता के रूप मे राजा, विजेता और शासक का पार्ट अदा करता है तो उसका वह 'तटस्थ लक्षण' कहलाता है; किन्तु जब वह अपनी प्रकृतावास्था मे होता है तब उसका वह 'स्वरूप लक्षण' कहलाता है। 'तटस्थ लक्षण' वह है, जो वास्त विक स्वरूप से भिन्न होता है।

इसलिए ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' ही वास्तविक है, उसका 'तटस्थ लक्षण' केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। सृष्टि-रचना के लिए ब्रह्म 'तटस्थ लक्षण' धारण करके निर्गुण से सगुण हो जाता है। जगत्कर्ता, जगत्पालक और जगत्संहारक आदि विशेषण उसके तटस्थ लक्षण है और व्यावहारिक दृष्टि मे ही वे सत्य प्रतीत होते है। किन्तु जगत् के सम्बन्ध को छोडकर पारमार्थिक दृष्टि से जब ब्रह्म का विचार किया जाता है तभी उसका वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है। शंकराचार्य के मतानुसार वही परब्रह्म है।

ब्रह्म के उक्त व्यावहारिक और पारमार्थिक स्वरूपो के अनुसार ही हम जान सकते है कि ब्रह्म इस जगत् मे किस रूप मे व्याप्त है और किस रूप मे वह इनसे परे भी है। जैसे भ्रमवश रस्सी मे साँप का आभास कल्पित होता है, ठीक उसी प्रकार जगत् मे ब्रह्म का आभास भी कल्पित है। किन्तु इस भ्रान्ति अथवा कल्पना या आभास से ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मे कोई अन्तर नही आता है। जिस प्रकार रस्सी मे साँप का भ्रम होने से रस्सी मे कोई विकार नही आता अथवा राजा का अभिनय करने वाले नट को राज्य की प्राप्ति तथा पराजय का कोई हानि-लाभ नही होता उसी प्रकार इस जगत् के सुख-दु खादि व्यापारो का ब्रह्म पर कोई प्रभाव नही पडता।

व्यावहारिक दृष्टि की प्रयोजनीयता

अद्वैत वेदान्त मे पारमार्थिक दृष्टि को ही वास्तविक माना गया है; किन्तु इस व्यापक लोक-जीवन का सचालन व्यावहारिक दृष्टि से संपन्न होता आ रहा है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि को भी वेदान्त मे सर्वथा उपेक्षणीय नही समझा गया है। प्रतीत और वास्तविक रूप मे वैभिन्य होते हुए भी उनके बिना ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध नही समझा जा सकता है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि की ही भाँति व्यावहारिक दृष्टि की प्रयोजनीयता भी असदिग्ध है।

निर्गुण ब्रह्म : सगुण ईश्वर

वेदान्त के अनुसार यद्यपि ईश्वर को ब्रह्म के औपाधिक रूप मे स्वीकार

किया गया है; फिर भी इसका यह अर्थ नही है कि ब्रह्म से ईश्वर का दर्जा कुछ कम है। परब्रह्म जब बीजरूप अनादि शक्ति से युक्त होकर जगत् की उत्पत्ति के लिए तटस्थ लक्षण धारण करता है तब वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म के इन दो रूपों का वर्णन उपनिषदो मे भी वर्णित है। उपनिषदो का परब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म और अपरब्रह्म ही सगुण ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म निरुपाधि, निर्विशेष और सगुण ब्रह्म सोपाधि, सविशेष है।

जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म की कोई परिभाषा तथा सीमा नही है उसी प्रकार सगुण ईश्वर भी अवाङ्मनसागोचर है। वही इस जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। 'वेदान्तसार' मे सदानन्द ने सगुण ईश्वर की विभूतियो के सम्बन्ध मे कहा है कि 'यह ईश्वर स्थावर, जंगम आदि समस्त प्रपंचो का साक्षी होने के कारण और समस्त अज्ञानो को प्रकाशित करने के कारण 'सर्वज्ञ' है, सभी जीवो को उनके कर्मों के अनुसार फल देने के कारण 'सर्वेश्वर' है, सभी जीवो को उनके कर्मों मे प्रवृत्त करने के कारण 'सर्वनियन्ता' है, प्रमाणो के द्वारा वह नही जाना जा सकता है, अत. अप्रमेय है, सभी जीवो के घट मे निवास कर उन्हे नियन्त्रित करने के कारण 'अन्तर्यामी' है, और समस्त चराचर विश्व का विवर्तरूप मे अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारण भी है।'

ब्रह्म की भाँति ईश्वर भी भोक्ता नही, साक्षी है। किन्तु वह जगत् का कर्ता, पालक और सहारक, तीनो है। वह सक्रिय है, क्योकि माया से युक्त है। अत. वह उपासना का विषय है और उपासको की भक्ति से प्रसन्न होकर वह नाना नामरूपो मे प्रकट होता है।

इस विचार से ब्रह्म और ईश्वर दोनो शब्दो का यद्यपि एक ही अर्थ प्रतीत होता है, तथापि ब्रह्म शब्द से जहाँ लक्ष्य और वाच्य, दोनो अर्थो का बोध होता है, वहाँ ईश्वर शब्द से केवल वाच्य अर्थ का ही बोध होता है। इसलिए लक्ष्य अर्थ की दृष्टि से ब्रह्म शब्द का भिन्नार्थ मे निरूपण किया गया है।

शकराचार्य के मत मे उपासना आध्यात्मिक उन्नति एक सोपान है। जो अविवेकी मनुष्य है वह इसी ससार को सब कुछ समझता हुआ इसी मे लिप्त रहना चाहता है। जगत् को ही सब कुछ समझने वाले विचारको ने 'निरीश्वरवाद' का प्रतिपादन किया। इन निरीश्वरवादी नास्तिक विचारको के प्रभाव से बचने के लिए शंकराचार्य ने देवताओं की उपासना को स्वीकार किया है। जब कि श्रद्धालु मनुष्य ईश्वर को जगत्पालक के रूप मे पूजता है तो वह अविवेकी

मनुष्य की अपेक्षा अपनी आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में आगे बढ़ जाता है। इस उपासना-पद्धति ने ही 'ईश्वरवाद' की प्रतिष्ठा की। रामानुज, बल्लभ आदि उसके अधिष्ठाता आचार्य हुए। भक्ति और उपासना में तल्लीन होकर जीव जब अपने स्वरूप को समझ लेता है तब सगुण भक्ति और उपासना से विरत होकर वह निर्गुण ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है। यही शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' और मुमुक्षु की अन्तिम मंजिल है।

मायाविशिष्ट चेतन ही ब्रह्म है

इस ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर, महाकाश की भाँति व्याप्त चेतन ही ब्रह्म है। वह सब का आत्मा है और देहादिक उपाधियों से रहित है। यद्यपि व्यापक वस्तु का नाम ब्रह्म होने से ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ सोपाधिक है, तथापि उस का भाव, रूपनिष्ट नही है।

व्यापकता दो प्रकार की बतायी गयी है: आपेक्षिक और निरपेक्षिक। जो पदार्थ किसी पदार्थ की अपेक्षा व्यापक हो और किसी की अपेक्षा से न हो वह 'आपेक्षिक व्यापकता' के अन्तर्गत आता है। जैसे पृथिवी की अपेक्षा माया व्यापक है और चेतन की अपेक्षा से न्यून। इसलिए माया में 'आपेक्षिक व्यापकता' है। इसी प्रकार जो वस्तु सब की अपेक्षा व्यापक हो वह 'निरपेक्षिक व्यापकता' के अन्तर्गत आती है। क्योंकि चेतन के समान या उससे अधिक दूसरी वस्तु व्यापक नही है। इसलिए चेतन में 'निरपेक्षिक व्यापकता' है। ये दोनों प्रकार की व्यापकता ब्रह्म शब्द की वाच्य है, क्योंकि मायाविशिष्ट चेतन ही ब्रह्म है। 'विशिष्ट' में माया का जो अंश है उस दृष्टि से उसमें 'निरपेक्षिक व्यापकता' है और जो चेतन अंश है उस दृष्टि से 'आपेक्षिक व्यापकता' है। माया विशिष्ट चेतन पारमार्थिक दृष्टि से शुद्धस्वरूप है। इस दृष्टि से मायाविशिष्ट वस्तु ब्रह्म शब्द का वाच्य और शुद्ध चेतन वस्तु, ब्रह्म शब्द का लक्ष्य है।

ब्रह्म और जीव

ब्रह्म और जीव में भेद प्रतीति का कारण अज्ञान या आवरण है। 'मैं ब्रह्म को नही जानता हूँ' इस व्यवहार का कारण अज्ञान है। 'ब्रह्म नही है और उसका आभास नही होता' इस व्यवहार का कारण आवरण है। अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है: असत्योत्पादक और अज्ञानोत्पादक। 'वस्तु नही है' ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति को 'असत्योत्पादक' और वस्तु का भान नही होता' ऐसी प्रतीति कराने वाली अज्ञान शक्ति का नाम 'अज्ञानोत्पादक' है।

इस दृष्टि से 'ब्रह्म नहीं है' इस व्यवहार का कारण, अज्ञान की 'असत्योत्पादक' शक्ति है और 'ब्रह्म का भान नहीं होता' इस व्यवहार का कारण, अज्ञान की 'अज्ञानोत्पादक' शक्ति है। इन दोनों का नाम आवरण है।

भेदज्ञान का कारण भ्रांति

भेद का दूसरा कारण भ्राति है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त संसार को जो अपने स्वरूप मे प्रतीति होती है उसको श्रुति में 'भ्राति' कहा गया है। उसी का अपर नाम शोक है।

'ब्रह्म नही है' इस आवरण के अंश को 'ब्रह्म है' यह परोक्ष ज्ञान दूर करता है। परोक्षज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। 'मै ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञान समस्त अविद्या जाल का नाश कर देता है। 'मै ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' यह अज्ञान, 'ब्रह्म नही है' तथा 'उसका भान नहीं होता' यह आवरण और "मै ब्रह्म नही हूँ किन्तु पुण्य-पाप का कर्ता तथा सुख-दु ख का भोक्ता जीव हूँ' यह भ्राति—इन सब मे जो अविद्या जाल है उसको अपरोक्ष ज्ञान ही नाश कर सकता है।

भ्रांतिनाश का स्वरूप

(१) 'मुझ मे जन्म-मरण नही है, (२) मुझ मे सुख-दु ख का लेश नही है, (३) मुझमे कोई ससार धर्म नही है और (४) जन्म मे रहित जो कूटस्थ है वह मै हूँ' इस तरह सब प्रकार के अनर्थों का निषेध ही भ्रातिनाश का स्वरूप है। इसी को शोकनाश भी कहते हैं। जीव जब सशयरहित होकर 'मै ब्रह्म-रूप हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसको ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

मोक्ष विचार

सभी भारतीय दर्शन, चार्वाक दर्शन को छोड़कर, यह स्वीकार करते है कि यह संसार दु:खमय है और इसमे रहने वाले प्राणी अनेक कष्टो तथा पीडाओं से सन्तप्त है। इन कष्टो और पीडाओं से छुटकारा पाकर मनुष्य सदा के लिए इन से मुक्त हो सकता है, यह विचार सभी दर्शनों मे देखने को मिलता है। सभी दर्शनो का अन्तिम उद्देश्य उस अनन्त आनन्द को खोज करना रहा है।

वेदान्त दर्शन के मोक्ष-विचार मे इसी का सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसमे बताया गया है कि ब्रह्म अद्वितीय है, अर्थात् वह सजातीय-विजातीय भेद से रहित है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण प्रपंच माया का विलास है। अतः मिथ्या है। इस माया-विलास मे लिप्त रहना ही जीव का बन्धन कहा गया है। इस माया के कारण असत्य सासारिक पदार्थ सत्य की तरह प्रतिभासित हो रहे हैं।

जब उस अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब माया का आवरण छिन्न होकर जीव का जीवभाव दूर हो जाता है। इसी को बन्धनाश कहा गया है। जीवभाव दूर होने के बाद ही वह ब्रह्मभाव मे लीन हो जाता है। उसी अवस्था को मोक्ष कहते है। ब्रह्मभाव से च्युत होकर मनुष्य जीवभाव मे क्यो डूबा रहता है, इससे छुटकारा पाकर उस मुक्तावस्था को प्राप्त करने के साधन क्या है, इनका विवेचन भी विस्तार से वेदान्त मे किया गया है।

अविद्या के कारण मनुष्य ब्रह्मभाव से च्युत होकर जीवभाव मे आता है। यह अविद्या ही उसमे आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, जगत्-ब्रह्म का द्वैतभाव जगाती है। इस अविद्या या अज्ञान का ही कारण है कि हम इस जगत् को और इस जगत् के पदार्थों को वास्तविक समझकर उनकी प्राप्ति मे सुखी और अप्राप्ति मे दुःखी होते हैं। हमारा इस प्रकार का सुख-दुःख क्षणिक होता है क्योंकि वह अवास्तविक है। ये शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सभी मायावी उपाधियाँ है। माया की आवरणशक्ति उस दीप्तिपुंज अखण्ड ब्रह्म को उसी प्रकार ढँक लेती है, जैसे राहु तेजोमय सूर्य को, और माया की विक्षेप शक्ति उस कूटस्थ, अद्वितीय परमेश्वर से अलग कर इस नाना रूपात्मक जगत् का निर्माण कर के जीव को उसमे इस प्रकार रमा देती है कि वह उसी को सत्य समझने लगता है (**एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातु: अविद्यया मायया माया विवद् अनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति**)। जीव के बन्धन और भ्रम का कारण माया की ये दो शक्तियाँ है, जिनके कारण अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न यह जीवात्मा अनन्त जन्मो तक इस संसार-चक्र मे घूमता रहता है।

शंकराचार्य ने जीव के इस बन्धन और भ्रम को दूर करने के लिए पहला उपाय बताया है ज्ञान (**ऋते ज्ञानान्न मुक्ति**)। इस ज्ञान को प्राप्त किये बिना मुक्ति की प्राप्ति सभव नही है। शाकरदर्शन की इस मुक्ति का स्वरूप एक ही महावाक्य मे समाहित है। वह महावाक्य (**अहं ब्रह्मास्मि, जीवो ब्रह्मैव नापर**)। इस महावाक्य के अनुसार जब जीव और ब्रह्म एक है तब यह अनेकता क्यो भासित हो रही है? यह अनेकता, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अविद्या या अज्ञान के कारण भासित हो रही है। इस अविद्या या अज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है और तब तत्त्वज्ञानी जीव स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न समझकर '**अहं ब्रह्मास्मि**' का अनुभव करता है। यही मुक्ति है और उसके बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के शास्त्र तथा उपदेश का आश्रय लेना अपेक्षित।

इस आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अन्त.करण की शुद्धि आवश्यक है। शंकर ने मोक्ष को मानव जीवन का एक परम पुरुषार्थ स्वीकार किया है। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए मनष्य को अपने नैतिक गुणो को बलवान् बनाना आवश्यक है। इन नैतिक गुणो की बलवत्ता ही अन्तःकरण की शुद्धि है। अन्त.करण की शुद्धि वेद मे प्रतिपादित कर्मो के करने से होती है। कर्मो से परिशुद्ध अन्तःकरण मे ज्ञान का उदय होता है और तभी परमपद मोक्ष की प्राप्ति होती है। किन्तु न तो अकेले कर्म और न अकेला आत्मज्ञान ही फलदायक होता है, बल्कि दोनो मिलकर ही मोक्ष को देने वाले है। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् दोनो को जानता है वह असंभूति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके संभूति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

मोक्ष-प्राप्ति के ये नैतिक साधन दो प्रकार के है : बहिरग और अन्तरग। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षुत्व, ये चार बहिरंग साधन है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, ये चार अन्तरंग साधन है। वेदान्त दर्शन मे उक्त बहिरग साधनो को 'साधनचतुष्टय' के नाम से कहा गया है।

साधनचतुष्टय

बहिरंग साधन

शकराचार्य के मतानुसार वेदान्त विद्या का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है, साधनचतुष्टय द्वारा जिसने अपने अन्त करण को शुद्ध कर लिया है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चार वृत्तियो की समष्टि का नाम ही अन्त करण है। इन चार वृत्तियो का सस्कार 'साधनचतुष्टय' के द्वारा होता है।

१—**नित्यानित्यवस्तुविवेक** : नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना ही 'विवेक' है। इस विवेक-साधन के द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि परमात्मा नित्य है और उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ अनित्य।

२—**वैराग्य** : इस लोक के भोग-विलास और परलोक के कर्मजन्य यज्ञयागादि दोनो प्रकार की वस्तुओ एवं फलो से सर्वथा विमुख हो जाना ही 'वैराग्य' है।

३—**शमादि** : शमादि षट्सम्पत्ति का नाम है : शम दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान और श्रद्धा। (१) इन्द्रियो के विषयो को सयमित करके आत्मवस्तु मे चित्त लगाने का नाम ही 'शम' है। (२) ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनभूत श्रवण-मननादि के अतिरिक्त विषयो से चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियो को हटाकर उन्हें यथास्थान स्थिर रखना ही 'दम' है। (३) समस्त

मानापमान, सुख-दुःख, शीत-ताप आदि को सहनकर उनके लिए किसी प्रकार का विलाप तथा पश्चाताप न करना ही 'तितिक्षा' है। (४) फलेच्छाशून्य होकर समस्त कर्मों को भगवान् मे केन्द्रित करना ही 'उपरति' है। (५) शुद्ध, बुद्ध परब्रह्म मे तत्पर होना तथा गुरु-सुश्रूषा करना ही 'समाधान' है। (६) गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य मे विश्वास करना ही 'श्रद्धा' है।

४—**मुमुक्षत्व :** आत्मस्वरूप का परोक्षबोध हो जाने के बाद अज्ञान कल्पित बन्ध से मुक्त हो जाने की इच्छा को 'मुमुक्षत्व' कहते हैं।

इस प्रकार जब तक नित्यानित्य-विवेक न होगा तब तक वैराग्य नही हो सकता है, वैराग्य के बिना मोक्ष की इच्छा नही हो सकती, और बिना मोक्षेच्छा के ब्रह्मजिज्ञासा का होना संभव नही है।

अन्तरंग साधन

वेदान्त विद्या का अधिकारी हो जाने के बाद स्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है। इसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, इन चार अन्तरंग साधनो मे प्रवृत्ति होना बताया गया है। (१) छह प्रकार के लिगो द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यो का एक ही अद्वितीय ब्रह्म मे तात्पर्य समझना 'श्रवण' कहलाता है। छह लिगो के नाम है उपक्रमोपसहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। (२) छह प्रकार के लिगों का तात्पर्य समझ कर वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन करना 'मनन' कहलाता है। (३) देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी विभिन्न जड पदार्थ है उनको भिन्नत्व भावना को हटाकर सब मे एकमात्र ब्रह्म-विषयक विश्वास करना 'निदिध्यासन' है। (४) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदभाव दूर करके एक ही अद्वितीय वस्तु ब्रह्म मे चित्तवृत्ति को एकाकार करना ही 'समाधि' है। योग दर्शन के प्रकरण में इसको विस्तार से समझाया गया है।

यज्ञादि कर्म बहिरंग साधन

ज्ञान तथा श्रवण मे जिसका प्रत्यक्ष फल नही होता, बल्कि जिसका एकमात्र फल अन्त करण की शुद्धि है, वह बहिरंग साधन कहलाता है। इस दृष्टि से यज्ञादिक कर्म भी बहिरंग साधन हैं। यद्यपि ये यज्ञादिक कर्म सासारिक साधन है और उनके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि संभव नही है, तथापि सकाम पुरुष के लिए तो वे सासारिक हेतु हैं और निष्काम पुरुष के लिए अन्त करण शुद्धि के हेतु। इसी लिए उनको ज्ञान का हेतु कहा गया है।

बहिरंग कहते है दूरी को और अन्तरंग कहते है सामीप्य को। यज्ञादिक कर्म और उनके साधन स्त्री, धन तथा पुत्रादि का त्याग करने वाला पुरुष ही ज्ञान का अधिकारी है। ज्ञान के अधिकारी के लिए यज्ञादिक कर्मों का कोई उपयोग नही है, बल्कि ज्ञान के अधिकारी के लिए विवेकादियों की अपेक्षा है। इसलिए वे समीप है। इन विवेकादियो मे भी परस्पर अन्तर है। श्रवणादि की अपेक्षा विवेकादि बहिरंग है।

श्रवणादि ज्ञान के हेतु हैं, साक्षात् हेतु नहीं

यदि विचार करके देखा जाय तो ज्ञान के मुख्य अंतरंग साधन 'महावाक्य' है, श्रवणादि नही। ये श्रवणादि ज्ञान के साक्षात् हेतु नही हैं, किन्तु बुद्धि की 'असंभावना' और 'विपरीतभावना' के नाशक हैं। संशय को 'असंभावना' और विपर्यय को 'विपरीतभावना' कहते हैं। श्रवण से प्रमाण का संदेह दूर होना है और यत्न से प्रमेय का संदेह।

वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या अन्य अर्थ के प्रतिपादक हैं, इस प्रकार यदि प्रमाण मे संदेह उत्पन्न होता हो तो उसको 'श्रवण' द्वारा दूर किया जा सकता है। जीव-ब्रह्म का अभेद सत्य है या भेद सत्य है, इस प्रकार यदि प्रमेय मे सदेह की संभावना हो तो उसको 'मनन' द्वारा निराकृत किया जा सकता है। देहादिक सत्य है या जीव ब्रह्म का भेद सत्य है, इस विपरीत भावना या विपर्यय को 'निदिध्यासन' के द्वारा दूर किया जा सकता है।

इस प्रकार तीनो श्रवणादिक 'असंभावना' तथा 'विपरीतभावना' के नाशक है। यह 'असभावना' तथा 'विपरीतभावना' ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रतिबन्धक है। इन ज्ञान-प्रतिबन्धको का विनाश करने के कारण श्रवणादियों को ज्ञान का हेतु कहा गया है।

ज्ञान के साक्षात् हेतु वेदान्तवाक्य हैं

ज्ञान के साक्षात् हेतु श्रवणादि न होकर वेदान्तवाक्य हैं, जो दो प्रकार के है : अवान्तर वाक्य और महावाक्य। परमात्मा या जीव का स्वरूप बताने वाले वाक्य 'अवान्तर वाक्य' और जीव-परमात्मा की एकता को बताने वाले वाक्य 'महावाक्य' हैं। 'अवान्तर वाक्य' से परोक्ष ज्ञान होता है और 'महावाक्य' से अपरोक्ष ज्ञान। 'ब्रह्म है' इस ज्ञान को परोक्षज्ञान और 'ब्रह्म मै हूँ' इस ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

इस दृष्टि से यद्यपि ज्ञान के साक्षात् साधन 'महावाक्य' सिद्ध होते है, तथापि ज्ञान के प्रतिबन्धक जो दोष हैं उनका उच्छेदक होने के कारण श्रवणादियों को भी

ज्ञान का हेतु कहा गया है। श्रवणादियों के हेतु विवेकादि हैं। अतः विवेकादि ज्ञान के साधन हैं।

मिथ्याज्ञान या भ्रम

नास्तिक और आस्तिक सभी दर्शन शाखाओं का मुख्य तथा गंभीर विषय है मिथ्याज्ञान या भ्रम का निरूपण करना। यदि इस मिथ्याज्ञान को निकाल दिया जाय तो दर्शन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है, किन्तु क्योंकि 'उत्पत्ति और विकास की आमूल प्रक्रिया के साथ ही भ्रम का अभिन्न-सम्बन्ध है, इसलिए दर्शन के प्रयोजन की अनपेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रम, विभ्रम, भ्रांति, व्यभिचारिज्ञान, विपर्यय, मिथ्यात्व और मिथ्याप्रत्यय आदि पर्यायों से विभिन्न दार्शनिकों ने इस मिथ्याज्ञान को अविद्या का स्वरूप बनाया है। जयराशि भट्ट प्रभृति कुछ जैनाचार्य ऐसे भी हुए, जिन्होंने मिथ्याज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया ही नहीं, क्योंकि उनके मत में जब ज्ञान के विषय की व्यवस्था ही नहीं बन सकती तो मिथ्याज्ञान का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

परम तत्त्व का भ्रम

यदि हम विभिन्न दर्शन-शाखाओं को समन्वयात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से देखते हैं तो हमें लगता है कि उनमें परम तत्त्व के विषय में ही मतभेद है। उदाहरण के लिए नैयायिक भेदज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहते हैं, जब कि वेदान्तियों का कहना है कि भेदज्ञान से बढ़कर दूसरा मिथ्याज्ञान हो ही नहीं सकता है। इसलिए मुख्य समस्या यह है कि एक दर्शन जिसको ज्ञान कहता है, दूसरा दर्शन उसको मिथ्या क्यों कहता है? परम तत्व के संबंध में दार्शनिकों का यह मतभेद ही भ्रम की स्थापना करता है।

व्यावहारिक भ्रम में मतान्तर

सभी दर्शन शाखाओं में व्यावहारिक भ्रम को स्वीकार किया है, किन्तु उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इस पर उनमें मतैक्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से इस भ्रमज्ञान को विभिन्न दर्शनों में अनेक प्रकार से कहा गया है, जैसे मरु-मरीचिका में जलज्ञान, शुक्ल शंख में पीतज्ञान, चलती गाडी से पीछे की ओर दौड़ते हुए वृक्षादियों का विपरीतज्ञान, शुक्ति में रजत का ज्ञान, रज्जु में सर्प का ज्ञान।

यद्यपि सभी दर्शन इस बात को एक मत से स्वीकार करते हैं कि शुक्ति में रजत का ज्ञान भ्रममात्र है, तथापि उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है, इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान किया गया है। सभी दर्शनकारों ने इस प्रश्न का

अधिक वैज्ञानिक ढंग से समाधान करने के लिए तर्क और युक्तियो का आश्रय लिया है।

शून्यवाद : असत्ख्याति

माध्यमिक मतानुयायी बौद्ध विचारको का कथन है कि अन्य दर्शनकारों की भाँति जिस अर्थ का प्रतिभास (विरुद्ध प्रतीति) है उसको आधारहीन मानना उचित नही है। जब हम सोये होते है तो हमे अर्थ का प्रतिभास नही होता; किन्तु भ्रम से अर्थ का प्रतिभास होता है। बौद्धो का कथन है कि उस प्रतिभास का विषय बाह्य सत् नही। अतएव वह असत् ही हो सकता है। असत् अर्थात् नि स्वभाव। माध्यमिक बौद्ध विचारक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता मान करके उनकी परीक्षा करते है और अन्त मे उनको 'असत्' प्रमाणित करते हैं। उनकी दृष्टि मे सभी सविषयक ज्ञान मिथ्या है।

शून्यवादी बौद्ध विचारको का कहना है कि जिस देश मे सर्प अत्यन्त असत् है उसकी उस देश मे प्रतीति होना असत्य ख्याति है। 'असत्य ख्याति' अर्थात् अत्यन्त असत्य सर्प का भान या कथन।

विज्ञान : आत्मख्याति

योगाचार संप्रदाय के विज्ञानवादी बौद्ध विचारको ने दो प्रकार का भ्रम स्वीकार किया है : मुख्य और प्रातिभासिक। व्यावहारिक दृष्टि से हम सब की इन्द्रिय शक्तियो मे एकता होती है। अतएव हम अपने कुछ ज्ञानो को अभ्रान्त और कुछ को भ्रात मानकर अपना काम चलाते है। हम जिस ज्ञान को अभ्रांत समझते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से वह भी भ्रात है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से अनुमान ज्ञान अभ्रात और पारमार्थिक दृष्टि से भ्रात है। योगाचार की दृष्टि से सभी प्रतिभासो मे ज्ञान की अपनी ही ख्याति होती है। उनमे भ्रांताभ्रात का विवेक लोक-व्यवहार की दृष्टि से है, पारमार्थिक दृष्टि से नही। व्यावहारिक दृष्टि वासनामय है। अत वासनाजन्य सारा व्यावहारिक ज्ञान भी मिथ्या है।

विज्ञानवादी विचारको के मत से विश्व के समस्त पदार्थों के आकारों को बुद्धि ने धारण किया हुआ है। रज्जु मे तथा अन्य वस्तु मे सर्प है ही नही। यह बुद्धि क्षणिक विज्ञान रूप है, अर्थात् वह क्षण-क्षण मे नष्ट और उत्पन्न होती है। इसी बुद्धि को क्षण-क्षण सर्प रूप की प्रतीति होती है। यही 'आत्मख्याति' है। 'आत्मख्याति' अर्थात् क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि का सर्प रूप मे भान या कथन।

न्याय वैशेषिक : अन्यथा ख्याति

न्याय, वैशेषिक और जैनों की दृष्टि से भ्रमज्ञान, अन्यथा ख्याति या विपरीत ख्याति है। अन्यथा ख्याति के अनुसार बाह्य वस्तुएँ सर्वथा ज्ञानरूप या शून्य रूप या सर्वत्र सत्‌रूप नही हैं। इन्द्रिय के गुण-दोषों के कारण किसी वस्तु के विपरीत और अविपरीत प्रत्यय को जाना जाता है। दोष के कारण हम रजत के निजरूप मे प्रत्यक्ष नही कर पाते, बल्कि रजत् सदृश शुक्ति के दर्शनजन्य, रजतस्मृति के कारण, शुक्ति मे ही रजत को देखते है।

इस सिद्धान्त के मानने वाले विचारकों का कथन है कि नेत्रों द्वारा बम्बी मे देखा हुआ सर्प वास्तविक है; अन्य वस्तु (रज्जु) मे उसकी प्रतीति का कारण नेत्रदोष है। जैसे पित्तादि दोष के कारण जठराग्नि मे पाचन-सामर्थ्य अधिक बढ जाती है, उसी प्रकार नेत्रों मे भी तिमिरादि दोषों के कारण दूसरे दूसरे स्थानो पर सर्प को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य आ जाती है। इसलिए बम्बी के सर्प को रज्जु मे देखना 'अन्यथाख्याति' या 'विपरीतख्याति' है।

सांख्य मीमांसा : अख्याति

क्षणिक विज्ञानवादियों का खण्डन करते हुए अख्यातिवादियों का कथन है कि 'असत्य ख्याति' वध्या पुत्र और शश शृंग की भाँति असगत है। यदि क्षणिक विज्ञान का ही स्वरूप सर्पादिक है तो उसकी क्षण-मात्र से अधिक प्रतीति होनी ही नही चाहिए। इसी प्रकार विज्ञानवादियो की 'आत्मख्याति' भी युक्तियुक्त नही, क्योंकि ज्ञेय (रज्जु) के द्वारा ज्ञान (सर्प) का होना सर्वथा विरुद्ध है।

इसलिए जहाँ रज्जु मे सर्पभ्रम है वहाँ अपनी वृत्ति द्वारा नेत्र का रज्जु से संबंध स्थापित होकर 'यह रज्जु है' का सामान्य ज्ञान होता है और सर्प की स्मृति बनी रहती है। 'यह सर्प है' इसमे दो कोटि का ज्ञान है। 'यह' अश तो रज्जु का सामान्य प्रत्यक्षज्ञान है और 'सर्प है' इसमे सर्प का 'स्मृति' रूप ज्ञान है। किन्तु विवेक के अभाव मे पुरुष यह नही जानता कि उसको दो ज्ञान हो रहे है। इसी अविवेक को साख्यकारो और मीमासक प्रभाकर ने 'भ्रम' कहा है।

साख्यकारो ने यह भी माना है कि बाह्यार्थ को बताने वाले सभी ज्ञान भ्रात नहीं है। उनका कथन है कि यदि वस्तु सर्वथा असत् है तो ख-पुष्पवत् वह ज्ञान का विषय बन ही नही सकती। इसलिए उनकी दृष्टि मे भ्रम 'प्रसिद्ध अर्थ की ख्याति' (प्रसिद्धार्थख्यातिवाद) है।

मीमासा : अलौकिकार्थ ख्याति

प्रभाकर को छोडकर कुछ मीमासको का कथन है कि शुक्ति मे रजत का

प्रत्यय ही उचित नहीं है । ज्ञान में इस प्रकार के प्रत्यय को कोई स्थान प्राप्त नही है कि विषय कुछ और प्रतिभास किसी दूसरे का ही हो। इस मत से अर्थ दो प्रकार का है लौकिक (व्यवहारसमर्थ) और अलौकिक (व्यवहारा-समर्थ)। जिस रजत को भ्रमरूप मे माना जा रहा है उसका विषय लौकिक रजत नही, अलौकिक रजत है। व्यावहारिक दृष्टि से उसको ग्रहण नही किया जा सकता है।

वेदान्त : अनिर्वचनीय ख्याति

वेदान्त के अनुसार अन्त करण की वृत्ति नेत्रो से नि:सृत होकर विषय मे प्रविष्ट होती है। और तब उसको तदाकार प्रतीति होती है । जहाँ रज्जु मे सर्पभ्रम है, वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति नेत्रों से निकलकर रज्जु के साथ जुडती है, किन्तु अधकार (प्रतिबंधक) के कारण वह रज्जु के स्वरूप को ग्रहण नही कर पाती। इसलिए रज्जु का आवरण नष्ट नही होने पाता। उसका परिणाम यह होता है कि रज्जु, चेतन स्थित अविद्या मे क्षोभ होकर वही अविद्या सर्पाकार परिणाम मे हो जाती है। वह अविद्या का कार्य सर्प, सत् होकर, उसका रज्जु के ज्ञान से बोध नही हो सकता है। इसलिए 'रज्जु मे सर्प सत्' है। यदि वह असत् है तो उसकी बंध्या पुत्र की तरह प्रतीति ही नही होनी चाहिए, किन्तु उसकी प्रतीति होती है। इसलिए वह असत् भी नही है।

अतएव वह सत्-असत् मे विलक्षण, अर्थात् अनिर्वचनीय है।

दुःख और दुःखनाश के उपाय

दु ख क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है और उससे सर्वथा छुटकारा पाने का उपाय क्या है, इस पर वेदान्त दर्शन मे गभीरतापूर्वक विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जगत् का कारण जो अज्ञान है वही दु:ख का साधन है। इसलिए त्रिविध दु खों की अत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए मूल अविद्या (अज्ञान) का नाश करना अपेक्षित है।

दु ख के तीन स्वरूपो से नाम है अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव । रोग, क्षुधा आदि से जो दु ख होता है वह अध्यात्म; चोर, व्याघ्र, सर्प आदि से जो दु.ख होता है वह अधिभूत, और यज्ञ, राक्षस, प्रेत, ग्रह तथा शीत-वात-आतप आदि से जो दु.ख होता है वह अधिदेव कहलाता है।

ये त्रिविध दु ख अविद्या के कारण है। इसलिए अज्ञान को दु:ख का साधन बताया गया है। अज्ञान का कार्य है प्रपच रचना, जिससे सारी मानवता त्रस्त है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के भूमविद्याविषयक सनत्कुमार-नारद के प्रसंग मे

कहा गया है कि जो वस्तु ब्रह्म से भिन्न है वह संपूर्ण दुःखो का आगार है। क्योकि अज्ञान और उसका कार्य ब्रह्म से भिन्न है। अतः अज्ञान सब दुःखो का घर है। उसकी निवृत्ति हुए बिना दुःख की निवृत्ति संभव नही है।

वेदान्त मे कहा गया है कि सभी मनुष्यो को सुख का अनुभव होता है। इसलिए सभी सुख की इच्छा करते है। क्योकि ब्रह्म सुखस्वरूप है। अतः उत्तम विवेकी पुरुष, सुखस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। उसको परम पुरुषार्थ कहा गया है। क्योकि सभी लोग इस पुरुषार्थ (मोक्ष) की इच्छा करते है। अतः सभी मुमुक्षु है।

सुख से अभिप्राय 'विषयजन्य सुख' से नही, बल्कि 'मात्रसुख' से है। 'मात्रसुख' चाहे विषयजन्य हो चाहे विषय के बिना पैदा हुआ हो, इसका कोई नियम नही। यह इसलिए कहा गया, यदि विषयजन्य सुख को ही 'मात्रसुख' कहा जाय तो सुषुप्ति के सुख की भी इच्छा नहीं होनी चाहिए, क्योकि सुषुप्ति का सुख विषयजन्य नही है। यदि 'मात्रसुख' की इच्छा की जायगी तो उससे होगा यह कि इच्छुक की प्रवृत्ति विषयजन्य सुख की ओर नही आत्मसुख की ओर होगी। उसका कारण यह है कि प्रायः प्रत्येक मनुष्य को न्यूनाधिक्य रूप से विषयजन्य सुख की प्राप्ति हुई रहती है। इसलिए उसकी यह इच्छा बनी रहती है कि ऐसा सुख प्राप्त हो, जो अक्षयरूप मे बना रहे। इसी सुख को मोक्ष कहा गया।

जिन दार्शनिको ने ऐसा कहा है कि सभी मनुष्य विषय-सुख चाहते है, नित्य सुख के लिए उनकी कोई कामना नही होती, ऐसा भी सिद्ध नहीं होता है। उसका कारण यह है कि पुरुष चार प्रकार के है पामर, विषयी, जिज्ञासु और मुक्त।

इस लोक की निषिद्ध और विहित, दोनो प्रकार की भोग लिप्साओ मे डूबा हुआ और शास्त्र-सस्कारो से स्खलित पुरुष 'पामर' है। शास्त्र के अनुसार विषयो का उपभोग करते हुए जो परलोक या इह लोक प्राप्ति के लिए उद्योग करे वह 'विषयी' पुरुष है। 'जिज्ञासु' वह है, जिसने अपने उत्तम संस्कारो के कारण शास्त्रो का श्रवण किया है। इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म कारणो से रहित स्वरूप का जिसको परोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है वह 'मुक्त' पुरुष कहलाता है।

इनमे 'पामर' और 'विषयी' को विषयसुख मे प्रवृत्ति होती है, किन्तु 'जिज्ञासु' और 'मुक्त' को दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की इच्छा होती है। क्योकि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञान के बिना संभव नही है। अतः ज्ञानप्राप्ति के लिये यत्न करना आवश्यक है। ज्ञान प्राप्ति के बाद दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का परिणाम है परमानन्द की प्राप्ति। वही पुरुष का परम लक्ष्य है।

विषयों का परित्याग

आत्मा से जिसकी बुद्धि विमुख है उसको विषयो की इच्छा होती है । विषयों मे प्रवृत्त होने से बुद्धि चंचल हो जाती है और चंचल बुद्धि मे आत्मस्वरूप आनन्द का आभास या प्रतिबिम्ब नही होने पाता । यह आत्मविमुखता ज्ञानी और अज्ञानी, दोनो मे संभव हो सकती है । ज्ञानी मे इसलिए संभव है, क्योकि उसकी बुद्धि जब व्यवहारो मे रम जाती है तब वह भी तत्त्व को भूल जाता है । ऐसी स्थिति मे ज्ञानी भी आत्मविमुख हो जाता है । अज्ञानी की बुद्धि तो सदा आत्मविमुख रहती ही है । किन्तु इन दोनो मे यह भेद है कि विषय के संबंध मे जो आनन्द ज्ञानी को प्राप्त होता है उसको वह अपने स्वरूप से जुदा नही समझता, जब कि अज्ञानी का उसमे भ्रम बना ही रहता है ।

यदि विषयो की प्राप्ति से आनन्द की उपलब्धि हो तो एक विषय से तृप्त पुरुष की दूसरे विषय मे इच्छा नही होनी चाहिए । किन्तु तृप्त पुरुष भी जब पुनः-पुन विषयो को ओर प्रवृत्त होता है तो उससे निश्चित ही यह सिद्ध होता है कि प्रथम वस्तु मे जो आनन्द प्राप्त हुआ था वह चचल बुद्धि का परिणाम था । इसी प्रकार चिर काल के बाद देखे हुए किसी प्रियजन के मिलने पर जो आनन्द होता है, वह कुछ दिन बाद ही क्षीण पड जाता है । उसका कारण यह है कि प्रियजन को देखकर कुछ समय तक वृत्ति स्थिर हो जाती है और बाद मे वह अन्य पदार्थो मे रम जाती है । इसी लिए पदार्थ मे आनन्द नही है ।

यदि विषयो से ही आनन्द की उपलब्धि संभव हो तो समाधिकाल मे जो आनन्दानुभूति होती है वह न होनी चाहिए, क्योकि समाधि से किसी विषय का सबंध नही है ।

इसी प्रकार यदि विषयो मे आनन्द हो तो सुषुप्ति मे वह न होना चाहिए; क्योकि सुषुप्ति की किसी भी विषय मे गणना नही है ।

इसलिए आनन्द आत्मस्वरूप है और उसके सिद्ध हो जाने पर सारे दुःखो का अन्त होकर परमानन्द की उपलब्धि होती है ।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति

जाग्रत

इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके संस्कारों का जिस अवधि मे ज्ञान रहता है उसको 'जाग्रत अवस्था' कहते है । इस अवस्था मे शब्दादि और उनके आश्रयभूत आकाशादि परस्पर भिन्न नही है । कोई भी वस्तु, जिस काल मे जितने देश मे

रहती है, उतने देश-काल मे स्थित वस्तु को दूसरी वस्तु से जो भिन्न बताती है और स्वयं अलग रहती है उसको 'उपाधि' कहते हैं। शब्द और आकाश आदि अनात्म वस्तुएँ संवित् (ज्ञान) को 'उपाधि' है। जैसे घट उपाधि से घटाकाश भिन्न प्रतीत होने के कारण कल्पित है इसी प्रकार संवित् भी स्वाभाविक भेद से रहित है। इसी प्रकार शब्द का ज्ञान, ज्ञानरूप होने के कारण स्पर्शज्ञान से भिन्न नहीं है; ठीक वैसे ही जैसे स्पर्श ज्ञान, ज्ञान होने के कारण शब्दज्ञान से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार संवित् भी एक ही है।

स्वप्न

इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उनके विषय के आधार काल का 'स्वप्न' कहते हैं। जैसे जाग्रतावस्था मे शब्द, स्पर्श आदि विषयो का तो परस्पर भेद है; किन्तु एक रूप होने से उनके ज्ञान (संवित्) मे परस्पर कोई भेद नहीं है। स्वप्न मे भी ऐसा ही होता है। वहाँ शब्दादि विषय तो परस्पर भिन्न है, किन्तु उनका ज्ञान भिन्न नहीं है।

यद्यपि जाग्रत और स्वप्न, दोनो अवस्थाओं मे विषयो का भेद और उनके ज्ञान का अभेद रहता है, तथापि पारिदृश्यमान (वेद्य) वस्तुएँ प्रातिभासिक हैं, जब कि जाग्रतावस्था मे वे स्थायी (व्यावहारिक) हैं।

सुषुप्ति

सोकर उठे हुए पुरुष (सुप्तोत्थित) को सुषुप्ति काल के इस अज्ञान का ज्ञान कि 'मैंने सोते समय कुछ नहीं जाना' स्मृतिरूप है, अनुभवरूप नहीं, क्योंकि उसमें इन्द्रिय-सन्निकर्ष, व्याप्ति और लिंग आदि अनुभव की कारण सामग्री का अभाव है।

जगत्

जगद्विचार वेदान्त दर्शन का महत्वपूर्ण विषय है। व्यावहारिक दृष्टि और पारमार्थिक दृष्टि से इस जगत् का क्या अस्तित्व है, इसका तर्कपूर्ण विवेचन वेदान्त मे ही देखने को मिलता है। ब्रह्म, माया, ईश्वर, जीव, आत्मा और मोक्ष, वेदान्त की इस विषय-सामग्री का प्रतिपादन जगद्विचार मे ही आरम्भ होता है। जगत् का रहस्य समझ लेने के बाद वेदान्त दर्शन के उक्त प्रतिपाद्य विषयो का तात्पर्य समझना बहुत सुलभ हो जाता है।

व्याकरण की दृष्टि से 'गम्-लृ-गतौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड देने से 'जगत्' पद निष्पन्न होता है। उसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ होता है जो निरन्तर

उत्पत्ति, स्थिति और लय, इन तीन भावविकारो को प्राप्त होता रहता है उसे 'जगत्' कहते है (**गच्छति, उत्पत्ति-स्थिति-लयान् प्राप्नोति, इति जगत्**)। जगत् पद की इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि वह स्थिर नहीं, परिवर्तनशील है।

जगत् की परिवर्तनशीलता

जगत् परिवर्तनशील है, जगत् के सम्बन्ध मे यह बात उसकी व्युत्पत्ति से ही नही, व्यावहारिक दृष्टि से भी सिद्ध है। इसकी परिवर्तनशीलता का रहस्य भले ही अत्यन्त गूढ हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका लोक प्रचलन हमारे दैनिक जीवन मे सदा ही सुनने को मिलता है। यह परिवर्तन क्या है? यह परिवर्तन है वर्जन या त्यागपूर्वक वर्तन अथवा अवस्थान, अर्थात् पूर्वभाव का परित्याग करके परभाव मे सक्रमण। अत जगत् की इस परिवर्तनशीलता का आशय है एक भाव मे दूसरे भाव मे जाना। एक भाव से दूसरे भाव मे जाने की इस प्रक्रिया को वेदान्त मे 'अध्यारोप' या 'अध्यास' अथवा 'विवर्त' कहा गया है। किसी वस्तु मे, अपने स्वरूप को न छोडते हुए, किसी दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना 'विवर्त' कहलाता है, जैसे रस्सी मे सर्प का भान होना। अँधेरे मे पडी हुई रस्सी जिस प्रकार देखने वाले को दूर से सर्प प्रतीत होती है; किन्तु पास जाने पर या प्रकाश के होने पर उसे यह निश्चित हो जाता है कि यह सर्प नहीं, रस्सी है, उसी प्रकार इस जगत् की भी दशा है। जगत् क्योंकि विवर्त है अर्थात् एक भ्रम है, अतएव उसकी स्थिति एक जैसी सर्वदा नही रहती है। उसमे अदला-बदली होती रहती है। यह जगत् किसका विवर्त है, इसका विवेचन माया और सृष्टि-रचना के प्रसंग मे विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

जगत् की सदसदात्मकता

'सत्' का अर्थ है विद्यमान। वह 'असत्' (अभाव) का प्रतियोगी है, अर्थात् अविनाशी है, अपरिणामी है, स्थिर है, सत्य है। शंकराचार्य ने 'सत्य' का लक्षण दिया है : '**यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्**' अर्थात् जिस रूप मे बुद्धि जिसको निश्चित कर चुकी है, यदि वह उस रूप से कभी भी व्यभिचरित नही होता, याने उस रूप को कदापि नही त्यागता, वही 'सत्य' है।

किन्तु जिस जगत् का स्वभाव ऊपर हमने परिवर्तनशील तथा विवर्तशील बताया है वह सत् (अविनाशी) कैसे हो सकता है? यह तो एक मोटी-सी बात है कि एक ही वस्तु सत्-असत् भाव-अभाव, हाँ-ना नही हो सकती। फिर जगत् को 'सत्' कैसे माना जा सकता है? किन्तु यदि हम जगत् को असत् (मिथ्या) कहते है तो फिर उसकी उपलब्धि कैसे संभव है, और क्योंकि जगत् मे जो

परिवर्तनशीलता एवं मिथ्यात्व है वह अव्यभिचारी है। बुद्धि उसको जिस रूप में स्थिर कर चुकी है उस रूप को वह कभी भी नहीं त्यागता। इसलिए सत्य के उक्त लक्षण के अनुसार जगत् भी सत् सिद्ध होता है। इसलिए जगत् वस्तुतः सत् और असत् दोनों है। कारणभाव से वह सत् है और कार्यभाव से असत्।

कारणात्मभाव और कार्यात्मभाव

जो भाव अदृश्य, अगोचर, मूलरहित है, जिसको बुद्धि तथा इन्द्रिय ग्रहण करने में असमर्थ हैं, जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं, जो अत्यन्त सूक्ष्म है, अखण्ड है, विभु है, नित्य है, किन्तु जो समस्त कार्य-व्यापारों का मूल कारण है वही 'कारणात्मभाव' है। इसके विपरीत जो ससीम है, बुद्धीन्द्रियग्राह्य है, जो अतीत, वर्तमान तथा अनागत, इन तीन अवस्थाओं में विशिष्ट है वह 'कार्यात्मभाव' है।

यह कालत्रयात्मक जगत्, जो कार्यात्मभाव है, उस परब्रह्म की शक्ति है। यह जगत् सत्व, रज, तम, इस त्रिगुणी माया का भाव है। कारणरूप परब्रह्म का एक अंश है। यह सांसारिक मनुष्य जिस भाव को उपलब्धि करता है वह कार्यात्मभाव है। ब्रह्म की वह अपरावस्था है। सृष्टि, स्थिति और लय, जगत् की यह स्थिति सनातन है, क्योंकि वह (जगत्) ब्रह्म की ही अपरावस्था है।

इसलिए कारणात्मभाव परमेश्वर, और कार्यात्मभाव यह जगत्, जो कि उसी का एक अंश है, दोनों सत् है, किन्तु कारणात्मभाव जहाँ नित्य है, कार्यात्मभाव वहाँ अनित्य है।

जगत् का मिथ्यात्व

मिथ्या वह पदार्थ है, जिसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है और जो दूसरे की सत्ता से सत्तावान् है। अँधेरे में रखे हुए घट की सत्ता प्रकाश की सत्ता पर निर्भर है, अन्यथा उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। वेदान्त की दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता नहीं है, ब्रह्म की सत्ता से वह सत्तावान् है। इसलिए जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहा गया है (**ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या**)। ब्रह्म की सत्ता से यदि जगत् की सत्ता है तो उसका मिथ्यात्व सहज नहीं है। वह किस रूप में मिथ्या है, इसका स्पष्टीकरण 'अभिन्ननिमित्तोपादन कारण' का सिद्धान्त समझ लेने के बाद होता है, अर्थात् ब्रह्म को इस जगत् का निमित्तकारण और उपादानकारण, दोनों माना गया है।

जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म

वेदान्त के अनुसार इस जगत् का कारण ब्रह्म है, जैसा कि कारण-कार्यभाव

के प्रसंग में ऊपर भी संकेत किया जा चुका है। यह 'कारण' दो प्रकार का माना गया है : 'निमित्त' और 'उपादान'। किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में सहायक कारण उस पदार्थ का 'निमित्त कारण' कहलाता है, और जिन तत्त्वों से जो पदार्थ बनता है वे तत्त्व उस पदार्थ के 'उपादान कारण' कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए घट का बनाने वाला कुम्हार घट का 'निमित्तकारण' और जिस मिट्टी से वह घट तैयार हुआ है वह मिट्टी उस घट का 'उपादान कारण' है।

किन्तु यहाँ पर यह शंका होती है कि घट का 'निमित्तकारण' कुम्हार और घट का 'उपादानकारण' मिट्टी दो भिन्न-भिन्न कारण है। फिर एक ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि सासारिक या व्यावहारिक दृष्टि से जिसको हम 'घट' कहते है वह वस्तुतः मिट्टी का रूपान्तर है, उपाधि है। इसलिए 'घट' (उपाधि) का सम्बन्ध रूप से है, मिट्टी से नही है। इस 'घट' रूप का उपादान कुम्हार की बुद्धि है, क्योंकि संसार के जितने भी रूप हैं वे सब कल्पनिक या मानसिक होते हैं। माया, जो ब्रह्म की कल्पना, बुद्धि या इच्छा है, इस स्थूल जगत् का निश्चित उपादान है। इसलिए माया के माध्यम से ब्रह्म ही विश्व का उपादान सिद्ध हाता है। शंकराचार्य ने कहा है कि 'जिस प्रकार सोने से बना हुआ आभूषण नि सन्देह सोना ही होता है उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जगत् निश्चित ही ब्रह्म है :

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं हि निश्चितम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्व च विनिश्चितम्॥

जगत् का उपादान कारण अज्ञान

जगत् का उपादान कारण अज्ञान (तम) है। उस अज्ञान के नाश से जगत् का स्वयमेव नाश हो जाता है। इस अज्ञान का नाश, ज्ञान से ही हो सकता है। कर्म और उपासना से भी अज्ञान का नाश नही हो सकता है, क्योंकि कर्म और उपासना अज्ञान के विरोधी नही हैं। अज्ञान का विरोधी ज्ञान है। जैसे घट के अन्दर का अन्धकार प्रकाश से ही दूर हो सकता है वैसे ही अज्ञानरूपी अधकार ज्ञानरूपी प्रकाश से ही दूर हो सकता है।

आत्मज्ञान

जगत् सत्य है या मिथ्या, यह विकल्प तभी मिट सकता है, जब जगत् के सम्बन्ध मे निश्चित ज्ञान हो। जो वस्तु जिसके अज्ञान से प्रतीत होती है वह वस्तु उसी के ज्ञान से मिट सकती है। उदाहरण के लिए रज्जु के अज्ञान से उसमे सर्प की प्रतीति होती है। यह अज्ञान, रज्जु का ज्ञान होने पर ही मिट सकता

है। इसी प्रकार जब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नही हो जाता तब तक इस मरणादि संसार का ज्ञान नही हो सकता है।

जैसे मरीचिका के जल से पृथ्वी गीली नही हो सकती है वैसे ही मिथ्या जगत् से अधिष्ठान की हानि नही हो सकती है। जगत् की यह प्रतीति ही मिथ्या है। 'मै सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ' इस निश्चय का नाम ही आत्मज्ञान है। वही मोक्ष का साधन है।

परिणामवाद और विवर्तवाद

जगत् के स्वरूप की व्याख्या के लिए विभिन्न दर्शनो मे अनेक तरह से विचार किया गया है। बौद्धो का विज्ञान जगत् को और समस्त जागतिक पदार्थों को यहाँ तक कि 'ज्ञान' के अतिरिक्त सब कुछ को भ्रम और कल्पना बताता है। इसी बात को साख्य मे दूसरी ही तरह से कहा गया है और वेदान्त मे तीसरी ही तरह से। साख्य के 'परिणामवाद' और वेदान्त के 'विवर्तवाद' दोनो का आशय है क्रमश 'तात्त्विक अन्यथा प्रतीति' और 'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति'। दही तत्त्व से दूध बन जाना 'अन्यथा प्रतीति' है। उसी को 'विकार' या 'परिणाम' कहा गया है। इसी प्रकार रज्जु, अतात्त्विक अन्यथाभाव मे सर्प का भ्रम 'अन्यथा प्रतीति' है। उसी को 'विवर्त' कहते है।

साख्य दर्शन के प्रकरण मे 'सत्कार्यवाद' की विस्तार से मीमासा की जा चुकी है। साख्य का सिद्धान्त है कि कार्य (पट), कारण (तन्तु) से अलग नही है, अपितु अव्यक्त रूप से कार्य अपने कारण मे विद्यमान रहता है। 'तन्तु' कारण मे अव्यक्त रूप मे विद्यमान 'पट' कार्यरूप मे व्यक्त हो जाता है। इसी सिद्धान्त को 'विकार' या 'परिणाम' कहा गया है। न्याय वैशेषिक मे इसके विपरीत कहा गया है कि पटकार्य, तन्तुकारण से सर्वथा अलग है।

इसी सिद्धान्त को वेदान्त की दृष्टि से देखा जाय तो कहा जायगा कि वास्तविक तत्त्व मे कोई परिवर्तन नही हुआ, बल्कि तन्तु, पट के रूप मे बदल भर गया। 'विकार' मे कारण (दूध) कार्य (दही) मे बदल जाता है; किन्तु 'विवर्त' मे 'कारण' (रस्सी) अपने मूल रूप मे बना रहता है, केवल उसके बदल जाने मात्र का भ्रम होता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण ब्रह्म वस्तुरूप जगत् मे बदल नही जाता, बल्कि भ्रम मे ब्रह्म मे जगत् की प्रतीति होती है।

कर्मो का भोग

कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

संचित

किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्म में किया हो, या किसी पूर्व जन्म में, सब 'संचित' (एकत्रित) कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इसी का अमल नाम 'अदृष्ट' भी है और इसी को मीमासकों ने 'अपूर्व' कहा है। अब तक के सभी कर्मों के परिणामो या सब संचित कर्मों को एक साथ भोगना संभव नहीं है; क्योंकि ये परिणाम भले (स्वर्गप्रद) और बुरे (नरकप्रद), दोनो प्रकार के फल देने वाले होते है। इन्हे एक-एक करके भोगना होता है।

इन संचित कर्मों से छुटकारा पाने के लिए 'गीता' मे कहा गया है कि तत्त्वज्ञान की अग्नि मे सभी संचित 'कर्म' भस्म हो जाते हैं **'ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'** इन कर्मों के क्षय हो जाने पर योगी के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नही रह जाता है। यदि उसको मोक्षप्राप्ति मे कुछ विलम्ब रह जाता है तो यही कि उसका वर्तमान शरीर नष्ट नही हुआ **(तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्यते)**। शरीर त्याग देने के तत्काल ही उसको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

वेदान्त मे 'संचित' कर्मों के मुक्त होने का एक दूसरा मार्ग भी सुझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि तत्त्वज्ञानी योगी, योग-सामर्थ्य मे उन सब शरीरो का निर्माण कर डालता है, जिनने उसके 'संचित' कर्मों का भोग होना है। ऐसा करके वह सम्पूर्ण संचित कर्मो को एक साथ भोग डालता है और उसके लिए कुछ भी भोगना बाकी नहीं रह जाता। तब न तो नया कर्म उत्पन्न होता है और न 'प्रारब्ध' कर्म ही शेष रहता है।

प्रारब्ध

समस्त भूतपूर्व संचित कर्मों के संग्रह का आंशिक रूप ही 'प्रारब्ध' है। संचित के जितने भाग के फलो (कार्यों) का भोगना आरंभ हो गया हो उतना ही 'प्रारब्ध' है और इसी कारण से 'प्रारब्ध' को 'आरब्ध' कर्म भी कहा गया है। जब तक फलभोग आरंभ न हो तभी तक कोई पूर्व कर्म 'संचित' कहा जाता है और उसके भोगते समय तथा भोगने के बाद उसको 'प्रारब्ध' कहा जाता है।

'प्रारब्ध' कर्मों के उपभोग के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ है। इन प्रारब्ध कर्मों का भोग तब तक चलता है जब तक इस वर्तमान की स्थिति बनी रहती है। जैसे कुम्हार एक बार अपने चाक को घुमा देता है और उसके बाद उसमें जो वेग-संस्कार उत्पन्न होते है उनके कारण वह बहुत देर तक घूमता रहता है उसी

प्रकार 'प्रारब्ध' कर्मों के अधीन यह शरीर अपने भोग के समाप्त होने तक बना रहता है । (तिष्ठति सस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः) ।

क्रियमाण

'क्रियमाण' कर्म वह है, जो वर्तमान के इस क्षण से किया जा रहा है । जो कर्म इस क्षण मे हो रहा है या जो कर्म सकामभाव से अभी किया जा रहा है वही 'क्रियमाण' कर्म कहलाता है । इस क्रियमाण कर्म के सस्कार सचित होते रहते हैं, जिनका उपभोग आगे होता है । जब तक तत्त्वज्ञान नही हो जाता तब तक किये गए कर्मो के संस्कार बनते रहते है । तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के बाद मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'प्रारब्ध' और 'संचित' कर्मो की समाप्ति का कार्य शेष रह जाता है । तभी मोक्ष होता है ।

जीवन्मुक्त

इस प्रकार के साधनो द्वारा मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है । जीवन्मुक्त का लक्षण बताते हुए सदानन्द ने अपने 'वेदान्तसार' मे कहा है। गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा अपने अनुभव से जब आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है तब उस ज्ञान के द्वारा आत्मगत समस्त अज्ञान नष्ट होकर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । ऐसी दशा मे मूल अज्ञान तथा उसके कार्य रूप संचित सशय, विपर्यय आदि कर्म भी नष्ट हो जाते है । तब सम्पूर्ण बन्धनो से विमुक्त हो जाने के बाद ,एक मात्र ब्रह्मज्ञान मे ही आत्मा तत्पर हो जाता है । इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' कहते है, जीवन्मुक्त अर्थात कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःखादि क्लेशकारी तथा बन्धन स्वरूप चित्त के जो धर्म है वे सब, पुरुष के जीते-जी विनष्ट हो जाते है । उस आत्मतत्त्व से साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय कामनायें (हृदयग्रन्थि) समाप्त हो जाती है और सम्पूर्ण निवृत्त सन्देह विच्छिन्न हो जाते है । जिसके सशय नष्ट हो गये है और जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है, ऐसे मुक्त पुरुष के जन्मान्तर मे तथा ज्ञानोत्पत्ति के समय इस जन्म मे किये गये सारे कार्य भी नष्ट हो जाते है । 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' (**अयं साक्षादहमेव**) इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वह मुक्त हो जाता है ।

रामानुज दर्शन

★ ★ ★ ★

विशिष्टाद्वैतवाद

वैष्णव सप्रदाय

भागवत सप्रदाय का ही दूसरा नाम वैष्णव संप्रदाय है। वैष्णव सप्रदाय को ऐतिहासिक परम्परा बहुत प्राचीन है। इसको कुछ विद्वानो ने प्रागैतिहासिक धर्म माना है। दक्षिण भारत मे इसका जन्म हुआ और वहाँ की अलवार जाति ने वैष्णव मत को प्रचलित किया। इस मत के आदिम तीन आचार्यों का नाम पोइहे, पूदत्त और पे बताया जाता है।

महाभारतकालीन पचरात्र मत मूलत. वैष्णव संप्रदाय ही था। जैनो, बौद्धो ने पंचरात्र मत के विरोध मे बडा प्रचार किया, जिससे उसका प्रभाव अवश्य कुछ कम हो गया, किन्तु बाद मे शंकराचार्य प्रभृति आचार्यो द्वारा भागवत या वैष्णव सप्रदाय की पुन: प्रतिष्ठा हो जाने के कारण पंचरात्र धर्म की भी उन्नति हुई।

यह वैष्णव सप्रदाय आठवी शताब्दी के बाद अनेक शाखाओ मे पल्लवित हुआ। विशिष्टाद्वैतवाद उसी की एक शाखा है। वैष्णव सप्रदाय की इस विशिष्टाद्वैतवादी शाखा की यद्यपि धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से बडी प्रतिष्ठा है, किन्तु उसका प्राय अधिकतर साहित्य अभी अप्रकाशित रूप मे ही नष्ट हो रहा है। देश के वैष्णवाचार्यो एव वैष्णव धर्मानुयायी समाज का इस दिशा मे ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

प्रमुख आचार्य और उनकी कृतियाँ

जैसा कि बताया जा चुका है दक्षिण भारत मे प्रागैतिहासिक काल मे ही वैष्णव धर्म का उदय हो चुका था, जिसके प्रवर्तक आचार्य तीन थे। उन तीन आचार्यों के बाद जिन प्राचीन विद्वानो के द्वारा यह परम्परा आगे बढती गयी उनमे से कुछ से नाम है तिरुमिडिश, शाठारि (शठरिपु), मधुर कवि, कुलशखर, पेरिया अलवार और गोदा आदि। ग्रंथकार होने की अपेक्षा ये भक्त अधिक थे।

वैष्णव धर्म की विशिष्टाद्वैतवादी शाखा के प्रवचनकार भगवान् नारायण को बताया जाता है। भगवान् नारायण ने उसका उपदेश भगवती महालक्ष्मी को किया। उसके बाद उपदेश परम्परा के वैकुण्ठपार्षद, विष्वक्सेन, शठकोप स्वामी, नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष स्वामी आदि आचार्यों से होकर वह ज्ञान यामुनाचार्य और तदनन्तर रामानुजाचार्य को प्राप्त हुआ।

यामुनाचार्य से पूर्व कुछ भाष्यकार और वृत्तिकार आचार्य हुए, जिनके नाम है बोधायनाचार्य (उपवर्ष), ब्रह्मानन्दी, द्रामिलाचार्य, ग्रहदेव, टक और श्रीवत्साक।

वैष्णव संप्रदाय का मीमासा दर्शन बीस अध्यायो मे विभक्त है, विषय की दृष्टि से जो धर्ममीमासा, देवमीमासा और ब्रह्ममीमासा, इन तीन काण्डो मे विभक्त है। धर्ममीमासा नामक काण्ड मे बारह अध्याय है, जिसके प्रणेता महर्षि जैमिनी हुए। दूसरे देवमीमासा काण्ड मे चार अध्याय है, जिसको काशकृत्स्नाचार्य ने रचा है। तीसरे ब्रह्ममीमासा नामक काण्ड मे चार अध्याय है, जिसके निर्माता बादरायण व्यास हुए। क्रमश. इन तीनो काण्डो मे कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन है।

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य परम्परा मे आचार्य आश्मरथ्य का नाम उल्लेखनीय है। तदनन्तर आचार्य श्रीकण्ठ ने 'ब्रह्मसूत्र' की शिवपरक व्याख्या करके विशिष्टाद्वैतवाद को आगे बढाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इनका समय पाँचवी शताब्दी था।

'ब्रह्मसूत्र' की विष्णुपरक व्याख्या करने वाले पहले प्रामाणिक आचार्य यामुनाचार्य हुए और तदनन्तर उसको सशक्त, व्यापक और अधिक गंभीर बनाया श्री रामानुजाचार्य ने। रामानुजाचार्य मे अपूर्व प्रतिभा थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारो के द्वारा वैष्णव धर्म को मण्डित करके उसकी लोकप्रियता को बढाया। शंकराचार्य ने जिस ईश्वर को कुछ इने-गिने विचारकों तक ही सीमित कर दिया था, रामानुजाचार्य ने उसको व्यापक लोकधर्म के द्वारा प्रमाणित किया और व्यक्ति-व्यक्ति के समझ मे आने योग्य उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया।

उन्होंने श्रुतियो की परस्पर विरोधी भावनाओं को लेकर उनके द्वारा शंकर के अद्वैत की सभी प्रक्रियाओं को अपने विशिष्टाद्वैत मे इस प्रकार समन्वित किया कि वे साधारण और असाधारण के लिए सुगम हो गयी। श्री रामानुजाचार्य का जन्म १०७४ वि० मे हुआ था।

रामानुजाचार्य के बाद भी इस परम्परा मे अनेक आचार्य हुए, जिनके नाम है : देवराजाचार्य, वरदाचार्य, सुदर्शन व्यास, भट्टाचार्य, वरदाचार्य (द्वितीय), वीर राघवाचार्य, रामानुजाचार्य या वादिहंसाबुवाचार्य, वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य, श्रीमल्लोकाचार्य, आचार्य वरदगुरु, वरदनायक सूरि, अनन्ताचार्य, रामानुजदास, सुदर्शन गुरु, श्रीनिवासाचार्य प्रथम, श्रीनिवासाचार्य द्वितीय, श्रीनिवासाचार्य तृतीय और बुच्चिवेंकटाचार्य। इन आचार्यों का समय १४वी शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी के बीच है।

ब्रह्म विचार

शंकर और रामानुज, वेदान्त दर्शन के दो असामान्य आचार्य है। शंकराचार्य ने अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है तो रामानुज ने अद्वैतविशिष्ट ब्रह्म का। इन दोनो आचार्यों की पद्धतियों मे जो अन्तर है उसका मूल स्रोत है। शंकर ने अभेद प्रतिपादक श्रुतियों को लिया है और रामानुज ने भेद-अभेद, दोनो प्रकार की श्रुतियों मे समन्वय स्थापित करके वेदान्त दर्शन मे नयी मान्यताये स्थापित की।

शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है। उससे भिन्न कुछ है ही नही। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है, जिसमे अन्य पदार्थ भी है और जो उसी के द्वारा वृत्त होते है। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड प्रकृति, दोनो मे विद्यमान है, किन्तु वह उन दोनो से 'विशिष्ट' है। इसलिए उसकी अद्वैतावस्था 'विशिष्ट' है, न कि शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म का अद्वैत, अद्वितीय है। आत्मा (जीव) और प्रकृति, इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म का 'विशिष्टाद्वैत' स्वीकार करते है। उनका ब्रह्म जगत् मे व्याप्त है और उससे परे भी है। उसका विशिष्ट व्यक्तित्व है। वह अपनी इच्छाशक्ति से सोद्देश्य जगत् को उत्पन्न करता है। वह उपासना का विषय है और धार्मिक साधना का लक्ष्य भी। यही उसका वैलक्षण्य (वैशिष्ट्य) है।

शंकराचार्य की दृष्टि से, क्योकि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है हो नही, अतः समस्त जगत् और जागतिक प्रपंच सब मिथ्या है। विवेक के द्वारा इस अविद्यामय मिथ्या के दूर हो जाने पर निर्विशेष, अद्वितीय एवं अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान होता है।

इसके विपरीत रामानुज, जगत् को मिथ्या बताये बिना अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते है। उनके मत से ब्रह्म एक है और उसमे ईश्वर, आत्मा (चैतन्य) तथा प्रकृति (जड), ये तीन पदार्थ हैं। ब्रह्म मे यह सारा जगत् लीन है, किन्तु ईश्वर इस ससार मे अन्तर्हित है। इसलिए जगत् को मिथ्या बताये बिना भी ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार जड प्रकृति, जिनके प्रधान, प्रकृति, माया या अविद्या आदि नाम हैं, चेतन आत्मा, जो सूक्ष्म है, और ईश्वर, जो सर्वनियन्ता तथा साथ ही ज्ञान आनन्द, स्वरूप है, ये तीन प्रकार के पदार्थ है। ये तीनो पदार्थ या तत्त्व ब्रह्म मे रहते है। जो सम्बन्ध आत्मा का शरीर से है वही सम्बन्ध ईश्वर का आत्मा तथा प्रकृति मे है। जिसे हम ब्रह्म कहते है। वह ईश्वर से भिन्न नही है। इसलिए रामानुज के मत से आत्मा, प्रकृति और ईश्वर इन तीनो की समष्टि का नाम ही ब्रह्म है।

इन तीनो का अभिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नही रह सकता है। इस शरीर को धारण करने वाला आत्मा है और शरीर तथा आत्मा को धारण करने वाला ईश्वर। प्रत्येक मनुष्य अपनी क्रिया शक्ति तथा अपने विवेक के द्वारा अपने को या तो शरीर समझता है या आत्मा अथवा ईश्वर। इस दृष्टि से ससार की प्रत्येक वस्तु मे त्रैत भावना विद्यमान है।

ससार का कारणरूप जो ब्रह्म है वह अव्यक्त चेतन, अव्यक्त जड और ईश्वर, इन तीनो पदार्थो की समष्टि है। वही कारणरूप ब्रह्म कार्यरूप ससार मे परिणत होता है, और इस प्रकार कार्य-कारण एक होने से ब्रह्म की अद्वैतता बनती है।

कार्य कारण सम्बन्ध

ब्रह्म और जगत् का कारण-कार्य सम्बन्ध है। जैसे मकडी सतत अपने जाले के साथ रहती है वैसे ही ईश्वर भी जगत् के साथ रहता है। जैसे सुवर्ण अपने अनेक गुणो से विमुक्त नही होता उसी प्रकार ईश्वर भी अपने गुणो से विमुक्त नही होता।

ब्रह्म का अभाव और जगत् का भाव सभव ही नही है। बीज-वृक्ष की तरह कार्य-कारण स्वरूप उभयरूप ब्रह्म ही है। जैसे बीज, मृत्तिका, सुवर्ण तथा कपास मे क्रमश घट, भूषण तथा वृक्ष प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार परमेश्वर मे जगत् है। यदि बीजादि मे वृक्षादि कार्य नही रहते तो समझना चाहिए कि बीजादि का अस्तित्व है ही नही। वैसे ही कारणरूप परमेश्वर मे यदि कार्यरूप जगत् न रहे तो समझना चाहिए कि ईश्वर है ही नही, क्योंकि कार्य से ही कारण का अनुमान होता है,

वैसे ही जैसे धूम से अग्नि का। ऐसी स्थिति में कार्य (जगत्) और कारण (परमेश्वर) का भाव कहना सिद्ध नहीं होता।

जब कारणरूप ब्रह्म कार्य अर्थात् जगद्रूप मे परिणत होता है। तब उसके ईश्वर भाव मे कोई विकार नही आता। किन्तु जड और चेतन, जिनसे वह विशिष्ट है, उन्ही मे परिणाम उत्पन्न होते है। कारण ब्रह्म जब कार्य जगत् के रूप मे परिणत होता है तो उसमे कोई विकारभाव नही आने पाता। अविकारी अद्वैत ईश्वर के चैतन्य आत्मा और जड प्रकृति शरीर है। इस दृष्टि से जगत्, समस्त जागतिक पदार्थ और अद्वैत ब्रह्म, तीनों सत्य है। जायते, वर्धते, नश्यति, ये विकार शरीर के है, जो आत्मा और ईश्वर मे नही होते।

ब्रह्म के एकत्व का समन्वय

ब्रह्म एक है (**सर्वं खल्विद ब्रह्म**), इसका यह अर्थ नही होता है कि जगत् नही है, क्योंकि वेदो की द्वैतपरक श्रुतियाँ इसका प्रमाण है कि आत्मा और जगत् भी सत्य है। शकराचार्य वेद की इन द्वैतपरक श्रुतियों को व्यावहारिक रूप मे ग्रहण करते है, किन्तु रामानुजाचार्य की दृष्टि मे दोनो प्रकार की श्रुतियों का यहाँ तात्पर्य चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही है। जिस प्रकार हम मनुष्य को एक कहते हुए भी उसके आत्मा और शरीर मे भेद पाते है। उसी प्रकार ब्रह्म की अद्वितीयता मे जीव का तादात्म्य सूचित होता है और जीव तथा ईश्वर का भेद भी बनता है।

सगुण निर्गुण का समन्वय

ब्रह्म के द्वैत-अद्वैत स्वरूप की भाँति श्रुतियो मे ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का प्रतिपादन भी मिलता है। जिन श्रुतियो मे ब्रह्म के निर्गुण, निराकार स्वरूप का वर्णन है उनसे परमात्मा को अनन्त दिव्य शक्तियो का आगार मानना चाहिए। ऐसी श्रुतियाँ परमात्मा के दिव्य गुणो का विधान करती है और अविद्याजनित सत्त्व, रज, तम का निषेध करती है। जीव के अज्ञानजन्य विकार को दूर करने के लिए इस प्रकार की श्रुतियाँ परमात्मा मे अविद्याजन्य गुणों का निषेध करने के लिए उसको निर्गुण (अविद्याजनित गुणों से रहित) पुकारती है। किन्तु कल्याणमय अनन्त गुणो का निषेध नही करती है।

माया जड है। इसलिए उसके गुण भी जड है। जीव चेतन है, किन्तु वह अल्प अशक्त है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिवान्, विभु, आनन्दमय, और सत्यकाम है। इसलिए माया का जडत्व और जीव का अल्पत्व ब्रह्म मे नही, और इसी प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता जीव तथा माया मे नही। अत इस कारण भी ब्रह्म को

निर्गुण कहा गया, क्योंकि उसमे माया तथा जीव के गुण नही हैं; अथवा सर्वज्ञ होने के कारण उसको सगुण कहा गया। आशय यह है कि जब हम निर्गुण ब्रह्म कहते हैं तो हमे अवगत होता है कि ब्रह्म मे कोई प्राकृत गुण नही है; किन्तु जब हम उसको सगुण कहते है तो ज्ञात होता है कि ब्रह्म मे ऐसे अलौकिक गुण विद्यमान हैं, जो माया और जीव मे नहो है। इसलिए ब्रह्म के निर्गुण और सगुण, दोनो रूप सिद्ध हैं।

ब्रह्म सगुण साकार है

ब्रह्म सगुण और साकार है। **'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** आदि श्रुतियो मे 'अरूपवत्' पद से ब्रह्म को अरूप तुल्य कायकर्मविपाकादि से रहित मानना चाहिए न कि अरूप। ब्रह्म उपाधियुक्त नही है, क्योकि उपाधि एक देश मे होती है और ब्रह्म अखण्ड है।

ब्रह्म में ज्ञानगुण की अधिकता

परमेश्वर, क्योकि गुण विशिष्ट है, इस दृष्टि से उसमे अन्य गुणो की अपेक्षा ज्ञानगुण की अधिकता है। लोक और वेद, दोनो मे यह देखा गया है कि जो गुण जिसमे अधिक होता है उसी गुण से उसको सम्बोधित किया जाता है (**तद्गुण-सारत्वात् तद्व्यपदेशाः**)। इसीलिए श्रुतियो मे ब्रह्म को 'ज्ञान' नाम से कहा गया है। सूर्य प्रकाश रूप है और 'प्रकाश' ही को सूर्य कहा गया है। 'प्रकाश' सूर्य का सर्वाधिक गुण है। अपने उसी गुण मे वह आच्छादित है। इस दृष्टि से जिस प्रकार सूर्य, प्रकाशी और प्रकाश, दोनो है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और 'ज्ञानगुणसंपन्न' भी। ज्ञान, ब्रह्म का सर्वाधिक गुण है। वही उसमे व्याप्त है।

जब श्रुतियाँ ब्रह्म को अग्राह्य तथा अदृश्य कहती हैं तो उस समय ब्रह्म को ज्ञानानन्दादि गुणो से युक्त समझना चाहिए। क्योकि किसी पदार्थ को उसके गुणो के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अत ब्रह्म मे दिव्य गुणो का निवास होने से उसको सगुण कहा गया है। जब ब्रह्म मे आनन्दादि धर्मसमूह विद्यमान है तभी तो जीव को आनन्द का लाभ होता है (**आनन्दरसो वै स रसः लब्ध्वा आनन्दी भवति**)।

ब्रह्म निष्कर्म

ब्रह्म सदा निष्कर्म (कर्म रहित) और जीव सदा सकर्मक है। उत्पत्ति के समय जीवो का कर्मानुसार शरीर मिलता है और निष्कर्म ब्रह्म जीवो का अन्तर्यामी होकर उनमे बना रहता है। ब्रह्म रसरूप है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करके जीव भी आनन्दित हो जाता है।

ज्ञान का स्वरूप

ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा गया है; किन्तु ज्ञान को जाने बिना ज्ञानमय ब्रह्म को नही जाना जा सकता है।

ज्ञान के सम्बन्ध मे शंकर और रामानुज मे मतभेद है। शकर अभेदात्मक या वाक्यार्थ ज्ञान को मानते हैं; किन्तु रामानुज उपासनात्मक ज्ञान को स्वीकार करते है। इन दोनो प्रकार के ज्ञानो पर विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यो ने गंभीरता से विचार किया है। इस संबध मे शाकरमतानुयायी विचारको से रामानुजमतानुयायी विचारको का कथन है कि यदि वाक्यार्थ ज्ञान मुक्तिदायक है तो उसके प्राप्त होते ही मुक्ति हो जानी चाहिए; किन्तु ऐसा नही होता। इसलिए वाक्यार्थ या अभेदात्मक ज्ञान मुक्तिदायक नही है। इसलिए यह कहना कि 'मै ब्रह्म हूँ' मिथ्या अभिमान है।

अद्वैतवादियो के इस तर्क को कि 'जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर द्रष्टा का सर्पभ्रम छूट जाता है उसी प्रकार अभेदात्मक ज्ञान की प्राप्ति मे निर्भ्रम होकर जीव भी ब्रह्म हो जाता है', विशिष्टाद्वैतवादियो ने यह कह कर खण्डित किया है कि जब अद्वैत वेदान्ती निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ मानते ही नही तो रज्जु-सर्प, उनमे भ्रमात्मक प्रतीति और द्रष्टा, तीनो मनगढन्त सिद्ध होते है। यह झूठा ज्ञान और झूठा भ्रम है।

मुक्तिमार्ग

ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति

ज्ञान का उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति के लिए सच्चे मार्ग की आवश्यकता है, सच्चा मार्ग, अर्थात् वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति। ऐसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति वेद, शास्त्र, गुरु और ईश्वर मे सत्य बुद्धि से होती है। ईश्वर के प्रति उपासक का प्रेमभाव जब तेलधारारूप अटूट हो जाय तब शरीरान्त होने पर जीव को बन्धनो से छुटकारा मिल जाता है और वह मुक्त हो जाता है। इस विधि से उपासना के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति का अधिकारी बना जा सकता है, न कि 'मै ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने से जीव का कल्याण होता है।

तत्त्वमसि

"मै आप से अलग नही हूँ, किन्तु मायिक बन्धन से मै आपको अलग समझ कर स्वकर्मानुसार नाना दुःख-सुखो के भोग भोगता आ रहा हूँ। आपकी कृपा से अब मै आपको और स्वयं को समझ गया हूँ, मै आपका प्रियपात्र और आप मेरे

प्रियतम है।" इस भावना से उपासना करने पर मुक्ति प्राप्त होती है और आचार्य रामानुज की दृष्टि से यही 'तत्त्वमसि' इस श्रुति का आशय है।

सृष्टि विचार

अचित्

उपनिषदों मे अचित् प्रकृति तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। रामानुज उसको सत्य मानते है। उनके मतानुसार प्रकृति अचित् तत्त्व है। वह विकारहीन और जड है। उसके तीन भेद है शुद्धसत्व, मिश्रसत्व और सत्वशून्य।

(१) **शुद्धसत्व** : वह सतोगुण प्रधान है। उसमे तमोगुण और रजोगुण का अभाव है। वह नित्य है तथा उससे ज्ञान एवं आनन्द की उत्पत्ति हुई। शब्द स्पर्श आदि उसके धर्म है।

(२) **मिश्रसत्व** : इसमे सत्व, रज और तम, तीनों गुण है। इसी को प्रकृति, अविद्या तथा माया कहा गया है। पाँच विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार और मन, ये सभी इसी से उत्पन्न हुए।

(३) **सत्वशून्य** यह अचित् है। इसमे कोई गुण-धर्म नही होते। वह कालस्वरूप है और प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुओ के परिणामस्वरूप जो प्रलयावस्था है वह इसी के अधीन है।

रामानुज के मतानुसार परमात्मा मे आश्रित जडरूप मूल प्रकृति, ईश्वर की इच्छा से तेज, जल और पृथ्वी, इन तीन तत्त्वों मे विभक्त हुई। इन तीन तत्त्वों से क्रमश. सत्व, रज और तम ये तीन गुण पैदा हुए और इन तीनों गुणों की समष्टि से समस्त भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई। इस गुण समष्टि को रामानुज ने 'त्रिवृत् करण' कहा है।

रामानुज की सृष्टिप्रक्रिया मे मन, बुद्धि, चित् और अहंकार से अन्त करण की उत्पत्ति बतायी गयी है। उस अन्त.करण मे आत्मा के रूप मे परमात्मा का प्रवेश हुआ। तब यह भौतिक शरीर सचेतन होकर विभिन्न नाम-रूपो से व्यवहृत हुआ। इस शरीर को पाकर जीव अपने अर्जित कर्मों को भोगता है और आगे के लिए कर्मों का अर्जन करता है। जब उसके पुण्य कर्मों का फल भोगने का समय आता है तो उसकी सत्कर्म, सदुपदेश और सत्कथा की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसा करने से उस पर भगवान् की कृपा होती है और वह ईश्वर की भक्ति मे लीन हो जाता है। ईश्वर की भक्ति करते-करते जब उसका शरीर क्षीण हो

जाता है तो उसको इस असार संसार से छुटकारा मिल जाता है। फिर उसको कर्मबन्धन मे नही बँधना पडता।

जीव अनन्त है। उनमे से कुछ ही मुक्त हो पाते है। बाकी अपने पुण्यो तथा पापो के अनुसार ऊँच-नीच योनियो मे पैदा होकर इस भवचक्र मे घूमते रहते है। इस कर्मजनित चिरस्थायी नियम से बँधकर जीव समयानुसार पुन: परमात्मा मे लय हो जाता है और पुन. समय के ही अनुसार दूसरे जन्म मे पैदा होकर अपने अर्जित कर्मों के भोग मे लग जाता है।

परमेश्वर जीवो के साथ साक्षी होकर निरन्तर रहता है; किन्तु परमेश्वर का जीव के कर्मफलो से कोई सम्बन्ध नही होता। वह जीव के कार्यों को उदासीन होकर देखता रहता है।

सृष्टि से पहले लयावस्था मे जीव-समूह वासनामय (लीलामय) होकर कारणभूत क्षीरशायी विष्णु भगवान् के उदर मे रहता है। सृष्टि के समय वह जीव-समूह अपनी-अपनी वासना तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार कर्म कलेवर धारणकर प्रकट होता है और अपने-अपने कर्मार्जित लोक को चला जाता है। वे जीव पुन सृष्ट और पुन लय होते रहते है। यही भवचक्र का आधार है।

इस प्रकार साख्य और विशिष्टाद्वैत, दोनो दर्शनो मे सृष्टि का विकास प्रकृति के द्वारा दिखाया गया है, किन्तु साख्य दर्शन मे जहाँ प्रकृति को स्वतंत्र मानकर सृष्टि-प्रक्रिया मे ईश्वर का कोई स्थान नही माना गया है, वहाँ विशिष्टाद्वैत दर्शन मे प्रकृति को ईश्वर का अंग मानकर परमेश्वर की इच्छा से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है।

लयावस्था

लय का अर्थ है छिपना। जैसे रात होते ही पक्षीगण वृक्षो मे छिप (लय) जाते है और प्रात होते ही दशो दिशाओं मे उड जाते है, जिस प्रकार उनका निरन्तर यह क्रम बना रहता है, वैसे ही जीव-समूह परमात्मारूप वृक्ष मे लय होते है और सृष्टि के समय अपने-अपने कर्मो के अनुसार शरीर का चोगा धारणकर लोकान्तर मे चले जाते है। उनका यह क्रम निरन्तर बना रहता है। परमात्मा और वृक्ष निरपेक्ष तथा जीव और पक्षी सापेक्ष है। इसलिए जीव-समूह अपने अपने कर्मार्जित लोको मे जाकर सुख-दु ख का अनुभव करता है। परमात्मा अन्तर्यामीरूप से उनके बाहर-भीतर सदा विद्यमान रहता है। इसीलिए परमेश्वर को कारण और कार्य, दोनो रूपो मे कहा गया है।

जगत् सत्य है

रामानुज के मत से जगत् तथा समस्त जागतिक प्रपंच मिथ्या नही है, सत्य है, क्योकि वह जगत् और उसके सम्पूर्ण पदार्थ नित्य वस्तुओ या तत्त्वो के योग से बने है। वे नित्य वस्तुएँ या तत्त्व है · जीव, माया और परमात्मा। जीवों को कर्मभोग के लिए कायामय शरीर प्राप्त होता है। उस शरीर मे जीवो का प्रवेश होता है। उस जीव के घट मे परमात्मा अन्तर्यामी के रूप मे व्याप्त रहता है। इसी को जगत् कहते है। सूक्ष्म चित्संयुक्त परमात्मा इस जगत् का कारण है और वही स्थूल चिदसयुक्त कार्यरूप जगत् भी है। इसलिए जगत् की सत्यता स्वयं सिद्ध है। यह जगत्, जीव, माया और ब्रह्म की समष्टि है और ये तीनो सदा एक होकर रहते हैं। मिथ्या उसको कहते है, जिसका अस्तित्व ही नही है, जैसे शशशृंग और आकाशपुष्प। जगत् का तो प्रत्यक्ष अस्तित्व है। अत. वह सत्य है।

जगत् नित्य है

जगत् नित्य है। वह न जन्मता है, और न मरता है। वह तो स्थूल-सूक्ष्म रूप मे सदा विद्यमान रहता है। कभी वह कारणावस्था मे सूक्ष्म बना रहता है तो कभी कार्यावस्था मे स्थूल हो जाता है।

जगत् प्रपच नहीं है

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सीपि मे रजत के भ्रम की भाँति यह प्रपचमय जगत् भी भ्रम है, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार सीपि और रजत, दोनो अन्यत्रसिद्ध वस्तुएँ है। दो अन्यत्रसिद्ध वस्तुओ मे पारस्परिक भ्रम की सभावना नही है। इसलिए जगत् प्रपंच नही है।

जगत की प्रपंचरूपता का रहस्य

अपने अज्ञान के कारण जीव प्रपंचगत पदार्थो मे बुद्धि लगाकर नाना प्रकार के दु ख भोगते है। उस दु ख से छुटकारा दिलाने के लिए ही यह कहा जाता है कि जैसे सीपि मे रजत का भ्रम है वैसे ही प्रपचगत पदार्थो को अपना मानना भ्रम है। जैसे रज्जु मे सर्प का भ्रम झूठा होता है वैसे ही जागतिक पदार्थों को भी अपना मानना व्यर्थ है। पिता, पुत्र, माता, भाई आदि सभी रिस्ते रज्जु तथा सीपि के तरह है और उनमे जीवो की भोगबुद्धि सर्प, रजत की भाँति है। इसलिए ऐसे उदाहरण दिये जाते है कि उन भासमान वस्तुओ से जीव की भोगबुद्धि हट जाय।

जगत् की सत्यता आत्मा की सत्यता से सिद्ध है

जगत् की सत्यता आत्मा की सत्यता से सिद्ध है। जैसे बीज और वृक्ष का

सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और जगत् का भी सम्बन्ध है। आत्मा बीज है और जगत् वृक्ष। वृक्ष का बाहरी नाश होने पर भी बीजरूप में उसका अस्तित्व अविनश्वर है।

जगत् और जीव

जगत् सत्य है, किन्तु उसको जीव (आत्मा) समझना मिथ्या है। स्थाणु मे पुरुष, आकाश मे नीलापन, रज्जु मे सर्प और दर्पण मे उल्टा प्रतिबिम्ब मिथ्या है, किन्तु पुरुष आदि मिथ्या नही है। इसी प्रकार प्रपंचगत पदार्थों मे जीवों का जो अभिमान होता है वह मिथ्या है; किन्तु जीव और प्रपंच मिथ्या नहीं है; क्योकि प्रपंच तो परमात्मा का शरीर है।

जीव की प्रपंचगत भ्रांति का नाश

'यह प्रपंच परमेश्वर का है, मेरा अपना इसमे कुछ भी नही है।' इस विचार से प्रपंचगत पदार्थों मे जीव की जो भ्राति है उसका नाश होता है। जैसे नीलारंग, पीला नही हो सकता है वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा एक नही हो सकते। जैमे स्फटिक मे लाल रंग केवल देखने मात्र के लिए होता है वैसे ही जीवात्मा मे परमात्मा का सम्बन्ध देखने मात्र के लिए है। सत्य नही।

अभेद भ्राति का विनाश

रामानुज दर्शन मे अभेद भ्राति का बडे ही सुन्दर ढंग से निराकरण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जैसे दर्पण या स्वच्छ जल मे हम अपना प्रतिबिम्ब देखते और वहाँ पाते है कि जिस-जिस स्थान पर हमारा नाक, कान है वह प्रतिबिम्ब मे भी ठीक उसी-उसी स्थान पर दिखायी दे रहा है, वैसे ही परमात्मा भी मायारूपी दर्पण मे जीव के नानाविध प्रत्येक रूप मे अपने को न देखकर अपने मे उन सब को देखता है। परमात्मा रूप अंगी एक है और जीवरूप अंग अनेक है।

दूसरा भी प्रमाण है—जगत् मे ब्रह्म कारणरूप से सतत विद्यमान रहता है। जगत् उसका कार्यरूप है। कारण के रहते कार्य का मिथ्यात्व सिद्ध नही होता। जैसे एक ही कारणरूप सुवर्ण के अनेक प्रकार के कार्यरूप आभूषण बनते है वैसे ही जगत् और ब्रह्म का कारण-कार्य या अन्वय-व्यतिरेक, सम्बन्ध है। इसी लिए जगत् को मिथ्या कहना उचित नहीं है।

भ्रांति का स्वरूप

भ्रांति, अविद्या या मायाकृत धर्म है। वह जीवों में चार प्रकार से रहता है: भ्रम, प्रसाद, कर्णापाध्व और लिप्सा। यह भ्रांति केवल जीव मे ही रहती है, ब्रह्म

में उसका अध्यास नहीं है। जीवों में भ्रम का यह अध्यास तीन प्रकार से है : स्वरूपाध्यास, संसर्गाध्यास और अन्योन्याध्यास। स्वरूपाध्यास से जीवों मे ब्रह्म-भावना होती है और संसर्गाध्यास से जीव कभी ज्ञानी और कभी अज्ञानी सा होकर रहता है। तीसरा अध्यास और भी निकृष्ट है। वही जीवो को अधिक भ्रष्ट करता है। आत्मा (जीव) का अध्यास अनात्मा (अविद्या) मे और अनात्मा का अध्यास आत्मा मे इसी को 'अन्योन्याध्यास' कहते है। अध्यास कहते हैं अन्य पदार्थ मे अन्य के ज्ञान होने को। इस दृष्टि से ये तीनों अध्यास जीव को भ्रष्ट करने वाले है। यही भ्रांति का स्वरूप है।

जीव में देहादि भावना

जीव (आत्मा) मे देह-गेहादि (अनात्मा) की जो भावना देखने मे आती है उसके अनेक कारण दिये गये हैं।

जीव, चेतन, अणुरूप, ज्ञानगुणक तथा भूत है और अविद्या जड, दुःखरूप, परिणामी, आवरणात्मक तथा तमोरूप है। अपने इन गुणो से वह जीव को उसी प्रकार आच्छादित कर देती है, जैसे मेघ का टुकडा सूर्य तथा चन्द्र के प्रकाश को ढक देता है। ऐसी स्थिति मे जीव अपने गुणों को भूलकर मायिक गुणो को ग्रहण करता है। वह अपने को दुःखी, सुखी, भोक्ता आदि अनुभव करता है। इस प्रकार जड का धर्म चेतन मे और चेतन का धर्म जड मे परिवर्तित होकर प्रपंच की रचना होती है। जैसे तेज वायु के चलने से बादल फट जाता है और सूर्य, चन्द्र दिखायी देते है, उसी प्रकार ज्ञान के तेज से अज्ञान का अंधकार हट जाता है। ज्ञान का उदय भगवत्कृपा, सद्गुरु और शास्त्र-श्रवण से होता है। इनके द्वारा अज्ञान के हट जाने पर जीवो मे परमेश्वर के प्रति परम प्रेमस्वरूप भक्ति का उदय होता है। उस भक्ति के कारण शरीरावसान तक जीव की ईश्वरोपासना तैलधारा की तरह अविच्छिन्न बनी रहती है और शरीर के छूटते ही जीव मुक्त हो जाता है।

जीवो के मुक्त हो जाने के बाद भी यह दृश्य प्रपंच बना ही रहता है।

माया विचार

ब्रह्म और माया को पृथक्ता

माया का ही दूसरा नाम प्रकृति है। शांकर वेदान्त के अनुसार परमात्मा मे माया का आरोप (अध्यास) और प्रकृति को कल्पित सिद्ध किया गया है; किन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार यह उचित नही है। आरोप (अध्यास) कहते हैं किसी तदाकार वस्तु में दूसरी तदाकारवस्तु की भ्राति को;

जैसे शुक्ति मे रजत की; रस्सी में सर्प की; स्थाणु में पुरुष की; और मरीचिका में जल की। इसके विपरीत सर्प, अग्नि आदि जो विसदृश पदार्थ हैं उनको रजतादि समझकर उनमें भ्रम होने की बात नहीं देखी गयी है। अतः यह सिद्ध है कि एक वस्तु मे अन्य वस्तु की बुद्धि (आरोप) सादृश्यता या तदाकारिता के कारण होती है; किन्तु जो दो विसदृश या अतदाकार वस्तुएँ हैं उनमे एक-दूसरी का आरोप नहीं होता है।

इस दृष्टि से माया और ब्रह्म मे वैसादृश्य है। माया जड है और ब्रह्म परम चेतन। परम चेतन, जो आनन्दस्वरूप है उसमे जड का आरोप कैसे हो सकता है? इसी प्रकार परम चेतन परमात्मा का अति विसदृश जड प्रकृति मे अध्यास कैसे हो सकता है? और प्रकृति, जिसको अज, अनादि कहा गया है, कल्पित नही है।

त्रैतवाद सत्य है

ऐसी स्थिति मे हम ब्रह्म और प्रकृति के सम्बन्ध को सुलझा सकते है। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ है : ईश्वर, जीव (आत्मा) और प्रकृति। माया के दो रूप है : शुद्धसत्त्व (विद्या) और मिश्रसत्त्व (अविद्या)। शुद्ध सत्त्वनिष्ठ परमात्मा ईश्वर कहलाता है। वह जगत् का कर्ता, भर्ता, धर्ता है। अविद्यानिविष्ट (मिश्रसत्त्व) परमात्मा जीव कहलाता है। वह अल्पज्ञ, अशक्त, परिच्छिन्न और भोक्ता है। इसका यह आशय हुआ कि विद्या मे जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर, और अविद्या मे जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वह जीव कहलाता है। इन दोनो (विद्या-अविद्या) से जो रहित है वह शुद्ध ब्रह्म है।

वह कल्पित नहीं

अविद्या (माया) से मुक्त जो जीव है वह अपने स्वरूप और परमात्मा को भूल जाता है। इसी लिए इस संसारचक्र मे घूमता रहता है। शास्त्रों मे इसी अज्ञानी जीव के लिए ज्ञान और भक्ति का विधान किया गया है। ब्रह्म शुद्ध सत्त्व होकर, ज्ञान और भक्ति मे लीन, अपने उपासक को अपना पद देकर मुक्त कर देता है। इसलिए न तो ब्रह्म, ईश्वर होता है और न जीव ही। इस दृष्टि से न ईश्वर कल्पित हैं न जोव ही। जीव, माया और परमात्मा, ये तीन तत्त्व अपृथक्, अनादि और अनन्त है।

माया और जीव अनादि है

प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि से पहले सजातीय-विजातीय, स्वगत-परगत

आदि भेदों से रहित एक निर्विकार परमात्मा का ही अस्तित्व था। ऐसी अवस्था मे निर्विकार परमात्मा या ब्रह्म मे माया तथा जीव की अपृथकृता कैसे जानी जा सकती है? इसके उत्तर मे श्रुति को उद्धृत किया गया। श्रुति मे कहा गया है कि माया और जीव अनादि है। और जो अनादि है उसका नाश भी नही होता। जीव और माया के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ ही नही है कि ब्रह्म उसमे व्याप्त हो। जो ब्रह्म सदा, सर्वदा जीव तथा माया मे व्याप्त होकर रहता है वह सजातीय, विजातीय आदि भेदो से रहित कैसे हो सकता है? ब्रह्म सदा जीव और माया के सहित रहता है। इसलिए वह उन दोनो से विशिष्ट है।

माया और जीव की सत्यता

जो लोग रज्जु मे सर्प की भाँति, साक्षी मे स्वप्न की भाँति और दर्पण मे प्रतिबिम्ब की भाँति जीव और ईश्वर को मिथ्या तथा भ्रम समझते है वे उचित मार्ग पर नही है, क्योकि परब्रह्म मे विद्या और अविद्या का आरोप सभव नही है। आरोप तो पृथक्सिद्ध पदार्थ का पृथक्सिद्ध पदार्थ मे होता है। इसलिए स्वत:सिद्ध व्यापक वस्तु माया और जीव आरोप्य नही है।

जीव अज्ञानी नहीं है

जीव मे अविद्या का आरोप नही है, क्योकि आरोप तदाकार वस्तु मे होता है, जब कि जीव चेतन और अविद्या जड है। प्रकृत रूप से जीव अज्ञानी नही है, किन्तु अपने स्वरूप को भूल कर वह अज्ञान (अविद्या) मे पड जाता है और नाना भोगो को भोगता है। जब उसको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह उपासाना तथा भक्ति से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसे भोगों से छुटकारा मिल जाता है।

पुण्य कर्मो का फलोदय ही ज्ञान

पुण्यकर्मों के फलोदय से जीव की धर्म मे रुचि होती है और वह शास्त्रों की ओर आकर्षित होकर अपने आचरणो को सुधारता है। ऐसा करने से उनका अज्ञान दूर होकर उसमे ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। उसके बाद वह परमात्मा की ओर बढ़ता है। प्रेमपूर्वक उपासना करते-करते जब उपासक अपने उपास्य का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है तब वह अविद्याजनित संसार के जाल से छूटकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है। इसी को मुक्ति कहते है।

* * *

परिशिष्ट

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमी

*

अक्षर : ए फोरगोटन चैप्टर : पी० एम० मोदी
इन दि हिस्ट्री श्राफ इंडियन फिलासोफी
बड़ोदा, १९३२

अणुभाष्य : बल्लभाचार्य
पूना, १९२१

अपरोक्षानुभव : ज्ञानदास
लखनऊ, १८९५

अपरोक्षानुभूति : शंकराचार्य
मुरादाबाद, १९२०

अभिधर्मकोश (अनु० आचार्य नरेन्द्रदेव) : वसुबन्धु
प्रयाग, १९५८

अर्ली सांख्य : ई० एच० जान्स्टन
लन्दन, १९३७

अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त
प्रयाग, २००४ वि०

आउट लाइन्स आफ इंडियन फिलासोफी : श्रीनिवास आयगर
वाराणसी, १९०९

आउट लाइन्स आफ इंडियन फिलासोफी : हिरियन्ना
लन्दन, १९३२

आउट लाइन्स आफ दि वेदान्त सिस्टम आफ फिलासोफी : जे० एच० वुड्स, ई० बी० रंडल
लन्दन, १९१९

आत्मतत्त्वविवेक : उदयनाचार्य
वाराणसी, १९९६ वि०

आत्मबोध : शंकराचार्य
लखनऊ, १९१२
बंबई, १९५९

आत्मरहस्य : रतनलाल जैन,
नई दिल्ली, १९४८

आत्मानुभूति : कृष्णानन्द सरस्वती
होशियारपुर, २०१६ वि०

आस्तिकवाद : गंगाप्रसाद उपाध्याय
प्रयाग, १९४४

एन्टेलीजेंट मेन्स गाइड टु इंडियन फिलासोफी : एम० सी० पाण्ड्या
बम्बई, १९३५

इंट्रोडक्शन टु इंडियन पाजिटिविज्म, : बी० के० सरकार
इलाहाबाद, १९३७

इंट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासोफी : जे० प्रसाद
इलाहाबाद, १९२८

इंडियन आइडियलिज्म : डा० एम० एन० दासगुप्ता
कैम्ब्रिज, १९३३

इंडियन फिलोसोफी (भाग १,२) : डा० एम० राधाकृष्णन्
न्यूयार्क, १९५१

इंडियन लाजिक इन दि अर्ली स्कूल्स : एच० एन० रेंडल
लन्दन, १९३०

इंडियन लाजिक ऐंड आटोमिज्म : ए० बी० कीथ
आक्फोर्ड, १९२७

इंडिया ऐंड इट्स फेथ्स : जे० बी० पैट
लन्दन, १९१६

इवोल्यूशन आफ आयडिया आफ गाड : एलेन
लन्दन, १८९७

ईश्वर : मदनमोहन मालवीय
गोरखपुर, २००१, वि०
ईश्वर दर्शन : ए० ओ० ब्रेन
सारण (बिहार), १९५६
ईश्वरसिद्धि : रामगोविन्द त्रिवेदी
सुलतानगंज, १९९४ वि०
ईस्टर्न रेलिजन्स आफ वेस्टर्न थाट्स
लन्दन, १९३९
उत्तराध्ययन : नेमिचन्द्र (टीका०)
बम्बई, १९३७
ऋग्वैदिक इंडिया : ए० सी० दास
कलकत्ता, १९२१
ए कान्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक : आर० डी० रानाडे
फिलासोफी
पूना, १९२६
एन इंट्रोडक्शन टु योग : सी० ब्रैग्डोन
लन्दन, १९३३
ए प्राइमर आफ इंडियन लाजिक : एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री
मद्रास, १९३२
ए बुद्धिस्ट बिब्लियोग्राफी : ए० सी० मार्क
लन्दन, १९३५
ए मैनुअल आफ बुद्धिस्ट फिलासोफी : डब्ल्यू० एम० मेगोवरन
लन्दन, १९२३
एसियेज आन दि भगवद्गीता : अरविन्द घोष
कलकत्ता, १९२८
एसेंशियल्स आफ इंडियन फिलासोफी : हिरियन्ना
लन्दन, १९५०
ए स्टडी आफ दि योग : जे० घोष
कलकत्ता, १९३४
ए स्टडी आफ दि योग फिलासोफी : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कलकत्ता, १९३०

ए हिस्ट्री आफ पर-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासोफी : बी० एम० बरुआ
कलकत्ता, १६२१

कर्ममीमांसा : ए० बी० कीथ
लन्दन, १६२१

कल्पसूत्र : समयसुन्दर (टीका०)
बम्बई, १६३६

कान्ट्रीब्यूशन टु दि प्रोब्लम आफ टाइम इन इंडियन फिलासोफी : एस० स्कैयर
क्रकोव, १६३८

कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासोफी : रानाडे
पूना, १६२६

कान्सेप्शन आफ मैटर आकार्डिंग टु न्याय-वैशेषिक : डा० उमेश मिश्र
इलाहाबाद, १६२६

कारिकावली : विश्वनाथ पंचानन
बम्बई, १६५५

कारिकावली : विश्वनाथ पंचानन
वाराणसी, २०१२ वि०

काश्मीर शैविज्म : जगदीशचन्द्र चटर्जी
काश्मीर, १६१४

गौतम बुद्ध : के० जे० सुन्दर
आक्सफोर्ड, १६२२

चिद्विलास : डा० सम्पूर्णानन्द
काशी, २००१ वि०

जातक : फासबोल
लन्दन, १८७७-६७

जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान : मुनि नागराज
दिल्ली, १६५६

जैनिज्म इन नार्थ इंडिया : चिमनलाल जे० शाह
बम्बई, १६३२

डिक्शनरी आफ फिलासोफी : डी० रून्स
न्यूयार्क, १९४२

डिवाइन लाइफ : अरविन्द
कलकत्ता, १९४७

डेर आक्टेर बुद्धिज्मस : एम० विंटरनिट्ज
टुबिंगेन, १९२६-९

डेर जैनिज्मस : एच० वो० ग्लेसेनेप
बर्लिन, १९२५

तत्वज्ञान आनन्दस्वामी सरस्वती
दिल्ली, १९५३

तत्वज्ञान : डा० दीवानचन्द
लखनऊ, १९५६

तत्त्वार्थाधिगम : उमास्वाति
पूना, २४५३ वी० सं०

तर्कभाषा : केशव मिश्र
वाराणसी, २००९ वि०

थरटीन उपनिषद्स · ह्यूम
आक्सफोर्ड, १९३१

दर्शन का प्रयोजन · डा० भगवानदास
प्रयाग, १९४०

दर्शन के उपयोग : इरविन एडमन
प्रयाग, २०१४ वि०

दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
इलाहाबाद, १९४७

दर्शन परिचय : रामगोविन्द त्रिवेदी
कलकत्ता, १९८० वि०

दर्शन संग्रह : डा० दीवानचन्द
लखनऊ, १९५८

दर्शनसारसंग्रह : सदानन्द
ग्वालियर, १९१०

दि कान्सेप्शन ग्राफ बुद्धिष्ट निर्वाण : टी० एच० शेराबास्की
लेलिनग्राद, १६२७
दि डिस्कोर्सिज ग्रान दि पूर्व मीमांसा : पी० बी० साठे
सिस्टम
पूना, १६२७
दि द्वैत फिलासोफी ऐंड इट्स एच० एन० राघवेन्द्राचार
प्लेस इन दि वेदान्त
मैसूर, १६४१
दि न्याय थ्योरी ग्राफ नालेज : एस० सी० चटर्जी
कलकत्ता, १६३६
दि न्यायसूत्र ग्राफ गौतम . डा० गंगानाथ झा
इलाहाबाद, १६१७-६
दि प्रवचनसार बी० फैडेगन
कैम्ब्रिज, १६३१
दि फिलासोफी ग्राफ दि उपनिषद्स : एम० सी० चक्रवर्ती
कलकत्ता, १६३५
दि फिलासोफी ग्राफ भेदाभेद . पी० एन० श्रीनिवासाचारी
मद्रास, १६३५
दि फिलासोफी ग्राफ वैष्णव रेलिजन : जी० एन० मल्लिक
लन्दन, १६२७
दि फिलासोफी ग्राफ हिन्दू : एन० के० ब्रह्म
साधना
कलकत्ता, १६३२
दि भगवद्गीता : एड्गर्टन फ्रेंकलिन
चिकागो, १६२५
दि रोजन ग्राफ रीयलिज्म : डा० नागराज शर्मा
इन इंडियन फिलासोफी
मद्रास
दि रेलिजन ऐंड फिलासोफी : ए० बी० कीथ
ग्राफ दि वेद ऐंड उपनिषद्स
कैम्ब्रिज, १६३५

दि वेदान्त : घाटे
पूना, १६२६
दि वेदान्त ऐंड माडर्न थाट : डब्ल्यू० एस० अर्कुहाट
आक्सफोर्ड, १६२८
दि शैव स्कूल आफ हिन्दूइज्म : एम० शिवपाद सुन्दरम
लन्दन, १६३४
✓दि सांख्यकारिका : एस० एस० एस० शास्त्री
मद्रास, १६३०
दि सांख्य सिस्टम : ए० बी० कीथ
लन्दन, १६१८
दि स्टडी आफ पतञ्जलि : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कलकत्ता, १६२०
दि स्टोरी आफ ओरिएण्टल फिलासोफी : एल० आदम्स बक
न्यूयार्क, १६३८
दीर्घनिकाय : राहुल साकृत्यायन
सारनाथ, १६३६
न्याय कुसुमाञ्जलि : उदयनाचार्य
कलकत्ता, १८६०
न्यायकोश : भीमाचार्य
पूना, १६२८
न्यायप्रकाश : डा० गंगानाथ झा
वाराणसी, १६७७ वि०
न्यायमंजरी : जयन्त भट्ट
वाराणसी, १६३४
न्यायशास्त्र मुक्तावली : धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
(हिन्दी अनुवाद)
वाराणसी, १६५३
✓न्यायसूत्र : महर्षि गौतम
मेरठ, २००० वि०
पंचदशी (पीताम्बरी टीका) : विद्यारण्य मुनि
दिल्ली, १६५५

पदार्थ धर्मसंग्रह : डा० गंगानाथ झा
वाराणसी, १९१५
पदार्थविज्ञान, भाग १ : सत्यनारायण शास्त्री
वाराणसी, २०१६ वि०
पदार्थ संग्रह : रामानुजाचार्य
वाराणसी, १९५०
पातञ्जल योगदर्शन : हरिहरानन्द
लखनऊ, १९५४
पातञ्जल योगसूत्र : पतञ्जलि
पूना, १९४८
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डा० देवराज
नई दिल्ली, १९४५
प्रकरणपंचाशिका : प्रभाकर
वाराणसी, १९०४
प्रकरणपंचिका : शालिकानाथ मिश्र
वाराणसी, १९६१ वि०
प्रोलेगोमेना टु ए हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट फिलासोफी : बी० एम० बरुआ
कलकत्ता, १९१८
फिलासोफी आफ उपनिषद्स : गाड
लन्दन, १८८२
फिलासोफी आफ ऐंश्येंट इंडिया : गार्बे
शिकागो, १८९९
बुद्धिज्मस : एच० बेकट
बर्लिन, १९२३
बुद्धिस्ट फिलासोफी : ए० बी० कीथ
आक्सफोर्ड, १९२३
बुद्धिस्ट फिलासोफी इन इंडिया ऐंड सीलोन : ए० बी० कीथ
आक्सफोर्ड, १९२७
बुद्धिस्ट स्टडीज : बी० सी० लाव
कलकत्ता, १९३१

बौद्ध दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
इलाहाबाद, १९४४

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन : भरतसिंह उपाध्याय
भाग १, २
कलकत्ता, २०११ वि०

बौद्धधर्मदर्शन : आचार्य नरेन्द्रदेव
पटना, १९५६

ब्रह्मसूत्र (तीन खण्ड) : बादरायण व्यास
वाराणसी, १९९३ वि०

ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य : शंकराचार्य
बम्बई, १९२७

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन : रामकृष्ण आचार्य
आगरा, १९६०

भारतीय आदर्श : एनी बेसेंट
वाराणसी, १९५४

भारतीय ईश्वरवाद : रामावतार शर्मा
पटना, १९३६

भारतीय तत्त्वचिन्तन : जगदीशचन्द्र जैन
नई दिल्ली, १९५४

भारतीय तर्कशास्त्र : शांतिप्रकाश आत्रेय
वाराणसी, १९६१

भारतीय दर्शन : डा० उमेश मिश्र
लखनऊ, १९५७

भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
वाराणसी, १९४२

भारतीय दर्शन : सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा धीरेन्द्र मोहन दत्त
पटना, १९५४

भारतीय दर्शन परिचय (न्याय दर्शन) : हरिमोहन झा
लहेरिया सराय

भारतीय दर्शन परिचय : हरिमोहन झा
(वैशेषिक दर्शन)
लहेरिया सराय

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास : डा० देवराज
इलाहाबाद, १९४१

भारतीय (दर्शन-शास्त्र) न्याय-वैशषिक : धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
काशी, १९५३

महावीर, हिज लाइफ ऐंड हिज : बी० सी० लाव
टीचिंग्स
लन्दन, १९३७

माध्यमिक कारिका : नागार्जुन
पीटर्सबर्ग, १९०३

मायावाद : साधु शान्तानाथ
पूना, १९३८

मिलिन्दपह्न : नागसेन
बम्बई, १९४०

मीमासा दर्शन (६ खण्डों में) : महर्षि जैमिनि
पूना, १९२९

मीमासा-न्याय-प्रकाश : आर्यदेव
पूना, १९३७

मेटाफिजिक्स आफ रामानुज्स . के० सी० वरदाचारी
मद्रास, १९२८

मैटिरियलिज्म ' एम० एन० राय
बम्बई, १९४०

मेटिरियलिज्म, मार्क्सिज्म : बी० एन० दासगुप्त
डिटरमिनिज्म ऐंड डायलेक्टिक्स
इलाहाबाद, १९४५

योग, ए सायंटिफिक इवोल्युशन : के० टी० बेहुमन
लन्दन, १९३७

योग और उसके उद्देश्य : अरविन्द
पांडिचेरी, १९४०

योगप्रदीप . अरविन्द
पांडिचेरी, १६३६
योगविचार : अरविन्द
पांडिचेरी, १६५१
योगसूत्र भाष्य-कोश डा० भगवानदास
वाराणसी, १६३८
ला वेदान्त : वी० एस० घाटे
पेरिस, १६१८
वाशिष्ट दर्शनसार (संग्रह) : भीखनलाल आत्रेय
वाराणसी, १६३३
विचारसागर साधु निश्चलदास
बम्बई, १६७१ वि०
वेदान्त ए स्टडी : वी० एस० घाटे
पूना, १६२६
वेदान्त दर्शन : दर्शनानन्द सरस्वती
बरेली, १६३७
वेदान्तप्रदीप, रामानुजाचार्य
वाराणसी, १६०४
वेदान्त फार दि वेस्टर्न वर्ल्ड : इशरवुड
लदन, १६५३
वेदान्तसार : सदानन्द
वाराणसी, १६४०
वैज्ञानिक अद्वैतवाद : रामदास गौड़
वाराणसी, १६७७ वि०
वैज्ञानिक भौतिकवाद . राहुल साकृत्यायन
प्रयाग, १६४७
वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद
बम्बई, १६६६ वि०
वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर सेक्ट्स : आर० जी० भाडरकर
पूना, १६२८

वृत्तिप्रभाकर : साधु निश्चलदास
बम्बई, १६८८ वि०
ह्वाट इज फिलासोफी : सेल्सम
कलकत्ता, १९४५
शंकराचार्य का आचारदर्शन : रामानन्द तिवारी
प्रयाग, २००६ वि०
शैवमत : यदुवंशी
पटना, १९५५
श्रीभाष्यवार्तिक : रामानुजाचार्य
वाराणसी, १९०६
श्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट
वाराणसी, १८१८
षड्दर्शन समुच्चय, : गुणरत्नसूरि
कलकत्ता, १९०५
सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य
(१) कलकत्ता, १९०८ ई०
(२) बम्बई, १९८२ वि०
सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह : शंकराचार्य
प्रयाग, १९४०
सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह : शंकराचार्य
मुरादाबाद, १९७८ वि०
सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण
वाराणसी, १९४१
सांख्यतत्त्वकौमुदी : वाचस्पति मिश्र
वाराणसी, १९१७
सांख्यदर्शन : कपिल मुनि
बम्बई, १९६९ वि०
सांख्यदर्शन : कपिल मुनि
लाहौर, १९८२ वि०
सांख्यदर्शन का इतिहास : उदयवीर शास्त्री
ज्वालापुर

तिक्स वेज आफ नालेज : डा० डी० एम० दत्ता
लन्दन
स्कूल्स ऐंड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर : अमूल्यचन्द्र सेन
शान्तिनिकेतन, १९३१
स्टडीज इन अर्ली इंडियन थाट : डोरोथिया जान स्टेफेन
कैम्ब्रिज, १९१८
स्टडीज इन न्याय वैशेषिक : सदानन्द माथुर
मेटाफिजिक
पूना
स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म : एम० एस० रामास्वामी अय्यर तथा बी० शेषगिरि राव
मद्रास, १९२२
स्याद्वादमंजरी : मल्लिषेण सूरि
पूना, १९३३
स्याद्वादमंजरी : मल्लिषेण सूरि
बम्बई, १९३५
हिन्दू धर्म समीक्षा : लक्ष्मण शास्त्री जोशी
बम्बई, १९४८
हिन्दू रेलीजन्स : एच० एच० विल्सन
कलकत्ता, १८९९
हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी (५ भागों में) : डा० एस० एन० दासगुप्ता
कैम्ब्रिज, १९३२-६१
हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी, भाग १, २ : डा० एस० राधाकृष्णन्
लन्दन, १९५१
हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट : ई० जे० थामस
लन्दन, १९३२

●

पारिभाषक शब्दार्थानुक्रमी

(संस्कृत-अंग्रेजी)

अद्वैतवाद	: एब्सोल्यूट, मोनिज्म
अद्वैतवादी	मोनिस्ट्स
अधिदेवशास्त्र	. फिजिक्स
अध्यात्मवाद	: स्पिरिचुएलिज्म
अध्यात्मविद्या	· सैको फिजिक्स
अनन्त	: एब्सोल्यूट
अनवच्छिन्न	: अन-ऐलोयड
अनुगमशास्त्र	· दि सायम आफ बीइंड्, रायन्से आफ ट्रूथ
अनुभववाद	: इम्पिरिसिज्म
अनुमिति (तर्क)	· इन्फरेन्स
अनुमानशास्त्र (तर्कशास्त्र)	लाजिक दि सायंस आफ रोजनिङ्
अनुमिति ज्ञान	· नालेज बाई इन्फरेन्स
अनेकवादी	: पापुग्लिस्टिक
अनेकेश्वरवाद	: हिनोथीज्म
(बहुदेवतावाद)	: पोलेथेइज्म
अनेकेश्वरवादी (बहुदेवतावादी)	: पोलेथेइस्टिक
अन्त:करणशास्त्र (चित्तशास्त्र)	: साइकालोजी
अन्त:प्रत्यक्ष	: इन्टर्नल परसेप्शन
अन्तर्ज्ञान	: इन्टुएशन
अन्त्य	अल्टिमेट
अन्वय	: एग्रीमेन्ट
अपरिच्छिन्न	: एब्सोल्यूट
अपरिमिति	: अन-लिमिटेड
अपवाद	. एक्सेपशन

अभावान्वय	: एग्रीमेंट इन अब्सेंस
अभावात्मक	: नेगेटिव
अभिधेयत्व	: नेमेबिलिटी
अभेदबुद्धि	: युनिवर्सलिटी आफ कान्शसनेस्
अर्थापत्ति	: हेपोथेसिस
अवगति (विचार)	: आइडिया
अवच्छेदक	: डिफरेंटिया
अवच्छेदक पद	: एक्सक्लूसिव टर्म
अवधारण	: कान्सेप्शन
अवर्णनीय (अनन्त)	: एब्सोल्यूट
अवस्तुवादी	: प्लूरेलिस्टिक
अविशेष	: इन्डेटरमिनेट
अव्याप्ति	: नान-डिस्ट्रिब्यूशन
असंभिन्न	. पर्फेक्ट
अहंवित्ति (मैं हूं)	: सेल्फ कान्ससनेस
आकार	. फोर्म
आत्म-ज्ञान / आत्मदर्शन	: सेल्फ रियेलाइजेशन
आत्मलाभ	: विझन आफ गाड, सेल्फ नालेज
आत्यन्तिक	: फैनल
आधिभौतिक विज्ञान	: फिजिकल सायन्सेज, नैचुरल फिलासोफी
आनुपूर्व्य	: सेक्वेन्स
आप्त वचन	: अथोरिटी
आभास / प्रतीति	: एप्पियरेंस
आश्चर्य	: वंडर
आसन्न कारण	: काउज प्रौक्सिमेंट

आत्मा	: स्पिरिट
इच्छात्मक	: इमोशनल
ईश्वरवादी	: थेइस्टिक
उन्माद	: इन्सैनिटी
उपनय	: एप्लिकेशन
उपमान	: अनालाजी
उपादान कारण	: काउज मैटेरिअल
उपाधि	: कण्डिशन
एकान्तवाद	: फैलेसी आफ एक्ल्यूसिव, पार्टिक्यूलेरिटी
एकान्तिक	कम्पलीट
एकेश्वरवाद	मोनोथीज्म
कक्षा, काष्ठा	स्टेज आफ इवोल्यूशन
कन्ध	. ग्लैड्ज
कारक, घटक	फैक्टर
कारण	: काउज
कालातीत	टाइम्मलेस
केवलान्वय	एग्रीमेंट, सिंगल
केवलोपादानेश्वरवाद } **सर्वेश्वरवाद**	: पेन्थीइज्म
क्रियात्मक	: प्रैक्टिकल (एक्शनल)
क्रिया-प्रतिक्रिया	: ऐक्शन-रिऐक्शन
क्षोभ, संरंभ } **राग-द्वेष**	: इमोशन
खण्डन	· रिफ्यूटेशन
गुण	: क्वालिटी
चरम सत्य	: अल्टिमेट ट्रूथ
चित्त	: कान्सस
चित्तशास्त्र } **अन्तःकरणशास्त्र**	: साइकालोजी
चेतन	· स्पिरिट

चैतन्य	: कान्ससनेस
जगत्	: किंगडम (ऐनिमल)
जड़	: मैटर
जाति	: जेनस
ज्ञ, ज्ञाता द्रष्टा आत्मा पुरुष	: स्पिरिट
ज्ञान	: नालेज
ज्ञान-विज्ञान	: फिलासोफी सायंस
ज्ञानात्मक	: इंटेलेक्चुअल
ज्ञेय प्रधान, दृश्य, व्यक्त, मात्रा	: मैटर
ज्ञेयत्व	: नोबिलिटी
तत्व, महाभूत	: एलिमेंट
तत्व सार	: एस्सेन्स
तत्वमीमांसा	: मेटाफिजिक्स
तर्क	: रीजनिङ्
तर्क, अनुमान	: रीजनिङ्
तर्क, युक्ति	: आर्गुमेंट
तर्कवाक्य	: प्रोपोजिशन
तर्कशास्त्र	: लाजिक
तर्कशास्त्र, अनुमानशास्त्र	: लाजिक, दि सायंस आफ रीजनिङ्
तर्कसंगत बंध	: लिजिटिमेट
तर्काभास	: पैरालोगिज्म
तात्त्विक विश्लेषण	: एस्सेन्सल अट्रिब्यूट
तादात्म्य संबंध	: रिलेशन आफ आइडेंटिटी
तार्किक ज्ञान	: लॉजिक नालेज

द्रव्य	: सब्स्टेंस
दृष्टान्त	: इन्सटेन्स
निदर्शन	: सेम्पलिंग
निमित्तकारण	: काउज इफिसिएंट
नियत साहचर्य	: असोसियेशन, इन्वरिएबल
निरासा, निरसन	: एलिमिनेशन
निरुपाधि	: कैटेगोरिकल, अनकाडिशिनल
निर्गुण	: एब्सोल्यूट
द्रष्टा	: स्पिरिट
दृश्य	: मैटर
द्वैतवाद	: ड्युअलिस्ट
धर्मशास्त्र सदाचारशास्त्र	: एथिक्स मारल्स, दि सायंस आफ काडक्ट
नामवाद	: नामिनेलिज्म
निगमन	: डिडक्शन
नियति, स्वभाव, इच्छा	: नेचर, मैटर, फेट
निरीश्वरवाद	: एथीइज्म
निश्चयात्मक	: कैटेगेरिकल
नैतिक	: मारल
पक्ष	: माइनर
पदार्थ	: कैटेगरीज
परम तत्त्व, मूलसत्ता	: अल्टिमेट रियलिटी
परम सत्य चरम सत्य परमार्थ सत्य	: अल्टिमेट ट्रुथ
परमाणुवाद	: आटोमिज्म
परमानन्द ब्रह्मानन्द	: यूनियन वथ गाड, फ्रीडम आफ दि स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विजन आफ

गाड, डेलिबरस फ्राम सिन,
शाल्वेशन, बो ए टिट् यू,
बैपटिज्म विथ दि
होली गोस्ट, विकमिंग
क्रैस्टास, विकसिंग ए
सन आफ गाड

परामर्श : जजमेंट
परिमाण : क्वेंटिटी
पर्याय : मोड
परमार्थ सत्य : अल्टिमेट ट्रुथ
पुरुष : मैन, स्पिरिट
पूर्ण दृष्टि : व्यू कम्पलीट
पूर्णेश्वरवाद : थीइज्म
प्रकरण : टापिक
प्रकृति : नेचर
प्रकृति, स्वभाव : कैरेक्टर
प्रणाली : मेथाड
प्रतिपादन : एक्सपोजिशन
प्रतीति, आभास : एप्पियरेंस
प्रतीतिवाद : फेनोमेनेलिज्म
प्रत्यक्ष : परसेप्ट
प्रत्यक्ष ज्ञान : नालेज बाई परसेप्शन,
डाइरेक्ट नालेज
प्रत्यय : कान्सेप्ट
प्रत्ययवाद : कन्सेप्टुअलिज्म
प्रधान : मैटर
प्रपंच : फेनोमेनन
प्रमाण : इविडेंस, प्रूफ
प्रमेय : प्रोबेंडम
प्रयोग और सिद्धान्त : प्रैक्टिस ऐंड थियरी
प्रलय : केआस

प्रातिस्विक (वैयक्तिक)	: पर्सनल
प्रात्येकिक	: इनडिविजुअल, सिंगल
प्रामाण्य	: वीलिडिटी
बहुदेवतावाद अनेकेश्वरवाद	: पोलेथेइज्म
बहुदेवतावादी अनेकेश्वरवादी	: पोलेथेइस्टिक
वाह्य-प्रत्यक्ष	: एक्सटरनल, परसेप्शन
बौद्ध-प्रत्यय	: मेन्टल आइडियाज् : कान्सेप्ट्स्
ब्रह्मज्ञान	: विभन आफ गाड : सेल्फ नालेज
ब्रह्मलाभ	: विझन आफ गाड सेल्फ नालेज
ब्रह्मविद्या	: मेटाफिजिक
ब्रह्मानन्द परमानन्द	: यूनियन विथ गाड, फ्रीडम आफ दि स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विजन आफ गाड, डेलिवरस फ्राम सिन, शाल्वेशन, बी ए टिट् यू, वैयटिज्म विथ दि होली गोस्ट, विकमिंग ऋैस्टास, विकमिंग ए सन आफ गाड
भक्ति-उपासना	: रेलिजन
भाव पदार्थ	: पाजिटिव, इन्टिटीज
भाव साहचर्य	: असोसिएशन, पाजिटिव
भावात्मक	: पाजिटिव
भावान्वय	: एग्रीमेंट इन प्रजेंस
भौतिकवाद	: मैटिरियलिज्म
भ्रामक	: इल्यूसरि
मत	: व्यू, ओपिनियन

मत, सिद्धान्त	: डाक्ट्रिन
महाभूत, तत्त्व	: एलिमेंट
मात्रा	: मैटर
मानस कुतूहल	: इंटेलेक्चुअल क्युरियासिटी
मिथ्या	: अन-रीयल
मिथ्या प्रत्यय	: मिस्कोन्सेप्शन
मूल द्रव्य	: सबस्टेन्स
मूल सत्ता, परम तत्त्व	: अल्टिमेट रियलिटी
यथार्थवाद	: रियलिज्म
युक्ति, तर्क	: आर्गुमेंट
युक्ति, विचार	: थ्योरी
रागद्वेष	: इमोशन
लिंग, हेतु, साधन	: मिडिल टर्म
लौकिक ज्ञान	: पापुलर नालेज
वर्ग	: क्लास
वस्तु	: मैटर
वस्तुपरक तर्कशास्त्र	: मैटिरियल लाजिक
वस्तुवाद	: रियलिज्म
वस्तुवादी	: रियलिस्टिक
वास्तविक	: रीयल
विचार, अवगति	: आइडिया
विज्ञानवाद	: सब्जेक्टिव आइडियेलिज्म
विज्ञानवादी	: सब्जेक्टिव आइडियलिस्ट
विनय	: डिसिप्लिन
विद्या, वैदुष्य	: विजडम
विधेय	: प्रेडिकेट
विभाग	: डिवीजन
विवर्त	: कन्वर्शन
विवाद	: कान्ट्रोवर्शी
विश्लेषण	: अनालेसिस
विषय	: सब्जेक्ट

विषयी : आब्जेक्ट
विस्तार : एक्सटेंसन
वैकल्पिक : अल्टरनेटिव
वैदूष्य : विजडम
वैयक्तिक, प्रातिस्विक · पर्सनल
वैयष्टिक · इनडिविजुअल, सिंगल
व्यवहारवाद . प्रैग्मेटिज्म
वृत्ति : सब्सिसटेंस विइङ्
व्यक्त : मैटर
व्याख्या . ऐक्सप्लेनेशन
व्याप्ति डिस्ट्रिब्यूशन
व्यतिरेक (भेद) . डिफरेंस
व्याघात कान्ट्रडिक्शन
शक्तिशास्त्र : सायंस आफ पावर
शब्दप्रमाण, साक्ष्य : टेस्टिमोनी
शरीरशास्त्र · फिजियालोजी
शांतिशास्त्र : सायंस आफ पीस
संज्ञा : कान्शसनेस
सदिग्धार्थक : एम्बिगस
संपात · कोइन्सिडेंस
सपाती : कोइन्सिडेंट
सम्बन्ध रिलेशन
सरभ : इमोशन
संवृत्ति सत्य . एम्पिरिकल
सशयवाद : स्केप्टिसिज्म
सत् · एक्जिस्टेंट
सत्ता : एक्जिस्टेंस
सदाचारशास्त्र } धर्ममीमांसा : एथिक्स मारल्स, दि सायंस आफ काडक्ट
सर्वव्यापी : यूनिवर्सल
सर्वेश्वरवाद : पेन्थीइज्म

सर्वेश्वरवादी	: पेन्थीइस्टिक
सविकल्प प्रत्यक्ष	: परसेप्शन
सांसारिक व्यवहार	: लाइफ इन दि वर्ल्ड
साक्ष्य, शब्द प्रमाण	: टेस्टिमोनी
साध्य	: मेजर
सापेक्षवाद	: थ्योरी ग्राफ रिलेटीविटी
सामाजिक, सामष्टिक	
सामूहिक	: सोमल कोलोक्टिव
सामान्य	: यूनिवर्सल
सामान्य नियम	: कैनोनम
सामान्य प्रत्यय	: जेनरल ग्राइडिया
सामान्य प्रत्ययवाद	: कान्सेप्चुएलिज्म
सार्वस्विक, जातीयक सामष्टिक	: कलेक्टिव सोसल
साहचर्य	: ग्रसोसियेशन
सिद्धान्त	: थ्योरी
सिद्धान्त (मत)	: डाक्ट्रिन
सुखवाद	: हेडोनिज्म
सैद्धान्तिक	: थ्योरिटिकल
सौन्दर्यशास्त्र	: ईस्थेटिक्स, दि सायंस ग्राफ ग्रार्ट
सृष्टि	: कास्मास
सृष्टिकर्ता	: क्रिएटर
स्वयंसिद्ध, स्वतःसिद्ध	: ग्राक्सिग्रम
हेतु	: मिडिल

●